Chapter तेरह

हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से अभिभूत होकर प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बँध जाते हैं और इन गुणों का परित्याग कैसे किया जाता है। तत्पश्चात् भगवान् यह बतलाते हैं कि वे किस प्रकार ब्रह्मा तथा सनकादि मुनियों के समक्ष हंस के रूप में प्रकट हुए तथा उन्हें अनेक गुह्य बातें बतलाईं।

सतो, रजो तथा तमो—ये तीन गुण भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध हैं, आत्मा से नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह सतोगुण द्वारा रजो तथा तमोगुणों को जीते और तब शुद्ध सतोगुण में कर्म करते हुए सतोगुण से भी परे चला जाय। सतोगुणी वस्तुओं की संगति करने से सतोगुण में पूरी तरह स्थित हुआ जा सकता है। तीनों गुण विभिन्न प्रकार के शास्त्र, जल, स्थान, समय, कर्म से लाभान्वित होने वालों, कर्म की प्रकृति, जन्म, ध्यान, मंत्र, संस्कार सम्बन्धी अनुष्ठानों इत्यादि द्वारा अपने प्रभाव को बढ़ाते हैं।

विवेक के अभाव में मनुष्य अपनी पहचान शरीर से करता है; फलस्वरूप कष्ट उत्पन्न करने वाला रजोगुण, सामान्यतया सात्विक स्थिति में रहने वाले मन पर छा जाता है। ज्यों ज्यों मन निर्णय तथा सन्देह के कार्य करता है, त्यों त्यों यह इन्द्रियतृप्ति की असह्य लालसा उत्पन्न करता है। रजोगुण की उत्कंठाओं से मोहित अभागे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यद्यपि वे जानते रहते हैं कि उन्हें कर्म का अन्तिम फल कष्ट के रूप में मिलेगा, किन्तु वे ऐसा सकाम कर्म किये बिना रह नहीं पाते। दूसरी ओर विवेकशील व्यक्ति अपने को इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रखता है और उपयुक्त वैराग्य द्वारा, शुद्ध भक्ति की शरण में जाता है।

ब्रह्माजी का अपना कोई भौतिक कारण नहीं होता। वे सारे जीवों की सृष्टि के कारण हैं और समस्त देवताओं में सर्वप्रधान हैं। तो भी उन्हें जो कार्य करने पड़ते हैं उसके कारण उनका मन विचलित रहता है; इसलिए, जब उनके मन से उत्पन्न सनक इत्यादि पुत्रों ने, इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ दूर करने के साधनों के विषय में पूछा, तो वे उनका उत्तर नहीं दे पाये। इस विषय में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से, जब वे भगवान् की शरण में गये, तो वे हंस अवतार के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए।

भगवान् हंस ने आत्मा, चेतना की विभन्नि दशाओं (जागृत, सुप्त, सुषुप्त) तथा संसार पर विजय पाने के साधनों के बारे में उपदेश दिया। भगवान् के इन वचनों को सुन कर सनकादि ऋषियों के सारे संशय दूर हो गये और उन्होंने गहन भगवत्-प्रेम में शुद्ध भक्ति से उनकी पूजा की।

श्रीभगवानुवाच
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार ज्ञात; गुणाः—प्रकृति के गुण; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध; न—नहीं; च—भी; आत्मनः—आत्मा को; सत्त्वेन—सतोगुण से; अन्यतमौ—अन्य दो (रजो तथा तमो); हन्यात्—नष्ट किये जा सकते हैं; सत्त्वम्—सतोगुण को; सत्त्वेन—शुद्ध सतोगुण से; च—भी (नष्ट किया जा सकता है); एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : भौतिक प्रकृति के तीन गुण, जिनके नाम सतो, रजो तथा तमोगुण हैं, भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध होते हैं, आत्मा से नहीं। सतोगुण के विकास से मनुष्य रजो तथा तमोगुणों को जीत सकता है एवं दिव्य सत्त्व के अनुशीलन से, वह अपने को भौतिक सत्त्व से भी मुक्त कर सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सत्त्व कभी शुद्ध रूप में नहीं रहता, अतः यह सामान्य ज्ञान है कि भौतिक स्तर पर कोई भी निजी प्रेरणा के बिना कार्य नहीं करता। भौतिक जगत में सत्त्व सदैव कुछ न कुछ रजो तथा तमोगुण से मिश्रित रहता है, जबकि *विशुद्ध सत्त्व* सिद्धि के मुक्त पद को बताता है। भौतिक रूप से, मनुष्य ईमानदार तथा दयालु होने पर गर्वित रहता है, किन्तु पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हुए बिना, मनुष्य ऐसा सत्य बोलता है, जो अन्ततः महत्त्वपूर्ण नहीं होता और वह ऐसी दया दिखलाता है, जो अन्ततः व्यर्थ होती है। चूँकि कालक्रम से सारी स्थितियाँ तथा व्यक्ति भौतिक मंच से हटते जाते हैं, अतएव हमारी तथाकथित दया तथा सत्य ऐसी स्थितियों पर लागू होते हैं, जो अधिक काल तक विद्यमान नहीं रहेंगे। वास्तविक सत्य शाश्वत है और असली दया लोगों को नित्य सत्य पर स्थित करता है। फिर भी सामान्य व्यक्ति के लिए, भौतिक सत्त्व का अनुशीलन कृष्णभावनामृत के मार्ग में प्रारम्भिक अवस्था ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में कहा गया है कि जो व्यक्ति मांस खाने का आदी है, वह भगवान् कृष्ण की लीलाओं को नहीं समझ सकता। किन्तु सतोगुण के अनुशीलन से, मनुष्य शाकाहारी बन सकता है और कृष्णभावनामृत

की दिव्य विधि को समझ सकता है। चूँकि *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि भौतिक गुण निरन्तर चक्कर लगाते हैं, अतएव सतोगुण के उच्च पद का लाभ दिव्य पद पर पहुँचने के लिए उठाना चाहिए। अन्यथा, कालचक्र के घूमने पर वह भौतिक अज्ञान के अंधकार में पुनः चला जायेगा।

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २॥

शब्दार्थ

सत्त्वात्—सतोगुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; भवेत्—उत्पन्न होते हैं; वृद्धात्—जो प्रबल बनते हैं; पुंसः—पुरुष का; मत्-भक्ति—मेरी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सात्त्विक—सतोगुणी वस्तुओं के; उपासया—अनुशीलन से; सत्त्वम्—सतोगुण; ततः—उस गुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; प्रवर्तते—उत्पन्न होता है।

जब जीव प्रबल रूप से सतोगुण में स्थित हो जाता है, तो मेरी भक्ति के लक्षणों से युक्त धार्मिक सिद्धान्त प्रधान बन जाते हैं। जो वस्तुएँ पहले से सतोगुण में स्थित हैं, उनके अनुशीलन से सतोगुण को प्रबल बनाया जा सकता है और इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है।

तात्पर्य : चूँकि प्रकृति के तीनों गुण, श्रेष्ठता के लिए, लगातार झगड़ते रहते हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण को दबा दें ? भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतलाते हैं कि किस तरह कोई व्यक्ति सतोगुण में स्थिर बन सकता है, जिससे स्वतः धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है। *भगवद्गीता* के चौदहवें अध्याय में, भगवान् कृष्ण ने सतो, रजो तथा तमोगुणी वस्तुओं का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकार शुद्ध सतोगुण में भोजन, मनोभाव, कार्य, मनोरंजन आदि का चुनाव करने से, मनुष्य उसी गुण में स्थित रहता जाता है। *सत्त्वगुण* की उपयोगिता यह है कि इससे धार्मिक सिद्धान्तों का जन्म होता है, जिनका लक्ष्य तथा जिनका लक्षण कृष्ण-भक्ति है। ऐसी भगवद्भक्ति के बिना, सतोगुण व्यर्थ तथा माया का दूसरा पहलू मात्र माना जाता है। *वृद्धात्* शब्द यह स्पष्ट संकेत करता है कि मनुष्य को *विशुद्ध सत्त्व* के पद को प्राप्त करना चाहिए। *वृद्धात्* शब्द वृद्धि का सूचक है और वृद्धि को तब तक नहीं रोकना चाहिए जब तक प्रौढ़ता न आ जाय। सत्त्व की पूर्ण प्रौढ़ता *विशुद्ध सत्त्व* कहलाती है, जिसमें अन्य किसी गुण का लेशमात्र भी नहीं रहता। शुद्ध सत्त्व में सारा ज्ञान स्वतः प्रकट होता है और मनुष्य सरलता से कृष्ण के साथ अपने शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध को समझ सकता है। *धर्म* का यही असली अर्थ और अभिप्राय है।

इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि सतोगुण की वृद्धि से धर्म पुष्ट होता है और धर्म

के पुष्ट होने से सतोगुण प्रबल बनता है। इस तरह, मनुष्य आध्यात्मिक सुख में ऊँचे उठता जाता है।

धर्मो रजस्तमो हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३॥

शब्दार्थ

धर्मः—भक्ति पर आधारित धर्म; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; हन्यात्—नष्ट करते हैं; सत्त्व—सतोगुण की; वृद्धिः—वृद्धि से; अनुत्तमः—सबसे उत्तम; आशु—शीघ्र; नश्यति—नष्ट हो जाता है; तत्—रजो तथातमोगुण का; मूलः—मूल, जड़; हि—निश्चय ही; अधर्मः—अधर्म; उभये हते—दोनों के नष्ट हो जाने पर।

सतोगुण से प्रबलित धर्म, रजो तथा तमोगुण के प्रभाव को नष्ट कर देता है। जब रजो तथा तमोगुण परास्त हो जाते हैं, तो उनका मूल कारण, जो कि अधर्म है, तुरन्त ही नष्ट हो जाता है।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

आगमः—शास्त्र; अपः—जल; प्रजाः—जनता या अपने बच्चों की संगति; देशः—स्थान; कालः—समय; कर्म—कर्म; च—भी; जन्म—जन्म; च—भी; ध्यानम्—ध्यान; मन्त्रः—मंत्रोच्चारण; अथ—तथा; संस्कारः—शुद्धि के अनुष्ठान; दश—दस; एते—ये; गुण—गुण; हेतवः—कारण।

शास्त्रों के गुण, जल, बच्चों या जनता से संगति, स्थान विशेष, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्रोच्चार तथा संस्कार के अनुसार, प्रकृति के गुण भिन्न भिन्न प्रकार से प्रधानता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ऊपर जो दस वस्तुएँ गिनाई गई हैं, उनमें उत्तम तथा अधम गुण हैं, अतएव उनकी पहचान सत्त्व, रज अथवा तम के रूप में की गई है। सात्विक शास्त्र, शुद्ध जल, सात्विक मैत्री इत्यादि का चुनाव करके, सतोगुण में वृद्धि की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि इन दस वस्तुओं में से किसी भी ऐसी वस्तु से बचे जो प्रकृति के किसी निम्न गुण द्वारा दूषित होने वाली हो।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते ।
निन्दन्ति तामसं तत्तद्राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; सात्त्विकम्—सतोगुण में; एव—निस्सन्देह; एषाम्—इन दसों में से; यत् यत्—जो जो; वृद्धाः—प्राचीन ऋषि यथा व्यासदेव जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं; प्रचक्षते—प्रशंसा करते हैं; निन्दन्ति—निन्दा करते हैं; तामसम्—तमोगुणी; तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; राजसम्—रजोगुण में; तत्—मुनियों द्वारा; उपेक्षितम्—न तो प्रशंसित, न आलोचित, सर्वथा त्यक्त।

अभी मैंने जिन दस वस्तुओं का उल्लेख किया है, उनमें से जो सात्विक वस्तुएँ हैं उनकी प्रशंसा तथा संस्तुति, जो तामसिक हैं उनकी आलोचना तथा वहिष्कार एवं जो राजसिक हैं उनके

प्रति उपेक्षा का भाव, उन मुनियों द्वारा व्यक्त किया गया है, जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं।

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकानि—सतोगुणी वस्तुएँ; एव—निस्सन्देह; सेवेत—अनुशीलन करे; पुमान्—पुरुष; सत्त्व—सतोगुण; विवृद्धये—बढ़ाने के लिए; ततः—उस (सतोगुण में वृद्धि) से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्तों में स्थिर; ततः—उस (धर्म) से; ज्ञानम्—ज्ञान प्रकट होता है; यावत्—जब तक; स्मृतिः—अपने नित्य स्वरूप का स्मरण करते हुए, आत्म-साक्षात्कार; अपोहनम्—दूर करना (शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान)।.

जब तक मनुष्य आत्मा विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को पुनरुज्जीवित नहीं कर लेता और प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान को हटा नहीं देता, तब तक उसे सतोगुणी वस्तुओं का अनुशीलन करते रहना चाहिए। सतोगुण के बढ़ाने से, वह स्वतः धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सकता है और उनका अभ्यास कर सकता है। ऐसे अभ्यास से दिव्य ज्ञान जागृत होता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति सतोगुण का अनुशीलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिए। उसे ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए जो मनमाने चिंतन तथा इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति की शिक्षा देते हैं, न कि भौतिक अज्ञान बढ़ाने वाले अनुष्ठानों तथा मंत्रों की शिक्षा देने वाले शास्त्रों का। ऐसे भौतिकतावादी शास्त्र भगवान् पर ध्यान न देने के कारण मूलतः नास्तिक होते हैं। उसे अपनी प्यास बुझाने तथा शरीर को स्वच्छ रखने के लिए शुद्ध जल ग्रहण करना चाहिए। भक्त को सुगंधित जल, इत्र, शराब इत्यादि का प्रयोग करने की आवश्यकतानहीं है क्योंकि ये सभी जल के प्रदूषित रूप हैं। उसे ऐसे व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जो संसार से विरक्ति का अनुशीलन करते हैं न कि उन व्यक्तियों से जिनके चरित्र पापमय हों या जो भौतिकतावादी आसक्ति में जकड़े हों। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ वैष्णवों के बीच भक्ति का अभ्यास और चर्चा की जाती हो। उसे व्यस्त राजमार्गों, दूकानों, खेल के स्थानों के प्रति तत्क्षण आकृष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, उसे प्रातः चार बजे उठना चाहिए और शुद्ध ब्राह्म मुहूर्त का उपयोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में करना चाहिए। इसी तरह उसे अर्द्धरात्रि जैसे समय के पापपूर्ण प्रभाव से बचना चाहिए, जिसमें भूत-प्रेत तथा असुर सक्रिय रहते हैं। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, उसे अपने नियत कर्म करने

चाहिए, आध्यात्मिक जीव के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए औरअपनी सारी शक्ति पुण्यकर्मों में लगानी चाहिए। समय को व्यर्थ के या भौतिक कार्यों में नहीं बिताना चाहिए, जिनकी आधुनिक समाज में भरमार है। उसे प्रामाणिक गुरु से दीक्षारूपी दूसरा जन्म लेकर तथा हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण सीख कर सतोगुणी जीवन बनाना चाहिए।उसे किसी राजसी अथवा तामसी अवैध योगिक या धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। उसे भगवान् का ध्यान समस्त यज्ञों के भोक्ता के रूप में करना चाहिए। इसी तरह, उसे महान् भक्तों तथा सन्त पुरुषों के जीवनों का ध्यान करना चाहिए। उसे कामुक स्त्रियों तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों का ध्यान नहीं करना चाहिए। जहाँ तक मंत्रों की बात है, उसे श्री चैतन्य महाप्रभु का उदाहरण सामने रख कर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना चाहिए। उसे अन्य गीत, काव्य या माया की प्रशंसा वाले मंत्रों का कीर्तन नहीं करना चाहिए। उसे अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिए संस्कार सम्पन्न करने चाहिए, न कि अपने परिवार को भौतिक आशीर्वाद प्राप्त कराने के लिए।

जो व्यक्ति सतोगुण को बढ़ाता है, वह निश्चय ही धर्म में स्थिर हो जाता है और उसमें स्वतः ज्ञानोदय होता है। ज्ञान के बढ़ने पर मनुष्य शाश्वत आत्मा तथा परमात्मा, भगवान् कृष्ण, को समझने में समर्थ होता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कृत्रिम आरोपन से आत्मा मुक्त हो जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान जीव को आच्छादित करने वाली भौतिक उपाधियों को भस्म कर देता है और तब मनुष्य का असली, शाश्वत जीवन प्रारम्भ होता है।

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥७॥

शब्दार्थ

वेणु—बाँस की; सङ्घर्ष-जः—रगड़ से उत्पन्न; वह्निः—आग; दग्ध्वा—जलाकर; शाम्यति—शान्त हो जाती है; तत्—बाँस के; वनम्—जंगल को; एवम्—इस प्रकार; गुण—गुणों के; व्यत्यय-जः—अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न; देहः—भौतिक शरीर; शाम्यति—शान्त की जाती है; तत्—वह अग्नि; क्रियः—वही कार्य करके।

बाँस के जंगल में कभी कभी वायु बाँस के तनों में रगड़ उत्पन्न करती है और ऐसी रगड़ से प्रज्जवलित अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो अपने जन्म के स्त्रोत, बाँस के जंगल, को ही भस्म कर देती है। इस प्रकार अग्नि अपने ही कर्म से स्वतः प्रशमित हो जाती है। इसी तरह प्रकृति के भौतिक गुणों में होड़ तथा पारस्परिक क्रिया होने से, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने मन तथा शरीर का उपयोग ज्ञान का अनुशीलन करने में करता है, तो ऐसा ज्ञान देह

को उत्पन्न करने वाले गुणों के प्रभाव को नष्ट कर देता है। इस तरह, अग्नि के ही समान, शरीर तथा मन अपने जन्म के स्त्रोत को विनष्ट करके अपने ही कर्मों से शान्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गुणव्यत्यय-ज:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *व्यत्यय* सूचक है वस्तुओं के सहज क्रम में परिवर्तन या उलट-फेर का। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने व्यत्यय की धारणा को संस्कृत के पर्यायवाची शब्द *वैषम्य* से वर्णित किया है, जो असमानता का सूचक है। अत: *गुण व्यत्ययज:* शब्द से यह समझा जाता है कि शरीर तीन भौतिक गुणों के अस्थायी सम्बन्धों से उत्पन्न होता है और ये गुण सर्वत्र परिवर्तनशील अनुपातों में विद्यमान रहते हैं। इन गुणों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता है। कभी कभी अच्छा व्यक्ति काम से पीड़ित होता है और कभी कभी कामुक व्यक्ति सब कुछ त्याग कर विश्राम चाहता है। अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी अपने दूषित जीवन से ऊब जाता है और कामुक व्यक्ति कभी कभी तमोगुणी आदतों में लीन रहता है। इस तरह गुणों में पारस्परिक संघर्ष के कारण, मनुष्य संसार-भर में अपने कर्म द्वारा एक के बाद दूसरा शरीर धारण करके घूमता रहता है। कहा गया है कि विविधता भोग की जननी है, अतएव गुणों की विविधता से यह आशा बँधती है कि बद्धजीव को बदली परिस्थितियों में दुख तथा निराशा से सुख तथा आशा का संचार हो सकता है। किन्तु यदि किसीको सुख मिल भी जाय तो तुरन्त ही वह गुणों के अनिवार्य प्रवाह के द्वारा विचलित कर दिया जायेगा।

श्रीउद्धव उवाच
विदन्ति मर्त्या: प्रायेण विषयान्पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धव: उवाच—उद्धव ने कहा; विदन्ति—जानते हैं; मर्त्या:—मनुष्यगण; प्रायेण—सामान्यतया; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति; पदम्—स्थिति; आपदाम्—अनेक विपत्तियों की; तथा अपि—फिर भी; भुञ्जते—भोगते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; तत्—ऐसी इन्द्रियतृप्ति; कथम्—कैसे सम्भव है; श्व—कुत्ते; खर—गधे; अज—तथा बकरे; वत्—सदृश।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, सामान्यतया मनुष्य यह जानते हैं कि भौतिक जीवन भविष्य में महान् दुख देता है, फिर भी वे भौतिक जीवन का भोग करना चाहते हैं। हे प्रभु, यह जानते हुए भी, वे किस तरह कुत्ते, गधे या बकरे जैसा आरचण करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भोग की मानक विधियाँ हैं—यौन, धन तथा मिथ्या प्रतिष्ठा। ये सब

बहुत ही कष्ट के बाद प्राप्त होती हैं और अन्त में समाप्त हो जाती हैं। भौतिक जीवन में व्यस्त व्यक्ति वर्तमान काल में कष्ट पाता है और उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से उबरने की कोई सम्भावना नहीं दिखती। अतः मनुष्य जो इन वस्तुओं को देख चुके हैं और उन्हें जानते हैं, वे किस तरह जीवन का भोग कुत्तों, गधों तथा बकरों की तरह करते हैं? प्रायः कुत्ता कुतिया के पास सम्भोग की इच्छा से जाता है किन्तु हो सकता है कि कुतिया आकृष्ट न हो और वह दाँत दिखाकर उसे काटने दौ। तो भी वह किञ्चित संभोग के लिए पीछे लगा रहता है। इसी तरह, बहुधा, ऐसे स्थान से भोजन चुराने पर जहाँ वह जानता है कि उसे नहीं जाना चाहिए, कुत्ते की पिटाई हो सकती है या वह गोली से मारा जा सकता है। गधा गधी के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहता है किन्तु प्रायः गधी उसे दुलत्ती मारती है। इसी तरह, गधे का मालिक मुट्ठी-भर घास देकर, जो बेचारा गधा कहीं से भी प्राप्त कर सकता है, उस पर भारी बोझा लादता है। बकरा प्रायः वध करने के लिए पाला जाता है और वधशाला में लाये जाने पर भी वह बकरी के साथ यौन-सुख प्राप्त करने का निर्लज्जता से प्रयास करता है। इस तरह, मारे-पीटे, वध किये जाने के भय के बावजूद पशु अपनी मूर्खतापूर्ण इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। भला कोई शिक्षित व्यक्ति इस तरह का गर्हित जीवन बिताना चाहेगा, जिसमें पशुओं जैसा ही फल प्राप्त होना है? यदि सतोगुण के अनुशीलन से मनुष्य का जीवन सुख, प्रकाश तथा भावी फल से परिपूर्ण हो, तो कोई रजो तथा तमोगुणों का अनुशीलन क्यों करना चाहेगा? यही उद्धव का प्रश्न है।

श्रीभगवानुवाच
अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥ १०॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहम्—शरीर तथा मन के साथ झूठी पहचान; इति—इस प्रकार; अन्यथा-बुद्धिः—मोहमय ज्ञान; प्रमत्तस्य—वास्तविक बुद्धि से रहित है, जो उसका; यथा—तदनुसार; हृदि—मन के भीतर; उत्सर्पति—उठती है; रजः—कामवासना; घोरम्—भयावह कष्ट देने वाला; ततः—तब; वैकारिकम्—(मूलतः) सतोगुण में; मनः—मन; रजः—रजोगुण में; युक्तस्य—लगा हुआ है, जो उसका; मनसः—मन का; सङ्कल्पः—संकल्प; स-विकल्पकः—बदलाव सहित; ततः—उससे; कामः—पूर्ण भौतिक इच्छा; गुण—गुणों में; ध्यानात्—ध्यान से; दुःसहः—असह्य; स्यात्—ऐसा ही हो; हि—निश्चय ही; दुर्मतेः—मूर्ख व्यक्ति का।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, बुद्धिरहित व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी झूठी पहचान भौतिक शरीर

तथा मन के साथ करता है और जब किसी की चेतना में ऐसा मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो महान् कष्ट का कारण, भौतिक काम (विषय-वासना), उस मन में व्याप्त हो जाता है, जो स्वभाव से सात्विक होता है। तब काम द्वारा दूषित मन भौतिक उन्नति के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में एवं बदलने में लीन हो जाता है। इस प्रकार सदैव गुणों का चिन्तन करते हुए, मूर्ख व्यक्ति असह्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होता रहता है।

तात्पर्य : जो लोग इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं, यद्यपि वे अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानते हैं। यद्यपि ऐसे मूर्ख लोग अनेक पुस्तकों, गीतों, समाचार-पत्रों, टेलीविजन कार्यक्रमों, नगर समितियों इत्यादि में उनकी आलोचना करते हैं, किन्तु वे क्षण-भर भी भौतिक जीवन से अपने को विलग नहीं कर पाते। जिस विधि से मनुष्य माया में असहाय होकर बँधा होता है, उसका स्पष्ट वर्णन यहाँ पर हुआ है।

भौतिकतावादी व्यक्ति सदैव यही सोचता रहता है—''ओह! कितना अच्छा मकान है। काश, मैं इसे खरीद सकता'' अथवा, ''कितनी सुन्दर है यह स्त्री! काश, मैं इसका स्पर्श कर सकता'' या ''यह कितना अच्छा पद है! काश, मैं इस पर आसीन हो सकता।'' *संकल्प: स-विकल्प:* यह सूचित करता है कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपने भौतिक भोग को बढ़ाने के लिए सदैव नई नई योजनाएँ बनाता रहता है या पुरानी योजनाओं में संशोधन करता रहता है, यद्यपि अपने अच्छे क्षणों में वह भौतिक जीवन को दुख से भरा हुआ स्वीकार करता है। जैसाकि सांख्य दर्शन में बतलाया गया है, मन की उत्पत्ति सतोगुण से होती है और मन की सहज शान्त अवस्था कृष्ण का शुद्ध प्रेम है, जिसमें कोई मानसिक विक्षोभ, निराशा या द्विधा नहीं रहती। मन को कृत्रिम रूप से रजो या तमोगुण में नीचे ले जाया जाता है, जिसमें मनुष्य कभी भी तुष्ट नहीं रहता।

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन्रजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; काम—भौतिक इच्छाओ के; वश—अधीन; गः—जाकर; कर्माणि—सकाम कर्म; अविजित—अवश्य; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ; दुःख—दुख; उदर्काणि—भावी फल के रूप में लाते हुए; सम्पश्यन्—स्पष्टदेखते हुए; रजः—रजोगुण का; वेग—वेग से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

जो भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं करता, वह भौतिक इच्छाओं के वशीभूत हो जाता है

और इस तरह वह रजोगुण की प्रबल तरंगों से मोहग्रस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भौतिक कर्म करता रहता है, यद्यपि उसे स्पष्ट दिखता है कि इसका फल भावी दुख होगा।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान्विक्षिप्तधीः पुनः ।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन्दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमोगुणों से; यत् अपि—यद्यपि; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; विक्षिप्त—मोहग्रस्त; धीः—बुद्धि; पुनः—फिर; अतन्द्रितः—सावधानी से; मनः—मन; युञ्जन्—लगाते हुए; दोष—भौतिकआसक्ति का कल्मष; दृष्टिः—स्पष्ट देखते हुए; न—नहीं; सज्जते—लिप्त नहीं होता।.

यद्यपि विद्वान पुरुष की बुद्धि रजो तथा तमोगुणों से मोहग्रस्त हो सकती है, किन्तु उसे चाहिए कि वह सावधानी से अपने मन को पुनः अपने वश में करे। गुणों के कल्मष को स्पष्ट देखने से वह आसक्त नहीं होता।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अप्रमत्तः—सतर्क तथा गम्भीर; अनुयुञ्जीत—स्थिर करे; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पयन्—लीन करते हुए; शनैः—धीरे धीरे; अनिर्विण्णः—आलसी या खिन्न हुए बिना; यथा-कालम्—दिन में कम से कम तीन बार (प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय); जित—जीत कर; श्वासः—श्वास लेने की विधि; जित—जीत कर; आसनः—बैठने की शैली।.

मनुष्य को सावधान तथा गम्भीर होना चाहिए और उसे कभी भी आलसी या खिन्न नहीं होना चाहिए। श्वास तथा आसन की योग-क्रियाओं में दक्ष बन कर, मनुष्य को अपना मन प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय मुझ पर एकाग्र करके इस तरह मन को धीरे धीरे मुझमें पूरी तरह से लीन कर लेना चाहिए।

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—वास्तव में यह; योगः—योग-पद्धति; आदिष्टः—आदेश दिया हुआ; मत्-शिष्यैः—मेरे भक्तों द्वारा; सनक-आदिभिः—सनक कुमार इत्यादि द्वारा; सर्वतः—सभी दिशाओं से; मनः—मन को; आकृष्य—खींच कर; मयि—मुझमें; अद्धा—सीधे; आवेश्यते—लीन किया जाता है; यथा—तदनुसार।.

सनक कुमार इत्यादि मेरे भक्तों द्वारा पढ़ायी गयी वास्तविक योग-पद्धति इतनी ही हैं कि अन्य सारी वस्तुओं से मन को हटाकर मनुष्य को चाहिए कि उसे सीधे तथा उपयुक्त ढंग से मुझ

में लीन कर दे।

तात्पर्य : *यथा* शब्द सूचित करता है कि उद्धव की ही तरह हर व्यक्ति को सीधे कृष्ण या कृष्ण के प्रतिनिधि से सुनना चाहिए और अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच
यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यदा—जब; त्वम्—तुम; सनक-आदिभ्यः—सनक आदि को.; येन—जिससे; रूपेण—रूप से; केशव—हे केशव; योगम्—परब्रह्म में मन को स्थिर करने की विधि; आदिष्टवान्—आपने आदेश दिया है; एतत्—वह; रूपम्—रूप; इच्छामि—चाहता हूँ; वेदितुम्—जानना।

श्री उद्धव ने कहा : हे केशव, आपने सनक तथा उनके भाइयों को किस समय तथा किस रूप में योग-विद्या के विषय में उपदेश दिया? अब मैं इन बातों के विषय में जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच
पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीम्गतिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पुत्राः—पुत्र; हिरण्य-गर्भस्य—ब्रह्मा के; मानसाः—मन से उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक ऋषि इत्यादि ने; पप्रच्छुः—पूछा; पितरम्—अपने पिता (ब्रह्मा) से; सूक्ष्माम्—सूक्ष्म अतएवसमझने में कठिन; योगस्य—योग-विद्या का; एकान्तिकीम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

भगवान् ने कहा, एक बार सनक आदि ब्रह्मा के मानस पुत्रों ने अपने पिता से योग के परम लक्ष्य जैसे अत्यन्त गूढ़ विषय के बारे में पूछा।

सनकादय ऊचुः
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।
कथमन्योन्यसन्त्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सनक-आदयः ऊचुः—सनक इत्यादि ऋषियों ने कहा; गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—सीधे प्रवेश करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन के भीतर; च—भी; प्रभो—हे प्रभु; कथम्—वह विधि क्या है; अन्योन्य—इन्द्रिय-विषयों तथा मन का पारस्परिक सम्बन्ध; सन्त्यागः—वैराग्य; मुमुक्षोः—मोक्ष की कामना करने वाले का; अतितितीर्षोः—इन्द्रियतृप्ति को पार कर जाने के इच्छुक का।

सनकादि ऋषियों ने कहा : हे प्रभु, लोगों के मन स्वभावतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकृष्ट रहते हैं और इसी तरह से इन्द्रिय-विषय इच्छा के रूप में मन में प्रवेश करते हैं। अतएव

मोक्ष की इच्छा करने वाला तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों को लाँघने की इच्छा करने वाला व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों तथा मन के बीच पाये जाने वाले इस पारस्परिक सम्बन्ध को कैसे नष्ट करे? कृपया हमें यह समझायें।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर वर्णन हुआ है, जब तक मनुष्य बद्ध रहता है, उसे इन्द्रिय-विषयों के रूप में प्रकृति के गुण निरन्तर विचलित करते रहते हैं और उनके उत्पीड़न से वह वास्तविक जीवन-सिद्धि से वंचित रह जाता है।

श्रीभगवानुवाच
एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः ।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पृष्टः—पूछे जाने पर; महा-देवः—महान् देवता ब्रह्मा; स्वयम्-भूः—बिना जन्म के (गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर से सीधे उत्पन्न); भूत—सारे बद्धजीवों के; भावनः—स्रष्टा (बद्ध जीवन के); ध्यायमानः—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; प्रश्न—प्रश्न के; बीजम्—सत्य; न अभ्यपद्यत—नहीं पहुँचा; कर्म-धीः—अपने ही कर्मों द्वारा मोहित बुद्धि।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् के शरीर से उत्पन्न तथा भौतिक जगत के समस्त जीवों के स्रष्टा स्वयं ब्रह्माजी ने सर्वोच्च देवता होने के कारण सनक आदि अपने पुत्रों के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। किन्तु ब्रह्मा की बुद्धि अपनी सृष्टि के कार्यों से प्रभावित थी, अतः वे इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं ढूँढ सके।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। नवें अध्याय के श्लोक ३२ में, भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को भगवान् के असली रूप, गुण तथा कार्यों के विज्ञान का वर दिया। नवें अध्याय के श्लोक ३७ में, भगवान् ने ब्रह्मा को आदेशों का दृढ़ता से पालन किये जाने की आज्ञा दी और पुष्टि की कि इस तरह वे अपने ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी निर्णय लेने में कभी मोहग्रस्त नहीं होंगे। छठे अध्याय के श्लोक ३४ में, ब्रह्मा ने अपने पुत्र नारद को आश्वस्त किया, ''हे नारद! चूँकि मैंने अत्यन्त उत्साह के साथ भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, अतएव मैंने जो भी कहा है, वह मिथ्या नहीं सिद्ध हुआ, न ही मेरे मन की गति वाधित होती है, न ही पदार्थ के प्रति क्षणिक अनुरक्ति से मेरी इन्द्रियाँ नीचे गिरती हैं।''

ग्यारहवें स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि दुर्भाग्यवश ब्रह्मा अपने

सृजनात्मक कार्यों से विमोहित हो गये। इस तरह उन्होंने भगवान् के शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों के लिए गम्भीर शिक्षा प्रस्तुत की है। भले ही कोई भगवान् की दिव्य भक्ति के उच्च पद को प्राप्त कर ले, किन्तु सदैव इसका खतरा बना रहता है कि मिथ्या अभिमान किसी भी क्षण भक्ति-मनोवृत्ति को दूषित न कर दे।

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उस (ब्रह्मा) ने; माम्—मुझको; अचिन्तयत्—स्मरण किया; देवः—आदि देवता; प्रश्न—प्रश्न का; पार—अन्त, निष्कर्ष (उत्तर); तितीर्षया—प्राप्त करने या समझने की इच्छा से; तस्य—उस तक; अहम्—मैं; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; सकाशम्—दृश्य; अगमम्—हो गया; तदा—उस समय।

ब्रह्माजी उस प्रश्न का उत्तर पाना चाह रहे थे, जो उन्हें उद्विग्न कर रहा था, अतएव उन्होंने अपना मन भगवान् में स्थिर कर दिया। उस समय, मैं अपने हंस रूप में ब्रह्मा को दृष्टिगोचर हुआ।

तात्पर्य : *हंस* का अर्थ है ''हंस पक्षी'' जिसमें दूध तथा पानी के मिश्रण में से पौष्टिक दूध को विलग करने की विशेष क्षमता होती है। इसी प्रकार, भौतिक गुणों में से ब्रह्मा की शुद्ध चेतना को विलग करने के लिए, भगवान् कृष्ण हंस के रूप में प्रकट हुए।

दृष्ट्वा माम्त उपव्रज्य कृत्व पादाभिवन्दनम् ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; ते—वे (मुनिगण); उपव्रज्य—निकट आकर; कृत्वा—करके; पाद—चरणकमलों पर; अभिवन्दनम्—नमस्कार; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी को; अग्रतः—सामने; कृत्वा—करके; पप्रच्छुः—पूछा; कः भवान्—आप कौन हैं; इति—इस प्रकार।

इस प्रकार मुझे देख कर सारे मुनि, ब्रह्मा को आगे करके, आगे आये और मेरे चरणकमलों की पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने साफ साफ पूछा कि, ''आप कौन हैं?''

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है, ''जब ब्रह्माजी मुनियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये, तो उन्होंने अपना मन भगवान् के चिन्तन में लगा दिया। तब भगवान् ने हंस का रूप धारण किया और वे ब्रह्मा तथा मुनियों के समक्ष प्रकट हुए, तो उन्होंने भगवान् की विशेष

पहचान के बारे में पूछताछ की।''

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अहम्—मैं; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; पृष्टः—पूछा जाने पर; तत्त्व—योग के लक्ष्य के विषय में सत्य; जिज्ञासुभिः—जानने की इच्छा रखने वालों के द्वारा; तदा—उस समय; यत्—जो; अवोचम्—बोला; अहम्—मैं; तेभ्यः—उनसे; तत्—वह; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे।

हे उद्धव, मुनिगण योग-पद्धति के परम सत्य को जानने के इच्छुक थे, अतएव उन्होंने मुझसे इस प्रकार पूछा। मैंने मुनियों से जो कुछ कहा, उसे अब मुझसे सुनो।

वस्तुनो यद्यनानात्व आत्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—व्ास्तविकता का; यदि—यदि; अनानात्वे—व्यष्टिहीनता में; आत्मनः—जीवात्मा के; प्रश्नः—प्रश्न; ईदृशः—ऐसा; कथम्—कैसे; घटेत—सम्भव है, अथवा उपयुक्त है; वः—पूछ रहे तुम्हारा; विप्राः—हे ब्राह्मण; वक्तुः—वक्ता का; वा—अथवा; मे—मेरा; कः—क्या है; आश्रयः—असली स्थिति अथवा आश्रय।

हे ब्राह्मणो, यदि तुम लोग मुझसे पूछते हो कि मैं कौन हूँ, तो यदि तुम यह विश्वास करते हो कि मैं भी जीव हूँ और हम लोगों में कोई अन्तर नहीं है—क्योंकि अन्ततः सारे जीव एक हैं—तो फिर तुम लोगों का प्रश्न किस तरह सम्भव या उपयुक्त (युक्ति संगत) है? अन्ततः तुम्हारा और मेरा दोनों का असली आश्रय क्या है?

तात्पर्य : *आश्रय* का अर्थ है ''शरण''। भगवान् कृष्ण के इस प्रश्न का कि, ''हमारा वास्तविक आश्रय या शरण क्या है?'' यह अर्थ है कि, ''हमारी परम प्रकृति या स्वाभाविक स्थिति क्या है?'' ऐसा इसलिए है क्योंकि अपनी सहज स्थिति प्राप्त किये बिना कोई प्राणी रुकता या सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि भले ही कोई सारे जगत का भ्रमण कर ले, किन्तु अन्त में अपने घर लौटने पर ही सन्तुष्ट होता है। इसी प्रकार रोता हुआ बालक अपनी माता के द्वारा आलिंगन किये जाने पर ही चुप होता है। अपनी तथा ब्राह्मणों की शरण अथवा आश्रय के विषय में पूछते हुए, भगवान् हर जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति को सूचित कर रहे हैं।

यदि कृष्ण भी *जीव* कोटि में होते और उनके समेत सारे जीव एकसमान होते, तो फिर एक जीव

द्वारा ऐसा प्रश्न करने और दूसरे द्वारा उत्तर देने का कोई गम्भीर प्रयोजन न होता। जो उच्च पद पर होता है, केवल वही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य के सारे प्रश्नों का उत्तर देता है, फिर भी गुरु जीव-कोटि में होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रामाणिक गुरु अपनी ओर से नहीं अपितु उन भगवान् की ओर से बोलता है, जो विष्णु-कोटि में हैं। जीवात्मा के रूप में बोलने वाला तथाकथित गुरु व्यर्थ होता है और गम्भीर प्रश्नों के सार्थक उत्तर देने में अक्षम होता है। अत: मुनियों का यह प्रश्न कि *को भवान्* (आप कौन हैं?) बताता है कि भगवान् नित्य *व्यष्टि* पुरुष हैं। चूँकि ब्रह्मा आदि मुनियों ने भगवान् को नमस्कार किया और उनकी पूजा की, इसलिए यह भाव है कि वे भगवान् हैं। इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी ब्रह्मा ने भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी जीव को पूज्य नहीं माना।

भगवान् कृष्ण का असली प्रयोजन योग की पूर्णता को बतलाना है, जिसे मुनिगण जानने के इच्छुक थे। दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, मन तथा इन्दिय-विषयों का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक मन विषय-वासनाओं की वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता। इस तरह मन को आध्यात्मिक बनाने से भौतिक जीवन स्वत: ही शिथिल पड़ जाता है। मुनियों के प्रश्न के औचित्य के बारे में पूछने से, भगवान् गुरु का पद ग्रहण करते हुए, अमूल्य उपदेश देने की तैयारी कर रहे हैं। किसी को प्रामाणिक गुरु से द्वेष नहीं रखना चाहिए, विशेष रूप से तब, जबकि गुरु भगवान् हों, जैसाकि यहाँ पर ब्रह्मा तथा सनक कुमार आदि मुनियों से भगवान् हंस बोल रहे हैं।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुत: ।
को भवानिति व: प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थक: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच तत्त्वों के; आत्मकेषु—बने हुए; भूतेषु—विद्यमान; समानेषु—एक समान; च—भी; वस्तुत:—सार रूप में; क:—कौन; भवान्—आप हैं; इति—इस प्रकार; व:—तुम्हारा; प्रश्न:—प्रश्न; वाचा—वाणी से; आरम्भ:—ऐसा प्रयास; हि—निश्चय ही; अनर्थक:—असली अर्थ या अभिप्राय से रहित।

यदि तुम लोग मुझसे यह प्रश्न पूछ कर कि, ''आप कौन हैं?'' भौतिक देह की बात करना चाहते हो, तो मैं यह इंगित करना चाहूँगा कि सारे भौतिक देह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच तत्त्वों से मिल कर बने हैं। इसलिए, तुम लोगों को इस प्रकार पूछना चाहिए था, ''आप पाँच कौन हैं?'' यदि तुम लोग यह मानते हो कि सारे भौतिक देह एकसमान तत्त्वों

से बने होने से, अन्ततः एक हैं, तो भी तुम्हारा प्रश्न निरर्थक है क्योंकि एक शरीर से दूसरे शरीर में भेद करने में कोई गम्भीर प्रयोजन नहीं है। इस तरह ऐसा लगता है कि मेरी पहचान पूछ कर, तुम लोग ऐसे शब्द बोल रहे हो जिनका कोई वास्तविक अर्थ या प्रयोजन नहीं है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है "पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने यह दिखलाया है कि यदि मुनियों ने यह निर्विशेष दर्शन स्वीकार किया है कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं, तो उनका यह प्रश्न "आप कौन हैं?" निरर्थक है, क्योंकि एक जीव को दूसरे से पृथक् करने का कोई दार्शनिक आधार नहीं रह जाता। इस श्लोक में भगवान् पंचतत्त्वों से बने शरीर से झूठी पहचान का खण्डन करते हैं। यदि मुनिगण शरीर को आत्मा मान बैठे हैं, तो उनका प्रश्न निरर्थक है क्योंकि तब उन्हें यह पूछना चाहिए था कि, "आप पाँच कौन हैं?" यदि मुनियों ने यह उत्तर दिया होता कि यद्यपि शरीर पंचतत्त्वों से बना है और ये पाँचों मिल कर एक अद्वितीय वस्तु बनाते हैं, तो भगवान् ने पहले ही *समानेषु च वस्तुत:* कह कर इसका उत्तर दे दिया है। मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के शरीर एक जैसे पाँच तत्त्वों से बने होते हैं और अनिवार्य रूप से एकसमान होते हैं। इसलिए "आप कौन हैं?" यह प्रश्न निरर्थक है। इसलिए कोई चाहे यह सिद्धान्त माने कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं अथवा सारे जीव अपने भौतिक शरीरों से अभिन्न हैं, दोनों ही स्थितियों में मुनियों का प्रश्न निरर्थक है।

मुनिगण यह तर्क कर सकते हैं कि विद्वानों में भी अनेक विषयों के बारे में प्रश्न पूछना और उनका उत्तर देना सामान्य जीवन का अंग है। मुनिगण यह इंगित कर सकते थे कि भगवान् कृष्ण ने भी *विप्रा:* (हे ब्राह्मण) तथा *व:* (तुम्हारे प्रश्न) कह कर, उनमें अन्तर किया है। इस तरह यह देखा जाता है कि भगवान् भी प्रश्नोत्तर की सामान्य प्रथा को मानते हैं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए, भगवान् कहते हैं—*वाचारम्भो ह्यनर्थक: ।* भगवान् कहते हैं" *ब्राह्मण* कह कर तुम लोगों को मेरा सम्बोधित किया जाना शब्दाडम्बर है यदि हम अन्ततः भिन्न नहीं हैं। मैंने तो तुम्हारे आने का स्वागत किया है। इसलिए यदि हम अन्ततः एक हैं, तो न तो मेरे कथन, न ही तुम्हारे प्रश्न का कोई अर्थ है। अतएव मुझसे पूछे गये तुम्हारे प्रश्न से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम लोग अधिक बुद्धिमान नहीं हो। तो फिर तुम परम ज्ञान को क्यों जानना चाहते हो? क्या तुम सभी उद्विग्न नहीं हो?"

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि मुनियों का प्रश्न उपयुक्त नहीं था, क्योंकि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा को भगवान् हंस के चरणकमलों की पूजा करते देखा था। चूँकि उनके गुरु तथा पिता हंस की पूजा कर रहे थे, अत: उन्हें तुरन्त ही भगवान् के पद को समझ लेना चाहिए था। इस तरह उनका प्रश्न निरर्थक है।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ २४॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; **वचसा**—वाणी से; **दृष्ट्या**—दृष्टि से; **गृह्यते**—ग्रहण किया जाता है, स्वीकार किया जाता है; **अन्यैः**—अन्य; **अपि**—यद्यपि; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों के द्वारा; **अहम्**—मैं; **एव**—निस्सन्देह; **न**—नहीं; **मत्तः**—मेरे अतिरिक्त; **अन्यत्**—अन्य कोई वस्तु; **इति**—इस प्रकार; **बुध्यध्वम्**—तुम्हें समझना चाहिए; **अञ्जसा**—तथ्यों के सीधेविश्लेषण से।.

इस जगत में, मन, वाणी, आँखों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा जो भी अनुभव किया जाता है, वह एकमात्र मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तुम सभी लोग तथ्यों के सीधे विश्लेषण से इसे समझो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही बता चुके हैं कि यदि मुनिगण सारे जीवों को एक मानते हैं या जीव को उसका शरीर मानते हैं, तो उनका यह प्रश्न कि, ''आप कौन हैं?'' अनुपयुक्त है। अब भगवान् इस धारणा का खंडन करते हैं कि वे इस जगत की प्रत्येक वस्तु से परे तथा भिन्न परमेश्वर रूप हैं। आधुनिक नास्तिक दार्शनिक यह प्रचार करते हैं कि ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि की और फिर छुट्टी ले ली। उनके अनुसार ईश्वर का इस जगत से कोई ठोस सम्बन्ध नहीं है, न ही वे मानवीय व्यापारों में हस्तक्षेप करते हैं। अन्ततः वे यह दावा करते हैं कि ईश्वर इतने महान् हैं कि उन्हें जाना नहीं जा सकता, इसलिए ईश्वर को समझने में समय नहीं गँवाना चाहिए। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों का खण्डन करने के लिए ही यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति का अंश है, इसलिए वे किसी वस्तु से भिन्न नहीं हैं। भगवान् से पृथक् होकर कोई वस्तु विद्यमान नहीं रह सकती। इस तरह प्रत्येक वस्तु भगवान् की प्रकृति में हाथ बँटाती है, यद्यपि कुछ वस्तुएँ श्रेष्ठ होती हैं और कुछ निकृष्ट। भगवान् मुनियों के प्रश्नों में विरोधाभासों की ओर संकेत करते हैं। यदि भगवान् सर्वोच्च हों भी तो वे अपनी सृष्टि से भिन्न नहीं हैं, अतएव ''आप कौन हैं?'' इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि भगवान् आध्यात्मिक ज्ञान की गम्भीर विवेचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—प्रविष्ट करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन में; च—भी (प्रवेश करते हैं); प्रजाः—मेरे पुत्रों; जीवस्य—जीव का; देहः—बाह्य शरीर, उपाधि के रूप में; उभयम्—इन दोनों; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतः—मन; मत्-आत्मनः—परमात्मा रूप में मुझे पाकर।

हे पुत्रो, मन की सहज प्रवृत्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रविष्ट करने की होती है और इसी तरह इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। किन्तु भौतिक मन तथा इन्द्रिय-विषय दोनों ही उपाधियाँ मात्र हैं, जो मेरे अंशरूप आत्मा को प्रच्छन्न करती हैं।

तात्पर्य : हंसावतार के रूप में भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के पुत्रों के सरल से प्रश्न (आप कौन हैं) में विरोधाभासों के बहाने मुनियों को पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा देने की तैयारी कर रहे हैं, किन्तु पहले वे जीवन की दो भ्रान्त धारणाओं का—कि सारे जीव एकसमान हैं और जीव अपने बाह्य या सूक्ष्म शरीर से अभिन्न हैं—खण्डन कर देते हैं। अत: भगवान् कृष्ण उस कठिन प्रश्न का उत्तर देते हैं जिसने ब्रह्मा को भी चक्कर में डाल दिया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा के पुत्र इस प्रकार सोच रहे थे, ''हे प्रभु! यदि यह वास्तव में सच है कि हम मूर्ख हैं, तो फिर भी आपने यह कहा है कि आप ही सर्वस्व हैं क्योंकि आपकी शक्ति के अंश रूप में ही सारी वस्तुएँ हैं। इसलिए आप ही मन तथा इन्द्रिय-विषय भी हैं और हमारे प्रश्न का विषय भी यही है। भौतिक इन्द्रिय-विषय मन के कार्यों में सदा ही प्रवेश करते हैं और इसी तरह मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भीतर प्रवेश करता है। इसलिए यह उचित ही है कि हम आपसे वह विधि पूछें, जिससे इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश न करें और न मन इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करे। कृपा करके हमें उत्तर दें।'' भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं ''हे पुत्रो! यह तथ्य है कि मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करता है और इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। इस तरह, यद्यपि जीव मेरे अंश हैं और मेरे ही समान नित्य चेतन हैं और जीव का नित्य स्वरूप मेरे ही समान आध्यात्मिक है, किन्तु बद्ध जीवन में जीव अपने ऊपर मन तथा इन्द्रिय-विषयों को थोप लेता है, जो आत्मा की बाह्य उपाधियों के समान कार्य करते हैं। चूँकि मन तथा इन्द्रिय-विषयों में अन्योन्य क्रिया स्वाभाविक है, अत: ऐसे पारस्परिक आकर्षण को रोकने का प्रयास कैसे किया जा सकता है? चूँकि मन तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय व्यर्थ हैं, अतएव इनका परित्याग

करना चाहिए और इस तरह तुम सभी लोग स्वत: भौतिक द्वैत से मुक्त हो सकोगे।''

श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि मन का लक्षण यह है कि उसमें अपने को ही परम कर्ता तथा भोक्ता मानने की प्रवृत्ति होती है। अत: स्वाभाविक है कि ऐसी गर्वित मनोवृत्ति से कोई भी व्यक्ति असहाय होकर इन्द्रिय-विषयों द्वारा आकृष्ट कर लिया जाता है। जो अपने को कर्ता तथा भोक्ता मानता है, वह इन्द्रियतृप्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा अर्थात् भौतिक वस्तुओं का शोषण प्राप्त करने के साधनों की ओर बलात् आकृष्ट होता है। किन्तु मन के ऊपर भी बुद्धि है, जो नित्य आत्मा के अस्तित्व का अनुभव कर सकती है। मन को इन्द्रिय-विषय से विलग कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि वे साथ साथ रहते हैं। इसलिए मनुष्य को बुद्धि द्वारा अपने आत्मा रूपी नित्य स्वरूप की, जो कि भगवान् का अंश है, अनुभूति करनी होगी और व्यर्थ की भौतिक मनोवृत्ति का परित्याग करना होगा। जो व्यक्ति अपनी आदि आध्यात्मिक मनोवृत्ति को जागृत कर लेता है, वह स्वत: ही भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या होने का ज्ञान उत्पन्न करना होगा। जब मन या इन्द्रियाँ भौतिक भोग की ओर आकर्षित होती हैं, तो श्रेष्ठ बुद्धि को ऐसे मोह का तुरन्त पता लगा लेना चाहिए। इस तरह, मनुष्य को अपनी मनोवृत्ति को शुद्ध बनाना चाहिए। भगवद्भक्ति से, ऐसी विरक्ति तथा बुद्धि स्वत: जाग्रत होती हैं और अपने आदि आध्यात्मिक स्वरूप को भलीभाँति जानकर, मनुष्य शुद्ध चेतना में उचित रूप से स्थित होता है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; च—तथा; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; चित्तम्—मन; अभीक्ष्णम्—पुनः पुनः; गुण-सेवया—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; गुणाः—तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय; च—भी; चित्त—मन के भीतर; प्रभवाः—मुख्य रूप से उपस्थित होकर; मत्-रूपः—जिसने अपने को मुझसे अभिन्न समझ लिया है और इस तरह जो मेरे रूप, लीला आदि में लीन रहता है.; उभयम्—दोनों (मन तथा इन्द्रिय-विषय); त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।.

जिस व्यक्ति ने यह जान कर कि वह मुझसे भिन्न नहीं है, मुझे प्राप्त कर लिया है, वह अनुभव करता है कि मन निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के कारण इन्द्रिय-विषयों में रमा रहता है और भौतिक वस्तुएँ मन के भीतर स्पष्टतया स्थित रहती हैं। मेरे दिव्य स्वभाव को समझ लेने के बाद, वह मन तथा इसके विषयों को त्याग देता है।

तात्पर्य : भगवान् पुन: कहते हैं कि मन को उसके विषयों से पृथक् कर पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि मन अपने को, मूलरूप से, हर वस्तु का कर्ता तथा भोक्ता मानता है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि मन को त्यागने का अर्थ यह नहीं है कि सारे मानसिक कार्यकलाप त्याग दिये जाँय, अपितु इसका अर्थ है मन को शुद्ध बनाना और अपनी प्रबुद्ध मनोवृत्ति को भगवद्भक्ति में लगाना। चूँकि मन तथा इन्द्रियाँ, सनातन से, इन्द्रिय-विषयों के संसर्ग में रहे हैं, अतएव मन के लिए अपने विषयों को त्याग पाना कैसे सम्भव है क्योंकि ये विषय ही उसके अस्तित्व के आधार हैं? इतना ही नहीं, कि मन भौतिक वस्तुओं के पास पहुँच जाता है, बल्कि मन की इच्छाओं के कारण भौतिक वस्तुएँ मन से बाहर नहीं रह सकतीं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रिय-विषयों के मध्य विलगाव न तो सम्भव है, न ही इससे कोई लाभ है। यदि कोई अपने को सर्वश्रेष्ठ मान कर, भौतिक मनोवृत्ति रखता है, तो वह इन्द्रियतृप्ति को दुख का कारण मान कर उसका परित्याग कर सकता है, किन्तु वह ऐसे कृत्रिम पद पर बना नहीं रह सकता, न ही ऐसे परित्याग से कोई काम सधने वाला है। भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना, कोरे वैराग्य से इस भौतिक जगत से उद्धार नहीं होने वाला है।

जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य की अंश हैं, उसी तरह सारे जीव भगवान् के अंश हैं। जब जीव अपनी पहचान भगवान् के अंश के रूप में करते हुए, उसी में लीन हो जाता है, तो वह वास्तव में बुद्धिमान बन जाता है और मन तथा इन्द्रिय-विषयों का परित्याग कर देता है। इस श्लोक में *मद् रूप:* शब्द भगवान् के रूप, गुण, लीला तथा संगियों में मन को लीन करने का सूचक है। ऐसे आनन्दमय ध्यान में मग्न होकर, मनुष्य को भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इससे स्वत: ही इन्द्रियतृप्ति का प्रभाव दूर हो जायेगा। जीव में अपने आप मन तथा इन्द्रिय-विषयों से अपनी झूठी पहचान त्याग पाने की शक्ति नहीं होती, किन्तु अपने को भगवान् का अंश-सेवक मान कर, भगवान् की पूजा करने से वह भगवान् की शक्ति से दीप्त होकर, अज्ञान के अंधकार को भगा सकता है।

जाग्रत्स्वप्न: सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तय: ।
तासां विलक्षणो जीव: साक्षित्वेन विनिश्चित: ॥ २७॥

शब्दार्थ

जाग्रत्—जगा हुआ; स्वप्नः—स्वप्न देखता; सु-सुप्तम्—गहरी नींद; च—भी; गुणतः—गुणों से उत्पन्न; बुद्धि—बुद्धि के; वृत्तयः—कार्य; तासाम्—ऐसे कार्यों से; विलक्षणः—विभिन्न लक्षणों वाला; जीवः—जीव; साक्षित्वेन—साक्षी होने के लक्षण से युक्त; विनिश्चितः—सुनिश्चित किया जाता है।

जगना, सोना तथा गहरी नींद—ये बुद्धि के तीन कार्य है और प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न होते है। शरीर के भीतर का जीव इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न लक्षणों द्वारा सुनिश्चित होता है, अतएव वह उनका साक्षी बना रहता है।

तात्पर्य : आत्मा को भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं होता, उसका इससे कोई स्थायी या प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं होता। असली वैराग्य का अर्थ है सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ से भ्रामक पहचान का परित्याग। *सुषुप्तम्* सूचक है स्वप्न या चेतन कार्यकलाप से रहित नींद का। इन तीन अवस्थाओं का वर्णन भगवान् ने इस प्रकार किया है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।

प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तूरीयं त्रिषु सन्ततम्॥

''मनुष्य को जान लेना चाहिए कि जाग्रत अवस्था सतोगुण से उत्पन्न होती है, स्वप्नावस्था रजोगुण से और गहरी स्वप्नरहित नींद तमोगुण से उत्पन्न होती है। चौथा तत्त्व, जो कि शुद्ध चेतना है, इन तीनों से भिन्न है और इन सबों में व्याप्त है।'' (भागवत ११.२५.२०) असली स्वतंत्रता का अर्थ है *साक्षित्वेन*—अर्थात् मोह के कार्यों का साक्षी बन कर रहना। ऐसी लाभप्रद अवस्था कृष्णभावनामृत उत्पन्न होने से प्राप्त होती है।

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

यर्हि—क्योंकि; संसृति—भौतिक बुद्धि या संसार का; बन्धः—बन्धन; अयम्—यह है; आत्मनः—आत्मा का; गुण—प्रकृति के गुणों में; वृत्ति-दः—वृत्तिपरक कार्य देने वाली; मयि—मुझमें; तुर्ये—चौथे तत्त्व में (जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त से आगे); स्थितः—स्थित; जह्यात्—त्याग दे; त्यागः—वैराग्य; तत्—उस समय; गुण—इन्द्रिय-विषयों का; चेतसाम्—तथा मन का।

आत्मा भौतिक बुद्धि के बन्धन में बन्दी है, जो उसे प्रकृति के मोहमय गुणों से निरन्तर लगाये रहती है। लकिन मै चेतना की चौथी अवस्था—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त से परे—हूँ। मुझमें स्थित होने पर, आत्मा को भौतिक चेतना का बन्धन त्याग देना चाहिए। उस समय, जीव स्वतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा भौतिक मन को त्याग देगा।

तात्पर्य : अब भगवान् कृष्ण उन विशिष्ट प्रश्नों का उत्तर देते है जिन्हें मुनियों ने आरम्भ में ब्रह्मा के समक्ष रखा था। अन्ततः आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा प्रकृति के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। लेकिन मनुष्य द्वारा भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण ही, प्रकृति के गुणों को मनुष्य को मोहमय कार्यों में लगाने के लिए शक्ति मिलती है। आत्मा पदार्थ के साथ इस झूठी पहचान को नष्ट करके गुणों द्वारा प्रदत्त मोहमय वृत्तियों को त्याग देता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव को इसलिए शक्ति प्रदान नहीं की गई है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने को मोह से मुक्त कर सके, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् की पूर्ण चेतना में रह कर, अपने को कृष्णभावनामृत के पद पर ले जाय।

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहङ्कार—मिथ्या गर्व से; कृतम्—उत्पन्न; बन्धम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; अर्थ—जो वास्तव में उपयोगी है उसका; विपर्ययम्—उल्टा, विरुद्ध; विद्वान्—जानने वाला; निर्विद्य—विरक्त होकर; संसार—जगत में; चिन्ताम्—निरन्तर विचार; तुर्ये—चौथे तत्त्व, भगवान् में; स्थितः—स्थित होकर; त्यजेत्—त्याग दे।

जीव का अहंकार उसे बन्धन में डालता है और जीव जो चाहता है उसका सर्वथा विपरीत उसे देता है। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि भौतिक जीवन भोगने की स्थायी चिन्ता को त्याग दे और भगवान् में स्थित रहे, जो भौतिक चेतना के कार्यों से परे है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस प्रकार टीका की है : ''संसार किस तरह से जीव का बन्धन उत्पन्न करता है और ऐसे बन्धन को कैसे त्यागा जा सकता है? यहाँ पर इसकी व्याख्या भगवान् ने *अहंकार-कृतम्* शब्द द्वारा की है। मिथ्या गर्व के कारण मनुष्य मोह के पाश में बँध जाता है। *अर्थ-विपर्ययम्* सूचित करता है कि यद्यपि जीव आनन्दमय जीवन, नित्यता तथा ज्ञान चाहता है, किन्तु वह ऐसी विधियाँ अपनाता है, जो उसके आनन्दमय जीवन तथा नित्यता को आच्छादित करके उसे इनके सर्वथा विपरीत फल देती है। जीव मृत्यु तथा कष्ट नहीं चाहता, किन्तु ये वस्तुतः जगत के फल है, अतएव जगत सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए व्यर्थ है। बुद्धिमान पुरुष को भौतिक जीवन के दुख का चिन्तन करना चाहिए और इस तरह दिव्य भगवान् में स्थित होना चाहिए। *संसार-चिन्ताम्* शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। *संसार* सूचक है भौतिक बुद्धि का क्योंकि जगत जीव की मिथ्या बौद्धिक

पहचान का प्रतिफल है। इस गलत पहचान के कारण ही मनुष्य *संसारचिन्ताम्* से अभिभूत हो जाता है। उसे भगवान् में स्थित होना चाहिए और व्यर्थ की चिन्ता त्याग देना चाहिए।''

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नाना—अनेक; अर्थ—महत्त्व का; धीः—धारणा; पुंसः—पुरुष का; न—नहीं; निवर्तेत—शमन होता है; युक्तिभिः—उपयुक्त विधियों से (जिन्हें मैने बताया है); जागर्ति—जाग्रत रहने से; अपि—यद्यपि; स्वपन्—सोते या स्वप्न देखते; अज्ञः—वस्तुओं को उसी रूप में न देखने वाला; स्वप्ने—सपने में; जागरणम्—जाग्रत रह कर; यथा—जिस तरह।

मनुष्य को चाहिए कि मेरे आदेशों के अनुसार वह अपना मन मुझ में स्थिर करे। किन्तु यदि वह हर वस्तु को मेरे भीतर न देख कर जीवन में अनेक प्रकार के अर्थ तथा लक्ष्य देखता रहता है, तो वह, जगते हुए भी, अपूर्ण ज्ञान के कारण, वास्तव में स्वप्न देखता रहता है, जिस तरह वह यह स्वप्न देखे कि वह स्वप्न से जग गया है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह यह नहीं समझ सकता कि हर वस्तु भगवान् कृष्ण के भीतर स्थित है, अतएव उसके लिए इन्द्रियतृप्ति से विलग हो पाना असम्भव होता है। वह मोक्ष की कोई विशेष विधि अपना सकता है और अपने को ''बचा हुआ'' मान सकता है, तो भी उसका भौतिकबन्धन बना रहेगा और वह जगत से अपनी आसक्ति बनाये रखेगा। कभी कभी, वह स्वप्न देखते समय कल्पना करता है कि वह स्वप्न से जग गया है और सामान्य चेतना का अनुभव कर रहा है। इसी तरह, मनुष्य अपने को बचा हुआ (सुरक्षित) मान सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना, अच्छे-बुरे के निर्णय में लीन रहता जाता है, तो वह भौतिकवादिता की झूठी पहचान से आच्छादित हुआ बद्धजीव माना जाता है।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

असत्त्वात्—वास्तविक अस्तित्व के अभाव में; आत्मनः—भगवान् से; अन्येषाम्—अन्य; भावानाम्—अस्तित्व की दशाओं के; तत्—उनके द्वारा; कृता—उत्पन्न; भिदा—अन्तर या बिछोह; गतयः—लक्ष्य यथा स्वर्ग जाना; हेतवः—सकाम कर्म जो भावी फल के कारण है; च—भी; अस्य—जीव का; मृषा—झूठा; स्वप्न—सपने का; दृशः—देखने वाले का; यथा—जिस तरह।

उन जगत की अवस्थाओं का जिन्हें भगवान् से पृथक् सोचा जाता है, वास्तविक अस्तित्व

नहीं होता, यद्यपि वे परब्रह्म से पृथकत्व की भावना उत्पन्न करती है। जिस तरह स्वप्न देखने वाला नाना प्रकार के कार्यों तथा फलों की कल्पना करता है उसी तरह भगवान् से पृथक् अस्तित्व की भावना से जीव झूठे ही सकाम कर्मों को भावी फल तथा गन्तव्य का कारण सोचता हुआ कर्म करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्न प्रकार से टीका की है : ''यद्यपि भगवान् कृष्ण ने हंसावतार के रूप में उस बुद्धि की निन्दा की है, जो जगत में द्वैत तथा पृथक् मूल्य देखती है, किन्तु *वर्णाश्रम धर्म* की स्थापना तो स्वयं वेदों द्वारा की जाती है, जिससे मानव समाज विभिन्न जातियों, वृत्तियों तथा आध्यात्मिक पदों में बँटा हुआ है। तो भला भगवान् इस वैदिक प्रणाली से श्रद्धा हटाने के लिए संस्तुति कैसे करने लगे? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है, जो इस प्रकार है—*अन्येषां भावानाम्* या ''अस्तित्व की अन्य दशाओं के'' पद भौतिक शरीर, मन, वृत्ति इत्यादि के साथ झूठी पहचान के असंख्य विभागों का द्योतन करता है। ऐसी पहचान मोह है और वर्णाश्रम प्रणाली के भौतिक विभाग निश्चय ही इस मोह पर आधारित है। वैदिक ग्रंथ स्वर्ग में वास जैसे फल का वचन देते है और ऐसे फलों को प्राप्त करने के लिए साधनों की संस्तुति करते है। किन्तु ये फल तथा उन्हें प्राप्त करने के साधन अन्ततः मोह है। चूँकि यह जगत भगवान् की सृष्टि है, अतएव कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि इसका अस्तित्व सत्य है किन्तु जीव जो इस जगत की वस्तुओं को अपनी बपौती समझता है, निश्चित रूप से मोहग्रस्त होता है। यहाँ पर दृष्टान्त दिया जा सकता है कि खरगोश सत्य है और सींग भी सत्य है, किन्तु यदि कोई खरगोश के सींगों की कल्पना करता है, तो यह निश्चय ही मोह है यद्यपि खरगोश के सींग स्वप्न में दिख सकते है। इसी तरह जीव भौतिक जगत के भीतर स्थायी सम्बन्धों का स्वप्न देखता है। हो सकता है कि कोई यह स्वप्न देखे कि वह खीर खा रहा है किन्तु स्वप्न के इस राजसी भोजन में कोई पोषक मान नहीं होता।''

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टिप्पणी है कि जिस तरह मनुष्य जगने पर स्वप्न का अनुभव तुरन्त भूल जाता है, उसी तरह कृष्णभावनामृत में स्थित मुक्तात्मा वेदों द्वारा प्रदान किये गये अच्छे से अच्छे फल को, यथा, स्वर्गलोक जाने को, निस्सार देखता है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में अर्जुन को धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों से विचलित न होकर, आत्म-

साक्षात्कार में स्थिर रहने की सलाह दी है।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यः—जो जीव; जागरे—जगते हुए; बहिः—बाह्य; अनुक्षण—क्षणिक; धर्मिणः—गुण; अर्थान्—शरीर, मन तथा उनके अनुभव; भुङ्क्ते—भोगता है; समस्त—समस्त; करणैः—इन्द्रियों से; हृदि—मन के भीतर; तत्-सदृक्षान्—जगते हुए में जैसे अनुभव; स्वप्ने—स्वप्नों में; सुषुप्ते—स्वप्नरहित गहरी नींद में; उपसंहरते—अज्ञान में लीन हो जाता है; सः—वह; एकः—एक; स्मृति—स्मरणशक्ति का; अन्वयात्—क्रम से; त्रि-गुण—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं के; वृत्ति—कार्य; दृक्—देखना; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशः—स्वामी बनता है।

जाग्रत रहने पर जीव अपनी सारी इन्द्रियों से भौतिक शरीर तथा मन के सारे क्षणिक गुणों का भोग करता है; स्वप्न के समय वह मन के भीतर ऐसे ही अनुभवों का आनन्द लेता है और प्रगाढ़ स्वप्नरहित निद्रा में ऐसे सारे अनुभव अज्ञान में मिल जाते है। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की सरणि को स्मरण करते तथा सोचते हुए, जीव यह समझ सकता है कि वह चेतना की तीनों अवस्थाओं में एक ही है और दिव्य है। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के श्लोक ३० में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को उचित साधनों से भौतिक द्वैत से दूर हो जाना चाहिए। भगवान् अब उसी की व्याख्या करते है। मनुष्य को चाहिए कि पहले चेतना की उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं पर विचार करे और तब आत्मा के रूप में अपनी दिव्य स्थिति को समझे। मनुष्य बालपन, कैशोर, युवावस्था, मध्यावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था का अनुभव करता है और इन अवस्थाओं में लगातार जगते तथा स्वप्न देखते हुए वस्तुओं का अनुभव करता है। इसी तरह, सतर्क बुद्धि से, मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा के समय चेतना के अभाव को, समझ सकता है। इस तरह बुद्धि द्वारा वह चेतना के अभाव का अनुभव कर सकता है।

यह तर्क किया जा सकता है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ अनुभव करती है, जबकि स्वप्न के समय मन अनुभव करता है। किन्तु भगवान् यहाँ पर *इन्द्रियेशः* कहते है—जीव ही इन्द्रियों तथा मन का स्वामी है, यद्यपि वह क्षणिक रूप से उनके प्रभाव में आ जाता है। कृष्णभावनामृत से मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों का स्वामी बन सकता है। यही नहीं, चूँकि जीव चेतना की इन तीनों अवस्थाओं में अपने

अनुभवों को स्मरण रख सकता है, इसीलिए वह चेतना की सारी अवस्थाओं का अनुभवकर्ता या द्रष्टा है। वह स्मरण करता है, ''मैने स्वप्न में इतनी सारी वस्तुएँ देखीं, किन्तु उसके बाद स्वप्न टूट गया और मैं कुछ भी न देख सका। अब मैं जग रहा हूँ।'' हर व्यक्ति इस सर्वव्यापी अनुभव को समझ सकता है और इसी तरह वह यह समझ सकता है कि उसकी वास्तविक पहचान (सत्ता) शरीर तथा मन से पृथक् है।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
सञ्छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; गुणतः—गुणों से; मनसः—मन की; त्रि-अवस्थाः—चेतना की तीन अवस्थाएँ; मत्-मायया—मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से; मयि—मुझमें; कृताः—आरोपित; इति—इस प्रकार; निश्चित-अर्थाः—जिन्होंने आत्मा के वास्तविक अर्थ को निश्चित कर लिया है; सञ्छिद्य—काट कर; हार्दम्—हृदय में स्थित; अनुमान—तर्क द्वारा; सत्-उक्ति—तथा मुनियों और वैदिक ग्रंथों के आदेशों से; तीक्ष्ण—तेज; ज्ञान—ज्ञान की; असिना—तलवार से; भजत—आप की सारी पूजा; मा—मुझको; अखिल—समस्त; संशय—संदेह; आधिम्—कारण (मिथ्या अभिमान)।

तुम्हें विचार करना चाहिए कि किस तरह, प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न, मन की ये तीन अवस्थाएँ, मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से, मुझमें कृत्रिम रूप से विद्यमान मानी गई है। तुम्हें आत्मा की सत्यता को सुनिश्चित कर लेने के बाद, तर्क तथा मुनियों एवं वैदिक ग्रंथों के आदेशों से प्राप्त, ज्ञानरूपी तेज तलवार से मिथ्या अभिमान को पूरी तरह काट डालना चाहिए क्योंकि यही समस्त संशयों को प्रश्रय देने वाला है। तब तुम सबों को, अपने हृदयों में स्थित, मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह सामान्य चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त—पर आश्रित नहीं रहता। इस तरह वह अपने मन को भगवान् की अपरा शक्ति का भोक्ता बनने की प्रवृत्ति से मुक्त कर लेता है और हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के अंशरूप में देखता है, जो कि केवल भगवान् के भोग के लिए होती है। चेतना की ऐसी अवस्था में मनुष्य सहज ही भगवान् की भक्ति में आता है, जिसे भगवान् हंस, ब्रह्मा के पुत्रों से ग्रहण करने का उपदेश दे रहे है।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ईक्षेत—देखना चाहिए; विभ्रमम्—भ्रम या त्रुटि के रूप में; इदम्—इस (भौतिक जगत); मनसः—मन का; विलासम्—प्राकट्य या कूदफाँद; दृष्टम्—आज है; विनष्टम्—कल नहीं है; अति-लोलम्—अत्यन्त चलायमान; अलात-चक्रम्—जलती लकड़ी को घुमाने से बना हुआ गोला, लुकाठ की बनेठी; विज्ञानम्—सहज सचेतन आत्मा; एकम्—एक है; उरुधा—अनेक विभागों में; इव—मानो; विभाति—प्रकट होती है; माया—यह माया है; स्वप्नः—मात्र स्वप्न; त्रिधा—तीन विभागों में; गुण—गुणों का; विसर्ग—विकार का; कृतः—उत्पन्न; विकल्पः—अनुभूति या कल्पना का भेद।

मनुष्य को देखना चाहिए कि यह भौतिक जगत मन में प्रकट होने वाला स्पष्ट भ्रम है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है और वे आज है, किन्तु कल नहीं रहेंगी। इनकी तुलना लुकाठ के घुमाने से बने लाल रंग के गोले से की जा सकती है। आत्मा स्वभाव से एक ही विशुद्ध चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु इस जगत में वह अनेक रूपों और अवस्थाओं में प्रकट होता है। प्रकृति के गुण आत्मा की चेतना को जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं में बाँट देते है। किन्तु ये अनुभूति की ऐसी विविधताएँ, वस्तुतः माया है और इनका अस्तित्व स्वप्न की ही तरह होता है।

तात्पर्य : अब भगवान् मन तथा इन्द्रिय-विषयों की मायामय अन्योन्य क्रिया को लाँघने की एक अतिरिक्त विधि बताते है। *लास* का अर्थ है ''कूदना'' या ''नाचना'' अतः यहाँ पर *मनसो विलासम्* यह सूचित करता है कि मन ऊपरी तौर पर एक जीवन-धारणा से दूसरी में कूदफाँद मचाता है। किन्तु हमारी मूल चेतना एक है (*विज्ञानम् एकम्*)। अतएव मनुष्य को जगत के ''आज यहाँ, कल वहाँ'' स्वभाव का ठीक से अध्ययन करना चाहिए और अपने को माया की विविधता से अलग कर लेना चाहिए।

दृष्टिम्ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
सन्दृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

दृष्टिम्—दृष्टि; ततः—उस माया से; प्रतिनिवर्त्य—हटाकर; निवृत्त—समाप्त; तृष्णः—लालसा; तूष्णीम्—मौन; भवेत्—हो जाना चाहिए; निज—अपना (आत्मा का); सुख—सुख; अनुभवः—अनुभव करते हुए; निरीहः—निष्क्रिय; सन्दृश्यते—देखा जाता

है; क्व च—कभी कभी; यदि—यदि; इदम्—यह संसार; अवस्तु—असत्य; बुद्ध्या—चेतना से; त्यक्तम्—त्यागा हुआ; भ्रमाय—और अधिक भ्रम; न—नहीं; भवेत्—हो सके; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; आ-निपातात्—शरीर त्यागने तक।

भौतिक वस्तुओं के क्षणिक भ्रामक स्वभाव को समझ लेने के बाद और अपनी दृष्टि को भ्रम से हटा लेने पर, मनुष्य को निष्काम रहना चाहिए। आत्मा के सुख का अनुभव करते हुए, मनुष्य को भौतिक बोलचाल तथा कार्यकलाप त्याग देने चाहिए। यदि कभी वह भौतिक जगत को देखे तो उसे स्मरण करना चाहिए कि यह परम सत्य नहीं है, इसीलिए इसका परित्याग किया गया है। ऐसे निरन्तर स्मरण से मनुष्य अपनी मृत्यु पर्यन्त, पुनः भ्रम में नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : भौतिक शरीर का पालन करने के लिए भोजन करना तथा सोना तो पड़ता ही है। इस तरह मनुष्य को कभी कभी भौतिक जगत तथा अपने शरीर के मामलों में दखल देना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उसे यह स्मरण करना चाहिए कि भौतिक जगत सत्य नहीं है, इसीलिए कृष्णभावनाभावित होने के लिए इसका परित्याग किया गया है। निरन्तर ऐसा स्मरण करने, अपने आप में आध्यात्मिक आनन्द का भोग करने तथा मन, वाणी, अथवा शरीर के किसी भी कार्यकलाप से विलग होने से, मनुष्य भौतिक भ्रम (माया) में नहीं पड़ेगा।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने इस प्रकार टीका की है, ''भगवान् की माया में रहते हुए, जीव को इन्द्रियतृप्ति की हर चिन्ता का परित्याग कर देना चाहिए और निजी भोग के लिए कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक आनन्द की खोज करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को फिर से जोड़ने पर, वह समझ सकेगा कि निजी भोग के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करने से, अनुरक्ति उत्पन्न होगी और इस तरह वह माया के द्वारा विमोहित कर लिया जायेगा। क्रमशः आध्यात्मिक शरीर विकसित करने से, मनुष्य जगत के अन्दर किसी वस्तु को भोगना नहीं चाहेगा।''

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—भी; नश्वरम्—नाशवान; अवस्थितम्—बैठा; उत्थितम्—उठा; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध; न पश्यति—नहीं देखता; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—उसने प्राप्त कर लिया है; स्व-रूपम्—अपनी असली आध्यात्मिक पहचान; दैवात्—भाग्यवश; अपेतम्—गया हुआ; अथ—अथवा इस तरह; दैव—भाग्य के; वशात्—वश से; उपेतम्—पाया हुआ; वासः—कपड़े; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—शरीर में पहना हुआ; मदिरा—शराब का; मद—नशे से; अन्धः—अन्धा हुआ।

जिस प्रकार शराब पिया हुआ व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि उसने कोट पहना है या कमीज, उसी तरह जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण है और जिसने अपना नित्य स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह यह नहीं देखता कि नश्वर शरीर बैठा हुआ है या खड़ा है। हाँ, यदि ईश्वर की इच्छा से उसका शरीर समाप्त हो जाता है या उसे नया शरीर प्राप्त होता है, तो स्वरूपसिद्ध व्यक्ति उसे उसी तरह नहीं देखता जिस तरह शराबी अपनी बाह्य वेशभूषा को नहीं देखता।

तात्पर्य : जिस कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ने अपना आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह इस जगत में इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन-लक्ष्य नहीं मानता। वह निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा रहता है और जानता रहता है कि नश्वर शरीर तथा चंचल मन भौतिक है। वह कृष्णभावनामृत की उत्तम बुद्धि द्वारा भगवान् की सेवा में लगा रहता है। इस श्लोक में शराबी व्यक्ति का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। यह सामान्य ज्ञान है कि सामाजिक गोष्ठियों में लोग शराब पीकर अपनी बाह्य चेतना खो देते है। इसी प्रकार मुक्तात्मा पहले से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर चुकने के कारण यह जानता रहता है कि उसका अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं करता। किन्तु मुक्तात्मा शरीर को दण्ड नहीं देता, अपितु अपने भाग्य को ईश्वरेच्छा मान कर निरपेक्ष रहता जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—भी; दैव—ब्रह्म के; वश-गः—नियंत्रण में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्मों की शृंखला; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—जो अपने को प्रारम्भ करता है या आगे बढ़ाता है; प्रतिसमीक्षते—जीवति रहता तथा प्रतीक्षा करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—प्राण तथा इन्द्रियों सहित; तम्—उस (शरीर) को; स-प्रपञ्चम्—अभिव्यक्तियों की विविधता सहित; अधिरूढ—उच्च स्थान को प्राप्त; समाधि—सिद्धि अवस्था; योगः—योग-प्रणाली में; स्वाप्नम्—स्वप्न की तरह; पुनः—फिर; न भजते—पूजा नहीं करता; प्रतिबुद्ध—प्रबुद्ध; वस्तुः—परम सत्य में।

भौतिक शरीर निश्चय ही विधाता के वश में रहता है, अतः यह शरीर तब तक इन्द्रियों तथा प्राण के साथ जीवित रहता है जब तक उसका कर्म प्रभावशाली रहता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध

आत्मा, जो परम सत्य के प्रति प्रबुद्ध हो चुका है और जो योग की पूर्ण अवस्था में उच्चारूढ है, कभी भी शरीर तथा उसकी अनेक अभिव्यक्तियों के समक्ष नतमस्तक नहीं होगा क्योंकि वह इसे स्वप्न में देखे गये शरीर के समान जानता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण ने पिछले श्लोक में संस्तुति की है कि स्वरूपसिद्ध आत्मा को शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिए, किन्तु यहाँ पर दिये हुए भगवान् के कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य को मूर्खतावश न तो शरीर को भूखों मारना चाहिए न क्षति पहुँचानी चाहिए, अपितु तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पिछले कर्मफल की शृंखला पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती। उस समय शरीर दैव के अनुसार स्वतः मर जायेगा। तब निम्नलिखित संशय उठ सकता है : क्या, यदि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के पालन में ठीक से ध्यान देता है, तो वह फिर से अनुरक्त हो सकता है? भगवान् कृष्ण यहाँ पर कहते है कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को वास्तविक *वस्तु* के रूप में समझ कर कृष्णभावनामृत में ऊपर उठ चुका है, वह फिर से भौतिक शरीर की मोहमयी पहचान के आगे नहीं झुकता, क्योंकि यह तो स्वप्न में देखे हुए शरीर की तरह होता है।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्साङ्ख्ययोगयोः ।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह (ज्ञान); उक्तम्—कहा गया; वः—तुमसे; विप्राः—हे ब्राह्मणो; गुह्यम्—गोपनीय; यत्—जो; साङ्ख्य—आत्मा से पदार्थ को विभेदित करने की दार्शनिक विधि का; योगयोः—तथा अष्टांग योग-पद्धति का; जानीत—समझो; मा—मुझको; आगतम्—आया हुआ; यज्ञम्—यज्ञ के स्वामी विष्णु के रूप में; युष्मत्—तुम्हारा; धर्म—धार्मिक कर्तव्य; विवक्षया—बतलाने की इच्छा से।.

हे ब्राह्मणो, अब मै तुम लोगों से सांख्य का वह गोपनीय ज्ञान बतला चुका हूँ, जिसके द्वारा मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर कर सकता है। मैने तुम लोगों को अष्टांग योग का भी ज्ञान दे दिया है, जिससे मनुष्य ब्रह्म से जुड़ता है। तुम लोग मुझे भगवान् विष्णु समझो जो तुम लोगों के समक्ष वास्तविक धार्मिक कर्तव्य बताने की इच्छा से प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्रों की श्रद्धा को बढ़ाने तथा अपनी शिक्षाओं की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए, अब भगवान् कृष्ण अपने को भगवान् विष्णु कहते है। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है *यज्ञो वै विष्णुः ।* सांख्य तथा अष्टांग योग समझाने के बाद, अब वे मुनियों के इस मूल प्रश्न का उत्तर देते है कि,

''आप कौन है ?'' इस तरह ब्रह्मा तथा उनके पुत्रों को भगवान् हंस ने ज्ञान प्रदान किया।

अहं योगस्य साङ्ख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

अहम्—मै; योगस्य—योग-पद्धति के; साङ्ख्यस्य—सांख्य दर्शन के; सत्यस्य—सत्य के; ऋतस्य—सत्यमय धार्मिक सिद्धान्तों के; तेजसः—शक्ति के; पर-अयनम्—परम आश्रय; द्विज-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो; श्रियः—सौन्दर्य का; कीर्तेः—कीर्ति का; दमस्य—आत्मसंयम का; च—भी।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो, तुम लोग यह जानो कि मै योग-पद्धति, सांख्य दर्शन, सत्य, ऋत, तेज, सौन्दर्य, यश तथा आत्मसंयम का परम आश्रय हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *सत्यस्य* तथा *ऋतस्य* पर्यायवाची शब्द है, जो क्रमशः धार्मिक सिद्धान्तों का समुचित पालन तथा धर्म की विश्वसनीय प्रस्तुति को बतलाने वाले है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते है कि भगवान् के प्रस्तुतिकरण से ब्रह्मा के पुत्र आश्चर्यचकित थे और सोच रहे थे, ''हमने कितना अद्भुत ज्ञान अभी अभी सुना।'' भगवान् ने उनके आश्चर्य को पहचान कर, यह श्लोक कहा जिससे वे उन्हें समझ सकें।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; भजन्ति—सेवा करते तथा शरण ग्रहण करते है; गुणाः—गुण; सर्वे—सभी; निर्गुणम्—गुणों से मुक्त; निरपेक्षकम्—विरक्त; सु-हृदम्—शुभचिन्तक; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; आत्मानम्—परमात्मा को; साम्य—समान रूप से सर्वत्र स्थित; असङ्ग—विरक्ति; आदयः—इत्यादि; अगुणाः—गुणों के विकार से मुक्त।

ऐसे सारे के सारे उत्तम दिव्य गुण—जैसे कि गुणों से परे होना, विरक्त, शुभचिन्तक, अत्यन्त प्रिय, परमात्मा, सर्वत्र समरूप से स्थित तथा भौतिक बन्धन से मुक्त होना—जो कि गुणों के विकारों से मुक्त है, मुझमें शरण तथा पूजनीय वस्तु पाते है।

तात्पर्य : चूँकि पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने उत्तम स्वभाव का वर्णन किया है, अतएव ब्रह्मा के पुत्रों ने यह सोच कर कि उन्होंने भगवान् के मन में कुछ अहंकार ढूँढ लिया है, भगवान् के पद के बारे में कुछ सन्देह व्यक्त किया होगा। इसीलिए उन्होंने भगवान् हंस द्वारा दिये गये आदेशों पर सन्देह प्रकट किया होगा। ऐसी हिचकिचाहट की पूर्व कल्पना करते हुए, इस श्लोक में भगवान् तुरन्त

स्थिति स्पष्ट कर देते है। भगवान् बतलाते है कि ब्रह्मा समेत सारे साधारण जीवों के विपरीत, भगवान् का दिव्य शरीर उनके नित्य आत्मा से भिन्न नहीं होता और उनमें मिथ्या अहंकार जैसा भौतिक गुण नहीं होता। भगवान् का दिव्य रूप सच्चिदानन्द रूप है और इस तरह *निर्गुणम्*—गुणों से परे है। चूँकि भगवान्, माया द्वारा प्रदत्त तथाकथित भोग की सर्वथा उपेक्षा करते है, अतएव वे *निरपेक्षकम्* कहलाते है और अपने भक्तों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी होने से, *सुहृदम्* कहलाते है। *प्रियम्* बतलाता है कि भगवान् सर्वोच्च प्रेम के पात्र है और वे अपने भक्तों के साथ आश्चर्यजनक स्नेहिल सम्बन्ध स्थापित करते है। *साम्य* सूचित करता है कि भगवान् निरपेक्ष तथा सभी भौतिक स्थितियों में विरक्त रहते है। ये तथा अन्य श्रेष्ठ गुण भगवान् में शरण पाते है तथा पूज्य वस्तु मानते है, जो भौतिक उपाधियों पर ध्यान नहीं देते, अपितु अपनी शरण लेने वाले हर एक को कृपा का दान देते है। *श्रीमद्भागवत* (१.१६-२६.३०) में माता भूमि ने भगवान् के कुछ दिव्य गुण बताए है और *भक्तिरसामृतसिन्धु* में अन्य गुण मिलते है। वस्तुत: भगवान् के गुण असीम है किन्तु यहाँ पर उनमें से थोड़े-से गुण भगवान् की दिव्य स्थिति को स्थापित करने के लिए दिए गये है।

श्रील मध्वाचार्य ने *कालसंहिता* से यह उद्धरण दिया है—''देवताओं में दिव्य गुण पूर्ण रीति से नहीं पाये जाते। उनका ऐश्वर्य सीमित होता है, अतएव वे भगवान् या परब्रह्म की पूजा करते है, जो समस्त भौतिक गुणों से मुक्त होने के साथ ही समस्त दिव्य गुणों से युक्त है। ये गुण उनके शरीर में विद्यमान रहते है।''

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; छिन्न—विनष्ट; सन्देहाः—सारे सन्देह; मुनयः—मुनिगण; सनक-आदयः—सनक कुमार इत्यादि; सभाजयित्वा—पूर्णतया मेरी पूजा करके; परया—दिव्य प्रेम के लक्षणों से युक्त; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अगृणत—मेरी महिमा का उच्चारण किया; संस्तवैः—सुन्दर स्तुतियों द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने आगे कहा : हे उद्धव, इस प्रकार मेरे वचनों से सनक इत्यादि मुनियों के सारे संदेह नष्ट हो गये। दिव्य प्रेम तथा भक्ति के साथ मेरी पूजा करते हुए, उन्होंने उत्तम स्तुतियों द्वारा मेरी महिमा का गान किया।

तैरहं पूजितः संयक्संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अहम्—मै; पूजितः—पूजा गया; संयक्—भलीभाँति; संस्तुतः—भलीभाँति स्तुति किया गया; परम-ऋषिभिः—महामुनियों द्वारा; प्रत्येयाय—मै लौट आया; स्वकम्—अपने; धाम—धाम; पश्यतः परमेष्ठिनः—ब्रह्मा के देखते-देखते ।

इस तरह सनक ऋषि इत्यादि महामुनियों ने मेरी भलीभाँति पूजा की और मेरे यश का गान किया। मै ब्रह्मा के देखते-देखते अपने धाम लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर'' नामक तेरहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-वर्णन

इस अध्याय में कृष्ण बतलाते हैं कि भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक विधि है। वे ध्यान के विषय में भी बतलाते हैं।

श्री उद्धव ने यह जानना चाहा कि आध्यात्मिक प्रगति की कौन-सी विधि सर्वश्रेष्ठ है। वे किसी बाह्य मन्तव्य से मुक्त भक्ति की सर्वोत्कृष्टता के विषय में भी सुनना चाहते थे। भगवान् ने बतलाया कि वेदों में बतलाई गई मौलिक धर्म-विधि प्रलय के समय लुप्त हो गई। अतः नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुनः ब्रह्मा को वह विधि बतलायी। ब्रह्मा ने इसे मनु से कहा और मनु ने भृगु इत्यादि मुनियों से कहा। इन मुनियों ने इस नित्य धर्म की शिक्षा देवताओं तथा असुरों को दी। जीवों की असंख्य विभिन्न इच्छाओं के कारण, यह धर्म की विधि अनेक प्रकारों से व्याख्यायित हुई। इस तरह अनेक दर्शनों का जन्म हुआ, जिनमें विविध नास्तिक सिद्धान्त भी सम्मिलित हैं। चूँकि जीव माया से विमोहित होने से, अपने शाश्वत लाभ को निश्चित नहीं कर पाता, अतएव वह तपस्या इत्यादि के सामान्य व्रतों को गलती से सर्वोच्च आध्यात्मिक अभ्यास मान लेता है। किन्तु सुख प्राप्त करने का एकमात्र सच्चा साधन है परमेश्वर को हर वस्तु अर्पित करने पर ध्यान करना है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भोग द्वारा स्वार्थमय तृप्ति के लिए समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और वह भोग या मोक्ष की सारी

लालसाओं से छूट जाता है।

इसके बाद भगवान् भक्ति की श्रेष्ठ विधि का वर्णन करते हैं, जो असंख्य पापकर्मों को नष्ट करती है और आध्यात्मिक सुख के लक्षणों को—यथा रोमांच को—उत्पन्न करती है। शुद्ध भक्ति में हृदय को शुद्ध करने की शक्ति होती है। यह भगवान् की संगति प्राप्त करने में समर्थ बनाती है। चूँकि भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और सदैव उनके निकट रहता है, इसलिए वह आगे समूचे ब्रह्माण्ड को शुद्ध कर सकता है। अविचल भगवद्भक्ति के कारण, भक्त कभी भी इन्द्रिय-भोग के विषयों की ओर उन्मुख नहीं होता, चाहे वह प्रारम्भ में अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण न कर सकता हो। जो व्यक्ति जीवन-सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे ऊपर उठने के सभी भौतिक उपाय तथा स्त्रियों की संगति छोड़ देनी चाहिए। तब उसे अपना मन कृष्ण के विचार में लगातार लीन करना चाहिए। अन्त में, भगवान् ने श्री उद्धव को ध्यान की सही वस्तु का उपदेश दिया।

श्रीउद्धव उवाच
वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; वदन्ति—कहते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; श्रेयांसि—जीवन में प्रगति की विधियाँ; बहूनि—अनेक; ब्रह्म-वादिनः—विद्वान मुनि जिन्होंने वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की है; तेषाम्—ऐसी सारीविधियों का; विकल्प—नाना प्रकार की अनुभूतियों की; प्राधान्यम्—श्रेष्ठता; उत—अथवा; अहो—निस्सन्देह; एक—एक की; मुख्यता—प्रधानता।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या करने वाले विद्वान मुनिगण मनुष्य-जीवन की सिद्धि के लिए अनेक विधियों की संस्तुति करते हैं। हे प्रभु, इन नाना प्रकार के दृष्टिकोणों पर विचार करते हुए आप मुझे बतलायें कि ये सारी विधियाँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं अथवा उनमें से कोई एक सर्वश्रेष्ठ है।

तात्पर्य : भक्तियोग के उच्च पद को स्पष्ट रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, उसकी पहचान बतायें। सारी वैदिक विधियों से परम लक्ष्य अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं होता। कुछ केवल धीरे धीरे जीव की चेतना को उपर उठाती हैं। आत्म-साक्षात्कार की विधि की सामान्य रूपरेखा बतलाने के लिए मुनिगण ऊपर उठने की तमाम विधियों की विवेचना कर सकते हैं। किन्तु जब सर्वश्रेष्ठ विधि को

निश्चित करने का अवसर आता है, तो गौण विधियों को रास्ते से दूर कर देना चाहिए।

भवतोदाहृतः स्वामिन्भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २॥

शब्दार्थ

भवता—आपके द्वारा; उदाहृतः—स्पष्ट कहा गया; स्वामिन्—हे स्वामी; भक्ति-योगः—भक्ति; अनपेक्षितः—भौतिक इच्छाओं से रहित; निरस्य—हटाकर; सर्वतः—सभी तरह से; सङ्गम्—संगति; येन—जिस (भक्ति) से; त्वयि—आपमें; आविशेत्—प्रवेश कर सके; मनः—मन।

हे प्रभु, आपने शुद्ध भक्तियोग की स्पष्ट व्याख्या कर दी है, जिससे भक्त अपने जीवन से सारी भौतिक संगति हटाकर, अपने मन को आप पर एकाग्र कर सकता है।

तात्पर्य : अब यह भलीभाँति स्थापित हो चुका है कि परब्रह्म भगवान् कृष्ण में मन एकाग्र करने के लिए शुद्ध भक्ति ही सर्वोत्तम विधि है। अगली बात जिसका स्पष्टीकरण किया जाना है, वह है—क्या इस विधि को हर एक व्यक्ति अपना सकता है या यह केवल कुछ ही विशिष्ट अध्यात्मवादियों के लिए है? विभिन्न आध्यात्मिक विधियों के सापेक्ष लाभों की व्याख्या करते समय, आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को सुनिश्चित करके, उस विधि को अलग कर लेना चाहिए जिससे यह लक्ष्य प्राप्त हो सके। तब इन विधियों को इनके मुख्य तथा गौण कार्यों के अनुसार परिभाषित करना चाहिए। जिससे सर्वोच्च सिद्धि मिल सके, वह मुख्य विधि है और जो विधि मुख्य विधि में सहायक हो या उसमें संवर्धन करे वह गौण विधि है। मन अत्यन्त चलायमान और अस्थिर है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने को शुद्ध बुद्धि से प्रगतिशील जीवन-शैली में स्थिर कर ले। इस तरह से वह इसी जीवन में परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। श्री उद्धव से कृष्ण की वार्ता का यह गम्भीर प्रयोजन है।

श्रीभगवानुवाच
कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कालेन—काल के प्रभाव से; नष्टा—विनष्ट; प्रलये—प्रलय के समय; वाणी—सन्देश; इयम्—यह; वेद-संज्ञिता—वेदों से युक्त; मया—मेरे द्वारा; आदौ—सृष्टि के समय; ब्रह्मणे—ब्रह्मा से; प्रोक्ता—कहा गया; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; यस्याम्—जिसमें; मत्-आत्मकः—मुझसे अभिन्न।

भगवान् ने कहा : काल के प्रभाव से प्रलय के समय वैदिक ज्ञान की दिव्य ध्वनि नष्ट हो गई थी। अतएव जब फिर से सृष्टि बनी, तो मैंने यह वैदिक ज्ञान ब्रह्मा को बतलाया क्योंकि मैं ही

वेदों में वर्णित धर्म हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव को बतलाते हैं कि यद्यपि वेदों में आध्यात्मिक साक्षात्कार की अनेक विधियों एवं विचारों का वर्णन हुआ है, किन्तु वेद अन्ततोगत्वा भगवद्भक्ति की ही संस्तुति करते हैं। भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और उनके भक्तगण सीधे उनकी ह्लादिनी शक्ति में प्रवेश करते हैं। मनुष्य को जिस-तिस तरह अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना है और भक्ति के बिना यह सम्भव नहीं। जिसने भगवान् कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न नहीं किया है, वह अपनी इन्द्रियों को ओछे कार्यों में लगने से रोक नहीं सकता। चूँकि अन्य वैदिक विधियों से अभ्यासकर्ता को भगवान् कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव वेद जीवन का सर्वोच्च लाभ नहीं दिला सकते। वेदों की दिव्य ध्वनि अपने में सर्वोच्च प्रमाण है, किन्तु जिसकी इन्द्रियाँ तथा मन इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन में लगे हुए हों और जिसका हृदय भौतिक धूल से धूसरित हो, वह प्रत्यक्ष रूप से दिव्य वैदिक सन्देश प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह वह भगवद्भक्ति के उच्च पद को समझ नहीं सकता।

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥४॥

शब्दार्थ

तेन—ब्रह्मा द्वारा; प्रोक्ता—कहा गया; स्व-पुत्राय—अपने पुत्र से; मनवे—मनु को; पूर्व-जाय—सबसे पुराने; सा—वह वैदिक ज्ञान; ततः—मनु से; भृगु-आदयः—भृगु मुनि इत्यादि ने; अगृह्णन्—ग्रहण किया; सप्त—सात; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान में; महा-ऋषयः—परम विद्वान मुनियों ने।.

ब्रह्मा ने यह वैदिक ज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र मनु को दिया और तब भृगु मुनि इत्यादि सप्त ऋषियों ने वही ज्ञान मनु से ग्रहण किया।

तात्पर्य : हर मनुष्य अपने स्वभाव तथा लालसाओं के अनुसार एक जीवन-शैली अपनाता है। भक्तियोग उसका एक सहज कृत्य है, जिसका स्वभाव भगवान् की संगति से पूरी तरह शुद्ध हुआ रहता है। अन्य विधियाँ उन लोगों के लिए हैं जिनका स्वभाव अभी तक भौतिक गुणों से प्रभावित रहता है और ऐसी विधियाँ तथा उनके फल भौतिक रूप से दूषित होते हैं। किन्तु भगवद्भक्ति एक शुद्ध आध्यात्मिक विधि है और शुद्ध चेतना से भक्ति करने पर, मनुष्य भगवान् के सीधे सम्पर्क में आता है, जो अपने आपको *भगवद्गीता* (९.२) में *पवित्रम् इदम् उत्तमम्* अर्थात् परम पवित्र बताते हैं। इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में *परम्परा* प्रणाली का वर्णन हुआ है। चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के

गुरुजन ऐसी परम्परा के अंग हैं और ब्रह्मा द्वारा मनु से कहा गया वैदिक ज्ञान आज भी उसी परम्परा से उपलब्ध होता है।

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥
किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥ ६ ॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे (भृगु मुनि इत्यादि से); पितृभ्यः—पूर्वजों से; तत्—उनके; पुत्राः—पुत्र, उत्तराधिकारीगण; देव—देवता; दानव—असुर; गुह्यकाः—गुह्यकजन; मनुष्याः—मनुष्य; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्धजन तथा गन्धर्वगण; स-विद्याधर-चारणाः—विद्याधरों तथा चारणों सहित; किन्देवाः—एक भिन्न मानव जाति; किन्नराः—अर्द्ध मानव; नागाः—सर्प; रक्षः—राक्षस; किम्पुरुष—वानरों की उन्नत नस्ल; आदयः—इत्यादि; बह्व्यः—अनेक प्रकार के; तेषाम्—ऐसे जीवों के; प्रकृतयः—स्वभावों या इच्छाओं; रजः-सत्त्व-तमः-भुवः—तीन गुणों से उत्पन्न होने से; याभिः—ऐसी इच्छाओं या प्रवृत्तियों से; भूतानि—ऐसे सारे जीव; भिद्यन्ते—अनेक रूपों में बँटे प्रतीत होते हैं; भूतानाम्—तथा उनके; पतयः—नेता; तथा—उसी प्रकार से विभक्त; यथा-प्रकृति—लालसा या इच्छा के अनुसार; सर्वेषाम्—उन सबों का; चित्राः—विचित्र; वाचः—वैदिक अनुष्ठान तथा मंत्र; स्रवन्ति—निकलते हैं; हि—निश्चय ही।

भृगु मुनि तथा ब्रह्मा के अन्य पुत्रों जैसे पूर्वजों से अनेक पुत्र तथा उत्तराधिकारी उत्पन्न हुए, जिन्होंने देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गुह्यकों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों, चारणों, किन्देवों, किन्नरों, नागों, किम्पुरुषों इत्यादि के विभिन्न रूप धारण किये। सभी विश्वव्यापी जातियाँ तथा उनके अपने अपने नेता, तीन गुणों से उत्पन्न विभिन्न स्वभाव तथा इच्छाएँ लेकर प्रकट हुए। इसलिए ब्रह्माण्ड में जीवों के विभिन्न लक्षणों के कारण न जाने कितने अनुष्ठान, मंत्र तथा फल हैं।

तात्पर्य : यदि कोई यह जानने का इच्छुक हो कि वेदों में पूजा तथा उन्नति की इतनी सारी विधियाँ क्यों संस्तुत की गई हैं, तो उसका उत्तर यहाँ पर मिलेगा। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु—ये सात इस ब्रह्माण्ड के महान् ब्रह्मर्षि और पूर्वज हैं। किन्देव एक प्रकार की मनुष्य जाति है, जो देवताओं की तरह थकान, पसीना तथा शरीर की गन्ध से पूर्णरूपेण रहित होती हैं। उन्हें देख कर यह प्रश्न किया जा सकता है *किं देवाः*—क्या ये दवता हैं? वास्तव में ये ब्रह्माण्ड के किसी अन्य लोक में रहने वाले मानव प्राणी हैं। किन्नर नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वे *किञ्चिन् नराः* अर्थात् "थोड़ा-

सा मनुष्यों की तरह'' हैं। किन्नरों के या तो मनुष्य का सिर होता है या मनुष्य-शरीर (परन्तु दोनों नहीं) किन्तु इसके साथ अमनुष्य रूप भी मिला रहता है। किम्पुरुष मनुष्यों जैसे होते हैं अतएव यह प्रश्न किया जा सकता है *किं पुरुषाः*—क्या ये मनुष्य हैं? वस्तुत: ये बन्दरों की जाति हैं, जो प्राय: मनुष्यों जैसे होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि इस श्लोक में भगवान् की नाना प्रकार की विस्मृति का वर्णन हुआ है। विभिन्न वैदिक मंत्र तथा अनुष्ठान ब्रह्माण्ड-भर के बुद्धिमान जीवों की विविध जातियों के निमित्त हैं किन्तु वैदिक आदेशों की प्रचुर उत्पत्ति केवल भौतिक माया की द्योतक है और इनसे परम लक्ष्य की विविधता का पता नहीं लगता। अनेक वैदिक आदेशों का परम उद्देश्य एक ही है कि भगवान् को जाना जाय और उनसे प्रेम किया जाय। इस बात को स्वयं भगवान् उद्धव से बलपूर्वक कह रहे हैं।

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाषण्डमतयोऽपरे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **प्रकृति**—स्वभाव या इच्छाओं के; **वैचित्र्यात्**—विविधता के कारण; **भिद्यन्ते**—विभक्त हैं; **मतयः**—जीवन-दर्शन; **नृणाम्**—मनुष्यों में; **पारम्पर्येण**—परम्परा से; **केषाञ्चित्**—कुछ लोगों में; **पाषण्ड**—नास्तिक; **मतयः**—दर्शन; **अपरे**—अन्य।

इस तरह मनुष्य के बीच नाना प्रकार की इच्छाओं तथा स्वभावों के कारण जीवन के अनेकानेक आस्तिक दर्शन हैं, जो प्रथा, रीति-रिवाज तथा परम्परा द्वारा हस्तान्तरित होते रहते हैं। ऐसे भी शिक्षक हैं, जो नास्तिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

तात्पर्य : *केषाञ्चित्* संसार के विभिन्न भागों के उन लोगों का द्योतक है, जो वैदिक निष्कर्ष से अनजान हैं और अनेक अवैध तथा व्यर्थ के दर्शन गढ़ते रहते हैं। *पाषण्डमतयः* उनका सूचक है, जो वैदिक निष्कर्ष के विरोधी हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—गंगाजल सदैव शुद्ध तथा अत्यन्त मीठा होता है। किन्तु गंगा नदी के तट पर अनेक विषैले वृक्ष होते हैं जिनकी जड़ें मिट्टी से गंगाजल को सोख कर उसे विषैले फल उत्पन्न करने के काम में लाती हैं। इसी तरह जो नास्तिक या आसुरी हैं, वे वैदिक ज्ञान की संगति का उपयोग नास्तिक या भौतिकतावादी दर्शन के विषैले फल उत्पन्न करने में करते हैं।

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मत्-मया—मेरी माया से; मोहित—मोहग्रस्त; धियः—बुद्धि वाले; पुरुषाः—मनुष्य; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ; श्रेयः—लोगों के लिए शुभ; वदन्ति—कहते हैं; अनेक-अन्तम्—अनेक प्रकार से; यथा-कर्म—अपने अपने कर्मों के अनुसार; यथा-रुचि—अपनी अपनी रुचि के अनुसार।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, मनुष्यों की बुद्धि मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाती है अतएव वे, अपने कर्मों तथा अपनी रुचियों के अनुसार, मनुष्यों के लिए जो वास्तव में शुभ है, उसके विषय में असंख्य प्रकार से बोलते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की तरह सर्वज्ञ नहीं होता अतएव उसके कार्य तथा उसके आनन्द पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अपने अपने कर्मों (*यथा-कर्म*) तथा अपनी अपनी रुचियों (*यथा-रुचि*) के अनुसार ही मनुष्य दूसरों से कहता है कि उनके लिए क्या शुभ है। हर व्यक्ति सोचता है, ''जो मेरे लिए शुभ है, वही हर एक के लिए शुभ है।'' वस्तुतः भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना और इस तरह अपने आनन्द तथा ज्ञान को ठीक से अनुभव करना सबसे अच्छी बात है। परब्रह्म के ज्ञान के बिना, अनेक तथाकथित विद्वानजन अन्य सनकी लोगों को उपदेश देते हैं, जिन्हें जीवन के वास्तविक लक्ष्य का पूरा ज्ञान नहीं होता।

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ।
केचिद्यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान्यमान् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—पुण्यकर्म; एके—कुछ लोग; यशः—ख्याति; च—भी; अन्ये—अन्य लोग; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; सत्यम्—सत्य; दमम्—आत्मसंयम; शमम्—शान्तिप्रियता; अन्ये—अन्य लोग; वदन्ति—स्थापना करते हैं; स्व-अर्थम्—आत्म-हित या स्वार्थ का अनुसरण करना; वै—निश्चय ही; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य या राजनीतिक प्रभाव; त्याग—त्याग; भोजनम्—भोग; केचित्—कुछ लोग; यज्ञम्—यज्ञ; तपः—तपस्या; दानम्—दान; व्रतानि—व्रत रखना; नियमान्—नियमित धार्मिक कृत्य; यमान्—कठोर विधियों को।

कुल लोग कहते हैं कि पुण्यकर्म करके सुखी बना जा सकता है। अन्य लोग कहते हैं कि सुख को यश, इन्द्रियतृप्ति, सच्चाई, आत्मसंयम, शान्ति, स्वार्थ, राजनीति का प्रभाव, ऐश्वर्य, संन्यास, भोग, यज्ञ, तपस्या, दान, व्रत, नियमित कृत्य या कठोर अनुशासन द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। हर विधि के अपने अपने समर्थक होते हैं।

तात्पर्य : *धर्मम् एके* उन नास्तिक दार्शनिकों का द्योतक है जिन्हें *कर्ममीमांसक* कहते हैं—जो यह कहते हैं कि हमें ईश्वर के धाम के विषय में चिन्ता करने में समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि किसी ने न तो उसे देखा है न ही कोई वहाँ से लौटा है। प्रत्युत, उसे कुशलतापूर्वक कर्म के नियमों को उपयोग में लाना चाहिए और सकाम कर्मों को इस प्रकार करना चाहिए जिससे वह सदैव भलीभाँति स्थित रहे। यश के बारे में यह कहा जाता है कि जब तक मनुष्य के यश का गायन पुण्य-लोकों में किया जाता है, तब तक वह स्वर्ग में हजारों वर्षों तक रह सकता है। *कामम् काम-सूत्र* तथा यौन-सुख के बारे में शिक्षा देने वाली लाखों आधुनिक पुस्तकों को बताता है। कुछ लोग कहते हैं कि जीवन का सर्वोच्च गुण ईमानदारी है, अन्य लोग आत्मसंयम, मन:शान्ति इत्यादि को बतलाते हैं। हर दृष्टिकोण के समर्थक तथा शास्त्र हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कानून, व्यवस्था तथा नैतिकता ही सर्वोच्च अच्छाई है, जबकि कुछ अन्य लोग प्रस्ताव रखते हैं कि राजनीतिक प्रभाव मनुष्य का असली स्वार्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि जरूरतमन्द को अपनी भौतिक सम्पत्ति दे दें, कुछ कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके इस जीवन का भोग किया जाय तथा अन्य लोग नित्य कर्म, अनुशासनिक व्रत, तपस्या इत्यादि की संस्तुति करते हैं।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आदि-अन्त-वन्तः—आदि तथा अन्त रखने वाला; एव—निस्सन्देह; एषाम्—उनका (भौतिकतावादियों का); लोकाः—अर्जित उपाधियाँ; कर्म—किसी के भौतिक कर्म द्वारा; विनिर्मिताः—उत्पन्न; दुःख—दुख; उदर्काः—भावी फल के रूप में; तमः—अज्ञान; निष्ठाः—स्थित; क्षुद्राः—नगण्य; मन्दाः—दुखी; शुचा—शोक से युक्त; अर्पिताः—पूरित।

अभी मैंने जिन सारे पुरुषों का उल्लेख किया है वे अपने अपने भौतिक कर्म के क्षणिक फल प्राप्त करते हैं। निस्सन्देह, वे जिन नगण्य तथा दुखमय स्थितियों को प्राप्त होते हैं, उनसे भावी दुख मिलता है और वे अज्ञान पर आधारित हैं। अपने कर्मफलों का भोग करते हुए भी, ऐसे व्यक्ति शोक से पूरित हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो लोग क्षणिक भौतिक वस्तुओं को परम सत्य मान कर पकड़ते हैं, उन्हें कोई भी, स्वयं उनके अतिरिक्त, बुद्धिमान नहीं मानता। ऐसे मूर्ख लोग सदैव चिन्ता से घिरे रहते हैं क्योंकि

प्रकृति के नियमों द्वारा उनके कर्मफल अनिच्छित या अपेक्षित विधियों से रूपान्तरित होते रहते हैं। वैदिक कर्मकाण्डों का कर्ता स्वर्गलोक जा सकता है किन्तु नास्तिक तो नरक का भागी बनता है। संसार का पूरा दृश्य अरोचक तथा मन्द (*मन्दा:*) होता है। भौतिक जगत में असली प्रगति नहीं की जा सकती; इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए और भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए।

मय्यर्पितात्मन: सभ्य निरपेक्षस्य सर्वत: ।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुत: स्याद्विषयात्मनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मन:—चेतना वाले का; सभ्य—हे विद्वान उद्धव; निरपेक्षस्य—निष्काम व्यक्ति का; सर्वत:—सभी प्रकार से; मया—मेरे साथ; आत्मना—भगवान् के साथ या अपने आध्यात्मिक शरीर के साथ; सुखम्—सुख; यत् तत्—ऐसा; कुत:—कैसे; स्यात्—हो सकता है; विषय—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; आत्मनाम्—अनुरक्तों का।

हे विद्वान उद्धव, जो लोग समस्त भौतिक इच्छाएँ त्याग कर, अपनी चेतना मुझमें स्थिर करते हैं, वे मेरे साथ उस सुख में हिस्सा बँटाते हैं, जिसे इन्द्रियतृप्ति में संलग्न मनुष्यों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैदिक ज्ञान का वास्तविक तात्पर्य बतलाया गया है। *विषयात्मनाम्* के अन्तर्गत मन की भौतिक शान्ति, आत्मसंयम तथा शुष्क दर्शन का अनुशीलन करने वाले सम्मिलित हैं। किन्तु ऐसे लोग सत्त्व गुण को प्राप्त कर लेने पर भी, सिद्धि नहीं पाते क्योंकि सत्त्व गुण, भौतिक होने से, *माया* का अंश है। जैसाकि श्री नारद मुनि ने कहा है—

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरि: ॥

''भगवान् अपने आप को योग, शुष्क दर्शन, वैराग्य या वेदाध्ययन करने वाले को भी अर्पित करने के लिए तैयार नहीं होते। निस्सन्देह, कोई भी तथाकथित भौतिक मंगलकारी विधि भगवान् को प्रकट होने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती।'' (भागवत ४.३१.१२) श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार कोई व्यक्ति अपने आध्यात्मिक शरीर से भगवान् के परम दिव्य स्वरूप का सान्निध्य प्राप्त करके, इस श्लोक में कहे गये सुख को पाता है। भगवान् का दिव्य स्वरूप अनन्त, अद्भुत गुणों से पूरित है और भगवान् के साथ रहने का सुख असीम है। दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर

सकते, क्योंकि वे भगवान् से प्रेम करने की ओर रंच-भर भी उन्मुख नहीं होते।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३॥

शब्दार्थ

अकिञ्चनस्य—कुछ न चाहने वाले का; दान्तस्य—इन्द्रियों पर संयम रखने वाले का; शान्तस्य—शान्त रहने वाले का; सम-चेतसः—समान चेतना वाले का; मया—मुझसे; सन्तुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; मनसः—मन वाले; सर्वाः—सभी; सुख-मयाः—सुख से पूर्ण; दिशः—दिशाएँ।

जो इस जगत में कुछ भी कामना नहीं करता, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में करके शान्ति प्राप्त कर ली है, जिसकी चेतना सभी परिस्थितियों में एक-सी रहती है तथा जिसका मन मुझमें पूर्णतया तुष्ट रहता है, वह जहाँ कहीं भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है।

तात्पर्य : जो भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण का ध्यान करता रहता है उसे भगवान् की लीलाओं में दिव्य ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा सुगन्ध का अनुभव होता है। ये दिव्य अनुभूतियाँ निश्चय ही उस व्यक्ति पर भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा से उत्पन्न होती हैं जिनसे उसका मन तथा इन्द्रिय पूर्णतया तुष्ट रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उस धनी व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो यात्रा के दौरान जहाँ भी ठहरता है, विलासमय जीवन बिताता है। इसी तरह जिस व्यक्ति में कृष्णभावनामृत उत्पन्न हो जाता है, वह कभी भी सुख से वंचित नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं। *किञ्चन्* शब्द इस जगत की तथाकथित भोग्य वस्तुओं का सूचक है। *अकिञ्चन* व्यक्ति ठीक से जानता है कि इन्द्रियतृप्ति केवल माया की चमक है अतएव ऐसा व्यक्ति *दान्तस्य, शान्तस्य* तथा *सन्तुष्ट-मनसः* होता है।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्मा का पद या धाम; न—कभी नहीं; महा-इन्द्र-धिष्ण्यम्—इन्द्र का पद; न—न तो; सार्वभौमम्—पृथ्वी पर साम्राज्य; न—न ही; रस-आधिपत्यम्—निम्न लोकों में सर्वश्रेष्ठता; न—कभीनहीं; योग-सिद्धीः—आठ योग-सिद्धियाँ; अपुनः-भवम्—मोक्ष; वा—न तो; मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मा—चेतना; इच्छति—वह चाहता है; मत्—मुझको; विना—बिना; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु।

जिसने अपनी चेतना मुझमें स्थिर कर रखी है, वह न तो ब्रह्मा या इन्द्र के पद या उनके धाम की कामना करता है, न इस पृथ्वी के साम्राज्य, न निम्न लोकों की सर्वश्रेष्ठता, न योग की आठ सिद्धियों की, न जन्म-मृत्यु से मोक्ष की कामना करता है। ऐसा व्यक्ति एकमात्र मेरी कामना करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अकिञ्चन* शुद्ध भक्त के पद का वर्णन हुआ है। श्री प्रियव्रत महाराज ऐसे महान् भक्त के उदाहरण हैं, जो सार्वभौम सत्ता में तनिक भी रुचि नहीं रखते थे क्योंकि उनका प्रेम पूर्णतया भगवान् के चरणकमलों में लीन था। शुद्ध भगवद्भक्त के लिए बड़ा से बड़ा भौतिक भोग तुच्छ तथा व्यर्थ प्रतीत होता है।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; मे—मुझको; प्रिय-तमः—सर्वाधिक प्रिय; आत्म-योनिः—मेरे शरीर से उत्पन्न, ब्रह्मा; न—न तो; सङ्करः—शिवजी; न—न तो; च—भी; सङ्कर्षणः—मेरा स्वांश संकर्षण; न—न तो; श्रीः—लक्ष्मीजी; न—न तो; एव—निश्चय ही; आत्मा—अर्चाविग्रह के रूप में मेरी आत्मा; च—भी; यथा—जितना कि; भवान्—तुम।

हे उद्धव, न तो ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मीजी, न ही मेरी आत्मा ही मुझे इतने प्रिय हैं जितने कि तुम हो।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् ने अपने प्रति शुद्ध भक्तों के शुद्ध प्रेम का वर्णन किया है। अब वे अपने भक्तों के प्रति अपने प्रेम का वर्णन करते हैं। *आत्म-योनि* का अर्थ है ब्रह्मा, जो कि सीधे भगवान् के शरीर से उत्पन्न हैं। शिवजी भगवान् कृष्ण का निरन्तर ध्यान करने से कृष्ण को परम आनन्द प्रदान करते हैं और संकर्षण या बलराम तो कृष्ण-लीला में उनके भाई हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। *आत्मा* शब्द यहाँ पर अर्चाविग्रह रूप में स्वयं भगवान् का सूचक है। इनमें से कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि भगवान् की आत्मा भी, भगवान् को उतना प्रिय नहीं है जितना कि उनका शुद्ध भक्त उद्धव है, जो भगवान् के *अकिञ्चन* भक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक वाङ्मय से एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिसमें एक व्यक्ति गरीब भिखारी को दान देने के लिए अपने तथा अपने बच्चों के हित की उपेक्षा कर देता है। इसी तरह भगवान् उस असहाय भक्त को वरीयता प्रदान करते हैं, जो उनकी कृपा पर ही अवलम्बित रहता है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके प्रति अहैतुक प्रेम और

भगवान् उन भक्तों की ओर प्रेम में विशेष उन्मुख रहते हैं, जो उन पर सर्वाधिक आश्रित रहते हैं, जिस प्रकार कि माता-पिता अपने असहाय बच्चों की चिन्ता आत्म-निर्भर बच्चों की अपेक्षा अधिक करते हैं। अत: यदि किसी में किसी भौतिक गुण का अभाव भी हो, तो उसे नि:स्वार्थ भाव से भगवान् पर ही निर्भर रहना चाहिए। इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होगी।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

निरपेक्षम्—निजी इच्छा से रहित; मुनिम्—मेरी लीलाओं में मेरी सहायता करने के ही विचार में मग्न; शान्तम्—शान्त; निर्वैरम्—किसी से बैर न रखते हुए; सम-दर्शनम्—सर्वत्र एकसमान चेतना; अनुव्रजामि—अनुसरण करता हूँ; अहम्—मैं; नित्यम्—सदैव; पूयेय—शुद्ध होऊँ; इति—इस प्रकार; अङ्घ्रि—चरणकमलों की; रेणुभिः—धूल से।

मैं अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल से अपने भीतर स्थित भौतिक जगतों को शुद्ध बनाना चाहता हूँ। इसलिए मैं सदैव अपने उन शुद्ध भक्तों के पदचिन्हों का अनुसरण करता हूँ जो निजी इच्छाओं से रहित हैं, जो मेरी लीलाओं के विचार में मग्न रहते हैं, शान्त हैं, शत्रुभाव से रहित हैं तथा सर्वत्र समभाव रखते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह भक्तगण सदैव भगवान् कृष्ण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उसी तरह भगवान् कृष्ण, अपने भक्तों के भक्त होने के कारण, उन भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। भगवान् का शुद्ध सेवक सदैव भगवान् की लीलाओं का ध्यान करता है और यह सोचता रहता है कि उनके उद्देश्य में उन्हें किस तरह सहायता पहुँचाई जाय। सारे ब्रह्माण्ड श्रीकृष्ण के शरीर के भीतर स्थित हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन, माता यशोदा तथा अन्यों को प्रदर्शित किया है। चूँकि कृष्ण भगवान् हैं अतएव उनमें किसी प्रकार के कल्मष होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की धूल लेकर अपने भीतर स्थित ब्रह्माण्डों को शुद्ध करना चाहते हैं। भक्तों के चरणकमलों की धूल लिए बिना, शुद्ध भक्ति में लग पाना सम्भव नहीं और शुद्ध भक्ति के बिना दिव्य आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कियाजा सकता। भगवान् कृष्ण ने सोचा, ''मैंने यह कठोर नियम बना रखा है कि कोई भी व्यक्ति मेरे भक्तों के चरणकमलों की धूल से प्राप्त भक्ति के द्वारा ही मेरे दिव्य आनन्द का भोग कर सकता है। चूँकि मैं भी अपना आनन्द अनुभव करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आदर्श विधि का पालन करूँगा और अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल ग्रहण करूँगा।'' श्रील

मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण उन्हें शुद्ध बनाने के लिए ही करते हैं। जब भगवान् अपने भक्तों के पीछे पीछे चलते हैं, तो वायु भगवान् की चरण-धूलि को उनके भक्तों के सामने उड़ाकर ले जाती है और वे इस दिव्य धूल का स्पर्श पाकर शुद्ध बन जाते हैं। किसी को मूर्खतावश भगवान् की इन दिव्य लीलाओं के विषय में तर्क नहीं करना चाहिए। यह तो भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य प्रेम का प्रश्न है।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७॥

शब्दार्थ

निष्किञ्चनाः—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; मयि—मुझ भगवान् में; अनुरक्त-चेतसः—निरन्तर अनुरक्त मन; शान्ताः—शान्त; महान्तः—मिथ्या अभिमान से रहित महान् आत्माएँ; अखिल—समस्त; जीव—जीवों के प्रति; वत्सलाः—स्नेहिल शुभचिन्तक; कामैः—इन्द्रियतृप्ति के लिए अवसरों से; अनालब्ध—अछूता तथा अप्रभावित; धियः—जिसकी चेतना; जुषन्ति—अनुभव करते हैं; ते—वे; यत्—जो; नैरपेक्ष्यम्—पूर्ण विरक्ति द्वारा ही प्राप्त हुआ; न विदुः—नहीं जानते; सुखम्—सुख; मम—मेरा।

जो निजी तृप्ति की किसी इच्छा से रहित हैं, जिनके मन सदैव मुझमें अनुरक्त रहते हैं, जो शान्त, मिथ्या अभिमान से रहित तथा समस्त जीवों पर दयालु हैं तथा जिनकी चेतना कभी भी इन्द्रियतृप्ति के अवसरों से प्रभावित नहीं होती, ऐसे व्यक्ति मुझमें ऐसा सुख पाते हैं जिसे वे व्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाते या जान भी नहीं पाते जिनमें भौतिक जगत से विरक्ति का अभाव है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तगण आनन्द के आगार श्रीकृष्ण की सेवा में सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह वे भौतिक आनन्द से पूरी तरह विरक्त होते हैं और मुक्ति की भी कामना नहीं करते। चूँकि अन्य सारे लोगों में कुछ न कुछ निजी इच्छा होती है, अतएव वे ऐसे आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। कृष्ण-भक्त अन्यों को सदैव कृष्णभावनाभावित सुख देने की इच्छा रखते हैं, इसलिए वे *महान्तः* या महान् आत्माएँ कहलाते हैं। भक्त द्वारा सेवा किये जाने के दौरान, इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर उपस्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनसे आकृष्ट नहीं होता है और वह अपने उच्च दिव्य पद से नीचे नहीं गिरता।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्राय: प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८॥

शब्दार्थ

बाध्यमान:—सताया जाकर; **अपि**—भी; **मत्-भक्त:**—मेरा भक्त; **विषयै:**—इन्द्रिय-विषयों द्वारा; **अजित**—बिना जीता गया; **इन्द्रिय:**—इन्द्रियों द्वारा; **प्राय:**—सामान्यतया; **प्रगल्भया**—प्रभावशाली तथा दृढ़; **भक्त्या**—भक्ति से; **विषयै:**—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; **न**—नहीं; **अभिभूयते**—परास्त होता है।

हे उद्धव, यदि मेरा भक्त पूरी तरह से अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं पाता, तो वह भौतिक इच्छाओं द्वारा सताया जा सकता है, किन्तु मेरे प्रति अविचल भक्ति के कारण, वह इन्द्रियतृप्ति द्वारा परास्त नहीं किया जायेगा।

तात्पर्य : *अभिभूयते* सूचक है भौतिक जगत में गिरने तथा माया द्वारा परास्त होने का। किन्तु जिस व्यक्ति में कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति होती है, वह अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह न जीत पाने पर भी भगवान् से विलग नहीं हो सकता। *प्रगल्भया भक्त्या* सूचक है उसका जो कृष्ण में प्रगाढ़ भक्ति रखता है, उसका नहीं जो पापकर्म करने का इच्छुक रहता है और कर्मफल से बचने के लिए हरे कृष्ण कीर्तन करता है। पिछली बुरी आदतों एवं अपरिपक्वता के कारण निष्ठावान् भक्त भी देहात्म बुद्धि के प्रति दीर्घकालिक आकर्षण के कारण पीड़ित रह सकता है, लेकिन कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति कारगर सिद्ध होगी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो उदाहरण दिये हैं। अपने शत्रु द्वारा आहत महान् योद्धा अपने साहस तथा बल के कारण न तो पराजित होता है न ही मारा जाता है। वह वार को सहता है और विजयी होता है। इसी तरह मनुष्य को कोई घातक रोग हो सकता है किन्तु सही दवा लेने पर वह तुरन्त अच्छा हो जाता है।

यदि निर्विशेष चिन्तन तथा तपस्या करने वाले लोग थोड़ा भी विचलित होते हैं, तो वे गिर जाते हैं। किन्तु भक्त अपरिपक्व होते हुए भी, अपने भक्ति-मार्ग से कभी च्युत नहीं होता। यदि उसमें कभी कोई दुर्बलता दिखती भी है, तो भी वह भक्त माना जाता है यदि कृष्ण के प्रति उसकी भक्ति अति प्रबल होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् ने कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग व्यवसितो हि स: ॥

"यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।"

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निः—आग; सु-समृद्ध—धधकती हुई; अर्चिः—लपटों वाली; करोति—बदल देती है; एधांसि—लकड़ी को; भस्म-सात्—राख में; तथा—उसी तरह; मत्-विषया—मुझे लक्ष्य बनाकर; भक्तिः—भक्ति; उद्धव—हे उद्धव; एनांसि—पाप करता है; कृत्स्नशः—पूरी तरह से।

हे उद्धव, जिस तरह धधकती अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह मेरी भक्ति मेरे भक्तों द्वारा किये गये पापों को पूर्णतया भस्म कर देती है।

तात्पर्य : ध्यान देना होगा कि भगवान् भक्ति को धधकती अग्नि बतला रहे हैं। पवित्र नाम कीर्तन के बल पर पापकर्म करना सबसे बड़ा अपराध है, अतएव जो ऐसा अपराध करता है उसकी भक्ति की तुलना कृष्ण-प्रेम की धधकती अग्नि से नहीं की जा सकती। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, एक निष्ठावान भक्त अपनी अपरिपक्वता या पुराने दुर्गुणों के कारण कृष्ण को अपना जीवन-लक्ष्य स्वीकार करने के बाद भी, इन्द्रियों द्वारा विचलित किया जा सकता है। किन्तु यदि संयोगवश ऐसा भक्त च्युत होता है, तो भगवान् उसके कर्मफलों को भस्म कर देते हैं, जिस तरह धधकती अग्नि लकड़ी के छोटे-से टुकड़े को तुरन्त जला देती है। भगवान् कृष्ण यशस्वी हैं और जो भगवान् की शरण ग्रहण करता है, उसे भगवद्भक्ति के अद्वितीय लाभ प्राप्त होते हैं।

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; साधयति—वश में करती है; माम्—मुझको; योगः—योग-पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; धर्मः—वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत पवित्र कार्यकलाप; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; स्वाध्यायः—वैदिक अध्ययन; तपः—तपस्या; त्यागः—त्याग; यथा—जिस तरह; भक्तिः—भक्ति; मम—मेरे प्रति; ऊर्जिता—विकसित।

हे उद्धव, भक्तों द्वारा की जाने वाली मेरी शुद्ध भक्ति मुझे उनके वश में करने वाली है। अतएव योग, सांख्य दर्शन, शुद्ध कार्य, वैदिक अध्ययन, तप अथवा वैराग्य में लगे व्यक्तियों के द्वारा मैं भी वशीभूत नहीं होता।

तात्पर्य : भले ही योग, सांख्य दर्शन आदि का लक्ष्य कृष्ण हो, किन्तु ऐसे कार्य भगवान् को उतना नहीं भाते जितना कि भगवान् का श्रवण, कीर्तन तथा उनके मिशन को पूरा करने वाली प्रत्यक्ष

प्रेमाभक्ति। श्रील रूप गोस्वामी बतलाते हैं—*ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—भक्त को केवल कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। उसे सकाम कर्म या मनोधर्म की ओर उन्मुख होकर व्यर्थ ही अपनी प्रेमाभक्ति को जटिल नहीं बनाना चाहिए। वृन्दावनवासी केवल कृष्ण पर आश्रित रहते हैं। जब व्रज के निकट अघासुर नामक विशाल सर्प प्रकट हुआ तो अपने मित्र कृष्ण पर पूर्ण विश्वास रखने वाले ग्वालबालों ने निर्भय होकर उस सर्प के विशाल मुख में प्रवेश किया। कृष्ण के प्रति ऐसा शुद्ध प्रेम ही भगवान् को भक्त के वशीभूत बनाता है।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; अहम्—मैं; एकया—शुद्ध; ग्राह्यः—प्राप्त किया जाने वाला; श्रद्धया—श्रद्धा से; आत्मा—भगवान्; प्रियः—प्रेम की वस्तु; सताम्—भक्तों की; भक्तिः—शुद्ध भक्ति; पुनाति—पवित्र बनाती है; मत्-निष्ठा—मुझको एकमात्र लक्ष्य बनाकर; श्व-पाकान्—चांडाल; अपि—भी; सम्भवात्—निम्न जन्म के कल्मष से।

मुझ पर पूर्ण श्रद्धा से युक्त शुद्ध भक्ति का अभ्यास करके ही मुझे अथात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। मैं स्वभावतः अपने उन भक्तों को प्रिय हूँ जो मुझे ही अपनी प्रेमाभक्ति का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चांडाल तक अपने निम्न जन्म के कल्मष से अपने को शुद्ध कर सकते हैं।

तात्पर्य : *सम्भवात्* सूचक है *जाति-दोषात्* अर्थात् निम्न कुल के दूषण से। *जाति-दोष* सांसारिक, सामाजिक, आर्थिक या वृत्तिपरक पद का सूचक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक प्रबुद्धता की मात्रा का द्योतक है। विश्व-भर में अनेक लोग धनी तथा बलवान परिवारों में जन्म लेते हैं, किन्तु वे प्रायः अनेक घृणित आदतें ग्रहण कर लेते हैं, जो उनकी पारिवारिक प्रथा की अंग होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति की शक्ति से ऐसे अभागे व्यक्ति भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जिन्हें जन्म से ही पापकर्मों में लगने की शिक्षा दी जाती है। ऐसी सेवा का एकमात्र लक्ष्य कृष्ण (*मन्निष्ठा*) होना चाहिए, उसे श्रद्धापूर्वक सम्पन्न किया जाना चाहिए (*श्रद्धया*) और उसे शुद्ध अर्थात् स्वार्थ से रहित (*एकया*) होना चाहिए।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; सत्य—सच्चाई; दया—तथा दया से; उपेतः—युक्त; विद्या—ज्ञान; वा—अथवा; तपसा—तपस्या से; अन्विता—युक्त; मत्-भक्त्या—मेरी भक्ति से; अपेतम्—रहित; आत्मानम्—चेतना; न—नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; प्रपुनाति—शुद्ध बनाती है; हि—निश्चय ही।

न सत्य तथा दया से युक्त धार्मिक कार्य, न ही कठिन तपस्या से प्राप्त किया गया ज्ञान उनकी चेतना को पूर्णतया शुद्ध बना सकता है, जो मेरी भक्ति से विहीन होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि पवित्र धार्मिक कार्य, सत्य, दया, तपस्या तथा ज्ञान अंशतः जीवन को शुद्ध बनाने वाले हैं, किन्तु इनसे भौतिक इच्छाएँ समूल नष्ट नहीं होतीं। इस तरह वही इच्छाएँ बाद में फिर से प्रकट होंगी। भौतिक तृप्ति के विस्तृत कार्यक्रम के बाद, मनुष्य तपस्या करने, ज्ञान अर्जित करने, निःस्वार्थ कर्म करने और अपने जीवन को शुद्ध बनाने के प्रति उत्सुक हो जाता है। किन्तु पर्याप्त पवित्रता तथा शुद्धि के बाद, वह पुनः भौतिक भोग के लिए उत्सुक हो उठता है। खेतों की सफाई करते समय अवांछित पौधों को समूल नष्ट कर देना चाहिए अन्यथा वर्षा आते ही वे फिर हरे-भरे हो उठेंगे। भगवान् के प्रति शुद्ध भक्ति मनुष्य की भौतिक इच्छाओं का उच्छेदन कर देती है, जिससे पुनः भौतिक तृप्ति की अधोगति को प्राप्त होने का भय नहीं रहता। भगवद्धाम में भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। जो प्रबुद्ध की इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाता, वह भौतिक पद पर बना रहता है, जो त्रुटियों तथा विरोधाभासों से पूर्ण है। इस तरह भगवद्भक्ति के बिना हर वस्तु अपूर्ण होती है।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; विना—बिना; रोम-हर्षम्—रोंगटे खड़े होना, रोमांच; द्रवता—पिघला; चेतसा—हृदय से; विना—रहित; विना—रहित; आनन्द—आनन्द के; अश्रु-कलया—आँसू बहना; शुध्येत्—शुद्ध किया जा सकता है; भक्त्या—भक्ति से; विना—रहित; आशयः—चेतना।

यदि किसी को रोमांच नहीं होता, तो उसका हृदय कैसे द्रवित हो सकता है? और यदि हृदय द्रवित नहीं होता, तो आँखों से प्रेमाश्रु कैसे बह सकते हैं? यदि कोई आध्यात्मिक सुख में चिल्ला नहीं उठता, तो वह भगवान् की प्रेमाभक्ति कैसे कर सकता है? और ऐसी सेवा के बिना चेतना कैसे शुद्ध बन सकती है?

तात्पर्य : भगवान् की प्रेमाभक्ति ही वह विधि है, जिससे मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध हो सकती है। ऐसी भक्ति से भाव की तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो आत्मा को पूरी तरह विमल बना देती हैं। जैसाकि कृष्ण ने पहले ही उद्धव से बताया है, आत्म-निग्रह, शुद्ध कर्म, योग, तपस्या जैसी विधियाँ मन को शुद्ध करने वाली हैं जिसका उल्लेख अनेक प्रामाणिक ग्रंथों में हुआ है। किन्तु ऐसी विधियाँ निषिद्ध कर्मों को करने की इच्छा को पूरी तरह से दूर नहीं कर पातीं। परन्तु भगवत्प्रेमवश सम्पन्न शुद्ध भक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह प्रगति के मार्ग के किसी भी अवरोध को जलाकर भस्म कर देती है। इस अध्याय में भगवान् ने कहा है कि उनकी प्रेमाभक्ति वह धधकती आग है, जो सारे अवरोधों को भस्म कर देती है। इसके विपरीत, मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) या योग की लघु अग्नियाँ पापपूर्ण इच्छाओं के द्वारा किसी भी क्षण बुझाई जा सकती हैं। अतः *श्रीमद्भागवत* के श्रवण द्वारा मनुष्य को भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति रूपी धधकती अग्नि जलानी चाहिए और भौतिक मोह के पाश को भस्म कर देना चाहिए।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४॥

शब्दार्थ

वाक्—वाणी; गद्गदा—रुद्ध; द्रवते—पिघलता है; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; रुदति—रोता है; अभीक्ष्णम्—पुनः पुनः; हसति—हँसता है; क्वचित्—कभी; च—भी; विलज्जः—लज्जित; उद्गायति—जोरों से गा उठता है; नृत्यते—नाचता है; च—भी; मत्-भक्ति-युक्तः—मेरी भक्ति में स्थिर; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनाति—पवित्र करता है।

वह भक्त जिसकी वाणी कभी रुद्ध हो जाती है, जिसका हृदय द्रवित हो उठता है, जो निरन्तर चिल्लाता है और कभी हँसता है, जो लज्जित होता है और जोरों से चिल्लाता है, फिर नाचने लगता है—इस तरह से मेरी भक्ति में स्थिर भक्त सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध करता है।

तात्पर्य : *वाग् गद्गदा* द्योतक है अत्यधिक भावनामयी स्थिति का जिसमें कण्ठ रुद्ध हो जाता है और मनुष्य अपने को व्यक्त नहीं कर पाता। *विलज्जः* शब्द यह सूचित करता है कि भक्त कभी कभी शारीरिक कार्यों तथा विगत पाप-कृत्यों की स्मृतियों के कारण उद्विग्न हो उठता है। इस अवस्था में भक्त जोर जोर से चिल्लाकर कृष्ण का नाम लेता है और कभी कभी आनन्दमग्न होकर नाचने लगता

है। ऐसा भक्त तीनों लोकों को पवित्र करता है।

हृदय द्रवित होने से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में स्थिर हो जाता है। सामान्यतया, जिसका हृदय आसानी से द्रवित हो उठता है उसे अस्थिर माना जाता है, किन्तु कृष्ण तो समस्त जगत की स्थिर नींव हैं अतएव जिसका हृदय कृष्ण-प्रेम में द्रवित होता है, वह सर्वाधिक स्थिर हो जाता है और वह विरोधमूलक तर्कों, शारीरिक कष्ट, मानसिक समस्याओं, आधिदैविक आपदाओं या ईर्ष्यालु व्यक्तियों के हस्तक्षेप से विचलित नहीं हो सकता। चूँकि ऐसा भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थिर रहता है, अतएव वह भगवान् का हृदय ही बन जाता है।

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निना—अग्नि से; हेम—स्वर्ण; मलम्—अशुद्ध; जहाति—त्याग देता है; ध्मातम्—पिघलाया; पुनः—फिर; स्वम्—अपने से; भजते—प्रवेश करता है; च—भी; रूपम्—स्वरूप; आत्मा—आत्मा या चेतना; च—भी; कर्म—सकाम कर्मों का; अनुशयम्—बचा दूषण; विधूय—हटाकर; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; भजति—पूजा करता है; अथो—इस प्रकार; माम्—मुझको।.

जिस तरह आग में पिघलाने से सोना अपनी अशुद्धियाँ त्याग कर शुद्ध चमक प्राप्त कर लेता है, उसी तरह भक्तियोग की अग्नि में लीन आत्मा पूर्व सकाम कर्मों से उत्पन्न सारे कल्मष से शुद्ध बन जाता है और वैकुण्ठ में मेरी सेवा करने के अपने आदि पद को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक सूचित करता है कि भक्त भगवद्धाम वापस जाता है और वहाँ पर अपने आदि आध्यात्मिक शरीर में, जिसकी उपमा पिघले सोने के आदि शुद्ध रूप से की जाती है, भगवान् कृष्ण की पूजा करता है। निकृष्ट धातुएँ मिली होने पर सोने को जल तथा साबुन से शुद्ध नहीं किया जा सकता। इसी तरह हृदय की अशुद्धियों को बाह्य विधियों से नहीं हटाया जा सकता। ईश-प्रेम की अग्नि ही मनुष्य के आत्मा को विमल बनाकर उसे भगवान् की नित्य भक्ति में लगाने के लिए भगवद्धाम भेज सकती है।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जितना; आत्मा—आत्मा, चेतन जीव; परिमृज्यते—भौतिक कल्मष से विमल होता है; असौ—वह; मत्-पुण्य-गाथा—मेरे यश का पवित्र वर्णन; श्रवण—सुनने से; अभिधानैः—तथा कीर्तन से; तथा तथा—उसी अनुपात में; पश्यति—देखता है; वस्तु—परब्रह्म को; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; चक्षुः—आँख; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; अञ्जन—औषधि के अंजन से; सम्प्रयुक्तम्—उपचारित।

जब रुग्ण आँख का उपचार औषधीय अंजन से किया जाता है, तो आँख में धीरे धीरे देखने की शक्ति आ जाती है। इसी तरह जब चेतनामय जीव मेरे यश की पुण्य गाथाओं के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा अपने भौतिक कल्मष को धो डालता है, तो वह फिर से मुझ परब्रह्म को मेरे सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप में देखने की शक्ति पा लेता है।

तात्पर्य : भगवान् *सूक्ष्म* कहलाते हैं क्योंकि वे शुद्ध आध्यात्मिक चेतना हैं, जिन्हें भौतिक शक्ति छू तक नहीं पाती। यदि कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक कृष्ण के नाम तथा यश का कीर्तन और श्रवण करता है, तो इसका दिव्य प्रभाव तुरन्त पड़ता है। यदि हम यहाँ पर उल्लिखित विधि को अपना लें, तो हम तुरन्त भगवान् के धाम तथा उनकी लीलाओं का दर्शन कर सकते हैं। अन्धा व्यक्ति उस वैध का आजीवन कृतज्ञ रहता है, जो उसको फिर से दृष्टि देता है। इसी तरह हम गाते हैं—*चक्षु-दान दिल ये, जन्मे जन्मे प्रभु सेइ*—भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि स्वरूप प्रामाणिक गुरु हमें आध्यात्मिक दृष्टि देता है, तो इस तरह वह हमारा नित्य स्वामी है।

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७॥

शब्दार्थ

विषयान्—इन्द्रियृप्ति की वस्तुएँ; ध्यायतः—ध्यान करने वाला; चित्तम्—चेतना को; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; विषज्जते—अनुरक्त होता है; माम्—मुझको; अनुस्मरतः—निरन्तर स्मरण करता हुआ; चित्तम्—चेतना को; मयि—मुझमें; एव—निश्चय ही; प्रविलीयते—लीन रहता है।

इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का ध्यान धरने वाले का मन निश्चय ही ऐसी वस्तुओं में फँसा रहता है, किन्तु यदि कोई निरन्तर मेरा स्मरण करता है, तो उसका मन मुझमें निमग्न हो जाता है।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यांत्रिक रूप से भगवान् की पूजा में लगने से कृष्ण का पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि मन के भीतर भगवान्

को बनाये रखने के लिए मनुष्य को निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। *अनुस्मरत:* उसी के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के यश का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करता है। इसीलिए कहा गया है कि भक्ति की विधि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* से शुरू और *स्मरणम्* द्वारा विकसित होती है। जो व्यक्ति निरन्तर भौतिक तृप्ति की वस्तुओं के बारे में सोचता है, वह उनमें अनुरक्त होता जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण को निरन्तर अपने मन के भीतर रखता है, वह भगवान् के दिव्य स्वभाव में लीन हो जाता है और इस तरह भगवान् के ही धाम में जाकर उनकी सेवा करने का पात्र बन जाता है।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; असत्—भौतिक; अभिध्यानम्—उत्थान विधि जो ध्यान को लीन करे; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपने में; मनः-रथम्—मानसिक चिन्तन; हित्वा—त्याग कर; मयि—मुझमें; समाधत्स्व—पूरी तरह लीन करो; मनः—मन; मत्-भाव—मेरी चेतना द्वारा; भावितम्—शुद्ध किया गया।

इसलिए मनुष्य को उत्थान की उन सारी विधियों का बहिष्कार करना चाहिए, जो स्वप्न के मनोरथों जैसी हैं। उसे अपना मन पूरी तरह से मुझमें लीन कर देना चाहिए। निरन्तर मेरा चिन्तन करने से वह शुद्ध बन जाता है।

तात्पर्य : *भावितम्* का अर्थ है "बनाया जाता है"। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है भौतिक जगत ऐसा अस्थायी पद है जहाँ सृष्टि तथा संहार के उत्पात होते रहते हैं। किन्तु जो अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करता है, वह कृष्ण के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह *मद्भावभावितम्* के रूप में वर्णित है। भगवान् यहीं पर मानव सिद्धि की विविध विधियों की व्याख्या समाप्त करते हैं।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; स्त्री—स्त्री के प्रति; सङ्गिनाम्—अनुरक्त रहने वालों की; सङ्गम्—संगति; त्यक्त्वा—त्याग कर; दूरतः—दूर; आत्म-वान्—आत्मा के प्रति सचेष्ट; क्षेमे—निर्भय; विविक्ते—पृथक् या एकान्त स्थान में; आसीनः—बैठे हुए; चिन्तयेत्—एकाग्र करे; माम्—मुझ पर; अतन्द्रितः—सावधानी से।

नित्य आत्मा के प्रति सचेष्ट रहते हुए मनुष्य को स्त्रियों की तथा स्त्रियों से घनिष्ठतापूर्वक

सम्बद्ध व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए। एकान्त स्थान में निर्भय होकर आसन लगाकर, उसे अपने मन को बड़े ही ध्यान से मुझ पर एकाग्र करना चाहिए।

तात्पर्य : जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्त्रियों से होता है और जो उन पर अनुरक्त रहते हैं, वे भगवद्धाम जाने के संकल्प को क्रमशः त्याग देंगे। कामुक व्यक्तियों की संगति से भी ऐसा ही परिणाम निकलता है। इसलिए सलाह दी जाती है कि मनुष्य निर्भय होकर एकान्त स्थान में बैठ जाय या फिर ऐसे स्थान में जहाँ आध्यात्मिक आत्महत्या करने वाले कामुक पुरुष तथा स्त्रियाँ न हों। विफलता या जीवन में दुख के भय से रहित होकर मनुष्य को भगवान् के निष्ठावान भक्तों के साथ रहते जाना चाहिए। *अतन्द्रित* का अर्थ है कि मनुष्य इस सिद्धान्त पर अडिग और सावधान रहे, कोई समझौता न करे। जो *आत्मवान्* है, अर्थात् जो नित्य आत्मा के व्यावहारिक ज्ञान से जुड़ा हुआ है, वही ऐसा कर सकता है।

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह; अस्य—उसका; भवेत्—हो सकता है; क्लेशः—कष्ट; बन्धः—बन्धन; च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य लगाव से; योषित्—स्त्रियों के; सङ्गात्—अनुरक्ति से; यथा—जैसे; पुंसः—मनुष्य का; यथा—उसी तरह; तत्—स्त्रियों को; सङ्गि—अनुरक्त रहने वाले की; सङ्गतः—संगति से।

विभिन्न अनुरक्तियों से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कष्ट तथा बन्धन में से ऐसा एक भी नहीं, जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्ति तथा स्त्रियों के प्रति अनुरक्त रहने वालों के घनिष्ठ सम्पर्क से बढ़ कर हो।

तात्पर्य : मनुष्य को स्त्रियों तथा स्त्रियों को चाहने वालों से घनिष्ठ सम्बन्ध तोड़ने का महत् प्रयास करना चाहिए। यदि किसी विद्वान व्यक्ति को कामुक स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क में रख दिया जाय, तो वह स्वयमेव सतर्क रहेगा। किन्तु वही व्यक्ति कामुक मनुष्यों की संगतिमें सभी प्रकार के सामाजिक कार्यों में भाग लेने से उनकी दूषित मनोवृत्ति से स्वयं दूषित हो सकता है। कामुक व्यक्तियों की संगति स्त्रियों की संगति से प्रायः अधिक खतरनाक होती है इसलिए उनसे सभी तरह से बचना चाहिए। *भागवत* में ऐसे असंख्य श्लोक हैं, जो भौतकि काम के नशे का वर्णन करने वाले हैं। यह कहना पर्याप्त होगा कि कामुक व्यक्ति नाचते कुत्ते की तरह हो जाता है और कामदेव के प्रभाव से वह सारी गम्भीरता, बुद्धि तथा जीवन-दिशा खो देता है। यहाँ पर भगवान् आगाह करते हैं कि जो व्यक्ति स्त्री के मायामय रूप के

समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है, वह इस जीवन में तथा अगले जीवन में असह्य कष्ट पाता है।

श्रीउद्धव उवाच
यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—किस तरह से; त्वाम्—आपके; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनेत्र वाले कृष्ण; यादृशम्—जिस स्वभाव का; वा—अथवा; यत्-आत्मकम्—किस रूप में; ध्यायेत्—ध्यान करे; मुमुक्षुः—मुक्ति का इच्छुक; एतत्—यह; मे—मुझको; ध्यानम्—ध्यान; त्वम्—तुम्हें; वक्तुम्—कहने या बतलाने के लिए; अर्हसि—चाहिए।.

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, यदि कोई मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति आपका ध्यान करना चाहें तो वह किस विधि से करे, उसका यह ध्यान किस विशेष स्वभाव वाला हो और वह किस रूप का ध्यान करे? कृपया मुझे ध्यान के इस विषय के बारे में बतलायें।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही विस्तार से बतला चुके हैं कि भक्त की संगति में रह कर उनकी भक्ति के बिना कोई भी अन्य विधि सफल नहीं होगी। इसलिए यह पूछा जा सकता है कि उद्धव फिर से *ध्यान* विधि का उल्लेख क्यों कर रहे हैं? आचार्य बतलाते हैं कि जब तक *भक्तियोग* को अन्य सारी विधियों में सर्वश्रेष्ठ नहीं मान लिया जाता, तब तक उसके सौन्दर्य तथा उसकी पूर्णता को पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। तुलनात्मक विवेचन से भक्तगण भक्तियोग का सही सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिए कि यद्यपि उद्धव मुमुक्षुओं के लिए प्रश्न कर रहे हैं, किन्तु वे मुमुक्षु नहीं हैं, प्रत्युत वे उन लोगों के लिए प्रश्न कर रहे हैं, जिन्हें भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया है। उद्धव इस ज्ञान को अपनी तुष्टि हेतु सुनना चाहते हैं ताकि जो लोग मुक्ति या मोक्ष की कामना करते हैं उनकी इस तरह से रक्षा की जा सके और उन्हें भगवान् की शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मोड़ा जा सके।

श्रीभगवानुवाच
सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ ३२ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; समे—समतल; आसने—आसन पर; आसीनः—बैठ कर; सम-कायः—शरीर को सीधा करके; यथा-सुखम्—सुखपूर्वक बैठ कर; हस्तौ—दोनों हाथों को; उत्सङ्गे—गोद में; आधाय—रख कर; स्व-नास-अग्र—

अपनी नाक के अगले भाग पर; कृत—केन्द्रित करते हुए; ईक्षणः—चितवन; प्राणस्य—श्वास का; शोधयेत्—शुद्ध करना चाहिए; मार्गम्—मार्ग; पूर-कुम्भक-रेचकैः—प्राणायाम द्वारा; विपर्ययेण—उलट करके, अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक क्रम में; अपि—भी; शनैः—धीरे धीरे; अभ्यसेत्—प्राणायाम का अभ्यास करे; निर्जित—वश में करके; इन्द्रियः—इन्द्रियों को।

भगवान् ने कहा : ऐसे आसन पर बैठ कर, जो न तो ज्यादा ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, शरीर को सीधा रखते हुए जिससे सुख मिल सके, दोनों हाथों को गोद में रख कर तथा आँखों को अपनी नाक के अगले सिरे पर केन्द्रित करते हुए, मनुष्य को चाहिए कि पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम का यांत्रिक अभ्यास करे और फिर इस विधि को उलट कर करे (अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक के क्रम से करे)। इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लेने के बाद, उसे धीरे धीरे प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : इस विधि के अनुसार हाथों को उलट कर रखना चाहिए, जिससे हथेलियाँ एक-दूसरे के ऊपर रहें। इस तरह मन की स्थिरता प्राप्त करने के लिए श्वास रोक कर प्राणायाम का अभ्यास करे। *योगशास्त्र* में कहा गया है *अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः स्थिरचित्तः सुसंगतः*—आँखें, जो कि सामान्यतः बाहर देखती हैं उन्हें अन्तर्मुखी कर दिया जाय। इस तरह मन स्थिर होकर पूरी तरह वश में हो जाता है।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय में; अविच्छिन्नम्—अनवरत; ओंकारम्—ॐकार की पवित्र ध्वनि; घण्टा—घण्टे की तरह; नादम्—ध्वनि; बिस-ऊर्ण-वत्—कमल वृन्त तक जाने वाले रेशे की तरह; प्राणेन—प्राण-वायु द्वारा; उदीर्य—धकेल कर; तत्र—वहाँ (बारह अंगुल दूरी पर); अथ—इस प्रकार; पुनः—फिर; संवेशयेत्—जोड़ दे; स्वरम्—अनुस्वार समेत पन्द्रह ध्वनियाँ।

मूलाधार चक्र से शुरू करके, मनुष्य को चाहिए कि प्राण-वायु को कमल नाल के तनुओं की तरह ऊपर की ओर लगातार ले जाय जब तक कि वह हृदय तक न पहुँच जाय जहाँ पर ॐ का पवित्र अक्षर घंटे की ध्वनि की तरह विद्यमान है। इस तरह उसे इस अक्षर को लगातार ऊपर की ओर बारह अंगुल की दूरी तक उठाते जाना चाहिए और वहाँ पर ॐकार को अनुस्वार समेत उत्पन्न पन्द्रह ध्वनियों से जोड़ देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि योग-पद्धति कुछ कुछ प्राविधिक तथा सम्पन्न करने में कठिन है। *अनुस्वार* नाक से निकलने वाली वह ध्वनि है, जो पन्द्रह संस्कृत स्वरों के बाद में उच्चरित होती है। इस विधि की पूरी व्याख्या जटिल है और स्पष्टया इस कलियुग के लिए अनुपयुक्त है। इस विवरण से

हम यह पता लगा सकते हैं कि पहले के युगों में योग-ध्यान करने वालों की यह कितनी बड़ी उपलब्धि होती थी। इतने के बावजूद हमें इस युग के लिए संस्तुत ध्यान की सरल तथा व्यावहारिक विधि को अपनाना चाहिए जो कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन है।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रणव—ॐ अक्षर से; संयुक्तम्—जुड़ा हुआ; प्राणम्—शारीरिक श्वास को वश में करने की प्राणायाम विधि; एव—निस्सन्देह; समभ्यसेत्—सतर्कता से अभ्यास करे; दश-कृत्वः—दस बार; त्रि-षवणम्—सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय; मासात्—एक मास के; अर्वाक्—पश्चात्; जित—जीत लेगा; अनिलः—प्राण-वायु।

ॐकार में स्थिर होकर मनुष्य को चाहिए कि सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय दस-दस बार प्राणायाम का सतर्कतापूर्वक अभ्यास करे। इस तरह एक महीने के बाद वह प्राण-वायु पर विजय पा लेगा।

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
कर्णिकायां न्यसेत्सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ॥ ३६ ॥
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ।
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ॥ ३७ ॥
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३८ ॥
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ॥ ३९ ॥
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ।
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ॥ ४० ॥
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षनम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥ ४१ ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हृत्—हृदय में; पुण्डरीकम्—कमल का फूल; अन्तः-स्थम्—शरीर के भीतर स्थित; ऊर्ध्व-नालम्—कमल नाल को ऊपर उठाये; अधः-मुखम्—आँखें आधी बन्द किये हुए तथा नाक के सिरे पर ताकते हुए; ध्यात्वा—ध्यान में मन को स्थिर करके;

ऊर्ध्व-मुखम्—जाग्रत; उन्निद्रम्—बिना ऊँघे, सचेष्ट; अष्ट-पत्रम्—आठ पंखुड़ियों वाला; स-कर्णिकम्—कोशयुक्त; कर्णिकायाम्—कोश के भीतर; न्यसेत्—एकाग्र होकर रखे; सूर्य—सूर्य; सोम—चन्द्रमा; अग्नीन्—तथा अग्नि; उत्तर-उत्तरम्—एक के बाद एक, इस क्रम से; वह्नि-मध्ये—अग्नि के भीतर; स्मरेत्—ध्यान करे; रूपम्—स्वरूप पर; मम—मेरे; एतत्—यह; ध्यान-मङ्गलम्—ध्यान की पवित्र वस्तु; समम्—शरीर के सभी अंगएकसमान, संतुलित; प्रशान्तम्—शान्त; सु-मुखम्—प्रसन्न; दीर्घ-चारु-चतुः-भुजम्—चार सुन्दर लम्बी भुजाओं वाले; सु-चारु—मनोहारी; सुन्दर—सुन्दर; ग्रीवम्—गर्दन; सु-कपोलम्—सुन्दर मस्तक; शुचि-स्मितम्—शुद्ध मुस्कान से युक्त; समान—सदृश; कर्ण—कान में; विन्यस्त—स्थित; स्फुरत्—चमचमाते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डलम्—कुण्डल; हेम—सुनहरे रंग के; अम्बरम्—वस्त्र; घन-श्यामम्—बादलों जैसे श्यामरंग के; श्री-वत्स—भगवान् के वक्षस्थल पर अद्वितीय घुंघराले बाल; श्री-निकेतनम्—लक्ष्मी के धाम; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल; वन-माला—तथा जंगली फूलों की माला से; विभूषितम्—अलंकृत; नूपुरैः—घुंघरुओं तथा पायजेबों से; विलसत्—चमकते हुए; पादम्—चरणकमल; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि के; प्रभया—तेज से; युतम्—युक्त; द्युमत्—चमकता; किरीट—मुकुट; कटक—सुनहले बाजूबन्द; कटि-सूत्र—करधनी; अङ्गद—बाजूबन्द; आयुतम्—से युक्त; सर्व-अङ्ग—शरीर के सारे अंग; सुन्दरम्—सुन्दर; हृद्यम्—मनोहर; प्रसाद—कृपा से; सुमुख—हँसीला; ईक्षणम्—चितवन; सु-कुमारम्—अत्यन्त नाजुक; अभिध्यायेत्—ध्यान करे; सर्व-अङ्गेषु—शरीर के सारे अंगों में; मनः—मन को; दधत्—रखते हुए; इन्द्रियाणि—भौतिक इन्द्रियों को; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः—इन्द्रिय-विषयों से; मनसा—मन से; आकृष्य—पीछे खींच कर; तत्—वह; मनः—मन; बुद्ध्या—बुद्धि से; सारथिना—रथ के सारथी की-सी; धीरः—गम्भीर तथा संयमित होकर; प्रणयेत्—प्रबलतापूर्वक आगे बढ़े; मयि—मुझमें; सर्वतः—शरीर के सारे अंगों में।

आँखों को अधखुली रखते हुए तथा उन्हें अपनी नाक के सिरे पर स्थिर करके, अत्यन्त जागरूक रह कर, मनुष्य को हृदय के भीतर स्थित कमल के फूल का ध्यान करना चाहिए। इस कमल के फूल में आठ पंखड़ियाँ हैं और यह सीधे डंठल पर स्थित है। उसे सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि को उस कमल-पुष्प के कोश में एक-एक करके रखते हुए, उनका ध्यान करना चाहिए। अग्नि में मेरे दिव्य स्वरूप को स्थापित करते हुए, उसे समस्त ध्यान का शुभ लक्ष्य मान कर उसका ध्यान करना चाहिए। यह स्वरूप अत्यन्त समरूप, भद्र तथा प्रसन्न होता है। इसकी चार सुन्दर लम्बी भुजाएँ, सुहावनी सुन्दर गर्दन, सुन्दर मस्तक, शुद्ध हँसी तथा दोनों कानों में लटकने वाले मकराकृति के चमचमाते कुण्डल होते हैं। यह आध्यात्मिक स्वरूप वर्षा के मेघ की भाँति श्यामल रंग वाला है और सुनहले-पीले रेशम से आवृत है। इस रूप के वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का आवास है और यह स्वरूप शंख, चक्र, गदा, कमल-पुष्प तथा जंगली फूलों की माला से सुसज्जित है। इसके दो चमकीले चरणकमल घुंघरुओं तथा पायजेबों से विभूषित हैं और इस रूप से कौस्तुभ मणि के साथ ही तेजवान मुकुट भी प्रकट होता है। इसके कूल्हे सुनहली करधनी से सुन्दर लगते हैं और भुजाएँ मूल्यवान बाजूबन्दों से सज्जित हैं। इस सुन्दर रूप के सभी अंग हृदय को मोहने वाले हैं और इसका मुखड़ा दयामय चितवन से सुशोभित है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-विषयों से इन्द्रियों को पीछे हटाकर, गम्भीर तथा आत्मसंयमी बने और मेरे दिव्य शरीर के सारे अंगों पर मन को दृढ़ता से स्थिर करने के लिए बुद्धि का उपयोग

करे। इस तरह उसे मेरे अत्यन्त मृदुल दिव्य स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उद्धव के उस प्रश्न का उत्तर देते हैं, जो मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की सही विधि, उसके स्वभाव तथा लक्ष्य से सम्बन्धित है।

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; सर्व—शरीर के सारे भागों में; व्यापकम्—फैली; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; एकत्र—एक स्थान पर; धारयेत्—एकाग्र करे; न—नहीं; अन्यानि—शरीर के अन्य अंगों को; चिन्तयेत्—ध्यानकरे; भूयः—फिर; सु-स्मितम्—अद्‌भुत मुस्कान या हँसी से युक्त; भावयेत्—एकाग्र करे; मुखम्—मुँह पर।

तब वह अपनी चेतना को दिव्य शरीर के समस्त अंगों से हटा ले। उस समय उसे भगवान् के अद्‌भुत हँसी से युक्त मुख का ही ध्यान करना चाहिए।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए; लब्ध-पदम्—स्थापित होकर; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; व्योम्नि—आकाश में; धारयेत्—ध्यान करे; तत्—आकाश का ऐसा ध्यान; च—भी; त्यक्त्वा—त्याग कर; मत्—मुझ तक; आरोहः—चढ़ कर; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ; अपि—भी; चिन्तयेत्—चिन्तन करे।

भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए, उसे चाहिए कि वह अपनी चेतना को हटाकर उसे आकाश में स्थिर करे। तब ऐसे ध्यान को त्याग कर, वह मुझमें स्थिर हो जाय और ध्यान-विधि का सर्वथा परित्याग कर दे।

तात्पर्य : शुद्ध चेतना को प्राप्त होने पर "मैं ध्यान कर रहा हूँ और यह मेरे ध्यान का लक्ष्य है" जैसा द्वैत समाप्त हो जाता है और मनुष्य का भगवान् से रागानुग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रत्येक जीव मूलतः भगवान् का भिन्नांश है और जब वह विस्मृत नित्य सम्बन्ध पुनः ताजा हो जाता है, तो परब्रह्म की स्मृति आ जाती है। उस अवस्था में, जिसे *मद्-आरोहः* कहा गया है, मनुष्य न तो अपने को ध्यान करने वाला, न ही भगवान् को ध्यान का लक्ष्य देखता है, अपितु वह भगवान् के प्रत्यक्ष प्रेम-सम्बन्ध में सच्चिदानन्द व्योम में प्रवेश करता है।

उद्धव ने पहले मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की विधि के विषय में पूछा था। *लब्ध-पदम्* शब्द सूचित

करता है कि जब मनुष्य भगवान् के मुख पर अपना मन स्थिर कर देता है, तो उसे पूर्ण मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष के बाद वह आदि भगवान् की सेवा करने चला जाता है। ध्यानी होने के विचार को त्याग कर, मनुष्य रही सही माया को उतार फेंकता है और भगवान् का यथारूप में दर्शन करता है।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; समाहित—पूर्णतया स्थिर; मतिः—चेतना; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; आत्मानम्—आत्मा; आत्मनि—आत्मा के भीतर; विचष्टे—देखता है; मयि—मुझमें; सर्व-आत्मन्—भगवान् में; ज्योतिः—सूर्य की किरणें; ज्योतिषि—सूर्य के भीतर; संयुतम्—संयुक्त।

जिसने अपने मन को मुझमें पूरी तरह स्थिर कर लिया है उसे चाहिए कि अपनी आत्मा के भीतर मुझ भगवान् को देखे और व्यष्टि आत्मा को मेरे भीतर देखे। इस तरह वह आत्माओं को परमात्मा से संयुक्त देखता है, जिस तरह सूर्य की किरणों को सूर्य से पूर्णतया संयुक्त देखा जाता है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु में स्वाभाविक तेज रहता है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। अतएव जब आत्मा को परमेश्वर के भिन्नांश के रूप में देखा जाता है, तो इस अनुभव की तुलना सूर्य से निकलने वाली किरणों के देखने से की जा सकती है। परमेश्वर जीव के भीतर रहता है और जीव परमेश्वर के भीतर। किन्तु दोनों ही दशा में जीव नहीं अपितु परमेश्वर ही पालक तथा नियन्ता होता है। यदि लोग कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें और भगवान् कृष्ण को हर जीव के भीतर तथा हर जीव को कृष्ण के भीतर देखें तो प्रत्येक व्यक्ति कितना सुखी हो जाय! कृष्णभावनामृत होने पर मुक्त जीवन कितना सुखद है! ऐसी चेतना के बिना रहना सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा। श्रीकृष्ण यहाँ पर कई प्रकार से कृष्णभावनामृत की श्रेष्ठता का बखान कर रहे हैं और भाग्यशाली लोग ही भगवान् के सन्देश को समझेंगे।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्य ज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ध्यानेन—ध्यान से; इत्थम्—जैसाकि बतलाया गया; सु-तीव्रेण—अत्यन्त एकाग्र; युञ्जतः—अभ्यास करने वाले; योगिनः—योगी का; मनः—मन; संयास्यति—एकसाथ जायेगा; आशु—तेजी से; निर्वाणम्—अन्त के लिए; द्रव्य-ज्ञान-क्रिया—भौतिक वस्तुओं की अनुभूति, ज्ञान तथा कर्म पर आधारित; भ्रमः—भ्रम, मायामय पहचान।

जब योगी इस तरह अत्यधिक एकाग्र ध्यान से अपने मन को अपने वश में करता है, तो भौतिक वस्तुओं, ज्ञान तथा कर्म से उसकी भ्रामक पहचान तुरन्त समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : झूठी भौतिक पहचान के कारण ही, हम अपने शरीर तथा मन, अन्यों के शरीरों तथा मनों एवं दैवी भौतिक नियंत्रण को परम वास्तविकता स्वीकार करते हैं। दैवी नियंत्रण सूचक है देवताओं के शरीरों तथा मनों का जो अन्ततोगत्वा भगवान् के विनीत सेवक होते हैं। यहाँ तक कि महान् शक्तियों का प्रदर्शन करने वाला बलशाली सूर्य भी भगवान् कृष्ण के आदेश का पालन करते हुए अपने मार्ग पर चलता है।

इस अध्याय में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि हठ-योग, कर्म-योग, राज-योग इत्यादि का जो भक्तियोग के अंश हैं, पृथक् अस्तित्व नहीं होता। जीवन का लक्ष्य भगवान् कृष्ण हैं अत: जो व्यक्ति ध्यान या योगाभ्यास को पूरा करना चाहता है उसे शुद्ध भक्ति-पद तक पहुँचना होगा। भक्ति की परिपक्वावस्था में मनुष्य ध्यानकर्ता तथा ध्यान की वस्तु के कृत्रिम द्वैत से मुक्त हो सकता है जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है और तब वह तुरन्त परब्रह्म के श्रवण तथा यशोगान में प्रवृत्त हो जाता है। भक्तियोग के ऐसे कार्य स्वाभाविक हैं क्योंकि उनका उदय रागानुग प्रेम से होता है। जब मनुष्य भगवान् के प्रिय सेवक होने की मूल प्रकृति को प्राप्त कर लेता है, तो *योग* की अन्य विधियाँ नहीं रुचतीं। भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने के पूर्व भी उद्धव शुद्ध भक्त थे अतएव उद्धव से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भगवान् से अपनी निजी संगति के परम पद को छोड़ कर योगाभ्यास में जुट जायेंगे। भक्तियोग प्रारम्भिक अवस्था से ही इतना उच्च होता है कि मनुष्य मुक्त माना जाता है क्योंकि सारे कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए सुनियोजित ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं। हठ-योग में शारीरिक नियंत्रण की चिन्ता रहती है और ज्ञानयोग में मनोधर्मी ज्ञान की। इन दोनों विधियों में मनुष्य का प्रयत्न स्वार्थपूर्ण होता है क्योंकि मनुष्य महान् योगी या दार्शनिक बनने की कामना करता है। इस श्लोक में ऐसे अहंकारयुक्त कार्यों को ही *क्रिया* कहा गया है। मनुष्य को द्रव्य, ज्ञान तथा क्रिया की भ्रामक उपाधियाँ त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति की निरहंकार अवस्था को प्राप्त होना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-

वर्णन'' नामक चौदहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

भगवान् कृष्ण द्वारा योग-सिद्धियों का वर्णन

इस अध्याय में आठ मुख्य तथा दस गौण योग-सिद्धियों का वर्णन हुआ है। योग में मन को स्थिर करके इन्हें प्राप्त किया जा सकता है किन्तु अन्ततोगत्वा ये विष्णु-धाम पहुँचने में बाधक बनती हैं।

उद्धव द्वारा पूछे जाने पर श्रीकृष्ण अठारह योग-सिद्धियों के लक्षणों का तथा जिस प्रकार के विशेष ध्यान से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, उनका वर्णन करते हैं। अन्त में कृष्ण यह कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् की शुद्ध भक्ति करना चाहता है, उसके लिए इन योग-सिद्धियों की प्राप्ति समय का अपव्यय है क्योंकि ये उसे समुचित पूजा के मार्ग से विपथ करने वाली हैं। ये सारी सिद्धियाँ शुद्ध भक्त को स्वत: प्रदान की जाती हैं किन्तु वह इन्हें स्वीकार नहीं करता। जब तक भक्तियोग में इनका उपयोग न किया जाय, ये सिद्धियाँ व्यर्थ हैं। भक्त तो इतना ही देखता है कि भगवान् सदैव सर्वत्र अन्त: तथा बाह्य में विद्यमान हैं और वह उन्हीं पर पूरी तरह निर्भर रहता है।

श्रीभगवानुवाच
जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **जित-इन्द्रियस्य**—जिसने अपनी इन्द्रियाँ जीत ली हैं; **युक्तस्य**—जिसने मन को स्थिर कर लिया है; **जित-श्वासस्य**—जिसने प्राणायाम पर विजय पा ली है; **योगिनः**—ऐसे योगी का; **मयि**—मुझमें; **धारयतः**—स्थिर करते हुए; **चेतः**—अपनी चेतना; **उपतिष्ठन्ति**—प्रकट होती हैं; **सिद्धयः**—योग की सिद्धियाँ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, योग-सिद्धियाँ उस योगी द्वारा अर्जित की जाती हैं जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली हो, अपने मन को स्थिर कर लिया हो, प्राणायाम को वश में कर लिया हो और जो अपने मन को मुझमें स्थिर कर चुका हो।

तात्पर्य : मूल योग-सिद्धियाँ आठ हैं—यथा अणिमा-सिद्धि आदि और दस गौण सिद्धियाँ हैं। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण बतलायेंगे कि ऐसी योग-सिद्धियाँ कृष्णभावनामृत के विकास में बाधक हैं,

अतएव मनुष्य को चाहिए कि इनकी कामना न करे।

श्रीउद्धव उवाच

कया धारणया का स्वित्कथं वा सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कया—किस; धारणया—ध्यान की विधि द्वारा; का स्वित्—क्या निस्सन्देह; कथम्—किस तरह से; वा—अथवा; सिद्धिः—योग-सिद्धि; अच्युत—हे प्रभु; कति—कितने; वा—अथवा; सिद्धयः—सिद्धियाँ; ब्रूहि—कृपा करके कहिए; योगिनाम्—समस्त योगियों के; सिद्धि-दः—सिद्धि दाता; भवान्—आप।

श्री उद्धव ने कहा : हे अच्युत, योग-सिद्धि किस विधि से प्राप्त की जा सकती है और ऐसी सिद्धि का स्वभाव क्या है? योग-सिद्धियाँ कितनी हैं? कृपा करके ये बातें मुझसे बतलाइये। निस्सन्देह, आप समस्त योग-सिद्धियों के प्रदाता हैं।

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सिद्धयः—योग-सिद्धियाँ; अष्टादश—अठारह; प्रोक्ताः—घोषित की जाती हैं; धारणाः—ध्यान; योग—योग के; पार-गैः—पारंगतों द्वारा; तासाम्—उठारहों में से; अष्टौ—आठ; मत्-प्रधानाः—मुझमें शरण पाती हैं; दश—दस; एव—निस्सन्देह; गुण-हेतवः—भौतिक सतोगुण से प्रकट हैं।

भगवान् ने कहा : योग के पारंगतों ने घोषित किया है कि योग-सिद्धि तथा ध्यान के अठारह प्रकार हैं जिनमें से आठ मुख्य हैं, जो मेरे अधीन हैं और दस गौण हैं, जो सतोगुण से प्रकट होती हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मत्-प्रधान:* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। भगवान् कृष्ण आठ मुख्य योग-शक्तियों तथा ध्यानों (धारणाओं) के आश्रय हैं क्योंकि ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की निजी शक्ति से उद्‌भूत हैं, फलस्वरूप ये स्वयं भगवान् तथा उनके निजी संगियों के भीतर ही ठीक से विकसित होती हैं। जब भौतिकतावादी व्यक्ति इन शक्तियों को यांत्रिक रूप से पा लेते हैं, तो जो सिद्धियाँ उन्हें दी जाती हैं, वे निम्न कोटि की होती हैं और वे माया की अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं। शुद्ध भक्त तो भगवान् से स्वत: अद्‌भुत शक्तियाँ पाता है जिनसे वह भक्ति सम्पन्न करता है। यदि कोई व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए योग-शक्तियाँ पाने हेतु यांत्रिक रूप से प्रयत्न करता है, तो ये

सिद्धियाँ निश्चित रूप से भगवान् की बहिरंगा शक्ति की निकृष्ट अंश मानी जाती हैं।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अणिमा—छोटे-से-छोटा बनने की सिद्धि; महिमा—बड़े-से-बड़ा बनना; मूर्तेः—शरीर का; लघिमा—हल्के-से-हल्का बनना; प्राप्तिः—प्राप्ति; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; प्राकाम्यम्—इच्छानुरूप कार्य की सम्पन्नता; श्रुत—न दिखने वाली वस्तुएँ, जिनके बारे में केवल सुना जा सकता है; दृष्टेषु—तथा दिखाई पड़ने वाली वस्तुएँ; शक्ति-प्रेरणम्—माया की उपशक्तियों को काम में लगाना; ईशिता—नियंत्रण करने की सिद्धि; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; असङ्गः—बिना रुकावट के; वशिता—अन्यों को वश में करने की शक्ति; यत्—जो भी; कामः—इच्छा; तत्—वह; अवस्यति—प्राप्त कर सकता है; एताः—ये; मे—मेरी (शक्तियाँ); सिद्धयः—सिद्धियाँ; सौम्य—हे सुशील उद्धव; अष्टौ—आठ; औत्पत्तिकाः—प्राकृतिक तथा अद्वितीय; मताः—मानी जानी चाहिए।

आठ प्रधान योग-सिद्धियों में तीन सिद्धियाँ, जिनसे मनुष्य अपने शरीर को रूपान्तरित कर सकता है, अणिमा (छोटे से छोटा बनना), महिमा (बड़े से बड़ा होना) तथा लघिमा (हल्के से हल्का होना) हैं। प्राप्ति सिद्धि द्वारा मनवांछित वस्तु प्राप्त की जा सकती है और प्राकाम्य सिद्धि द्वारा मनुष्य को उसकी भोग्य वस्तु का अनुभव इस लोक या अगले लोक में होता है। ईशिता सिद्धि से मनुष्य माया की उपशक्तियों को पा सकता है और वशिता सिद्धि से मनुष्य तीनों गुणों से अबाध बन जाता है। जिसने कामावसायिता सिद्धि प्राप्त की होती है, वह कहीं से कोई भी वस्तु सर्वोच्च सीमा तक पा सकता है। हे उद्धव, ये आठ योग-सिद्धियाँ प्राकृतिक रूप से विद्यमान होती हैं और इस जगत में अद्वितीय हैं।

तात्पर्य : *अणिमा* सिद्धि के द्वारा मनुष्य इतना लघु बन सकता है कि वह पत्थर के भीतर घुस सकता है या किसी अवरोध से होकर निकल सकता है। *महिमा* सिद्धि से मनुष्य इतना बड़ा हो सकता है कि वह किसी भी वस्तु को ढक सकता है और *लघिमा* के द्वारा वह इतना हल्का हो सकता है कि सूर्य की किरणों पर चढ़ कर सूर्यलोक जा सकता है। *प्राप्ति* सिद्धि से मनुष्य कहीं से भी कुछ ला सकता है और अपनी उंगली से चाँद भी छू सकता है। इस सिद्धि से मनुष्य किसी अन्य जीव की इन्द्रियों के भीतर उस इन्द्रिय के प्रमुख अधिष्ठाता देवता के द्वारा प्रविष्ट हो सकता है और उसकी इन्द्रियों का उपयोग करके किसी भी चीज को प्राप्त कर सकता है। *प्राकाम्य* द्वारा किसी भी भोग्य वस्तु का

अनुभव इस जगत या अगले जगत में कर सकता है। *ईशिता* के द्वारा मनुष्य माया की उपशक्तियों को साध सकता है। दूसरे शब्दों में, योग-शक्तियाँ प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य माया के वश से निकल नहीं सकता, किन्तु वह माया की उपशक्तियों को साध सकता है। *वशिता* द्वारा मनुष्य अन्यों को अपने अधीन बना सकता है या अपने को तीन गुणों के नियंत्रण से बाहर रख सकता है। अन्तत: *कामावसायिता* के द्वारा मनुष्य नियंत्रण, प्राप्ति तथा भोग की अधिक से अधिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। *औत्पत्तिका:* शब्द मूल, प्राकृतिक तथा अद्वितीय को बताने वाला है। ये आठों सिद्धियाँ मूलत: भगवान् कृष्ण में सर्वाधिक मात्रा में पाई जाती हैं। भगवान् कृष्ण इतने लघु बन जाते हैं कि वे परमाणु के भीतर प्रवेश कर जाते हैं और महाविष्णु रूप में इतने विशाल हो जाते हैं कि उनकी श्वास से करोड़ों ब्रह्माण्ड बाहर निकलते हैं। भगवान् इतने हल्के या सूक्ष्म बन सकते हैं कि बड़े-से-बड़े योगी भी उन्हें नहीं देख पाते। भगवान् की प्राप्ति शक्ति इतनी पूर्ण होती है कि वे पूरे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर के भीतर रखे रहते हैं। भगवान् इच्छानुसार भोग कर सकते हैं, सारी शक्तियों को वश में कर सकते हैं, अन्य सारे व्यक्तियों पर शासन कर सकते हैं और पूर्ण शक्तिसम्पन्नता प्रदर्शित कर सकते हैं। इस तरह यह जाना जा सकता है कि ये आठों योग-सिद्धियाँ उन भगवान् की योगशक्ति के नगण्य अंश हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* में *योगेश्वर* कहा गया है। ये आठों सिद्धियाँ कृत्रिम नहीं हैं अपितु स्वाभाविक हैं और अद्वितीय हैं क्योंकि ये मूलत: भगवान् में विद्यमान रहती हैं।

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अनूर्मि-मत्त्वम्—भूख, प्यास आदि से अविचलित रह कर.; देहे अस्मिन्—इस शरीर को; दूर—दूरस्थ वस्तुएँ; श्रवण—सुनना; दर्शनम्—तथा देखना; मनः-जवः—मन की गति से शरीर को हिलाते हुए; काम-रूपम्—इच्छानुसार किसी भी शरीर को धारण करते हुए; पर-काय—दूसरों के शरीर; प्रवेशनम्—प्रविष्ट होकर; स्व-छन्द—अपनी इच्छानुसार; मृत्युः—मर रहे; देवानाम्—देवताओं के; सह—साथ में; क्रीडा—खिलवाड़; अनुदर्शनम्—देखते हुए; यथा—के अनुसार; सङ्कल्प—दृढ़ निश्चय; संसिद्धिः—पूर्ण सिद्धि; आज्ञा—निर्देश; अप्रतिहता—अबाध; गतिः—प्रगति।

प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाली दस गौण योग-सिद्धियाँ हैं—भूख-प्यास तथा अन्य शारीरिक उत्पातों से अपने को मुक्त करने की शक्ति, काफी दूरी से वस्तुओं को देखने-सुनने की

शक्ति, मन के वेग से शरीर को गतिशील बनाने की शक्ति, इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्ति, अन्यों के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति, इच्छानुसार शरीर त्यागने की शक्ति, देवताओं तथा अप्सराओं की लीलाओं का दर्शन करने की शक्ति, अपने संकल्प को पूरा करने तथा ऐसे आदेश देने की शक्ति जिनका निर्बाध पालन हो सके।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

त्रि-काल-ज्ञत्वम्—भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानने की सिद्धि; अद्वन्द्वम्—गर्मी तथा सर्दी जैसे द्वैतों से अप्रभावित रहना; पर—अन्यों के; चित्त—मन; आदि—इत्यादि; अभिज्ञता—जानना; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; अम्बु—जल; विष—विष; आदीनाम्—इत्यादि की; प्रतिष्टम्भः—शक्ति को रोकना; अपराजयः—दूसरे द्वारा हराया न जाना; एताः—ये; च—भी; उद्देशतः—नामों तथा गुणों के उल्लेख मात्र से; प्रोक्ताः—कथित; योग—योग-प्रणाली का; धारण—ध्यान की; सिद्धयः—सिद्धियाँ; यया—जिसमें; धारणया—ध्यान से; या—जो (सिद्धि); स्यात्—हो सके; यथा—जिसके द्वारा; वा—अथवा; स्यात्—हो सके; निबोध—सीख लो; मे—मुझसे।

भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानने की शक्ति, शीत-घाम तथा अन्य द्वन्द्वों को सहने की शक्ति, अन्यों के मन को जान लेने, अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादि के प्रभाव को रोकना तथा अन्यों द्वारा पराजित न होने की शक्ति—ये योग तथा ध्यान की पाँच सिद्धियाँ हैं। मैं उन्हें, उनके नामों तथा गुणों के अनुसार, यहाँ सूचीबद्ध कर रहा हूँ। तुम मुझसे सीख लो कि किस तरह विशेष ध्यान से विशिष्ट योग-सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं और उनमें कौन-सी विशेष विधियाँ निहित होती हैं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार ये पाँच सिद्धियाँ पूर्ववर्णित सिद्धियों की अपेक्षा अत्यन्त निम्न मानी जाती हैं क्योंकि इनमें सामान्य शारीरिक तथा मानसिक दाँव-पेंच निहित रहते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार *अग्न्यर्काम्बुविषादीनाम् प्रतिष्टम्भः* नामक सिद्धि में *आदीनाम्* से सभी प्रकार के हथियारों से तथा नाखुन, दाँत, प्रताड़न, शाप इत्यादि के वारों से अप्रभावित रहना सूचित होता है।

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भूत-सूक्ष्म—सूक्ष्म तत्त्वों के; आत्मनि—आत्मा में; मयि—मुझमें; तत्-मात्रम्—अनुभूति के सूक्ष्म तात्विक रूपों पर; धारयेत्—एकाग्र करे; मन: —मन को; अणिमानम्—अणिमा नामक सिद्धि; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; तत्-मात्र—सूक्ष्म तत्त्वों में; उपासक: —पूजा करने वाला; मम—मेरा।

जो व्यक्ति अपने मन को समस्त सूक्ष्म तत्त्वों में व्याप्त मेरे सूक्ष्म रूप में एकाग्र करके मेरी पूजा करता है, वह अणिमा नामक योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : अणिमा सूचक है अपने को छोटे-से-छोटा बनाने की शक्ति और किसी भी वस्तु के भीतर प्रवेश करने की सामर्थ्य का। भगवान् परमाणुओं तथा सूक्ष्म कणों के भीतर हैं और जो व्यक्ति भगवान् के उस सूक्ष्म रूप में अपने मन को ठीक से एकाग्र करता है, वह अणिमा नामक योगशक्ति प्राप्त करता है, जिससे मनुष्य पत्थर जैसे सघन पदार्थ के भीतर भी प्रवेश कर सकता है।

महत्तत्त्वात्मनि मयि यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक्पृथक् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

महत्-तत्त्व—समस्त भौतिक शक्ति की; आत्मनि—आत्मा में; मयि—मुझमें; यथा—के अनुसार; संस्थम्—विशेष परिस्थिति; मन: —मन; दधत्—एकाग्र करते हुए; महिमानम्—महिमा नामक शक्ति; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों की; च—भी; पृथक् पृथक्—अलग अलग।

जो व्यक्ति महत् तत्त्व के विशेष रूप में अपने मन को लीन कर देता है और इस तरह समस्त जगत के परमात्मा रूप में मेरा ध्यान करता है उसे महिमा नामक योग-सिद्धि प्राप्त होती है। और जो आकाश, वायु, अग्नि इत्यादि पृथक् पृथक् तत्त्वों में अपने मन को लीन करता है, वह हर भौतिक तत्त्व की महानता (महत्ता) को प्राप्त करता जाता है।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे असंख्य श्लोक हैं, जो यह बतलाते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि से गुणात्मक दृष्टि से अभिन्न हैं और इस तरह एक योगी सम्पूर्ण जगत को भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य रूप में ध्यान कर सकता है। जब योगी को यह अनुभूति हो जाती है कि यह सृष्टि भगवान् से अभिन्न है, तो उसे *महिमा सिद्धि* प्राप्त होती है। हर तत्त्व में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करते हुए योगी प्रत्येक तत्त्व की महानता (*महत्ता*) भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु शुद्ध भक्तजन ऐसी सिद्धियों में रुचि नहीं लेते क्योंकि वे लोग उन भगवान् के शरणागत होते हैं, जो इन सिद्धियों का अनन्त मात्रा तक प्रदर्शन करते हैं। भगवान् द्वारा सदैव सुरक्षित होने से शुद्ध भक्त अपना अमूल्य समय बचाकर उसे

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने में लगाते हैं। इस तरह वे अपने लिए तथा अन्यों के लिए *संसिद्धि* अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम या कृष्णभावनामृत प्राप्त करते हैं जिससे मनुष्य समस्त भौतिक सृष्टि से परे वैकुण्ठ-लोक तक अपने जीवन का विस्तार कर सकता है।

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परम-अणु-मये—परमाणुओं के रूप में; चित्तम्—चेतना; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों की; मयि—मुझमें; रञ्जयन्—अनुरक्त होकर; काल—समय का; सूक्ष्म—सूक्ष्म; अर्थताम्—वस्तु; योगी—योगी; लघिमानम्—लघिमा नामक योगशक्ति; अवाप्नुयात्—प्राप्त कर सकते हैं।.

मैं प्रत्येक वस्तु के भीतर रहता हूँ, इसलिए मैं भौतिक तत्त्वों के परमाणविक घटकों का सार हूँ। मेरे इस रूप में अपने मन को संलग्न करके, योगी लघिमा नामक सिद्धि प्राप्त कर सकता है, जिससे वह काल के समान सूक्ष्म परमाणविक वस्तु की अनुभूति कर सकता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में *काल* की विशद व्याख्या मिलती है, जिसके अनुसार काल भगवान् का वह दिव्य रूप, जो भौतिक जगत को गतिशील बनाता है। चूँकि पाँचों स्थूल तत्त्व परमाणुओं से बने हैं, अतएव परमाणविक कण सूक्ष्म वस्तु अथवा काल की गति की अभिव्यक्ति हैं। काल से भी सूक्ष्म भगवान् हैं, जो अपनी शक्ति को काल रूप में विस्तार देते हैं। इन बातों को ठीक से समझ लेने पर, योगी को *लघिमा* सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह अपने को हल्के से हल्का बना सकता है।

धारयन्मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

धारयन्—एकाग्र करते हुए; मयि—मुझमें; अहम्-तत्त्वे—मिथ्या अहंकार के भीतर; मनः—मन; वैकारिके—सतोगुण से उत्पन्न हुए में; अखिलम्—पूर्णतया; सर्व—सारे जीव; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; आत्मत्वम्—स्वामित्व; प्राप्तिम्—प्राप्ति नामक सिद्धि; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; मत्-मनाः—योगी जिसका मन मुझमें स्थिर है।.

सतोगुण से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के भीतर अपने मन को पूरी तरह मुझमें एकाग्र करते हुए योगी प्राप्ति नामक शक्ति प्राप्त करता है, जिससे वह समस्त जीवों की इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। वह ऐसी सिद्धि इसलिए प्राप्त करता है क्योंकि उसका मन मुझमें लीन रहता है।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्येक योगशक्ति को पाने के लिए मनुष्य को अपना मन

भगवान् पर स्थिर करना होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जो लोग अपना मन भगवान् पर स्थिर किये बिना ऐसी सिद्धियों के पीछे पड़े रहते हैं, वे प्रत्येक योगशक्ति के स्थूल तथा निम्न कोटि के प्रतिबिम्ब को ही प्राप्त करते हैं। जो भगवान् के प्रति सचेत नहीं होते, वे विश्व के कार्यों से अपने मन का तालमेल नहीं बैठा पाते अतएव वे अपने यौगिक ऐश्वर्य को विश्व-स्तर तक उठा नहीं पाते।

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

महति—महत्-तत्त्व में; **आत्मनि**—परमात्मा में; **यः**—जो; **सूत्रे**—सकाम कर्मों की शृंखला से जाना जाने वाला; **धारयेत्**—एकाग्र करे; **मयि**—मुझमें; **मानसम्**—मानसिक कार्य; **प्राकाम्यम्**—प्राकाम्य नामक सिद्धि; **पारमेष्ठ्यम्**—सर्वोत्तम; **मे**—मुझसे; **विन्दते**—प्राप्त करता है या भोगता है; **अव्यक्त-जन्मनः**—उससे जिसके प्राकट्य को इस जगत में अनुभव नहीं किया जा सकता।

जो व्यक्ति सकाम कर्मों की शृंखला को अभिव्यक्त करने वाले महत् तत्त्व की उस अवस्था के परमात्मा रूप मुझमें अपनी सारी मानसिक क्रियाएँ एकाग्र करता है, वह अव्यक्त रूप मुझसे प्राकाम्य नामक सर्वोत्तम योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रील वीरराघव आचार्य बतलाते हैं कि *सूत्र* शब्द यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि महत् तत्त्व मनुष्य के सकाम कर्मों को उसी तरह धारण करता है, जिस प्रकार डोरा रत्नों को बाँधे रखता है। इस तरह महत् तत्त्व की आत्मा रूप भगवान् में स्थिर ध्यान से, मनुष्य *प्राकाम्य* नामक सर्वोत्कृष्ट सिद्धि पा सकता है। *अव्यक्त-जन्मनः* सूचित करता है कि भगवान् अव्यक्त या आध्यात्मिक आकाश से प्रकट होते हैं अथवा उनका जन्म *अव्यक्त* है। जब तक कोई भगवान् के दिव्य रूप को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक *प्राकाम्य* या कोई अन्य सिद्धि प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे ।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

विष्णौ—भगवान् विष्णु या परमात्मा में; **त्रि-अधीश्वरे**—तीन गुणों वाली माया के परम नियन्ता; **चित्तम्**—चेतना; **धारयेत्**—एकाग्र करता है; **काल**—काल का, जो कि मूल गतिप्रदाता है; **विग्रहे**—स्वरूप में; **सः**—वह, योगी; **ईशित्वम्**—वश में करने की सिद्धि; **अवाप्नोति**—प्राप्त करता है; **क्षेत्र-ज्ञ**—चेतन जीव; **क्षेत्र**—उपाधियों सहित शरीर; **चोदनाम्**—प्रेरित करते हुए।

जो मूल गतिप्रदाता तथा तीन गुणों से युक्त बहिरंगा शक्ति के परमेश्वर, परमात्मा विष्णु में

अपनी चेतना स्थिर करता है, वह अन्य बद्धजीवों, उनके शरीरों तथा उनकी उपाधियों को नियंत्रित करने की योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना चाहिए कि कोई योग-सिद्धि जीव को कभी भी इतना समर्थ नहीं बनाती कि वह भगवान् की श्रेष्ठता को चुनौती दे सके। वस्तुत:, हम भगवान् की कृपा के बिना ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त नहीं कर सकते। इस तरह मनुष्य की नियंत्रणकारी शक्ति कभी भी भगवान् कृष्ण की योजना में बाधक नहीं बन सकती। मनुष्य को ईश्वर के नियम के अन्तर्गत ही योग-नियंत्रण प्रदर्शित करने की अनुमति दी जाती है और बड़े-से-बड़े योगी को भी जो अपने तथाकथित योग-ऐश्वर्य से ईश्वर के नियम का उल्लंघन करता है, उसी तरह कठोर दण्ड दिया जाता है जैसाकि अम्बरीष महाराज को शाप देने पर दुर्वासा मुनि की कथा से पता चलता है।

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते ।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नारायणे—भगवान् नारायण में; तुरीय-आख्ये—तुरीय नामक; भगवत्—समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण; शब्द-शब्दिते—शब्द से जाना जाने वाला; मन:—मन; मयि—मुझमें; आदधत्—लगाते हुए; योगी—योगी; मत्-धर्मा—मेरे स्वभावको पाकर; वशिताम्—वशिता नामक सिद्धि; इयात्-मय् ओब्तैन्.

जो योगी मेरे नारायण रूप में, जो कि समस्त ऐश्वर्यपूर्ण चौथी अवस्था (तुरीय) माना जाता है, अपने मन को लगाता है, वह मेरे स्वभाव से युक्त हो जाता है और उसे वशिता नामक योग-सिद्धि प्राप्त होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१३) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि: सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्॥

"तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।" इस तरह भगवान् *तुरीय* कहलाते हैं अर्थात् वे तीनों गुणों से परे एक चतुर्थ कारक हैं। श्रील वीरराघव आचार्य के अनुसार *तुरीय* शब्द यह भी सूचति करता है कि भगवान् चेतना की तीन सामान्य अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त से परे हैं। *भगवच्छब्द-शब्दिते* सूचित करता है कि भगवान् असीम ऐश्वर्य—सौन्दर्य, यश, धन, ज्ञान, वैराग्य तथा बुद्धि के स्वामी हैं।

अन्त में, मनुष्य भगवान् का, *तुरीय* रूप में, ध्यान करके योग-ऐश्वर्य *वशिता* को प्राप्त कर सकता है। हर बात भगवान् की कृपा पर निर्भर करती है।

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन्विशदं मनः ।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥ १७॥

शब्दार्थ

निर्गुणे—गुणरहित; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; मयि—मुझमें; धारयन्—एकाग्र करके; विशदम्—शुद्ध; मनः—मन; परम-आनन्दम्—सर्वाधिक सुख; आप्नोति—प्राप्त करता है; यत्र—जहाँ; कामः—इच्छा; अवसीयते—पूर्णतया पूरित रहता है।

जो व्यक्ति मेरे निर्विशेष ब्रह्म रूप में अपना शुद्ध मन स्थिर करता है, वह सर्वाधिक सुख प्राप्त करता है, जिसमें उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

तात्पर्य : *परमानन्द* सर्वाधिक भौतिक सुख का सूचक है क्योंकि *श्रीमद्भागवत* में स्पष्टः कहा गया है कि भक्त की कोई निजी इच्छा या *काम* नहीं होता। जो सकाम होता है, वह निश्चय ही भौतिक संसार के भीतर है और भौतिक स्तर पर सर्वाधिक सुख *कामाव सायिता-सिद्धि* कहलाता है।

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्वेत-द्वीप—श्वेत द्वीप का, जो कि क्षीरोदकशायी विष्णु का धाम है; पतौ—भगवान् में; चित्तम्—चेतना को; शुद्धे—साक्षात् सतोगुण में; धर्म-मये—दया में सदैव स्थित है, जो; मयि—मुझमें; धारयन्—एकाग्र करते हुए; श्वेतताम्—शुद्धता को; याति—प्राप्त करता है; षट्-ऊर्मि—भौतिक उत्पात की छः लहरें; रहितः—से मुक्त; नरः—पुरुष।

जो व्यक्ति मेरे धर्म को धारण करने वाले, साक्षात् शुद्धता तथा श्वेत द्वीप के स्वामी के रूप मुझमें, अपना मन एकाग्र करता है, वह शुद्ध जीवन को प्राप्त करता है, जिसमें वह भौतिक उपद्रव की छह ऊर्मियों से अर्थात् भूख, प्यास, क्षय, मृत्यु, शोक तथा मोह से—मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : अब भगवान् प्रकृति के गुणों से उत्पन्न दस गौण योग-सिद्धियाँ प्राप्त करने की विधियाँ बतलाते हैं। भौतिक जगत के भीतर *श्वेतद्वीप पति* भगवान् विष्णु सतोगुण पर शासन चलाते हैं और इस तरह वे *शुद्ध* तथा *धर्ममय* कहलाते हैं। भौतिक शुद्धि के साक्षात् रूप भगवान् विष्णु की पूजा करने से मनुष्य को शारीरिक उपद्रवों से मुक्त होने का वर प्राप्त होता है।

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन् ।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः श‍ृणोत्यसौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; आकाश-आत्मनि—आकाश रूप; प्राणे—प्राण में; मनसा—मन से; घोषम्—दिव्य ध्वनि; उद्वहन्—एकाग्र करते हुए; तत्र—आकाश में; उपलब्धाः—अनुभूत; भूतानाम्—सारे जीवों का; हंसः—शुद्ध जीव; वाचः—शब्द या वाणी; श‍ृणोति—सुनता है; असौ—वह।

वह शुद्ध जीव जो मेरे भीतर होने वाली असामान्य ध्वनि पर साक्षात् आकाश तथा प्राण-वायु के रूप में अपना मन स्थिर करता है, वह आकाश में सारे जीवों की वाणी का अनुभव कर सकता है।

तात्पर्य : आकाश के भीतर वायु के स्पन्दन से वाणी उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति भगवान् का ध्यान साक्षात् आकाश तथा वायु के रूप में करता है उससे वह काफी दूरी पर होने वाली ध्वनि को सुनने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। *प्राण* शब्द सूचित करता है कि भगवान् जीवों के और समस्त प्राणियों के साक्षात् प्राण हैं। अन्ततोगत्वा शुद्ध भक्तगण परम ध्वनि—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का ध्यान करते हैं और इस तरह वे इस ब्रह्माण्ड के परे दूरस्थ मुक्त जीवों से उत्पन्न वाणी को सुन सकते हैं। कोई भी जीव *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों को पढ़ कर ऐसी विवेचनाएँ सुन सकता है। जिस व्यक्ति ने भगवान् के ऐश्वर्यों को ठीक से समझ लिया है, वह कृष्णभावनामृत में सारी सिद्धियाँ पा लेता है।

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चक्षुः—आँखें; त्वष्टरि—सूर्य में; संयोज्य—तादात्म्य करके; त्वष्टारम्—सूर्य को; अपि—भी; चक्षुषि—अपनी आँखों में; माम्—मुझको; तत्र—वहाँ, सूर्य तथा आँख के पारस्परिक तादात्म्य में; मनसा—मन से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; विश्वम्—हर वस्तु को; पश्यति—देखता है; दूरतः—दूर स्थित।

मनुष्य को चाहिए कि अपनी दृष्टि को सूर्यलोक में और सूर्यलोक को अपनी आँखों में लीन करके, सूर्य तथा दृष्टि के संमेल के भीतर मुझे स्थित मान कर, मेरा ध्यान करे। इस तरह वह किसी भी दूर की वस्तु को देखने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनुवायुना ।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; मयि—मुझमें; सु-संयोज्य—ठीक से संयुक्त करके; देहम्—भौतिक शरीर; तत्—मन; अनु-वायुना—पीछे पीछे चलने वाली हवा से; मत्-धारणा—मेरे ध्यान का; अनुभावेन—शक्ति द्वारा; तत्र—वहाँ; आत्मा—भौतिक शरीर (चला जाता है); यत्र—जहाँ जहाँ; वै—निश्चय ही; मनः—मन (चला जाता है)।

जो योगी अपना मन मुझमें लीन कर देता है और इसके बाद मन का अनुसरण करने वाली वायु का उपयोग भौतिक शरीर को मुझमें लीन करने के लिए करता है, वह मेरे ध्यान की शक्ति से उस योग-सिद्धि को प्राप्त करता है, जिससे उसका शरीर तुरन्त ही मन के पीछे पीछे जाता है।

तात्पर्य : *तद्-अनुवायुना* उस विशेष सूक्ष्म वायु का सूचक है, जो मन के पीछे पीछे जाती है। जब योगी इस वायु को शरीर तथा मन के साथ साथ भगवान् के ध्यान की शक्ति से कृष्ण में मिला देता है, तो उसका स्थूल शरीर सूक्ष्म वायु की ही तरह मन के पीछे पीछे कहीं भी जा सकता है। यह सिद्धि *मनोजव:* कहलाती है।

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति ।
तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; उपादाय—प्रयुक्त करके; यत् यत्—जो जो; रूपम्—रूप; बुभूषति—धारण करना चाहता है; तत् तत्—वही रूप; भवेत्—प्रकट हो सकता है; मनः-रूपम्—मन द्वारा इच्छित रूप; मत्-योग-बलम्—मेरी अचिन्त्य योगशक्ति जिससे मैं असंख्य रूप प्रकट करता हूँ; आश्रयः—आश्रय रूप।

जब कोई योगी किसी विशेष विधि से अपने मन को लगाकर कोई विशिष्ट रूप धारण करना चाहता है, तो वही रूप तुरन्त प्रकट होता है। ऐसी सिद्धि मेरी उस अचिन्त्य योगशक्ति के आश्रय में मन को लीन करने से सम्भव है, जिसके द्वारा मैं असंख्य रूप धारण करता हूँ।

तात्पर्य : यह सिद्धि *काम-रूप* कहलाती है, जिसके बल पर इच्छानुसार कोई भी रूप, यहाँ तक कि देवता का भी रूप धारण कर लिया जा सकता है। शुद्ध भक्तगण अपने मनों को कृष्ण की विशेष प्रकार की सेवा में लीन करते हैं और इस तरह धीरे धीरे सच्चिदानन्द जीवन के लिए दिव्य शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार जो भी व्यक्ति कृष्ण-नाम के कीर्तन की विधि अपनाता है और मानव-जीवन के नियमित विधानों का अनुसरण करता है, वह भगवद्धाम में शाश्वत दिव्य शरीर को धारण करके *काम-रूप* की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

परकायं विशन्सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।

पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

पर—दूसरे के; कायम्—शरीर में; विशन्—प्रवेश करने की इच्छा करते हुए; सिद्धः—योगाभ्यास में निपुण; आत्मानम्—स्वयं; तत्र—उस शरीर में; भावयेत्—कल्पना करता है; पिण्डम्—अपने ही स्थूल शरीर को; हित्वा—त्याग कर; विशेत्—प्रवेश करे; प्राणः—सूक्ष्म शरीर में; वायु-भूतः—वायु जैसा बन कर; षट्-अङ्घ्रि-वत्—भौंरें की तरह जो एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराता है।.

जब कोई पूर्ण योगी किसी अन्य के शरीर में प्रवेश करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि अन्य के शरीर में अपना ध्यान करे और तब अपना निजी स्थूल शरीर त्याग कर, वायु के मार्गों से होकर अन्य के शरीर में उसी तरह प्रवेश करे जिस तरह भौंरा उड़ कर एक फूल छोड़ कर दूसरे पर चला जाता है।

तात्पर्य : जब नथुनों तथा मुँह से वायु शरीर के भीतर खींची जाती है, तो योगी के सूक्ष्म शरीर की प्राण-वायु बाह्य वायु के रास्तों से होकर यात्रा करती है और दूसरे पुरुष के शरीर में आसानी से प्रवेश करती है, जिस तरह भौंरा एक फूल से उड़ कर दूसरे फूल पर चला जाता है। किसी वीर पुरुष या सुन्दर स्त्री की प्रशंसा करके यदि मनुष्य उनके अद्वितीय शरीर के भीतर जीवन का अनुभव करना चाहे तो ऐसा सुयोग *परकाय प्रवेशनम्* सिद्धि द्वारा सम्भव है। शुद्ध भक्तगण भगवान् के आध्यात्मिक रूप में ध्यानमग्न होने से किसी भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इस प्रकार भक्तगण नित्य जीवन के स्तर पर तुष्ट रहते जाते हैं।

पाष्ण्र्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

पाष्ण्र्या—एड़ी से; आपीड्य—रोक कर; गुदम्—गुदा को; प्राणम्—जीव को ले जाने वाला प्राण; हृत्—हृदय से; उरः—वक्षस्थल पर; कण्ठ—गले तक; मूर्धसु—तथा सिर पर; आरोप्य—रख कर; ब्रह्म-रन्ध्रेण—सरि के ऊपर आध्यात्मिक स्थान द्वारा; ब्रह्म—आध्यात्मिक जगत या निर्विशेष ब्रह्म तक; नीत्वा—ले जाकर; उत्सृजेत्—त्याग दे; तनुम्—शरीर।.

जिस योगी ने *स्वच्छन्द-मृत्यु* नामक योगशक्ति प्राप्त कर ली होती है, वह अपनी गुदा को पाँव की एड़ी से दबाता है और तब आत्मा को हृदय से उठाकर क्रमशः वक्षस्थल, गर्दन तथा अन्त में सिर तक उठाता है। तब ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित योगी अपने शरीर को त्याग देता है और आत्मा को चुने हुए गन्तव्य तक ले जाता है।

तात्पर्य : *स्वच्छन्द-मृत्यु* नामक यह योग-ऐश्वर्य कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति पर भीष्मदेव द्वारा

अद्भुत रूप से प्रदर्शित हुआ था। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में प्रयुक्त *ब्रह्म* शब्द *उपलक्षण* का उदाहरण है। यहाँ पर ब्रह्म योगी द्वारा चुने गये विशिष्ट गन्तव्य का—वैकुण्ठ का, निर्विशेष ब्रह्मज्योति का या योगी के मन को आकृष्ट करने वाले अन्य किसी स्थान का—सूचक है।

विहरिष्यन्सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विहरिष्यन्—भोग करने की इच्छा से; सुर—देवताओं के; आक्रीडे—क्रीड़ा-स्थल में; मत्—मुझमें; स्थम्—स्थित; सत्त्वम्—सतोगुण; विभावयेत्—ध्यान करे; विमानेन—वायुयान या विमान के द्वारा; उपतिष्ठन्ति—प्राप्त होते हैं; सत्त्व—सतोगुण में; वृत्तीः—प्रकट होकर; सुर—देवताओं की; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

जो योगी देवताओं के क्रीड़ा-उद्यानों का भोग करना चाहता है उसे मुझमें स्थित शुद्ध सतोगुण का ध्यान करना चाहिए और तब सतोगुण से उत्पन्न अप्सराएँ विमानों में चढ़ कर उसके पास आयेंगी।

यथा सङ्कल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् ।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस साधनों से; सङ्कल्पयेत्—मन में संकल्प करे या निश्चित करे; बुद्ध्या—मन के द्वारा; यदा—जब; वा—अथवा; मत्-परः—मुझमें श्रद्धा रखते हुए; पुमान्—योगी; मयि—मुझमें; सत्ये—जिसकी इच्छा सच उतरती है; मनः—मन; युञ्जन्—युक्त करते हुए; तथा—उस साधन से; तत्—वही अभिप्राय; समुपाश्नुते—प्राप्त करता है।

जो योगी मुझमें अपने मन को लीन करके तथा यह जानते हुए कि मेरा अभिप्राय सदैव पूरा होता है, मुझमें श्रद्धा रखता है, वह सदैव उन्हीं साधनों से, जिनका पालन करने का उसने संकल्प ले रखा है, अपना मन्तव्य प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यदा* शब्द सूचित करता है कि *यथा संकल्प संसिद्धि* नामक योगशक्ति से अपना उद्देश्य प्राप्त करेगा, भले ही वह अशुभ समय में उसका अभ्यास क्यों न करे। भगवान् कृष्ण *सत्य संकल्प* कहलाते हैं अर्थात् वे जिनकी इच्छा, संकल्प, उद्देश्य अथवा प्रण सदैव सच्चे उतरते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इसका उल्लेख करते हैं कि भक्ति के अचूक साधन से, जिसे किसी भी समय या स्थान में सम्पन्न किया जा सकता है, मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण से अपने खोये हुए सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करे। भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने के लिए उचित मार्गदर्शन कराने

वाली अनेक पुस्तकें हैं यथा श्रील जीव गोस्वामी कृत *संकल्प कल्पवृक्ष,* श्रील कृष्णदास कविराज कृत *श्री गोविन्द-लीलामृत,* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत *श्रीकृष्णभावनामृत* तथा *संकल्प-कल्पद्रुम* एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत *श्री गौरांगस्मरणमंगल।* आधुनिक युग में श्रील प्रभुपाद ने हमें आध्यात्मिक साहित्य पर साठ बड़े-बड़े ग्रंथ दिये हैं, जो हमें भगवद्धाम वापस जाने में सहायक हो सकते हैं। हमारा *संकल्प* व्यावहारिक होना चाहिए, निरर्थक नहीं। हमें भगवद्धाम वापस जाकर जीवन की समस्याओं का वास्तविक हल खोजने का संकल्प करना चाहिए।

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो (योगी); वै—निस्सन्देह; मत्—मुझसे; भावम्—स्वभाव; आपन्नः—प्राप्त किया गया; ईशितुः—परम शासक से; वशितुः—परम नियन्ता से; पुमान्—पुरुष (योगी); कुतश्चित्—किसी प्रकार से; न विहन्येत—विचलित नहीं हो सकता; तस्य—उसका; च—भी; आज्ञा—आदेश; यथा—जिस तरह; मम—मेरा।

जो व्यक्ति ठीक से मेरा ध्यान करता है, वह परम शासक तथा नियन्ता होने का मेरा स्वभाव प्राप्त कर लेता है। तब मेरे ही समान उसका आदेश किसी भी तरह से व्यर्थ नहीं जाता।

तात्पर्य : भगवान् के आदेश से ही सम्पूर्ण सृष्टि घूमती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्ती-पुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके शासन में यह जगत बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।" इसी तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने आदेश दिया है कि सारे विश्व के लोग कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। भगवान् के निष्ठावान भक्तों को चाहिए कि महाप्रभु के आदेश को विश्व-भर में दुहरायें। इस तरह वे ऐसे आदेश देने के भगवान् के योग-ऐश्वर्य में सहभागी हो सकते हैं जिनका कभी निराकरण नहीं हो सकता।

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥ २८॥

शब्दार्थ

मत्-भक्त्या—मेरे प्रति भक्ति से; शुद्ध-सत्त्वस्य—जिसका जीवन शुद्ध हो जाता है उसका; योगिनः—योगी का; धारणा-विदः—ध्यान-विधि को जानने वाला; तस्य—उसका; त्रै-कालिकी—काल की तीनों अवस्थाओं, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में कार्य करते हुए; बुद्धिः—बुद्धि; जन्म-मृत्यु—जन्म तथा मृत्यु; उपबृंहिता—समेत।

जिस योगी ने मेरी भक्ति द्वारा अपने जीवन को शुद्ध कर लिया है और जो इस तरह ध्यान की विधि को भलीभाँति जानता है, वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान प्राप्त करता है। अतः वह अपने तथा अन्यों के जन्म तथा मृत्यु को देख सकता है।

तात्पर्य : आठ प्रधान तथा दस गौण योग-सिद्धियों का वर्णन कर चुकने के बाद, भगवान् अब पाँच निकृष्ट शक्तियों को बतलाते हैं।

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।
मद्योगशान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—आग; आदिभिः—इत्यादि (सूर्य, जल, विष इत्यादि) के द्वारा; न—नहीं; हन्येत—चोट पहुँचाया जा सकता है; मुनेः—चतुर योगी के; योग-मयम्—योग-विज्ञान में पूरी तरह अनुशीलित; वपुः—शरीर; मत्-योग—मेरी भक्ति से; शान्त—शान्त किया गया; चित्तस्य—चित्त वाले का; यादसाम्—जलचरों के; उदकम्—जल; यथा—जिस तरह।

जिस तरह जलचरों के शरीरों को जल से चोट नहीं पहुँचती, उसी प्रकार जिस योगी की चेतना मेरी भक्ति से शान्त हुई रहती है और जो योग-विज्ञान में पूर्णतया विकसित होता है, उसका शरीर अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादि से क्षतिग्रस्त नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : समुद्र में रहने वाले जीवों को जल से कभी चोट नहीं पहुँचती, प्रत्युत जल के भीतर वे जीवन का आनन्द लेते हैं। इसी तरह, जो व्यक्ति योग-युक्तियों में दक्ष होता है उसके लिए हथियारों, अग्नि, विष इत्यादि के आक्रमणों से अपने को बचा लेना एक खिलवाड़ होता है। प्रह्लाद महाराज पर उसके पिता ने इन सभी विधियों से वार किया था, किन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के कारण उन्हें चोट नहीं पहुँची। भगवद्भक्तगण भगवान् कृष्ण की कृपा पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं क्योंकि भगवान् योगेश्वर हैं और उनमें अनन्त योगशक्ति रहती है। चूँकि भक्तगण भगवान् कृष्ण से जुड़े होते हैं, अतएव उनमें अपने प्रभु, अपने रक्षक भगवान् में पहले से उपस्थित शक्तियों को अलग से विकसित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यदि कोई व्यक्ति मध्य समुद्र में गिर जाय तो वह तुरन्त डूब जाता है, किन्तु उन्हीं तरंगों में मछली

क्रीड़ा करते हुए सुख का अनुभव करती है। इसी प्रकार भवसागर में पतित बद्धजीव अपने पापों में डूबते रहते हैं जबकि भक्तगण इस जगत को भगवान् की शक्ति मानते हुए भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लग कर आनन्दमय लीलाओं का भोग करते हैं।

मद्विभूतीरभिध्यायन्श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरे; विभूतीः—ऐश्वर्यमय अवतारों से; अभिध्यायन्—ध्यान करते हुए; श्रीवत्स—भगवान् के श्रीवत्स ऐश्वर्य समेत; अस्त्र—हथियार; विभूषिताः—अलंकृत; ध्वज—झंडों से; आतपत्र—छाते से; व्यजनैः—तथा नाना प्रकार के पंखों से; सः—वह, भक्त-योगी; भवेत्—बन जाता है; अपराजितः—अन्यों द्वारा न जीता जा सकने वाला।

मेरा भक्त मेरे ऐश्वर्यमय अवतारों का ध्यान करके अपराजेय बन जाता है। मेरे ये अवतार श्रीवत्स तथा विविध हथियारों से अलंकृत और ध्वजों, आलंकारिक छातों तथा पंखों जैसे राजसी साज-सामान से युक्त होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के ऐश्वर्यमय अवतारों के पास राजसी साज-सामान होने से उनकी सर्वशक्तिमत्ता सूचित होती है और भक्तगण भगवान् के शक्तिशाली राजसी साज-सामान से युक्त अवतारों का ध्यान करके अपराजेय बन जाते हैं। जैसाकि बिल्वमंगल ठाकुर ने *कृष्णकर्णामृत* (श्लोक १०७) में कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरता भगवन् यदि स्याद्

दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः ।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्

धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः ॥

''हे प्रभु! यदि हम अपने में आपके लिए अविचल भक्ति उत्पन्न कर लें, तो आपका दिव्य किशोर रूप स्वतः हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। इस तरह मुक्ति स्वयं हाथ जोड़े हमारी सेवा करने के लिए प्रस्तुत रहती है और धर्म, अर्थ तथा काम हमारी सेवा करने के लिए धैर्यपूर्वक करते हैं।''

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

उपासकस्य—पूजा करने वाले का; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; योग-धारणया—यौगिक ध्यान द्वारा; मुनेः—विद्वान पुरुष का; सिद्धयः—सिद्धियाँ; पूर्व—पहले; कथिताः—कही हुई; उपतिष्ठन्ति—पास पहुँचती हैं; अशेषतः—सभी प्रकार से।

जो विद्वान भक्त योग-ध्यान द्वारा मेरी पूजा करता है, वह निश्चय ही सभी तरह से उन योग-सिद्धियों को प्राप्त करता है जिनका वर्णन मैंने अभी किया है।

तात्पर्य : *योगधारणया* शब्द बताता है कि प्रत्येक भक्त उस सिद्धि को पाता है, जिसके योग्य वह होता है। इस तरह भगवान् *योग-सिद्धि* विषयक अपना विवेचन समाप्त करते हैं।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२॥

शब्दार्थ

जित-इन्द्रियस्य—इन्द्रियों को जीत लेने वाले का; दान्तस्य—अनुशासित तथा आत्मसंयमित का; जित-श्वास—जिसने श्वास पर विजय पा ली है; आत्मनः—तथा जिसने मन को जीत लिया है; मुनेः—ऐसे मुनि का; मत्—मुझमें; धारणाम्—ध्यान; धारयतः—करने वाला; का—क्या है; सा—वह; सिद्धिः—सिद्धि; सु-दुर्लभा—जिसको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

जिस मुनि ने अपनी इन्द्रियों, श्वास तथा मन को जीत लिया है, जो आत्मसंयमी है और सदा मेरे ध्यान में लीन रहता है, उसके लिए कौन-सी योग-सिद्धि प्राप्त करना कठिन है?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका इस प्रकार है : "यहाँ पर कृष्ण यह कहते हैं कि अनेक कठिन विधियों का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उपर्युक्त में से किसी एक भी विधि को पूरी तरह सम्पन्न करने से, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में कर सकता है, भगवान् में लीन हो सकता है और इस तरह समस्त योग-सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि मनुष्य को भगवान् के दिव्य स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो किसी भौतिक उपाधि से मुक्त है। योग-पद्धति में प्रगति करने का यही सार है। इस तरह मनुष्य भगवान् के निजी शरीर से सारी सिद्धियाँ सरलता से प्राप्त कर सकता है।

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अन्तरायान्—अवरोध; वदन्ति—कहते हैं; एताः—ये सिद्धियाँ; युञ्जतः—लगने वाले के; योगम्—ब्रह्म से संयोग; उत्तमम्—परम अवस्था; मया—मेरे साथ; सम्पद्यमानस्य—पूरी तरह ऐश्वर्यवान बनने वाले के; काल—समय का; क्षपण—अवरोध का, बर्बादी; हेतवः—कारण।

भक्ति के विद्वान पंडितों का कहना है कि योग-सिद्धियाँ, जिनका मैंने उल्लेख किया है,

वास्तव में उस परम योग का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिए अवरोधक तथा समय का अपव्यय हैं जिसके द्वारा वह मुझसे सीधे समस्त जीवन-सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

तात्पर्य : यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि जो वस्तु समय का अपव्यय हो उसे त्याग देना चाहिए, अतएव मनुष्य को भगवान् से योग-सिद्धियों की याचना नहीं करनी चाहिए। निष्काम शुद्ध भक्त के लिए निर्विशेष मुक्ति तक जीवन की व्यर्थ बाधा लगती है और भौतिक योग-सिद्धियों के विषय में क्या कहा जाय जो निर्विशेष मुक्ति से तुलनीय नहीं हैं। भले ही ऐसी योग-सिद्धियाँ अपरिपक्व तथा अननुभवी व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक हों, किन्तु जिस विद्वान ने भगवान् को समझ लिया है उसके लिए ये तनिक भी प्रभावशाली नहीं हैं। भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने मात्र से मनुष्य योग-सिद्धियों के अनन्त सागर में निवास करता है अतएव अलग से योगसिद्धियों के पीछे अपना बहुमूल्य समय बर्बाद नहीं करना चाहिए।

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; औषधि—जड़ी-बूटियों; तपः—तपस्या; मन्त्रैः—तथा मंत्रों से; यावतीः—जितने हैं; इह—इस जगत में; सिद्धयः—सिद्धियाँ; योगेन—मेरी भक्ति से; आप्नोति—प्राप्त करता है; ताः—वे; सर्वाः—सभी; न—नहीं; अन्यैः—अन्य विधियों से; योग-गतिम्—वास्तविक योग-सिद्धि; व्रजेत्—प्राप्त करता है।

अच्छे जन्म, औषधियों, तपस्याओं तथा मंत्रों से जो भी योग-सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं उन सबों को मेरी भक्ति करके प्राप्त किया जा सकता है। निस्सन्देह, कोई भी व्यक्ति अन्य किसी साधन से वास्तविक योग-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : देवता रूप में जन्म लेने से मनुष्य को स्वतः अनेक योग-सिद्धियाँ प्राप्त हुई रहती हैं। सिद्धलोक में मात्र जन्म लेने से स्वतः आठ प्रमुख योग-सिद्धियाँ अर्जित हो जाती हैं। इसी तरह मछली के रूप में जन्म लेने से वह जल से अभेद्य हो जाती है, पक्षी रूप में जन्म लेने से उड़ने की योग-सिद्धि प्राप्त हो जाती है और भूतप्रेत के रूप में जन्म लेने से अलक्षित होने तथा परकाया-प्रवेश की सिद्धि प्राप्त होती है। पतञ्जलि मुनि बतलाते हैं कि योग-सिद्धियाँ जन्म, औषधि, तपस्या तथा मंत्रों द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु भगवान् का कहना है कि ऐसी सिद्धियाँ अन्ततोगत्वा समय का अपव्यय हैं तथा वास्तविक योग-सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त करने में विघ्न स्वरूप हैं।

जो लोग भक्तियोग त्याग कर, कृष्ण के अतिरिक्त ध्यान की अन्य वस्तुओं के लिए मँडराते हैं, वे निश्चय ही अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। जो अपने को योगी घोषित करते हैं किन्तु अपनी इन्द्रियों की तुष्टि में लगे रहते हैं, वे *कुयोगी* या *भोगी-योगी* हैं। ऐसे कुयोगी यह नहीं समझ पाते कि जिस तरह उनके पास लघु इन्द्रियाँ हैं उसी तरह परब्रह्म के पास सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। वे यह भी नहीं समझ पाते कि योग वास्तव में भगवान् की चरम इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त है। इसलिए जो व्यक्ति योग-सिद्धियों के तथाकथित सुख के पीछे पड़ कर, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का परित्याग कर देते हैं उन्हें अपने प्रयासों से हतोत्साहित होना पड़ेगा। मनुष्य को केवल भगवान् का ध्यान करने से *योगगति* प्राप्त हो सकती है, जिसका अर्थ होता है भगवान् कृष्ण के लोक में रह कर आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का भोग करना।

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य साङ्ख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सर्वासाम्—सभी से; **अपि**—निस्सन्देह; **सिद्धीनाम्**—सिद्धियों में से; **हेतुः**—कारण; **पतिः**—रक्षक; **अहम्**—मैं हूँ; **प्रभुः**—स्वामी; **अहम्**—मैं; **योगस्य**—मेरे शुद्ध ध्यान का; **साङ्ख्यस्य**—सांख्य ज्ञान का; **धर्मस्य**—निष्काम भाव से किये गये कर्म का; **ब्रह्म-वादिनाम्**—वैदिक शिक्षकों का।

हे उद्धव, मैं समस्त योग-सिद्धियों, योग-पद्धति, सांख्य ज्ञान, शुद्ध कर्म तथा विद्वान वैदिक शिक्षकों का कारण, रक्षक तथा स्वामी हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, यहाँ पर *योग* शब्द भौतिक जीवन से मुक्ति का और *सांख्य* शब्द मोक्ष प्राप्त करने की विधि का सूचक है। इस तरह भगवान् कृष्ण न केवल भौतिक योग-सिद्धियों के अपितु सर्वोच्च मुक्त सिद्धियों के भी स्वामी हैं। पुण्यकर्म द्वारा सांख्य अर्थात् मोक्ष का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और भगवान् कृष्ण ऐसे कर्म के हेतु, रक्षक तथा स्वामी तो हैं ही, वे उन विद्वान शिक्षकों के भी स्वामी हैं, जो सामान्य लोगों को पवित्रता की शिक्षा देते हैं। हर जीव के लिए भगवान् कृष्ण अनेक प्रकार से ध्यान तथा पूजा के लक्ष्य हैं। भगवान् कृष्ण अपनी शक्तियों का विस्तार करके सर्वस्व बनते हैं और यही साधारण चिन्तन योग की चरम सिद्धि है, जो कृष्णभावनामृत कहलाती है।

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—भगवान्; आन्तरः—परमात्मा के भीतर स्थित; बाह्यः—मेरे सर्वव्यापक रूप के बाहर स्थित; अनावृतः—खुला; सर्व-देहिनाम्—सारे जीवों के; यथा—जिस तरह; भूतानि—भौतिक तत्त्व; भूतेषु—जीवों में; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; स्वयम्—स्वयं; तथा—उसी तरह से।

जिस तरह समस्त भौतिक शरीरों के भीतर तथा बाहर एक जैसे भौतिक तत्त्व उपस्थित रहते हैं, उसी तरह मैं किसी अन्य वस्तु से आच्छादित नहीं किया जा सकता। मैं हर वस्तु के भीतर परमात्मा रूप में और हर वस्तु के बाहर अपने सर्वव्यापक रूप में उपस्थित रहता हूँ।

तात्पर्य : समस्त योगियों तथा दार्शनिकों के ध्यान का सम्पूर्ण आधार भगवान् कृष्ण हैं और यहाँ पर भगवान् अपने चरम पद का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। चूँकि भगवान् हर वस्तु के भीतर रहते हैं इसलिए मनुष्य यह सोच सकता है कि भगवान् तो खण्डों में विभाजित हैं। किन्तु *अनावृत* शब्द सूचित करता है कि परब्रह्म या भगवान् के चरम अस्तित्व में न तो किसी तरह का व्यवधान होता है, न ही अतिलंघन हो सकता है। जिस तरह हर स्थान पर रहने वाले भौतिक तत्त्वों के अन्तः तथा बाह्य अस्तित्व में कोई विलगाव नहीं होता, उसी तरह भगवान् सर्वव्यापी हैं और हर वस्तु की चरम सिद्धि हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भगवान् कृष्ण द्वारा योग-सिद्धियों का वर्णन'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

भगवान् की विभूतियाँ

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण अपने प्रकट ऐश्वर्यों या विभूतियों का वर्णन ज्ञान, बल, प्रभाव इत्यादि विशेष शक्तियों के रूप में करते हैं।

श्री उद्धव ने समस्त तीर्थस्थानों के चरम आश्रय भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है, ''भगवान् का न तो आदि है, न अन्त। वे सभी जीवों के जन्म, पालन तथा संहार के कारण हैं। वे सभी जीवों की आत्मा हैं और सभी जीवित प्राणियों के भीतर गुप्त रूप से वास करते हुए वे

सारी वस्तुएँ देखते रहते हैं। किन्तु बद्धजीव उनकी बहिरंगा शक्ति से मोहग्रस्त होने के कारण उनका दर्शन नहीं कर पाते।" भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर ऐसी स्तुति अर्पित करने के बाद, श्री उद्धव ने स्वर्ग, पृथ्वी, नरक तथा समस्त दिशाओं में भगवान् की विविध विभूतियों को जानने की इच्छा व्यक्त की। तब श्रीकृष्ण ने इन सारी विभूतियों का वर्णन किया और इसके बाद यह टिप्पणी की कि सारा बल, सौन्दर्य, यश, ऐश्वर्य, दीनता, दान, आकर्षण, सौभाग्य, वीरता, सहिष्णुता तथा ज्ञान जहाँ कहीं वे दिखते हैं, सब उन्हीं के अंश (विस्तार) हैं। इसलिए यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किसी भौतिक वस्तु में ये विभूतियाँ वास्तव में रहती हैं। ऐसी धारणाएँ द्वैत के कारण हैं जिससे ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है, जो काल्पनिक होती है जैसे कि आकाश कुसुम। भौतिक विभूतियाँ सारतः सत्य नहीं हैं अतएव इनके चिन्तन में अत्यधिक लीन नहीं होना चाहिए। भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी बुद्धि का सही सही उपयोग अपनी वाणी, मन तथा प्राण के कार्यकलापों के नियमन में लगाते हैं और इस तरह कृष्णभावनामृत में रह कर अपना अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—**श्री उद्धव ने कहा**; **त्वम्**—**तुम हो**; **ब्रह्म**—**महानतम**; **परमम्**—**परम**; **साक्षात्**—**स्वयं**; **अनादि**—**आदिरहित**; **अन्तम्**—**अन्तरहित**; **अपावृतम्**—**किसी वस्तु से सीमित नहीं**; **सर्वेषाम्**—**समस्त**; **अपि**—**निस्सन्देह**; **भावानाम्**—**उपस्थित वस्तुओं में**; **त्राण**—**रक्षक**; **स्थिति**—**जीवनदाता**; **अप्यय**—**संहार**; **उद्भवः**—**तथा सृष्टि**।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, आप अनादि तथा अनन्त, साक्षात् परब्रह्म तथा अन्य किसी वस्तु से सीमित नहीं हैं। आप सभी वस्तुओं के रक्षक तथा जीवनदाता, उनके संहार तथा सृष्टि हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म* का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ एवं हर वस्तु का कारण। यहाँ पर उद्धव ने भगवान् को *परमम्* अर्थात् परब्रह्म के रूप में सम्बोधित किया है क्योंकि उनका भगवान् रूप, परब्रह्म का सर्वोच्च स्वरूप और असीम आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का आश्रय है। सामान्य जीवों से भिन्न रूप में भगवान् के ऐश्वर्यों को काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इस तरह भगवान् *अनाद्यन्तम्* और *अपावृतम्* अर्थात् किसी श्रेष्ठ या समान शक्ति द्वारा रोके जाने वाले नहीं हैं। इस भौतिक जगत का सारा ऐश्वर्य भगवान् में ही टिका है क्योंकि वे ही भौतिक जगत का रक्षण, पालन, सृजन तथा संहार कर सकते हैं। इस अध्याय में

श्री उद्धव भगवान् से उनके आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्यों के बारे में पूछते हैं जिससे परब्रह्म रूप में भगवान् की स्थिति के विषय में वे पुनः अपना विचार दृढ़ कर सकें। भौतिक जगत के चरम स्रष्टा भगवान् विष्णु भी भगवान् कृष्ण के अंश हैं, अतएव श्री उद्धव अपने अन्तरंग मित्र के अद्वितीय पद के बारे में पूर्णतया आश्वस्त हो लेना चाहते हैं।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।
उपासते त्वां भगवन्याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

उच्च—श्रेष्ठ; **अवचेषु**—तथा निम्न; **भूतेषु**—सृजित वस्तुओं तथा जीवों में; **दुर्ज्ञेयम्**—समझ पाना कठिन; **अकृत-आत्मभिः**—अपवित्रों द्वारा; **उपासते**—वे पूजा करते हैं; **त्वाम्**—तुम्हारी; **भगवन्**—हे प्रभु; **यथा-तथ्येन**—वास्तव में; **ब्राह्मणाः**—वैदिक मतानुयायी ।.

हे प्रभु, यद्यपि अपवित्र लोगों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि आप समस्त उच्च तथा निम्न सृष्टियों में स्थित हैं, किन्तु वे ब्राह्मण जो वैदिक मत को भलीभाँति जानते हैं आपकी वास्तविक रूप में पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सन्त पुरुषों के आचरण को भी प्रमाण माना जाता है इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि यद्यपि अज्ञानी, अपवित्र व्यक्ति भगवान् के सर्वव्यापी स्वरूप के समक्ष विमोहित हो जाते हैं, किन्तु शुद्ध तथा स्पष्ट चेतना वाले लोग भगवान् को यथारूप में पूजते हैं। इस अध्याय में श्री उद्धव भगवान् के ऐश्वर्यों या विभूतियों के विषय में जिज्ञासा करते हैं। यहाँ पर *उच्चवचेषु भूतेषु* शब्द स्पष्ट रूप से भगवान् के बाह्य ऐश्वर्यों के द्योतक हैं, जो कि भौतिक जगत में प्रकट होते हैं। साधु ब्राह्मण या वैष्णवजन समस्त वस्तुओं के भीतर भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं; फिर भी वे भगवान् की सृष्टि में विविधता को पहचानते हैं। उदाहरणार्थ, अर्चाविग्रह की पूजा करते समय वे अच्छे से अच्छे फूल, फल तथा आभूषण चुन कर भगवान् को सजाते हैं। इसी तरह यद्यपि भगवान् प्रत्येक बद्धात्मा के हृदय में उपस्थित हैं, किन्तु एक भक्त उस बद्धात्मा के प्रति अधिक ध्यान देता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के सन्देश में रुचि रखता है। यद्यपि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, किन्तु भक्तगण भगवान् की सेवा के निमित्त, *उच्च* तथा निम्न (*अवचेषु*) सृष्टियों में भगवान् की उपस्थिति में अन्तर बरतते हैं।

येषु येषु च भूतेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।

उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे ॥ ३॥

शब्दार्थ

येषु येषु—जिन जिन; च—तथा; भूतेषु—स्वरूपों में; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; त्वाम्—तुमको; परम-ऋषयः—महर्षिगण; उपासीनाः—पूजा करने वाले; प्रपद्यन्ते—प्राप्त करते हैं; संसिद्धिम्—सिद्धि; तत्—वह; वदस्व—कृपया कहें; मे—मुझसे।

कृपया मुझसे उन सिद्धियों को बतलायें जिन्हें महर्षिगण आपकी भक्तिपूर्वक पूजा द्वारा प्राप्त करते हैं। कृपया यह भी बतलायें कि वे आपके किन विविध रूपों की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्री उद्धव भगवान् के आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के विषय में पूछते हैं, जो मुख्यतया उनके *विष्णु तत्त्व* अंशों जैसे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूपों में होता है। भगवान् के इन विभिन्न स्वांशों की पूजा करके मनुष्य विशिष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है और श्री उद्धव यही जानना चाहते हैं।

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४॥

शब्दार्थ

गूढः—गुप्त; चरसि—लगे रहते हैं; भूत-आत्मा—परमात्मा; भूतानाम्—जीवों के; भूत-भावन—हे जीवों के पालनकर्ता; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; पश्यन्ति—देखते हैं; भूतानि—जीव; पश्यन्तम्—देखते हुए; मोहितानि—मोहग्रस्त; ते—तुम्हारे द्वारा।

हे सर्वपालक प्रभु, यद्यपि आप सभी जीवों के परमात्मा हैं किन्तु आप गुप्त रहते हैं। इस तरह आपके द्वारा मोहग्रस्त बनाये जाकर सारे जीव आपको देख नहीं पाते यद्यपि आप उन्हें देखते रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् हर वस्तु के भीतर परमात्मा रूप में विद्यमान हैं। वे विभिन्न अवतारों के रूप में भी प्रकट होते हैं या कभी कभी भक्त को अवतार रूप में कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। अभक्तों को ऐसे समस्त रूपों का कोई पता नहीं रहता। मोहग्रस्त बद्धजीव सोचते हैं कि परम भोक्ता श्रीकृष्ण तो उनकी इन्द्रियतृप्ति के भोगार्थ हैं। अभक्तगण भगवान् से विशिष्ट वर माँगने के लिए उनकी स्तुति करने और भगवान् की सृष्टि को निजी सम्पत्ति मानने के कारण वे भगवान् के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते। इसीलिए वे मूर्ख तथा मोहग्रस्त बने रहते हैं। इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार होता है। इस प्रकार परमात्मा ही भौतिक जगत के एकमात्र वास्तविक नियन्ता हैं। दुर्भाग्यवश जब परमात्मा अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, तो अज्ञानी व्यक्ति सोचते हैं कि परमात्मा भौतिक गुणों की मात्र एक और सृष्टि हैं। जैसाकि इस श्लोक में

कहा गया है वे उस व्यक्ति को नहीं देख पाते जो उन्हें देख रहा है और इस तरह वे मोहग्रस्त बने रहते हैं।

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

याः काः—जो भी; च—भी; भूमौ—पृथ्वी पर; दिवि—स्वर्ग में; वै—निस्सन्देह; रसायाम्—नरक में; विभूतयः—शक्तियाँ; दिक्षु—सारी दिशाओं में; महा-विभूते—हे परमशक्तिमान; ताः—वे; मह्यम्—मुझसे; आख्याहि—कृपया बतलायें; अनुभाविताः—प्रकट, व्यक्त; ते—तुम्हारे द्वारा; नमामि—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; ते—तुम्हारे; तीर्थ-पद—समस्त तीर्थस्थलों के निवास; अङ्घ्रि-पद्मम्—चरणकमलों पर।

हे परमशक्तिमान प्रभु, कृपा करके मुझे अपनी वे असंख्य शक्तियाँ बतलायें जिन्हें आप पृथ्वी में, स्वर्ग में, नरक में तथा समस्त दिशाओं में प्रकट करते हैं। मैं आपके उन चरणकमलों को सादर नमस्कार करता हूँ जो समस्त तीर्थस्थलों के आश्रय हैं।

तात्पर्य : उद्धव यहाँ पर भगवान् की उन भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में जिज्ञासा करते हैं जिस रूप में वे हमारे ब्रह्माण्ड में प्रकट होती हैं। जिस प्रकार शहरों में रह रहे सामान्य पशु या कीड़े मनुष्य की वैज्ञानिक, सांस्कृतिक या सैन्य उपलब्धियों का अनुमान नहीं लगा सकते, उसी तरह मूर्ख भौतिकतावादी लोग भी भगवान् के अपार ऐश्वर्यों को नहीं पहचान पाते यद्यपि वे हमारे ब्रह्माण्ड में ही प्रकट होते हैं। यहाँ पर उद्धव सामान्यजनों की जानकारी के लिए ही भगवान् से अनुरोध कर रहे हैं कि वे यह प्रकट करें कि वे किसी तरह और किन रूपों में अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है, भगवान् सारे जगत के अनिवार्य अवयव रूप हैं, अतएव कोई भी विराट या ऐश्वर्यवान् स्वरूप साक्षात् भगवान् पर ही टिका हुआ हो सकता है।

श्रीभगवानुवाच
एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; अहम्—मैं; पृष्टः—पूछा गया; प्रश्नम्—प्रश्न; प्रश्न-विदाम्—प्रश्न करने में पटु लोगों के; वर—तुम जो कि श्रेष्ठ हो; युयुत्सुना—युद्ध करने की इच्छा रखने वालों के द्वारा; विनशने—कुरुक्षेत्र के युद्ध में; सपत्नैः—अपने प्रतिद्वन्दियों या शत्रुओं समेत; अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; वै—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : हे प्रश्नकर्ताओं में श्रेष्ठ, अर्जुन ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध करने की इच्छा से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मुझसे यही प्रश्न पूछा था जिसे तुम पूछने जा रहे हो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण प्रसन्न थे कि उनके दो मित्रों, अर्जुन तथा उद्धव, ने भगवान् के ऐश्वर्यों के विषय में एक जैसा प्रश्न पूछा। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि उनके दो प्रिय मित्रों ने उनसे बिल्कुल एक जैसा प्रश्न पूछा।

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; ज्ञाति—अपने सम्बन्धियों से; वधम्—वध; गर्ह्यम्—गर्हित, निन्दनीय; अधर्मम्—अधर्म; राज्य—राज्य प्राप्त करने के लिए; हेतुकम्—प्रेरणा; ततः—ऐसे कर्म से; निवृत्तः—अवकाशप्राप्त; हरता—मारने वाला; अहम्—मैं हूँ; हतः—मारा हुआ; अयम्—सम्बन्धियों का यह दल; इति—इस प्रकार; लौकिकः—संसारी।

कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में अर्जुन ने सोचा कि अपने सम्बन्धियों का वध करना अत्यन्त गर्हित एवं अधार्मिक कार्य है, जो राज्य प्राप्त करने की उसकी इच्छा से प्रेरित है। अतएव यह सोच कर कि मैं अपने सम्बन्धियों का मारने वाला होऊँगा और वे विनष्ट हो जायेंगे, वह युद्ध से विरत होना चाहता था। इस तरह वह संसारी चेतना से दुखी था।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण उन परिस्थितियों को बतला रहे हैं जिनके अन्तर्गत श्री अर्जुन ने प्रश्न किया था।

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८॥

शब्दार्थ

सः—वह; तदा—उस समय; पुरुष-व्याघ्रः—पुरुषों में बाघ; युक्त्या—तर्क द्वारा; मे—मेरे द्वारा; प्रतिबोधितः—सही ज्ञान दिया गया; अभ्यभाषत—प्रश्न किया; माम्—मुझसे; एवम्—इस प्रकार; यथा—जिस तरह; त्वम्—तुम; रण—युद्ध के; मूर्धनि—मोर्चे में।

उस समय मैंने पुरुषों में व्याघ्र अर्जुन को तर्क द्वारा समझाया और युद्ध के मोर्चे में ही अर्जुन ने मुझसे उसी तरह के प्रश्न किये थे जिस तरह तुम अब कर रहे हो।

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—परमात्मा हूँ; उद्धव—हे उद्धव; अमीषाम्—इन; भूतानाम्—जीवों के; सु-हृत्—शुभचिन्तक; ईश्वरः—परम नियन्ता; अहम्—मैं; सर्वाणि भूतानि—सभी जीव; तेषाम्—उनकी; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; अप्ययः—तथा संहार।

हे उद्धव, मैं समस्त जीवों का परमात्मा हूँ, अतएव मैं स्वाभाविक रूप से उनका हितेच्छु तथा परम नियन्ता हूँ। सारे जीवों का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता होने से मैं उनसे भिन्न नहीं हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी यह इंगित करते हैं कि भगवान् अपने ऐश्वर्यों के साथ निकट और दूर का सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् सारे जीवों से भिन्न नहीं हैं क्योंकि वे जीव उन्हीं से उत्पन्न हैं और उनसे ही सम्बद्ध हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* के दशम अध्याय (१०.२०) में अर्जुन से ऐसी ही व्याख्या की थी जिनके प्रारम्भिक शब्द थे *अहमात्मा*। यद्यपि भगवान् अपने बाह्य या भौतिक ऐश्वर्यों का वर्णन करते हैं, किन्तु भगवान् का पद सदैव दिव्य तथा अभौतिक है। जिस तरह शरीर के भीतर चेतन आत्मा शरीर को जीवन प्रदान करता है उसी तरह भगवान् अपनी परम शक्ति से समस्त विश्व के ऐश्वर्यों को जीवन प्रदान करते हैं।

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुनाणां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; गतिः—चरम गन्तव्य; गति-मताम्—उन्नति चाहने वालों के; कालः—काल, समय; कलयताम्—नियंत्रण रखने वालों के; अहम्—मैं; गुनाणाम्—प्रकृति के गुणों के; च—भी; अपि—ही; अहम्—मैं; साम्यम्—भौतिक सन्तुलन; गुणिनि—पवित्रों में; औत्पत्तिकः—स्वाभाविक; गुणः—गुण।

मैं उन्नति चाहने वालों का चरम गन्तव्य हूँ और जो नियंत्रण रखना चाहते हैं उनमें मैं काल हूँ। मैं भौतिक गुणों की साम्यावस्था हूँ और पवित्रों में मैं स्वाभाविक गुण हूँ।

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गुणिनाम्—गुणयुक्त वस्तुओं में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; सूत्रम्—मुख्य सूत्र तत्त्व; महताम्—महान् वस्तुओं में; च—भी; महान्—समग्र भौतिक अभिव्यक्ति; अहम्—मैं; सूक्ष्माणाम्—सूक्ष्म वस्तुओं में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; जीवः—जीव; दुर्जयानाम्—दुर्जेय वस्तुओं में; अहम्—मैं; मनः—मन।

गुणयुक्त वस्तुओं में मैं प्रकृति की मुख्य अभिव्यक्ति हूँ और महान् वस्तुओं में मैं समग्र सृष्टि हूँ। सूक्ष्म वस्तुओं में मैं आत्मा हूँ और दुर्जेय वस्तुओं में मैं मन हूँ।

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानि च्छन्दुसामहम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्य-गर्भः—भगवान् ब्रह्मा; वेदानाम्—वेदों में; मन्त्राणाम्—मंत्रों के; प्रणवः—ॐकार; त्रि-वृत्—तीन अक्षरों वाला; अक्षराणाम्—अक्षरों के; अ-कारः—अ अर्थात् प्रथम अक्षर; अस्मि—हूँ; पदानि—तीन पंक्ति का गायत्री मंत्र; छन्दसाम्—छन्दों में; अहम्—मैं।.

वेदों में मैं आदि शिक्षक ब्रह्मा और समस्त मंत्रों में मैं तीन अक्षरों (मात्राओं) वाला ॐकार हूँ। अक्षरों में मैं प्रथम अक्षर अ (अकार) और पवित्र छन्दों में गायत्री मंत्र हूँ।

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—इन्द्र; अहम्—मैं; सर्व-देवानाम्—सभी देवताओं में; वसूनाम्—वसुओं में; अस्मि—मैं; हव्य-वाट्—आहुतियों का वाहक, अग्नि देव; आदित्यानाम्—अदिति-पुत्रों में; अहम्—मैं; विष्णुः—विष्णु; रुद्राणाम्—रुद्रों में; नील-लोहितः—शिवजी।.

मैं देवताओं में इन्द्र तथा वसुओं में अग्नि हूँ। मैं अदिति-पुत्रों में विष्णु तथा रुद्रों में भगवान् शिव हूँ।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु वामनदेव के रूप में अदिति के पुत्र रूप में प्रकट हुए।

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-ऋषीणाम्—सन्त ब्राह्मणों में; भृगुः—भृगु मुनि; अहम्—मैं; राज-ऋषीणाम्—सन्त राजाओं में; अहम्—मैं; मनुः—मनु; देव-ऋषीणाम्—सन्त देवताओं में; नारदः—नारद मुनि; अहम्—मैं; हविर्धानी—कामधेनु; अस्मि—हूँ; धेनुषु—गौवों में।.

मैं ब्रह्मर्षियों में भृगु मुनि तथा राजर्षियों में मनु हूँ। देवर्षियों में मैं नारद मुनि तथा गौवों में कामधेनु हूँ।

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् ।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सिद्ध-ईश्वराणाम्—सिद्धजनों में; कपिलः—कपिल भगवान्; सुपर्णः—गरुड़; अहम्—मैं; पतत्रिणाम्—पक्षियों में; प्रजापतीनाम्—मनुष्यों के जनकों में; दक्षः—दक्ष; अहम्—मैं; पितॄणाम्—पितरों में; अहम्—मैं; अर्यमा—अर्यमा।.

मैं सिद्धों में भगवान् कपिल तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ। प्रजापतियों में मैं दक्ष तथा पितरों में

अर्यमा हूँ।

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विद्धि—जानो; उद्धव—हे उद्धव; दैत्यानाम्—दिति-पुत्रों या असुरों में; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज; असुर-ईश्वरम्—असुरों के ईश्वर; सोमम्—चन्द्रमा; नक्षत्र-ओषधीनाम्—नक्षत्रों तथा औषधियों में; धन-ईशम्—धन के स्वामी, कुवेर; यक्ष-रक्षसाम्—यक्षों तथा राक्षसों में।

हे उद्धव, तुम मुझे दिति के असुर पुत्रों में असुरों का साधु-स्वामी प्रह्लाद महाराज जानो। मैं नक्षत्रों तथा औषधियों में उनका स्वामी चन्द्र हूँ और यक्षों तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुवेर हूँ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ऐरावतम्—ऐरावत नामक हाथी; गज-इन्द्राणाम्—राजसी हाथियों में; यादसाम्—जलचरों में; वरुणम्—वरुण; प्रभुम्—समुद्रों का स्वामी; तपताम्—उष्मा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं में; द्यु-मताम्—प्रकाश करने वाली वस्तुओं में; सूर्यम्—सूर्य हूँ; मनुष्याणाम्—मनुष्यों में; च—भी; भू-पतिम्—राजा।

मैं राजसी हाथियों में ऐरावत और जलचरों में समुद्रों का अधिपति वरुण हूँ। समस्त उष्मा तथा प्रकाश प्रदान करने वाली वस्तुओं में मैं सूर्य और मनुष्यों में राजा हूँ।

तात्पर्य : यह जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड के सभी कोटियों में स्वामी या ईश्वर के रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीकृष्ण के समान न तो कोई अधिशासक है और पूर्ण है, न ही कोई उनके ऐश्वर्यों का अनुमान लगा सकता है। वे निस्सन्देह भगवान् हैं।

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
यमः संयमतां चाहम्सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उच्चैःश्रवाः—उच्चैश्रवा नामक घोड़ा; तुरङ्गाणाम्—घोड़ों में; धातूनाम्—धातुओं में; अस्मि—हूँ; काञ्चनम्—सोना; यमः—यमराज; संयमताम्—दंड देने वालों तथा दमन करने वालों में; च—भी; अहम्—मैं; सर्पाणाम्—सर्पों में; अस्मि—हूँ; वासुकिः—वासुकि।

घोड़ों में मैं उच्चैश्रवा तथा धातुओं में स्वर्ण हूँ। दंड देने वालों तथा दमन करने वालों में मैं यमराज हूँ और सर्पों में वासुकि हूँ।

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाग-इन्द्राणाम्—अनेक फनों वाले श्रेष्ठ सर्पों में; अनन्तः—अनन्तदेव; अहम्—मैं; मृग-इन्द्रः—सिंह; शृङ्गि-दंष्ट्रिणाम्—पैने सींग तथा दाँत वाले पशुओं में; आश्रमाणाम्—चारों आश्रमों में; अहम्—मैं; तुर्यः—चौथा, संन्यास; वर्णानाम्—चार वृत्तिपरक वर्णों में; प्रथमः—प्रथम, ब्राह्मण; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप उद्धव, श्रेष्ठ सर्पों में मैं अनन्तदेव हूँ और पैने सींग तथा दाँत वाले पशुओं में मैं सिंह हूँ। आश्रमों में मैं चौथा आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम हूँ और चारों वर्णों में प्रथम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण हूँ।

तीर्थानां स्त्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तिर्थानाम्—तीर्थस्थानों में; स्त्रोतसाम्—सोतों या प्रवहमान वस्तुओं में; गङ्गा—पवित्र गंगा; समुद्रः—समुद्र; सरसाम्—स्थिर जलाशयों में; अहम्—मैं; आयुधानाम्—हथियारों में; धनुः—धनुष; अहम्—मैं; त्रि-पुर-घ्नः—शिवजी; धनुः-मताम्—धनुर्धारियों में।

पवित्र तथा प्रवहमान वस्तुओं में मैं पवित्र गंगा हूँ और स्थिर जलाशयों में समुद्र हूँ। हथियारों में मैं धनुष और हथियार चलाने वालों में मैं त्रिपुरारि शिव हूँ।

तात्पर्य : शिवजी ने मय दानव द्वारा निर्मित तीन असुर-पुरियों को अपने धनुष से आच्छादित कर दिया था।

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धिष्ण्यानाम्—आवास; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; मेरुः—सुमेरु पर्वत; गहनानाम्—दुर्गम स्थानों में; हिमालयः—हिमालय; वनस्पतीनाम्—वृक्षों में; अश्वत्थः—बरगद का वृक्ष; ओषधीनाम्—पौधों में; अहम्—मैं; यवः—जौ।

निवासस्थानों में मैं सुमेरु पर्वत हूँ और दुर्गम स्थानों में हिमालय हूँ। वृक्षों में मैं पवित्र वट-वृक्ष तथा धान्यों में मैं जौ (यव) हूँ।

तात्पर्य : *ओषधीनाम्* से उन वृक्षों का सूचन होता है, जो एक बार फल देकर सूख जाते हैं। इनमें से अन्न उत्पन्न करने वाले (धान्य) मनुष्य जीवन का पालन करने वाले हैं और कृष्ण का प्रतिनिधित्व

करते हैं। अन्न के बिना न तो दुग्ध उत्पाद सम्भव है न ही वैदिक अग्नि यज्ञ उचित रूप से सम्पन्न किये जा सकते हैं।

पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः ॥ २२॥

शब्दार्थ

पुरोधसाम्—पुरोहितों में; वसिष्ठः—वसिष्ठ मुनि; अहम्—मैं हूँ; ब्रह्मिष्ठानाम्—वैदिक निष्कर्ष को मानने वालों में; बृहस्पतिः—देवताओं के गुरु; स्कन्दः—कार्तिकेय; अहम्—मैं हूँ; सर्व-सेनान्याम्—समस्त सेनानियों में; अग्रण्याम्—पवित्र जीवन में अग्रणियों में; भगवान्—महापुरुष; अजः—ब्रह्मा।

पुरोहितों में मैं वसिष्ठ मुनि और वैदिक संस्कृति के अग्रगण्यों में बृहस्पति हूँ। मैं महान् सेनानियों में स्कन्द और उच्च जीवन बिताने वालों में महापुरुष ब्रह्मा हूँ।

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् ।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यज्ञानाम्—यज्ञों में; ब्रह्म-यज्ञः—वेदाध्ययन; अहम्—मैं हूँ; व्रतानाम्—व्रतों में; अविहिंसनम्—अहिंसा; वायु—वायु, हवा; अग्नि—आग; अर्क—सूर्य; अम्बु—जल; वाक्—तथा वाणी; आत्मा—साक्षात्; शुचीनाम्—पवित्र करने वालों में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ; शुचिः—शुद्ध।

यज्ञों में मैं वेदाध्ययन और व्रतों में अहिंसा हूँ। पवित्र करने वाली सभी वस्तुओं में मैं वायु, अग्नि, सूर्य, जल तथा वाणी हूँ।

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

योगानाम्—योगाभ्यास की आठ अवस्थाओं (अष्टांग) में; आत्म-संरोधः—अन्तिम अवस्था, समाधि जिसमें आत्मा मोह से मुक्त हो जाता है; मन्त्रः—कुशल सलाहकार; अस्मि—मैं हूँ; विजिगीषताम्—विजय चाहने वालों में; आन्वीक्षिकी—आध्यात्मिक विज्ञान जिसके बल पर पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर किया जा सकता है; कौशलानाम्—दक्ष विवेक की समस्त विधियों में; विकल्पः—अनुभूति वैविध्य; ख्याति-वादिनाम्—निर्विशेषवादियों में।

मैं योग की आठ उत्तरोत्तर अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था—समाधि—हूँ जिसमें आत्मा मोह से पूर्णतया पृथक् हो जाता है। विजय की आकांक्षा रखने वालों में मैं कुशल राजनीतिक सलाहकार हूँ और दक्ष विवेकी विधियों में मैं आत्मज्ञान हूँ जिसके द्वारा पदार्थ से आत्मा को विभेदित किया जाता है। मैं समस्त निर्विशेषवादियों (ज्ञानियों) में अनुभूति-वैविध्य हूँ।

तात्पर्य : कोई भी विज्ञान दक्ष विवेक-शक्ति पर आधारित होता है। एकान्तिक तथा परस्पर क्रियाशील घटकों की पटु परिभाषा द्वारा, मनुष्य किसी भी क्षेत्र में दक्ष बन जाता है। अन्त में बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति पदार्थ से आत्मा को विलग कर सकता है और पदार्थ तथा आत्मा के गुणों का वर्णन सच्चाई के एकान्तिक तथा परस्पर क्रियाशील घटकों के रूप में कर सकता है। असंख्य दार्शनिक चिन्तनों का प्रफलन भौतिक संसार के भीतर अनुभूतियों की पृथक् विधियों के कारण होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहंहृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं और उसकी इच्छा तथा योग्यता के अनुसार ही उसे ज्ञान या अज्ञान की विशेष मात्रा प्रदान करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वयं ही दार्शनिक चिन्तन की संसारी विधि के आधार स्वरूप हैं क्योंकि वे बद्धजीवों में अनुभूति के पृथक् तथा एकान्तर गुण उत्पन्न करते हैं। यह समझने की बात है कि भगवान् कृष्ण से सुन कर ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, किसी बद्ध दार्शनिक से नहीं जो अपनी निजी इच्छाओं के पर्दे से होकर भगवान् की सृष्टि की अधूरी अनुभूति प्राप्त करता है।

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः ।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों में; तु—निस्सन्देह; शतरूपा—शतरूपा; अहम्—मैं हूँ; पुंसाम्—पुरुषों में; स्वायम्भुवः मनुः—महान् प्रजापति स्वायंभुव मनु; नारायणः—नारायण मुनि; मुनीनाम्—मुनियों में; च—भी; कुमारः—सनत्कुमार; ब्रह्मचारिणाम्—ब्रह्मचारियों में।

मैं स्त्रियों में शतरूपा और पुरुषों में उसका पति स्वायम्भुव मनु हूँ। मुनियों में मैं नारायण हूँ और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार हूँ।

धर्माणामस्मि सन्न्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।
गुह्यानां सुनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धर्माणाम्—धार्मिक सिद्धान्तों में; अस्मि—हूँ; सन्न्यासः—सन्यास, वैराग्य; क्षेमाणाम्—समस्त प्रकार की सुरक्षा में; अबहिः-मतिः—अन्तर की (आत्मा की) सतर्कता; गुह्यानाम्—सारे रहस्यों में; सुनृतम्—मधुर वाणी; मौनम्—मौन, चुप्पी; मिथुनानाम्—मिथुनरत युग्म; अजः—आदि प्रजापति, ब्रह्मा; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ।

धार्मिक सिद्धान्तों में मैं संन्यास हूँ और समस्त प्रकार की सुरक्षा में अन्तस्थ नित्य आत्मा की

चेतना हूँ। रहस्यों में मैं मधुर वाणी तथा मौन हूँ तथा सम्भोगरत युग्मों में ब्रह्मा हूँ।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति को अपने भीतर नित्य आत्मा की अनुभूति हो जाती है, वह किसी भी भौतिक स्थिति से डरता नहीं। इस तरह वह संन्यास धारण करने के योग्य होता है। निश्चय ही, भय भौतिक जीवन के महान् कष्टों में से है, अतएव निर्भीकता का उपहार अत्यन्त मूल्यवान है और यह भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्य मधुर वाणी तथा मौन दोनों में ही बहुत कम रहस्यों का उद्घाटन हो पाता है, अतएव कूट-नीति तथा मौन दोनों ही गोपनीयता में सहायक हैं। ब्रह्मा मिथुनरत युग्मों में प्रमुख हैं क्योंकि ब्रह्मा के ही शरीर से स्वायंभुव मनु तथा शतरूपा का आदि सुन्दर जोड़ा निकला था जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध के बारहवें अध्याय में वर्णन आया है।

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥ २७॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—वर्ष; अस्मि—हूँ; अनिमिषाम्—काल के सतर्क चक्रों में; ऋतूनाम्—ऋतुओं में; मधु-माधवौ—वसन्त; मासानाम्—महीनों में; मार्गशीर्षः—मार्गशीर्ष, माघ (नवम्बर-दिसम्बर); अहम्—मैं हूँ; नक्षत्राणाम्—नक्षत्रों में; तथा—उसी प्रकार; अभिजित्—अभिजित नामक।

सतर्क कालचक्रों में मैं वर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ। महीनों में मैं मार्गशीर्ष तथा नक्षत्रों में शुभ अभिजित हूँ।

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् ॥ २८॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; युगानाम्—युगों में; च—भी; कृतम्—सत्ययुग; धीराणाम्—स्थिर मुनियों में; देवलः—देवल; असितः—असित; द्वैपायनः—कृष्ण द्वैपायन; अस्मि—हूँ; व्यासानाम्—वेदों के संग्रहकर्ताओं में; कवीनाम्—विद्वानों में; काव्यः—शुक्राचार्य; आत्म-वान्—आध्यात्मिक विज्ञान में दक्ष।

युगों में मैं सत्ययुग और स्थिर मुनियों में देवल तथा असित हूँ। वेदों का विभाजन करने वालों में मैं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास हूँ और विद्वानों में मैं आध्यात्मिक विज्ञान का ज्ञाता शुक्राचार्य हूँ।

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किम्पुरुषानां हनुमान्विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥ २९॥

शब्दार्थ

वासुदेवः—भगवान्; भगवताम्—भगवान् नाम के अधिकारियों में; त्वम्—तुम; तु—निस्सन्देह; भागवतेषु—मेरे भक्तों में; अहम्—मैं हूँ; किम्पुरुषाणाम्—किम्पुरुषों में; हनुमान्—हनुमान; विद्याध्राणाम्—विद्याधरों में; सुदर्शनः—सुदर्शन।

भगवान् नाम के अधिकारियों में मैं वासुदेव हूँ तथा हे उद्धव, तुम निस्सन्देह भक्तों में मेरा प्रतिनिधित्व करते हो। मैं किम्पुरुषों में हनुमान हूँ और विद्याधरों में सुदर्शन हूँ।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय का कथन है कि जिसे सारे जीवों की सृष्टि तथा संहार का पूरा पूरा ज्ञान होता है और जो सर्वज्ञ में पूर्णतया स्थित है, वह भगवान् कहलाता है। यद्यपि अनेक महापुरुषों को कभी कभी भगवान् कहा जाता है, किन्तु भगवान् वह महान् जीव है, जिसमें असीम ऐश्वर्य पाया जाता है। समूचे इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण पुरुषों को ''भगवान्'' कहा गया है, किन्तु अन्ततोगत्वा भगवान् एक हैं। भगवान् के *चतुर्व्यूह* में पहला प्राकट्य वासुदेव है, जो यहाँ पर विष्णु तत्त्व कोटि में भगवान् के सारे अंशों का प्रतिनिधित्व करता है।

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

रत्नानाम्—रत्नों में; पद्म-रागः—लाल; अस्मि—हूँ; पद्म-कोशः—कमल की कली; सु-पेशसाम्—सुन्दर वस्तुओं में; कुशः—पवित्र कुश नामक तृण; अस्मि—हूँ; दर्भ-जातीनाम्—सभी प्रकार के तृणों में; गव्यम्—गायसे प्राप्त पदार्थ; आज्यम्—घी की आहुति; हविःषु—हवियों में; अहम्—मैं हूँ।

रत्नों में मैं लाल हूँ और सुन्दर वस्तुओं में कमल की कली हूँ। सभी प्रकार के तृणों में मैं पवित्र कुश हूँ और आहुतियों में घी तथा गाय से प्राप्त होने वाली अन्य सामग्री हूँ।

तात्पर्य : *पञ्च-गव्य* गाय से प्राप्त होने वाली पाँच यज्ञ सामग्रियों का सूचक है। ये हैं दूध, घी, दही, गोबर तथा गोमूत्र। गाय इतनी मूल्यवान होती है उसका गोबर तथा मूत्र भी कृमिनाशक है और यज्ञ में आहुति करने योग्य है। कुश तृण का भी उपयोग धार्मिक अवसरों पर किया जाता है। महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अन्तिम सप्ताह में कुश के आसन पर ही अपने को विराजमान किया था। सुन्दर वस्तुओं में कमल की कली कमल की पंखड़ियों से बनी होती है और भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करती है। रत्नों में लाल भी भगवान् कृष्ण की कौस्तुभ मणि के समान है और यह उनकी शक्ति का प्रतीक है।

**व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

व्यवसायिनाम्—**व्यापारियों में**; अहम्—**मैं हूँ**; लक्ष्मीः—**लक्ष्मी**; कितवानाम्—**कपट करने वालों में**; छल-ग्रहः—**जुए का खेल**; तितिक्षा—**क्षमाशीलता**; अस्मि—**हूँ**; तितिक्षूणाम्—**सहिष्णुओं में**; सत्त्वम्—**अच्छाई**; सत्त्व-वताम्—**सतोगुणियों में**; अहम्—**मैं हूँ**।

व्यापारियों में मैं लक्ष्मी हूँ और कपट करने वालों में मैं जुआ (द्यूत क्रीड़ा) हूँ। सहिष्णुओं में मैं क्षमाशीलता और सतोगुणियों में सद्गुण हूँ।

**ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम् ।
सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥ ३२ ॥**

शब्दार्थ

ओजः—**ऐन्द्रिय बल**; सहः—**तथा मानसिक बल**; बलवताम्—**बलवानों में**; कर्म—**भक्तिमय कर्म**; अहम्—**मैं**; विद्धि—**जानो**; सात्वताम्—**भक्तों में**; सात्वताम्—**भक्तों में**; नव-मूर्तीनाम्—**मेरे नौ रूपों में पूजा करने वाला**; आदि-मूर्तिः—**आदि रूप, वासुदेव**; अहम्—**मैं हूँ**; परा—**परम**।

बलवानों में मैं शारीरिक तथा मानसिक बल हूँ और अपने भक्तों का भक्तिमय कर्म हूँ। मेरे भक्तगण मेरी पूजा नौ विभिन्न रूपों में करते हैं जिनमें से मैं आदि तथा प्रमुख वासुदेव हूँ।

तात्पर्य : सामान्यतया वैष्णवजन भगवान् की पूजा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह तथा ब्रह्मा के रूप में करते हैं। जब ब्रह्मा पद का स्थान लेने वाला उपयुक्त जीव नहीं मिलता, तो भगवान् स्वयं ही यह पद ग्रहण करते हैं, इसीलिए इस सूची में ब्रह्मा का नाम लिया गया है। भगवान् विष्णु कभी कभी इन्द्र के रूप में तो कभी ब्रह्मा के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ विष्णु ही ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुए हैं।

**विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥ ३३ ॥**

शब्दार्थ

विश्वावसुः—**विश्वावसु**; पूर्वचित्तिः—**पूर्वचित्ति**; गन्धर्व-अप्सरसाम्—**गन्धर्वों तथा अप्सराओं में**; अहम्—**मैं हूँ**; भूधराणाम्—**पर्वतों में**; अहम्—**मैं हूँ**; स्थैर्यम्—**स्थिरता**; गन्ध-मात्रम्—**गन्ध की अनुभूति**; अहम्—**मैं हूँ**; भुवः—**पृथ्वी की**।

मैं गन्धर्वों में विश्वावसु तथा स्वर्गिक अप्सराओं में पूर्वचित्ति हूँ। मैं पर्वतों की स्थिरता तथा पृथ्वी की सुगन्ध हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*पुन्यो गन्धः पृथिव्यां च*—मैं पृथ्वी की

सुगन्ध हूँ। पृथ्वी की मूल गन्ध अत्यन्त सुहावनी होती है और वह भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि कृत्रिम रूप से अमोहक गन्धें उत्पन्न की जा सकती हैं, किन्तु वे भगवान् का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; रसः—स्वाद; च—भी; परमः—सर्वश्रेष्ठ; तेजिष्ठानाम्—अत्यन्त तेजवान वस्तुओं में; विभावसुः—सूर्य; प्रभा—तेज; सूर्य—सूर्य का; इन्दु—चन्द्रमा; ताराणाम्—तथा तारों में; शब्दः—ध्वनि; अहम्—मैं हूँ; नभसः—आकाश का; परः—दिव्य।

मैं जल का मधुर स्वाद हूँ और चमकीली वस्तुओं में सूर्य हूँ। मैं सूर्य, चन्द्रमा तथा तारों का प्रकाश हूँ और आकाश में ध्वनित होने वाला दिव्य शब्द हूँ।

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यानाम्—ब्राह्मण संस्कृति के उपासकों में; बलिः—विरोचन का पुत्र, बलि महाराज; अहम्—मैं हूँ; वीराणाम्—वीरों में; अहम्—मैं हूँ; अर्जुनः—अर्जुन; भूतानाम्—समस्त जीवों का; स्थितिः—पालन-पोषण; उत्पत्तिः—उत्पत्ति; अहम्—मैं हूँ; वै—निस्सन्देह; प्रतिसङ्क्रमः—संहार।

ब्राह्मण संस्कृति के उपासकों में मैं विरोचन-पुत्र बलि महाराज हूँ और वीरों में अर्जुन हूँ। निस्सन्देह, मैं समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार हूँ।

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षनम् ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

गति—पाँवों की हरकत (चलना, दौना आदि); उक्ति—वाणी; उत्सर्ग—वीर्यस्खलन; उपादानम्—हाथों से ग्रहण करना; आनन्द—जननांगों का भौतिक सुख; स्पर्श—स्पर्श; लक्षणम्—दृष्टि; आस्वाद—स्वाद; श्रुति—सुनना; अवघ्राणम्—महक, सुगन्ध; अहम्—मैं हूँ; सर्व-इन्द्रिय—सारी इन्द्रियों के; इन्द्रियम्—उनके विषयों को अनुभव करने की शक्ति।

मैं पाँच कर्मेन्द्रियों—पाँव, वाणी, गुदा, हाथ तथा जननांग—के साथ ही पाँच ज्ञानेन्द्रियों—स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, श्रवण तथा गन्ध—का कार्यकलाप हूँ। मैं शक्ति भी हूँ जिससे प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने इन्द्रिय-विषय का अनुभव करती है।

**पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ।
अहमेतत्प्रसङ्ख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ॥ ३७॥**

शब्दार्थ

पृथिवी—पृथ्वी का सूक्ष्म रूप, गंध; वायुः—वायु का सूक्ष्म रूप, स्पर्श; आकाशः—आकाश का सूक्ष्म रूप, ध्वनि; आपः—जल का सूक्ष्म रूप, स्वाद; ज्योतिः—अग्नि का सूक्ष्म रूप, स्वरूप; अहम्—मिथ्या अहंकार; महान्—महत् तत्त्व; विकारः—सोलह तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन); पुरुषः—जीव; अव्यक्तम्—भौतिक प्रकृति; रजः—रजोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; तमः—तमोगुण; परम्—परमेश्वर; अहम्—मैं हूँ; एतत्—यह; प्रसङ्ख्यानम्—उपर्युक्त; ज्ञानम्—उपर्युक्त तत्त्वों के लक्षणों का ज्ञान; तत्त्व-विनिश्चयः—दृढ़ संकल्प, जो कि ज्ञान का फल है।

मैं स्वरूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा ध्वनि; मिथ्या अहंकार, महत् तत्त्व; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश; जीव, भौतिक प्रकृति; सतो, रजो तथा तमोगुण; एवं दिव्य भगवान् हूँ। ये सारी वस्तुएँ, इन सबों के लक्षण तथा इस ज्ञान से उत्पन्न दृढ़ निश्चय भी मैं ही हूँ।

तात्पर्य : इस जगत में अपने निजी ऐश्वर्यों की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद भगवान् अब उन ऐश्वर्यों का सार देते हैं, जो उनके शारीरिक तेज से विस्तार पाते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्ड अपनी अनंत किस्मों, विकारों तथा ऐश्वर्यों समेत भगवान् के शारीरिक तेज में आश्रय पाते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की अपनी टीका में इस बात का विस्तार से वर्णन किया है।

**मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

मया—मुझ; ईश्वरेण—परमेश्वर से; जीवेन—जीव से; गुणेन—प्रकृति के गुणों से; गुणिना—महत् तत्त्व से; विना—रहित; सर्व-आत्मना—विद्यमान सबों की आत्मा; अपि—निस्सन्देह; सर्वेण—प्रत्येक वस्तु; न—नहीं; भावः—उपस्थिति; विद्यते—है; क्वचित्—जो भी।

परमेश्वर के रूप में मैं जीव, प्रकृति के गुणों तथा महत्-तत्त्व का आधार हूँ। इस प्रकार मैं सर्वस्व हूँ और कोई भी वस्तु मेरे बिना विद्यमान नहीं रह सकती।

तात्पर्य : *महत् तत्त्व* तथा *जीव* के प्राकट्य के बिना इस भौतिक जगत में कुछ भी उपस्थित नहीं रह सकता। हमारे द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रत्येक वस्तु जीव तथा सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थ का मिश्रण है। परमेश्वर ही जीव तथा पदार्थ दोनों के अस्तित्व के एकमात्र आधार हैं। परमेश्वर की कृपा के बिना कुछ भी क्षण-भर भी विद्यमान नहीं रह सकता। इसलिए किसी को इस निष्कर्ष पर पहुँचने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए कि भगवान् भौतिक हैं। जैसाकि *भागवत* के इस स्कन्ध में स्पष्ट बतलाया

गया है, जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक प्रकृति से सर्वथा परे हैं। फिर भी जीव में यह स्वप्न देखने की मनोवृत्ति रहती है कि वह भौतिक है, जबकि भगवान् अपनी तथा स्वप्नमग्न बद्धजीव दोनों की स्थिति का निरन्तर स्मरण रखते हैं। जिस तरह भगवान् दिव्य हैं उसी तरह उनका धाम भी प्रकृति के गुणों की पहुँच से बहुत दूर है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य परिपक्व संकल्प द्वारा दिव्य भगवान्, उनके दिव्य धाम, अपनी दिव्य स्थिति तथा भगवद्धाम वापस जाने की विधि को समझना है।

सङ्ख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सङ्ख्यानम्—गणना, गिनती; परम-अणूनाम्—अत्यन्त छोटे कणों की; कालेन—कुछ समय बाद; क्रियते—कर ली जाय; मया—मेरे द्वारा; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; मे—मेरे; विभूतीनाम्—ऐश्वर्यों के; सृजतः—मेरे द्वारा निर्मित; अण्डानि—ब्रह्माण्ड; कोटिशः—करोड़ों।

भले ही मैं कुछ समय में ब्रह्माण्ड के समस्त अणुओं की गणना कर सकूँ, किन्तु असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रदर्शित अपने समस्त ऐश्वर्यों की गणना मैं भी नहीं कर पाऊँगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् यह बतलाते हैं कि उद्धव को उनसे उनके ऐश्वर्यों की पूरी सूची प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे स्वयं भी ऐसे ऐश्वर्यों की कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *कालेन* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् हर अणु के भीतर हैं अतएव वे आसानी से अणुओं की पूरी संख्या तो गिन सकते हैं। पर सर्वज्ञ होते हुए भी, वे अपने ऐश्वर्यों की सही-सही संख्या नहीं बतला सकते क्योंकि वे अनन्त हैं।

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेऽंशकः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तेजः—तेज; श्रीः—सुन्दर, महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ; कीर्तिः—यश; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; ह्रीः—दीनता; त्यागः—वैराग्य; सौभगम्—मन तथा इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला; भगः—सौभाग्य; वीर्यम्—शक्ति; तितिक्षा—सहिष्णुता; विज्ञानम्—आध्यात्मिक ज्ञान; यत्र यत्र—जहाँ भी; सः—यह; मे—मेरा; अंशकः—अंश, विस्तार।

जो भी शक्ति, सौन्दर्य, यश, ऐश्वर्य, दीनता, त्याग, मानसिक आनन्द, सौभाग्य, शक्ति, सहिष्णुता या आध्यात्मिक ज्ञान हो सकता है, वह सब मेरे ऐश्वर्य का अंश है।

तात्पर्य : यद्यपि पिछले श्लोक में भगवान् ने कहा है कि उनके ऐश्वर्य अनन्त हैं किन्तु यहाँ पर वे

अपने ऐश्वर्यों का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः सङ्क्षेपेण विभूतयः ।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; ते—तुमसे; कीर्तिताः—वर्णन किये गये; सर्वाः—सभी; सङ्क्षेपेण—संक्षेप में; विभूतयः—आध्यात्मिक ऐश्वर्य; मनः—मन के; विकाराः—विकार; एव—निस्सन्देह; एते—ये; यथा—तदनुसार; वाचा—शब्दों से; अभिधीयते—प्रत्येक का वर्णन किया जाता है।

मैंने तुमसे संक्षेप में अपने सारे आध्यात्मिक ऐश्वर्यों तथा अपनी सृष्टि के उन अद्वितीय भौतिक गुणों का भी वर्णन किया, जो मन से अनुभव किये जाते हैं और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न तरीकों से परिभाषित होते हैं।

तात्पर्य : संस्कृत व्याकरण के अनुसार तथा जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने पुष्ट किया है *एताः* तथा *एते* शब्द भगवान् के दो प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन करने वाले हैं। भगवान् ने अपने ऐश्वरीय स्वांशों का यथा वासुदेव, नारायण, परमात्मा आदि का वर्णन किया है और उसके बाद भौतिक सृष्टि के प्रमुख गुणों का वर्णन किया है जिनको भगवान् के यशों के अन्तर्गत माना जाता है। भगवान् के स्वांश, यथा वासुदेव, नारायण इत्यादि भगवान् के नित्य अपरिवर्तनशील दिव्य गुण हैं जिनका सूचन *एताः* शब्द द्वारा हुआ है। किन्तु भौतिक सृष्टि के अद्वितीय पक्ष परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं और व्यक्तिगत अनुभूति पर निर्भर करते हैं अतएव उन्हें *मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते* कह कर बतलाया गया है। श्रील जीव गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि पर्यायवाची शब्दों की अविरोध दार्शनिक प्रयुक्ति से *एताः* भगवान् के नित्य आध्यात्मिक स्वरूपों का द्योतन करता है, जो इन्द्रियगम्य नहीं होते, जबकि *एते* उन ऐश्वर्यों का द्योतन करता है, जो बद्धजीवों द्वारा अनुभवगम्य हैं। वे यह उदाहरण देते हैं कि राजा की साज-सामग्री तथा उसके अन्तरंगी उसके भिन्नांश माने जाते हैं, इसलिए उन्हें राजसी पद प्रदान किया जाता है; इसी तरह भौतिक सृष्टि के ऐश्वर्यमय गुण भगवान् के निजी ऐश्वर्यों के रूप में प्रतिबिम्बित अंश होते हैं, अतएव उन्हें उनसे अभिन्न माना जा सकता है। किन्तु भूलकर भी यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसे नगण्य भौतकि ऐश्वर्य भगवान् के स्वांश जैसे हैं, जो गुणात्मक तथा मात्रात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है। ''भगवान् के बाह्य

ऐश्वर्य *मनोविकार* कहलाते हैं क्योंकि सामान्य लोग भौतिक जगत के अद्वितीय गुण को अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार अनुभव करते हैं। इस तरह *वाचाभिधीयते* शब्द यह सूचित करता है कि बद्धजीव विशिष्ट भौतिक दशाओं के अनुसार ही भगवान् की भौतिक सृष्टि का वर्णन करते हैं। भौतिक ऐश्वर्य की प्रासंगिक तुलनात्मक परिभाषाओं के कारण ऐसे ऐश्वर्य को भगवान् के निजी रूप का प्रत्यक्ष स्वांश नहीं माना जाता। जब मनुष्य के मन की दशा किसी अनुकूल या स्नेहमयी दशा में परिणत हो जाती है, तो वह भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति की परिभाषा, 'मेरा पुत्र,' 'मेरा पिता,' 'मेरा पति,' 'मेरा चाचा,' 'मेरा भतीजा,' 'मेरा मित्र' इत्यादि के रूप में करता है। वह यह भूल जाता है कि हर जीव वास्तव में भगवान् का भिन्नांश है और मनुष्य जो भी ऐश्वर्य, प्रतिमा या असाधारण गुण प्रदर्शित करता है, वे वास्तव में भगवान् की शक्तियाँ हैं। इसी तरह जब मनुष्य का मन शत्रु बनता है, तो वह सोचता है, ''यह व्यक्ति मेरा सर्वनाश कर देगा' 'मुझे इसका अन्त कर देना चाहिए' 'यह मेरा शत्रु है' या'मैं इसका शत्रु हूँ', 'वह हन्ता है' अथवा 'उसका वध होना चाहिए'। ऐसी ही मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति तब भी होती है जब वह विशेष व्यक्तियों या वस्तुओं के असाधारण गुणों के प्रति आकृष्ट होता है किन्तु यह भूल जाता है कि ये वस्तुएँ भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि भगवान् के भौतिक ऐश्वर्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति स्वरूप इन्द्र तक को लोग गलत समझते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र-पत्नी शची सोचती है कि, ''इन्द्र मेरे पति हैं' जबकि अदिति इन्द्र को अपना 'पुत्र' मानती है। जयन्त सोचता है कि इन्द्र मेरे 'पिता' हैं। बृहस्पति सोचते हैं कि वह मेरा शिष्य है और असुरगण सोचते हैं कि इन्द्र उनका निजी शत्रु है। इस तरह भिन्न भिन्न लोग उसकी परिभाषा अपनी अपनी मानसिक दशा के अनुसार करते हैं। इसीलिए भगवान् के भौतिक ऐश्वर्य, जो तुलनात्मक दृष्टि से अनुभव किए जाते हैं, *मनोविकार* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे मानसिक दशा पर निर्भर करते हैं। ऐसी अनुभूति भौतिक है क्योंकि इसमें भगवान् को उस विशेष ऐश्वर्य का वास्तविक स्रोत नहीं माना जाता। यदि कोई मनुष्य भगवान् कृष्ण को समस्त ऐश्वर्यों का स्रोत मानता है और भगवान् के ऐश्वर्यों को पाने या उनका भोग करने की सारी इच्छाएँ त्याग देता है, तो वह इन ऐश्वर्यों के आध्यात्मिक स्वभाव को देख सकता है। उस समय, भले ही वह भौतिक जगत की विविधता या विशेषताओं का अनुभव करता रहे, तो भी वह कृष्णभावनामृत में परिपूर्ण बन जाता है। मनुष्य को शून्यवादियों की तरह

यह नहीं सोचना चाहिए कि *विष्णु तत्त्व* में भगवान् की दिव्य अभिव्यक्ति तथा मुक्त जीव भी तुलनात्मक अनुभूति के मनोविकार हैं। ऐसा व्यर्थ का विचार श्री उद्धव को भगवान् द्वारा दी गई सारी शिक्षाओं से सर्वथा विपरीत है।''

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *वाचा* शब्द विविध वैदिक वाङ्मय का भी द्योतक है, जो उन विधियों का वर्णन करता है जिनसे भगवान् अपना आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। इस प्रसंग में *यथा* शब्द अभिव्यक्ति तथा सृष्टि की विशिष्ट विधियों का सूचक है।

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्यच्छेद्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥ ४२॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; यच्छ—संयम में रखो; मनः—मन को; यच्छ—संयम में रखो; प्राणान्—अपने श्वास को; यच्छ—संयम में रखो; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; च—भी; आत्मानम्—बुद्धि को; आत्मना—विमल बुद्धि से; यच्छ—संयम में रखो; न—कभी नहीं; भूयः—फिर; कल्पसे—तुम नीचे गिरोगे; अध्वने—संसार के मार्ग पर।

अतएव अपनी वाणी पर संयम रखो, मन को दमित करो, प्राण-वायु पर विजय पाओ, इन्द्रियों को नियमित करो तथा विमल बुद्धि के द्वारा अपनी विवेकपूर्ण प्रतिभा को अपने वश में करो। इस तरह तुम पुनः भौतिक जगत के पथ पर कभी च्युत नहीं होगे।

तात्पर्य : समस्त वस्तुओं को भगवान् की शक्ति के अंशों के रूप में देखना चाहिए और इस तरह मनसावाचाकर्मणा, बिना किसी जीव या वस्तु का महत्त्व कम करते हुए, सारी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव प्रकट करना चाहिए। चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतएव हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में होना चाहिए। स्वरूपसिद्ध भक्त अपना अपमान सह लेता है और किसी जीव से द्वेष नहीं रखता, न ही वह किसी को अपना शत्रु समझता है। यही व्यावहारिक प्रबुद्धता है। यद्यपि शुद्ध भक्त ऐसे लोगों की, जो भगवान् के मिशन में बाधक बनते हैं आलोचना कर सकता है, किन्तु ऐसी आलोचना व्यक्तिगत स्तर पर या किसी द्वेष के वशीभूत होकर नहीं की जाती। एक बढ़ा-चढ़ा भक्त अपने अनुयायियों को प्रताड़ित कर सकता है या आसुरी लोगों की आलोचना कर सकता है, किन्तु वह भगवान् के मिशन को अग्रसारित करने के उद्देश्य से ही ऐसा करता है, किसी व्यक्तिगत शत्रुता या ईर्ष्या-द्वेषवश नहीं। जिसने सांसारिकता को पूर्णरूपेण त्याग दिया है, उसके लिए जन्म-मृत्यु के पथ पर पुनः चलने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**यो वै वाङ्मनसी संयगसंयच्छन्धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो दानं स्त्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; वाक्-मनसी—वाणी तथा मन; संयक्—पूरी तरह; असंयच्छन्—नियंत्रण में न रखते हुए; धिया—बुद्धि से; यतिः—अध्यात्मवादी; तस्य—उसका; व्रतम्—व्रत; तपः—तपस्या; दानम्—दान; स्त्रवति—बह जाता है; आम—कच्चे; घट—पात्र में; अम्बु-वत्—जल के समान।.

जो योगी अपनी श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा अपनी वाणी तथा मन पर पूरा नियंत्रण नहीं रखता, उसके आध्यात्मिक व्रत, तपस्या तथा दान उसी तरह बह जाते हैं जिस तरह कच्चे मिट्टी के घड़े से पानी बह जाता है।

तात्पर्य : पकाये हुए घड़े में रखी हुई कोई भी तरल वस्तु उसमें से बाहर नहीं निकलती। किन्तु यदि घड़ा कच्चा हो तो उसके भीतर भरा गया जल या अन्य तरल बह कर निकल जायेगा। इसी तरह जो योगी अपनी वाणी तथा मन को वश में नहीं रखता उसके आध्यात्मिक अनुशासन तथा तपस्या धीरे धीरे क्षीण हो जाते हैं। *दान* सूचक है अन्यों के कल्याण के लिए किए गये कार्य का। जो लोग कृष्णभावनामृत का प्रचार करके सर्वोच्च दान देने का प्रयास कर रहे हैं, उन्हें चाहिए कि वे न तो सुन्दर स्त्रियों की तुष्टि के लिए बातें करें, न ही संसारी बौद्धिक प्रतिष्ठा के प्रयास में बनावटी बुद्धिमत्ता दिखायें, न ही वे यौन सम्बन्ध के इच्छुक बनें, न प्रतिष्ठा का कोई पद पाने के लिए दिवास्वप्न देखें। अन्यथा, कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने का उनका दृढ़ संकल्प जाता रहेगा, जिसका वर्णन यहाँ हुआ है। मनुष्य को अपने मन, इन्द्रियों तथा वाणी पर उच्च बुद्धि द्वारा नियंत्रण रखना चाहिए जिससे जीवन सफल बन सके।

**तस्माद्वचो मनः प्राणान्नियच्छेन्मत्परायणः ।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥ ४४ ॥**

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; वचः—शब्द; मनः—मन; प्राणान्—तथा प्राणों को; नियच्छेत्—नियंत्रण में रखे; मत्-परायणः—मेरे प्रति श्रद्धावान्; मत्—मुझ पर; भक्ति—भक्ति से; युक्तया—युक्त; बुद्ध्या—ऐसी बुद्धि से; ततः—इस प्रकार; परिसमाप्यते—जीवन-लक्ष्य पूरा करता है।.

मेरे शरणागत होकर मनुष्य को वाणी, मन तथा प्राण पर नियंत्रण रखना चाहिए और तब भक्तिमयी बुद्धि के द्वारा वह अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा कर सकेगा।

तात्पर्य : ब्राह्मण दीक्षा के समय प्रदत्त ब्रह्मगायत्री मंत्र के उच्चारण से मनुष्य भक्तिमयी बुद्धि विकसित कर सकता है। विमल बुद्धि द्वारा, मनुष्य मनोधर्म तथा सकाम कर्म द्वारा प्रदत्त फलों से विरत हो जाता है और भगवान् की संपूर्ण शरण ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् की विभूतियाँ" नामक सोलहवें अध्याय का श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुआ।

Chapter सत्रह

भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन

भगवान् श्रीकृष्ण हंस का रूप धारण करके ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ आश्रमों के कार्यों का वर्णन कर चुके थे। अब इस अध्याय में वे इन्हीं की अधिक चर्चा उद्धव से करते हैं।

जब उद्धव श्रीकृष्ण से वर्णाश्रम धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के विषय में जिज्ञासा करते हैं, तो भगवान् उत्तर देते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही सामाजिक व्यवस्था थी जिसे *हंस* कहते हैं। उस युग में लोग जन्म से ही शुद्ध भक्ति के प्रति समर्पित रहते थे और चूँकि हर व्यक्ति सभी प्रकार से पूर्ण होता था इसलिए वह युग कृतयुग कहलाता था। तब वेद ॐ नामक पवित्र अक्षर के रूप में प्रकट थे और भगवान् की अनुभूति धर्म रूप चतुष्पाद वृषभ के रूप में मन के भीतर की जाती थी। तब यज्ञ विधि का सूत्रपात नहीं हुआ था और निष्पाप लोग स्वभाव से तपोन्मुखी होने के कारण भगवान् के साकार रूप का ध्यान करते थे। इसके बाद त्रेतायुग में भगवान् के हृदय से तीन वेद प्रकट हुए और उन्हीं से यज्ञ-अग्नि के तीन रूप प्रकट हुए। उसी समय भगवान् के शरीर के अंगों से चार वर्णों तथा चार आश्रमों का उद्भव हुआ जो समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं। भगवान् के ऊपरी तथा निचले अंगों से जन्म लेने के अनुसार इन वर्णाश्रमों में उच्च तथा निम्न गुण आये। इस वर्णन के बाद भगवान् कृष्ण चारों वर्णों के तथा इन वर्णों के बाहर के लोगों के स्वभावों की व्याख्या करते हैं। वे सामान्य मानवता से सम्बद्ध गुणों का भी वर्णन करते हैं।

उच्च आश्रमों के सदस्य दूसरा जन्म स्वीकार कर सकते हैं। उपनयन संस्कार के बाद उन्हें गुरुकुल जाना होता है। छात्र (ब्रह्मचारी) को शान्तचित्त होकर वेदाध्ययन में लीन होना चाहिए। उसे चोटी

रखनी चाहिए। उसे दाँत साफ करना, अपने लिए अच्छा आसन बनाना, स्नान या शौच करते समय बातें करना, बाल तथा नाखुन कटाना या वीर्यस्खलन करना वर्जित रहता है। उसे दिन में तीन बार संध्या-अर्चन करना चाहिए और ईर्ष्यामुक्त होकर अपने गुरु की सेवा करनी चाहिए। ब्रह्मचारी को भिक्षा में जो भी भोजन तथा अन्य वस्तुएँ मिलें, उन्हें लाकर अपने गुरु को अर्पित करना चाहिए। भगवान् का भोग लगाने पर जो मिले उससे ही पेट-पालन करना चाहिए। उसे अपने गुरु के पाँव दबाने चाहिए, गुरु की पूजा करनी चाहिए और समस्त इन्द्रियतृप्ति से बच कर ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना चाहिए। उसे मनसावाचाकर्मणा परमात्मा रूप में भगवान् की पूजा बताई गई विधि से करनी चाहिए। ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों को देखना, छूना, उनसे बातें करना या उनके साथ खिलवाड़ करना पूर्णतया वर्जित है। सभी वर्णाश्रम-सदस्यों को स्वच्छता का तथा जल द्वारा शुद्धि का निर्वाह करना चाहिए। हर एक को यह भी सलाह दी जाती है कि वह सदैव स्मरण रखे कि भगवान् सबों के हृदयों में वास करते हैं।

वेदों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के बाद, जिस ब्राह्मण में भौतिक इच्छाएँ हों वह अपने गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है। अन्यथा, यदि वह भौतिक इच्छाओं से रहित है, तो वह वानप्रस्थ या संन्यासी बन सकता है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते समय, क्रम का ध्यान रखना होता है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए इच्छुक व्यक्ति को अपनी ही जाति की, जो आपत्तिजनक नहीं है, अपने से कम उम्र वाली पत्नी स्वीकार करनी चाहिए।

द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णों के अनिवार्य कर्तव्य हैं—भगवान् की पूजा, वेदाध्ययन तथा दान देना। दान लेना, अन्यों को पढ़ाना तथा अन्यों के लिए यज्ञ करना—ये वृत्तिपरक कर्तव्य केवल ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं। यदि कोई ब्राह्मण यह सोचता है कि इन कर्तव्यों में संलग्न होने से उसकी चेतना दूषित होती है, तो वह खेतों से अन्न बीन कर अपनी जीविका चला सकता है। यदि वह दरिद्रता से विचलित हो जाय तो वह क्षत्रिय या वैश्य का पेशा अपना सकता है किन्तु उसे शूद्र का पेशा कभी नहीं अपनाना चाहिए। ऐसी ही परिस्थिति में एक क्षत्रिय वैश्य का पेशा (वृत्ति) अपना सकता है और एक वैश्य शूद्र की वृत्ति ग्रहण कर सकता है। किन्तु जब आपात्काल बीत जाय तो निम्न वृत्ति में बने रहना ठीक नहीं है। अपने निजी कर्तव्य में स्थिर ब्राह्मण क्षुद्र भौतिक इच्छाएँ त्याग देता है, वैष्णवों की सेवा करता है और भगवान् के संरक्षण में रहता है। गृहस्थ को प्रतिदिन वेदाध्ययन करना

चाहिए और अपनी वृत्ति की मेहनत की कमाई से अपने आश्रितों का लालन-पालन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, उसे अनुष्ठानिक यज्ञों (कर्मकाण्ड) द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भौतिक जीवन से निर्लिप्त रह कर तथा भगवद्भक्ति में दृढ़ रहते हुए, गृहस्थ अन्त में वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर सकता है, जिससे वह अपने को पूरी तरह भगवान् की पूजा में लगा सके। यदि उसका पुत्र वयस्क हो चुका हो, तो वह सीधे संन्यास ग्रहण कर सकता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति जो स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आसक्त रहते हैं, जिनका कोई दृढ़ संकल्प नहीं होता और जो सम्पत्ति के पीछे दीवाने रहते हैं, वे निरन्तर अपने परिवार वालों के कल्याण की चिन्ता में मग्न रहते हैं और अगले जन्म में निम्न योनि में जन्म लेते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
वर्णाशमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यः—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहितः—कहा गया; पूर्वम्—पहले; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; त्वत्-भक्ति-लक्षणः—अपनी भक्ति के लक्षणों से युक्त; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचारवताम्—श्रद्धालु अनुयायियों के; सर्वेषाम्—समस्त; द्वि-पदाम्—सामान्य मनुष्यों के (जो वर्णाश्रम प्रणाली नहीं अपनाते); अपि—भी; यथा—के अनुसार; अनुष्ठीयमानेन—सम्पन्न किये जाने की विधि; त्वयि—तुममें; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; नृणाम्—मनुष्यों में; भवेत्—हो सके; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्य से; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनयन; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्यातुम्—बतलाना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, इसके पूर्व आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों द्वारा तथा सामान्य अनियमित मनुष्यों द्वारा भी अनुकरण किये जाने वाले भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। हे कमलनयन, अब कृपा करके मुझे बतलाइये कि इन नियत कर्तव्यों को समपन्न करके सारे मनुष्य किस तरह आपकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अष्टांग-योग की विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। अब उद्धव यह पूछते हैं कि जो लोग कर्म-योग की ओर उन्मुख होते हैं, वे किस तरह जीवन-सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि वे ही वर्णाश्रम प्रणाली के स्रष्टा हैं। *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः।* इसलिए

वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए। शुद्ध भक्ति प्राप्त करने की सबसे सरल विधि है भगवद्भक्तों की संगति करना। यदि कोई व्यक्ति विनीत होकर तथा श्रद्धा भाव से शुद्ध भक्तों की संगति करता है, तो उसे तुरन्त ही जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को वर्णाश्रम प्रणाली की सारी औपचारिकताएँ नहीं करनी पड़तीं क्योंकि भगवत्प्रेम में लीन होने के कारण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समस्त इन्द्रियतृप्ति तथा मनोरथों को स्वतः त्याग देता है। जो मनुष्य वर्णाश्रम प्रणाली का पालन कहीं करते, उन्हें यहाँ पर *द्वि-पदाम्*—दो पैरों वाला कहा गया है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति जीवन के धार्मिक पथ का अनुसरण नहीं करता, वह दो पैर होने के कारण *द्विपदाम्* कहलाता है। सामान्य पशु तथा कीड़े भी खाने, सोने, संभोग करने तथा अपनी रक्षा करने में लगे रहते हैं। किन्तु मनुष्य ऐसी निम्न योनियों से भिन्न माना जाता है क्योंकि उसमें धार्मिक बनने और अन्ततः शुद्ध कृष्णभावनामृत में ईश्वर से प्रेम करने की क्षमता पाई जाती है।

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३ ॥
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; किल—निस्सन्देह; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; धर्मम्—धार्मिक नियमों को; परमकम्—महानतम सुख प्रदान करने वाला; प्रभो—हे प्रभु; यत्—जो; तेन—उससे; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; ब्रह्मणे—ब्रह्मा को; अभ्यात्थ—आपने कहा; माधव—हे माधव; सः—वही (धर्म का ज्ञान); इदानीम्—इस समय; सु-महता—अत्यन्त लम्बे; कालेन—समय के बाद; अमित्र-कर्शन—शत्रु के दमनकर्ता; न—नहीं; प्रायः—सामान्यतया; भविता—होगा; मर्त्य-लोके—मानव समाज में; प्राक्—पहले; अनुशासितः—उपदेश दिया गया।

हे प्रभु, हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, आपने इसके पूर्व अपने हंस रूप में ब्रह्माजी से उन धार्मिक सिद्धान्तों का कथन किया है, जो अभ्यासकर्ता को परम सुख प्रदान करने वाले हैं। हे माधव, तब से अब काफी काल बीत चुका है और हे शत्रुओं के दमनकर्ता, आपने जो उपदेश पहले दिया था उसका महत्त्व शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा।

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वक्ता—बोलने वाला; कर्ता—सृजन करने वाला; अविता—रक्षक; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; धर्मस्य—सर्वोच्च धार्मिक नियमों का; अच्युत—हे अच्युत; ते—आपकी अपेक्षा; भुवि—पृथ्वी पर; सभायाम्—सभा में; अपि—भी; वैरिञ्च्याम्—ब्रह्मा की; यत्र—जहाँ पर; मूर्ति-धराः—साकार रूप में; कलाः—वेद; कर्त्रा—कर्ता या स्रष्टा द्वारा; अवित्रा—रक्षक द्वारा; प्रवक्त्रा—बोलने वाले के द्वारा, वक्ता द्वारा; च—भी; भवता—आपके द्वारा; मधुसूदन—हे मधुसूदन; त्यक्ते—छोड़ देने पर; मही-तले—पृथ्वी पर; देव—मेरे स्वामी; विनष्टम्—वे विनष्ट हुए धर्म के नियम; कः—कौन; प्रवक्ष्यति—कहेगा।

हे अच्युत, इस पृथ्वी पर या ब्रह्मा की सभा तक में, परम धार्मिक नियमों का आपके सिवा कोई ऐसा वक्ता, स्रष्टा तथा रक्षक नहीं है जहाँ साक्षात् वेद निवास करते हैं। इस तरह हे मधुसूदन, जब आध्यात्मिक ज्ञान के स्रष्टा, रक्षक तथा प्रवक्ता आप ही पृथ्वी का परित्याग कर देंगे, तो इस विनष्ट ज्ञान को फिर से कौन बतलायेगा?

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; त्वम्—तुम; नः—हम (मनुष्यों) के बीच; सर्व-धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों के परम ज्ञाता; धर्मः—आध्यात्मिक पथ; त्वत्-भक्ति—आपकी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों वाले; यथा—जिस तरह से; यस्य—जिसका; विधीयेत—सम्पन्न किया जा सके; तथा—उस तरह से; वर्णय—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे प्रभु, समस्त धार्मिक नियमों का ज्ञाता होने के कारण आप मुझसे उन मनुष्यों का वर्णन करें जो आपके भक्ति-मार्ग को सम्पन्न कर सकें और यह भी बतायें कि ऐसी भक्ति कैसे की जाती है?

श्रीशुक उवाच
इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान्हरिः ।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; स्व-भृत्य-मुख्येन—अपने श्रेष्ठ भक्तों द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; सः—वह; भगवान्—भगवान्; हरिः—श्रीकृष्ण; प्रीतः—प्रसन्न हुए; क्षेमाय—कल्याण के लिए; मर्त्यानाम्—समस्त बद्धजीवों के; धर्मान्—धार्मिक नियमों को; आह—कहा; सनातनान्—नित्य।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्त प्रवर, श्री उद्धव, ने इस तरह भगवान् से प्रश्न किया, तो यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और उन्होंने समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु उन धार्मिक नियमों को बतलाया जो शाश्वत हैं।

श्रीभगवानुवाच
धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; धर्म्यः—धर्म के प्रति आज्ञाकारी; एषः—यह; तव—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न; नैःश्रेयस-करः—शुद्ध भक्ति का कारण; नृणाम्—सामान्य मनुष्यों के लिए; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचार-वताम्—पालन करने वालों के लिए; तम्—उन सर्वोच्च धार्मिक नियमों को; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, तुम्हारा प्रश्न धार्मिक नियमों के अनुकूल है, अतः यह सामान्य मनुष्यों को तथा वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले दोनों ही को जीवन में सर्वोच्च सिद्धि, अर्थात् शुद्ध भक्ति को जन्म देता है। अब तुम मुझसे उन परम धार्मिक नियमों को सीखो।

तात्पर्य : *नैश्रेयस-कर* शब्द उसे सूचित करता है, जो जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—प्रदान करता है, जिसका वर्णन श्री उद्धव से भगवान् कर रहे हैं। धार्मिक नियमों पर विचार करते समय सामान्य मनुष्य साम्प्रदायिक सांसारिक विचारों में फँसे रहते हैं। जो विधि जीवन की सर्वोच्च सिद्धि दिला सके, उसे ही मनुष्यों के लिए परम शुभ मानना चाहिए। वर्णाश्रम प्रणाली इस पृथ्वी पर धार्मिकता की सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रस्तुति करती है और जो लोग इस प्रणाली में सिद्धहस्त होते हैं, वे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं अर्थात् हर वस्तु परमेश्वर की तुष्टि के लिए समर्पित करते हैं।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आदौ—(कल्प के) प्रारम्भ में; कृत-युगे—सत्ययुग में; वर्णः—सामाजिक श्रेणी; नृणाम्—मनुष्यों की; हंसः—हंस नामक; इति—इस प्रकार; स्मृतः—विख्यात; कृत-कृत्याः—परमेश्वर की पूर्ण शरणागति द्वारा कर्तव्यों केपालन में दक्ष; प्रजाः—जनता; जात्या—जन्म से; तस्मात्—इसलिए; कृत-युगम्—कृतयुग में अथवा ऐसे युग में जिसमें सारे कर्तव्य पूरे होते हैं; विदुः—विद्वान लोग जानते थे।

प्रारम्भ में सत्ययुग में केवल एक सामाजिक श्रेणी थी जिसे हंस कहते थे जिससे सारे मनुष्य सम्बद्ध होते थे। उस युग में सारे लोग जन्म से शुद्ध भगवद्भक्त होते थे, इसलिए विद्वान लोग इस प्रथम युग को कृत-युग कहते हैं अर्थात् ऐसा युग जिसमें सारे धार्मिक कार्य अच्छी तरह पूरे होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि भगवान् की शरण में जाना ही परम धर्म है। सत्ययुग में प्रकृति के निम्न गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए सारे मनुष्य उच्च आश्रम से, जिसे हंस कहते हैं, सम्बन्धित होते हैं, जिसमें मनुष्य भगवान् के सीधे संरक्षण में रहता है। वर्तमान युग में लोग सामाजिक समता के लिए चिल्लाते हैं, किन्तु जब तक लोग सतोगुण को प्राप्त नहीं करते, जो शुद्धता और अनन्य भक्ति की स्थिति है, तब तक सामाजिक समता सम्भव नहीं है। जैसे जैसे निम्न गुणों का प्राधान्य होता जाता है, त्यों त्यों गौण धार्मिक नियमों का उदय होता है, जिससे लोग धीरे धीरे ईश्वर की पूर्ण शरणागति की शुद्ध अवस्था को प्राप्त होते जाते हैं। सत्ययुग में निकृष्ट व्यक्ति नहीं पाये जाते इसलिए गौण धार्मिक नियमों की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से भगवान् की शुद्ध भक्ति करता है और इस तरह सारे धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करता है। जो व्यक्ति सारे कर्तव्यों को ठीक से पूरा करता है, वह *कृतकृत्य* कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। इसीलिए सत्ययुग कृत-युग कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *आदौ* शब्द ब्रह्माण्ड की सृष्टि के क्षण का सूचक है। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम प्रणाली कोई अर्वाचीन कल्पना नहीं है अपितु सृष्टि के साथ यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है; इसलिए सभी बुद्धिमान व्यक्तियों को चाहिए कि इसे मान लें।

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वेदः—वेद; प्रणवः—ओऊम नामक पवित्र अक्षर; एव—निस्सन्देह; अग्रे—सत्ययुग में; धर्मः—मानसिक कार्यों का लक्ष्य; अहम्—मैं; वृष-रूप-धृक्—धर्म रूप बैल का रूप धारण करके; उपासते—वे पूजा करते हैं; तपः-निष्ठाः—तप में रत; हंसम्—भगवान् हंस; माम्—मुझको; मुक्त—रहित; किल्बिषाः—सारे पापों से।

सत्ययुग में अविभाज्य वेद ओउम् अक्षर (ऊंकार) द्वारा व्यक्त किया जाता है और मैं ही एकमात्र मानसिक कार्यों का लक्ष्य (धर्म) हूँ। मैं चार पैरों वाले धर्म रूपी बैल के रूप में प्रकट होता हूँ जिससे सत्ययुग के निवासी, तपस्यानिष्ठ तथा पापरहित होकर, भगवान् हंस के रूप में मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१.१७.२४) में धर्मरूपी बैल का वर्णन हुआ है—*तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः*—सत्ययुग में, आपके चार पाँव तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य के चार सिद्धान्तों द्वारा स्थापित हुए थे। श्री व्यासदेव ने द्वापर के अन्त में एक वेद को चार में—ऋग, यजुः,

साम तथा अथर्ववेद—में विभाजित कर दिया किन्तु सत्ययुग में सारा वैदिक ज्ञान केवल ॐकार द्वारा ही समझा जा सकता है। इस युग में यज्ञ जैसा कोई अनुष्ठान कार्य नहीं होता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति निष्पाप, तपस्वी तथा भगवान् हंस के ध्यान में मग्न रहता है।

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

त्रेता-मुखे—त्रेता युग के प्रारम्भ में; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; प्राणात्—प्राण के स्थान से; मे—मेरे; हृदयात्—हृदय से; त्रयी—तीन; विद्या—वैदिक ज्ञान; प्रादुरभूत्—प्रकट हुआ; तस्याः—उस ज्ञान से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; त्रि-वृत्—तीन विभागों में; मखः—यज्ञ।

हे परम भाग्यशाली, त्रेता युग के प्रारम्भ में, प्राण के स्थान से, जो कि मेरा हृदय है, वैदिक ज्ञान तीन विभागों में प्रकट हुआ—ये हैं—ऋग, साम तथा यजुः। तत्पश्चात् उस ज्ञान से मैं तीन यज्ञों के रूप में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : त्रेता युग में धर्मरूपी बैल का एक पाँव नष्ट हो जाता है और धर्म का पचहत्तर प्रतिशत ही तीन वेदों—ऋग, साम तथा यजुः वेदों के रूप में प्रकट होता है। तब भगवान् तीन वैदिक यज्ञों की विधि में प्रकट होते हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार हैं। *होता* अग्नि में आहुति डालता है और ऋग्वेद का उच्चारण करता है, *उद्गाता* सामवेद का उच्चारण करता है और *अध्वर्यु,* जो कि यज्ञशाला की तैयारी करता है, वह यजुर्वेद का उच्चारण करता है। त्रेता युग में ऐसा यज्ञ ही आध्यात्मिक सिद्धि की प्रामाणिक विधि है। इस श्लोक में *प्राणात्* शब्द भगवान् के विश्व-रूप का द्योतक है। इस रूप का अधिक वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विप्र—ब्राह्मण; क्षत्रिय—क्षत्रिय; विट्—वैश्य; शूद्राः—शूद्र, मजदूर; मुख—मुँह; बाहु—भुजाओं; ऊरु—जाँघों; पाद—तथा पाँवों से; जाः—उत्पन्न; वैराजात्—विराट रूप से; पुरुषात्—भगवान् से; जाताः—उत्पन्न; ये—जो; आत्म—निजी; आचार—कार्यकलाप द्वारा; लक्षणाः—पहचाने जाते हैं।

त्रेता युग में भगवान् के विराट रूप से चार जातियाँ प्रकट हुईं। ब्राह्मण भगवान् के मुँह से, क्षत्रिय भगवान् की बाँहों से, वैश्य भगवान् के जंघों से तथा शूद्र उस विराट रूप के पाँवों से

प्रकट हुए। प्रत्येक विभाग को उसके विशिष्ट कर्तव्यों तथा आचार-व्यवहारसे पहचाना गया।

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।
वक्षःस्थलाद्वनेवासः सन्न्यासः शिरसि स्थितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

गृह-आश्रमः—विवाहित जीवन; जघनतः—जाँघों से; ब्रह्मचर्यम्—विद्यार्थी जीवन; हृदः—हृदय से; मम—मेरे; वक्षः-स्थलात्—वक्षस्थल से; वने—जंगल में; वासः—निवास करते हुए; सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; शिरसि—सिर पर; स्थितः—स्थित।.

विवाहित जीवन मेरे विश्व रूप के जघन प्रदेश से प्रकट हुआ और ब्रह्मचारी विद्यार्थी मेरे हृदय से निकले। जंगल में निवास करने वाला विरक्त जीवन मेरे वक्षस्थल से प्रकट हुआ तथा संन्यास मेरे विश्व रूप के सिर के भीतर स्थित था।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी जीवन की दो श्रेणियाँ हैं। *नैष्ठिकि ब्रह्मचारी*—आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, जबकि *उपकुर्वाण ब्रह्मचारी* विद्यार्थी जीवन समाप्त करके विवाह कर लेता है। जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, वह भगवान् कृष्ण के हृदय में वास करता है, किन्तु जो अन्ततः विवाह कर लेते हैं, वे भगवान् के विराट रूप के जघन प्रदेश में स्थित होते हैं। *वने-वासः* द्योतक है वानप्रस्थ का जो भगवान् के वक्षस्थल में स्थित है।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः ।
आसन्प्रकृतयो नृनां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

वर्णानाम्—वृत्तिपरक विभागों में; आश्रमाणाम्—सामाजिक विभागों में; च—भी; जन्म—जन्म; भूमि—स्थान के; अनुसारिणीः—के अनुसार; आसन्—प्रकट हुए; प्रकृतयः—प्रकृतियाँ; नृणाम्—मनुष्यों में; नीचैः—निम्न पृष्ठभूमि द्वारा; नीच—नीच प्रकृति; उत्तम—श्रेष्ठ पृष्ठभूमि द्वारा; उत्तमाः—उत्तम प्रकृतियाँ।.

प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के समय की निम्न तथा उच्च प्रकृतियों के अनुसार मानव समाज के विविध वृत्तिपरक (वर्ण) तथा सामाजिक (आश्रम) विभाग प्रकट हुए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ब्राह्मण तथा संन्यासी भगवान् के विराट रूप के सिर पर स्थित होने से अत्यन्त योग्य माने जाते हैं जबकि शूद्र तथा गृहस्थ भगवान् के पाँवों या जाँघों में होने से निम्न पद पर माने जाते हैं। जीव एक निश्चित बुद्धि, सौन्दर्य तथा सामाजिक परिवेश के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए वह वर्णाश्रम प्रणाली में किसी एक वृत्तिपरक तथा सामाजिक पद में स्थित

होता है। वैसे ऐसे पद बाह्य उपाधि हैं किन्तु क्योंकि अधिकांश व्यक्ति भगवान् की माया द्वारा बद्ध होते हैं इसलिए उन्हें तब तक वैज्ञानिक वर्णाश्रम विभागों के अनुसार कर्म करना चाहिए जब तक वे *जीव-मुक्त* अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेते।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शमः—शान्ति; दमः—इन्द्रिय-संयम; तपः—तपस्या; शौचम्—शुद्धि; सन्तोषः—पूर्ण सन्तुष्टि; क्षान्तिः—क्षमाशीलता; आर्जवम्—सादगी, सीधापन; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; च—भी; दया—दया; सत्यम्—सत्य; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धि, सन्तोष, सहनशीलता, सहज स्पष्टवादिता, मेरी भक्ति, दया तथा सत्य—ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मन्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तेजः—तेज; बलम्—शारीरिक बल; धृतिः—संकल्प; शौर्यम्—शूरवीरता; तितिक्षा—सहिष्णुता; औदार्यम्—उदारता; उद्यमः—प्रयत्न; स्थैर्यम्—स्थिरता; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों की सेवा के लिए सदैव तत्पर; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; क्षत्र—क्षत्रियों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

तेजस्विता, शारीरिक बल, संकल्प, बहादुरी, सहनशीलता, उदारता, महान् प्रयास, स्थिरता, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति तथा नायकत्व—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आस्तिक्यम्—वैदिक सभ्यता में विश्वास; दान-निष्ठा—दानशीलता; च—भी; अदम्भः—दिखावटीपन का अभाव; ब्रह्म-सेवनम्—ब्राह्मणों की सेवा; अतुष्टिः—असंतुष्ट रहने का भाव; अर्थ—धन का; उपचयैः—संग्रह द्वारा; वैश्य—वैश्य के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

वैदिक सभ्यता में विश्वास, दानशीलता, दिखावे से दूर रहना, ब्राह्मणों की सेवा करना तथा अधिकाधिक धन संचय की निरन्तर आकांक्षा—ये वैश्यों के प्राकृतिक गुण हैं।

तात्पर्य : *अतुष्टिरर्थोपचयै* सूचित करता है कि वैश्य कभी भी तुष्ट नहीं होता चाहे वह कितना भी धन संचय क्यों न कर ले। वह अधिकाधिक संचय करना चाहता है। दूसरी ओर, वह *दान-निष्ठ* होता

है अर्थात् दान-पुण्य करता रहता है। वह *ब्रह्मसेवी* अर्थात् ब्राह्मणों की सहायता करने में सदैव लगा रहता है। वह *अदम्भ* होता है अर्थात् दिखावे से दूर रहता है। यह सब *आस्तिक्यम्* अर्थात् वैदिक जीवन-शैली में इस पूर्ण निष्ठा तथा विश्वास के कारण है कि वह अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार ही अगले जीवन में दण्डित या पुरस्कृत होगा। वैश्यों में धन संचय की तीव्र इच्छा सामान्य लालच जैसी नहीं होती, क्योंकि इस श्लोक में वर्णित उच्च गुणों के द्वारा वह विमल तथा अनुकूलित होती है।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषणम्—सेवा; द्विज—ब्राह्मणों की; गवाम्—गौवों की; देवानाम्—देवताओं तथा गुरु जैसे पूज्य पुरुषों की; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अमायया—निष्कपट; तत्र—उस सेवा में; लब्धेन—प्राप्त हुए के द्वारा; सन्तोषः—पूर्ण तुष्टि; शूद्र—शूद्रों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

ब्राह्मणों, गौवों, देवताओं तथा अन्य पूज्य पुरुषों की निष्कपट सेवा तथा ऐसी सेवा करने से जो भी आमदनी हो जाय उससे पूर्ण तुष्टि—ये शूद्रों के स्वाभाविक गुण हैं।

तात्पर्य : जब सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था वैदिक आदेशों के अनुसार समुचित ढंग से कार्य करती है, तो हर व्यक्ति सुखी तथा संतुष्ट रहता है। यद्यपि शूद्रों को सेवा-कार्य करने से जो भी आमदनी होती है, उसी से सन्तुष्ट रहना पड़ता है, किन्तु उन्हें किसी भी आवश्यक वस्तु का अभाव नहीं खटकता, क्योंकि समाज के अन्य वर्ण—यथा क्षत्रिय तथा वैश्य—नितान्त उदार होते हैं और ब्राह्मण तो सर्वाधिक दयालु होते हैं। इसलिए यदि सारी सामाजिक श्रेणियाँ (वर्ण) वैदिक आदेशों का पालन करें, तो कृष्णभावनामृत के मार्गदर्शन में सम्पूर्ण मानव समाज को नवीन तथा आनन्दमय जीवन प्राप्त हो सकेगा।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स भावोऽन्त्यावसायिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अशौचम्—गंदा रहना; अनृतम्—बेईमानी; स्तेयम्—चोरी; नास्तिक्यम्—नास्तिकता; शुष्क-विग्रहः—व्यर्थ का लड़ाई-झगड़ा; कामः—विषय-भोग, वासना; क्रोधः—क्रोध; च—भी; तर्षः—लालसा; च—भी; सः—यह; भावः—स्वभाव, प्रकृति; अन्त्य—निम्नतम पद में; अवसायिनाम्—रहने वालों के।

अस्वच्छता, बेईमानी, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ झगड़ना, काम, क्रोध एवं तृष्णा—ये

उनके स्वभाव हैं, जो वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर निम्नतम पद पर हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् ने वैज्ञानिक वर्णाश्रम प्रणाली से बाहर रहने वालों का वर्णन किया है। यूरोप तथा अमरीका में हमने प्राय: देखा है कि सफाई का मानदण्ड तथाकथित शिक्षित जनों में भी अत्यन्त गर्हित है। बिना स्नान किये रहते जाना और अशिष्ट भाषा का प्रयोग आम बातें हैं। आधुनिक युग में लोग अपने से बड़े का ध्यान न रखते हुए अंटशंट बकते रहते हैं, इसलिए उनमें रंचमात्र भी सचाई या असली ज्ञान नहीं रहता। इसी तरह पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही तरह के देशों में, हर व्यक्ति व्यापार, कर या अपराध के नाम पर अन्यों को लूटने-खसोटने में लगा हुआ है। लोगों को न तो ईश्वर के साम्राज्य (भगवद्धाम) में विश्वास है, न ही अपनी नित्य प्रकृति पर है। फलस्वरूप उनकी श्रद्धा नितान्त क्षीण है। यही नहीं, चूँकि आधुनिक लोग कृष्णभावनामृत में अधिक रुचि नहीं रखते, इसलिए वे भौतिक शरीर से सम्बन्धित व्यर्थ के मामलों में झगड़ते रहते हैं। थोड़ा भी भड़काने पर बड़े बड़े युद्ध तथा हत्याकांड हो जाते हैं। कलियुग में काम, क्रोध तथा तृष्णा की कोई सीमा नहीं रह गई है। यहाँ पर उल्लिखित लक्षणों तथा विशेषताओं को पूरे विश्व में जहाँ पर लोग वर्णाश्रम प्रणाली से च्युत हैं, प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। अपनी पापमयी आदतों के कारण—यथा पशु-हत्या, अवैध यौन, नशा तथा जुआ खेलने के कारण—अधिकांश लोग *चण्डाल* या अस्पृश्य बन गये हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; **सत्यम्**—सत्य; **अस्तेयम्**—ईमानदारी; **अ-काम-क्रोध-लोभता**—काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होना; **भूत**—सारे जीवों के; **प्रिय**—सुख; **हित**—तथा कल्याण; **ईहा**—कामना; **च**—भी; **धर्मः**—कर्तव्य; **अयम्**—यह; **सार्व-वर्णिकः**—समाज के सारे सदस्यों के लिए।

अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, अन्यों के लिए सुख तथा कल्याण की इच्छा एवं काम, क्रोध तथा लोभ से मुक्ति—ये समाज के सभी सदस्यों के कर्तव्य हैं।

तात्पर्य : *सार्व-वर्णिक* शब्द यह बतलाता है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों से सामान्य शुद्धता बनती है, जिसे समाज के सारे सदस्यों को, यहाँ तक कि वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर रहने वालों को भी, अपनाना चाहिए। हम देखते हैं कि वर्णाश्रम प्रणाली से अलग-थलग समाजों में भी, उपर्युक्त सिद्धान्तों का आदर किया जाता है और उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे सिद्धान्त किसी विशिष्ट मुक्ति-मार्ग को बनाने वाले

नहीं अपितु मानव समाज के शाश्वत गुण हैं।

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहूतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—दूसरा; प्राप्य—पाकर; आनुपूर्व्यात्—क्रमिक संस्कार-विधि से; जन्म—जन्म; उपनयनम्—गायत्री दीक्षा; द्विजः—समाज का द्विजन्मा सदस्य; वसन्—वास करते हुए; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; दान्तः—आत्म-नियंत्रित; ब्रह्म—वैदिक वाङ्मय; अधीयीत—अध्ययन करे; च—तथा समझे भी; आहूतः—तथा गुरु द्वारा बुलाये जाने पर।

समाज का द्विजन्मा सदस्य संस्कारों के द्वारा गायत्री दीक्षा होने पर दूसरा जन्म प्राप्त करता है। गुरु द्वारा बुलाये जाने पर उसे गुरु के आश्रम में रहना चाहिए और आत्मनियंत्रित मन से सावधानी से वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

तात्पर्य : *द्विज* शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम श्रेणियों का सूचक है, जिन्हें गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। इसका अर्थ है आध्यात्मिक दीक्षा द्वारा दूसरा जन्म लेना। मनुष्य का पहला जन्म वीर्य से होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बुद्धिमान या प्रबुद्ध होगा। ब्राह्मण बालक, यदि योग्य हो, तो बारह वर्ष की उम्र में गायत्री मंत्र से दीक्षित किया जा सकता है किन्तु क्षत्रियों तथा वैश्यों के बालक कुछ वर्षों बाद दीक्षित किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान से प्रबुद्ध होने के लिए बालक गुरुकुल में या गुरु के आश्रम में जाकर रहता है। कृष्णभावनामृत के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने विश्व-भर में ऐसे गुरुकुलों की स्थापना की है और वह समस्त सभ्य व्यक्तियों को आह्वान कर रहा है कि वे अपने बालकों की उचित शिक्षा के लिए प्रबन्ध करें। प्रत्येक बालक तथा बालिका को आत्मनियंत्रित बनना सीखना चाहिए और प्रामाणिक वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्रबुद्ध बनना चाहिए। इस तरह पशुओं, कीड़ों, मछलियों तथा पक्षियों से भिन्न होकर प्रबुद्ध व्यक्ति दुबारा जन्म ले सकता है और ज्ञान में पूर्ण बन सकता है, जिससे उसे चरम मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस श्लोक में *आनुपूर्व्यात्* संस्कारों का सूचक है, जिसकी शुरुआत गर्भाधान संस्कार से होती है। सामान्यतया शूद्र तथा वैदिक प्रणाली को न मानने वाले लोग ऐसे संस्कारों के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इसलिए वे आध्यात्मिक जीवन से अनजान रह जाते हैं और प्रामाणिक गुरु से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। किन्तु जिनका चरित्र क्रमबद्ध परिष्कार विधि से सभ्य बन जाता है, वे तर्क करना तथा मनमानी करना छोड़ देते हैं और गुरु की उपस्थिति में विनीत बन कर शिक्षा ग्रहण करने के लिए इच्छुक रहते हैं।

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

मेखला—पेटी; अजिन—मृगचर्म; दण्ड—डंडा; अक्ष—गुरियों की माला; ब्रह्म-सूत्र—ब्राह्मण का जनेऊ; कमण्डलून्—तथा कमण्डल या जलपात्र; जटिलः—जटा; अधौत—बिना पालिश किया या सफेद किया या इस्त्री किया; दत्-वासः—दाँत तथा वस्त्र; अरक्त-पीठः—विलासमय या विषयी आसन स्वीकार किये बिना; कुशान्—कुश तृण; दधत्—हाथ में लिए हुए।

ब्रह्मचारी को नियमित रूप से मूँज की पेटी तथा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसे जटा रखनी चाहिए और दंड तथा कमंडल धारण करना चाहिए। उसे अक्ष के मनके तथा जनेऊ धारण करना चाहिए। अपने हाथ में शुद्ध कुश लिए हुए, उसे कभी भी कोई विलासपूर्ण या उत्तेजक आसन ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे व्यर्थ दाँत नहीं चमकाना चाहिए न ही अपने वस्त्रों से रंग उड़ाना या उन पर लोहा (इस्त्री) करना चाहिए।

तात्पर्य : *अधौत-दद्-वास* शब्द सूचित करते हैं कि विरक्त ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियों को आकृष्ट करने के लिए मृदु मुसकान लानी चाहिए, न ही उसे अपने बाह्य वस्त्रों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। ब्रह्मचारी जीवन तपस्या तथा गुरु-आज्ञापालन के लिए है, जिससे बाद में जब वह व्यापारी, राजनीतिज्ञ या बुद्धिजीवी ब्राह्मण बने तो चरित्र, अनुशासन, आत्मसंयम, तपस्या तथा नम्रता धारण कर सके। विद्यार्थी जीवन जैसा यहाँ वर्णित है, आधुनिक शिक्षा के नाम से जाने वाले मस्तिष्क विहीन आनन्दवाद से भिन्न है। निस्सन्देह, आधुनिक युग में कृष्णभावनाभावित ब्रह्मचारी बनावटी तौर पर प्राचीन वेशभूषा नहीं धारण कर सकता और न ही यहाँ पर वर्णित संस्कारों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु आत्मसंयम, शुद्धि तथा गुरु की आज्ञापालन की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि वैदिक काल में थी।

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः ।
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्नान—स्नान करते; भोजन—भोजन करते; होमेषु—तथा यज्ञ करते; जप—मन में मंत्रों का जाप करते; उच्चारे—मल-मूत्र विसर्जन करते समय; च—भी; वाक्-यतः—मौन रह कर; न—नहीं; छिन्द्यात्—काटे; नख—नाखुन; रोमाणि—अथवा बाल; कक्ष—बगल (काँख) के; उपस्थ—गुप्तांग; गतानि—के सहित; अपि—भी।

ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्नान करते, खाते, यज्ञ करते, जप करते या मल-मूत्र विसर्जन करते समय, सदैव मौन रहे। वह अपने नाखुन तथा काँख एवं गुप्तांग सहित किसी अंग के बाल

नहीं काटे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध के बारहवें अध्याय में नारद मुनि ने वैदिक ब्रह्मचारी का ऐसा ही पारिभाषिक विवरण दिया है।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदां जपेत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; न—नहीं; अवकिरेत्—पतन करे; जातु—कभी; ब्रह्म-व्रत-धरः—ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला, ब्रह्मचारी; स्वयम्—स्वयं; अवकीर्णे—पतन हो जाने पर; अवगाह्य—स्नान करके; अप्सु—जल में; यत-असुः—प्राणायाम् द्वारा श्वास रोक कर; त्रि-पदाम्—गायत्री मंत्र का; जपेत्—जप करे।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वह कभी वीर्यपात न करे। यदि संयोगवश वीर्य स्वतः निकल जाय, तो ब्रह्मचारी तुरन्त जल में स्नान करे, प्राणायाम द्वारा अपना श्वास रोके और गायत्री मंत्र का जप करे।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्शुचिः ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये द्वे यतवाग्जपन् ॥ २६॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्निदेव; अर्क—सूर्य; आचार्य—आचार्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण; गुरु—गुरु; वृद्ध—सम्माननीय गुरुजन; सुरान्—देवताओं को; शुचिः—पवित्र; समाहितः—स्थिर चेतना से; उपासीत—पूजा करे; सन्ध्ये—संध्या-समय; द्वे—दो; यत-वाक्—मौन रखते हुए; जपन्—मौन होकर जपने या उचित मंत्र का उच्चारण।

ब्रह्मचारी को शुद्ध होकर तथा स्थिर चेतना से अग्नि, सूर्य, आचार्य, गायों, ब्राह्मणों, गुरु, गुरुजनों तथा देवताओं की पूजा करनी चाहिए। उसे सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय मौन होकर उपयुक्त मंत्रों का गुनगुनाते हुए उच्चारण करके ऐसी पूजा करनी चाहिए।

आचार्यं मां विजानीयान्नवमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ २७॥

शब्दार्थ

आचार्यम्—गुरु; माम्—मुझको; विजानीयात्—जाने; न अवमन्येत—कभी अनादर न करे; कर्हिचित्—किसी समय; न—कभी नहीं; मर्त्य-बुद्ध्या—सामान्य पुरुष होने के विचार से; असूयेत—ईर्ष्या-द्वेष रखे; सर्व-देव—सभी देवताओं के; मयः—प्रतिनिधि; गुरुः—गुरु।

मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को मेरा ही स्वरूप जाने और किसी भी प्रकार से उसका अनादर नहीं करे। उसे सामान्य पुरुष समझते हुए उससे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखे क्योंकि वह समस्त

देवताओं का प्रतिनिधि है।

तात्पर्य : यह श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि १.४६) में आया है। श्री श्रीमद् स्वामी प्रभुपाद ने इसकी टीका इस प्रकार की है।

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* से (११.१७.२७) लिया गया है। इसे भगवान् श्रीकृष्ण ने तब कहा था जब उद्धव ने उनसे सामाजिक तथा आध्यात्मिक वर्णाश्रम प्रणाली के विषय में प्रश्न किया था। वे यह विशेष शिक्षा दे रहे थे कि ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में किस तरह व्यवहार करना चाहिए। गुरु अपने शिष्यों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोक्ता नहीं होता। वह तो माता-पिता के तुल्य होता है। कोई भी बालक अपने माता-पिता की सतर्क सेवा के बिना बढ़कर मनुष्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार गुरु की देखरेख के बिना कोई व्यक्ति सेवापद को प्राप्त नहीं कर सकता।

गुरु को *आचार्य* भी कहा जाता है। *मनुसंहिता* (२.१४०) में आचार्य के कर्तव्य बताये गये हैं। उसमें बताया गया है कि गुरु शिष्यों का दायित्व अपने ऊपर लेता है, उन्हें वैदिक ज्ञान की जटिलताओं समेत शिक्षा देता है और उनको द्विज बनाता है। आध्यात्मिक विज्ञान के अध्ययन के लिए दीक्षित करने का उत्सव *उपनीति* अर्थात् गुरु के निकटतर लाने का अनुष्ठान कहलाता है। जिसे गुरु के निकट नहीं लाया जा सकता, वह जनेऊ नहीं पहन सकता। इस तरह उसे शूद्र कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्वारा पहना जाने वाला जनेऊ गुरु-दीक्षा का प्रतीक है। यदि इससे कुलीनता की शेखी बघारना हो तो इसका पहनना व्यर्थ है। गुरु का कर्तव्य है कि शिष्य का जनेऊ-संस्कार करे और इस संस्कार के बाद ही गुरु अपने शिष्य को वेद पढ़ाना आरम्भ करता है। शूद्र के रूप में जन्मे व्यक्ति को ऐसी दीक्षा से रोका नहीं जाता बशर्ते कि गुरु की अनुमति प्राप्त हो क्योंकि उसे ही शिष्य को ब्राह्मण बनाने का उचित अधिकार प्राप्त है यदि वह उसे पूर्णतया योग्य समझे। *वायुपुराण* में आचार्य की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई है, जो समस्त वैदिक वाङ्मय के सार को समझता है, वेदों के उद्देश्य को बताता है, उनके विधि-विधानों को मानता है और अपने शिष्यों को उसी प्रकार से कर्म करने की शिक्षा देता है।

''महती दयावश ही भगवान् गुरु-रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इसलिए आचार्य के बर्ताव में भगवान् की दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कोई कार्यकलाप नहीं होता। वे सेवा के परम स्वामी हैं। ऐसे

स्थिर भक्त की शरण ग्रहण करना उचित है क्योंकि वह *आश्रय विग्रह* कहलाता है। ''यदि कोई अपने को आचार्य कहता है किन्तु उसमें ईश्वर की सेवकाई की प्रवृत्ति नहीं होती, तो उसे अपराधी समझना चाहिए और उसकी यह अपराधी मनोवृत्ति उसे आचार्य बनने के अयोग्य ठहराती है। प्रामाणिक गुरु सदैव भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगा रहता है। इस परीक्षा से वह भगवान् का प्रत्यक्ष स्वरूप तथा श्री नित्यानन्द प्रभु का वास्तविक प्रतिनिधि कहलाता है। ऐसा दिव्य गुरु आचार्य देव माना जाता है। ईर्ष्यालु स्वभाव होने तथा इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति से असंतुष्ट होने से संसारी जन असली आचार्य की आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः प्रामाणिक आचार्य भगवान् से अभिन्न होता है, अतएव ऐसे आचार्य से ईर्ष्या करने का अर्थ है स्वयं भगवान् से ईर्ष्या करना। इससे आध्यात्मिक साक्षात्कार का विरोधी प्रभाव जन्म लेगा ''जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि शिष्य को चाहिए कि गुरु को श्रीकृष्ण का स्वरूप माने किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि गुरु को भगवान् की दिव्य लीलाओं का अनुकरण करने का कोई अधिकार नहीं है। बनावटी गुरु अपने शिष्यों की भावनाओं का बेजा लाभ उठाने के लिए अपने आपको हर तरह से श्रीकृष्ण से अभिन्न बतलाते हैं किन्तु ऐसे निर्विशेषवादी अपने शिष्यों को केवल पथविचलित ही करते हैं क्योंकि उनका परम उद्देश्य भगवान् से तादात्म्य है। यह भक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विपरीत है।

''असली वैदिक दर्शन तो *अचिन्त्य भेदाभेद* है, जो हर वस्तु को एक ही समय भगवान् से एक और भिन्न बतलाता है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इसकी पुष्टि करते हैं कि प्रामाणिक गुरु का यही पद है और वे यह कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु को मुकुन्द (श्रीकृष्ण) से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले के रूप में देखे। श्रील जीव गोस्वामी ने *भक्ति सन्दर्भ* (२१३) में यह स्पष्ट परिभाषा दी है कि गुरु तथा शिवजी को भगवान् का स्वरूप मानने का अर्थ है भगवान् को प्रिय होना, न कि उनसे अभिन्न होना है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने, यथा श्रील विश्वानाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने, इसी सत्य की पुष्टि की है। गुरु की स्तुति करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि सारे शास्त्र गुरु को भगवान् से इसीलिए अभिन्न मानते हैं क्योंकि वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और वह भगवान् का विश्वस्त सेवक होता है। इसीलिए गौड़ीय वैष्णव श्रील गुरुदेव की पूजा भगवान् के सेवक के रूप में करते हैं।

समस्त प्राचीन भक्ति साहित्य में तथा श्रील नरोत्तमदास ठाकुर, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा अन्य अनन्य वैष्णवों के अर्वाचीन गीतों में, गुरु को या तो श्रीमती राधारानी के विश्वस्त संगी के रूप में या श्रील नित्यानन्द प्रभु का स्वरूप माना जाता है।''

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सायम्—शाम को; प्रातः—सुबह के समय; उपानीय—लाकर; भैक्ष्यम्—भिक्षा; तस्मै—उस (आचार्य) को; निवेदयेत्—लाकर दे; यत्—जो कुछ; च—भी; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; अपि—निस्सन्देह; अनुज्ञातम्—अनुमति मिले; उपयुञ्जीत—स्वीकार करे; संयतः—पूर्ण रूप से संयमित।

वह प्रातः तथा सायंकाल भोजन तथा अन्य वस्तुएँ एकत्र करके गुरु को प्रदान करे। तब आत्मसंयमपूर्वक वह अपने लिए उतना ही स्वीकार करे जो आचार्य उसके लिए निर्दिष्ट कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति गुरु की कृपा प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे विषय-भोग की वस्तुएँ संग्रह करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। प्रत्युत वह जो कुछ माँग कर लाए उसे आचार्य के चरणकमलों पर अर्पित कर दे। आत्मसंयम दिखाते हुए वह नम्रतापूर्वक उतना ही स्वीकार करे, जो गुरु द्वारा उसके लिए निर्धारित कर दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए किन्तु जब तक वह व्यक्ति आध्यात्मिक सेवा की विधियों में दक्ष न हो जाय उसे चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु को लाकर दे जो भगवत्पूजा की विधि को भलीभाँति जानता रहता है। जब गुरु देखता है कि शिष्य कृष्णभावनामृत में अग्रसर हो चुका है, तो वह शिष्य को भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने में लगा देता है। प्रामाणिक गुरु किसी भी वस्तु का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु नहीं करता और अपने शिष्य को उतना ही भौतिक ऐश्वर्य सौंपता है जितने को वह भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर सके। उदाहरणस्वरूप, जब कोई पिता अपने पुत्र को व्यापार तथा अन्य किसी भौतिक कार्य में प्रशिक्षित करना चाहता है, तो वह अपने पुत्र के हाथों में उतनी ही सम्पत्ति सौंपता है जितने को वह अपने पिता की परिश्रम से अर्जित कमाई को मूर्खतापूर्वक नष्ट न करके, बुद्धिमत्तापूर्वक लाभप्रद कार्य में लगा सके।

इसी तरह प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को भगवान् की पूजा करना सिखाता है और अप्रौढ़ शिष्य को चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु के चरणकमलों में उसी तरह अर्पित कर दे जिस तरह कि

कच्ची उम्र का बालक बैंक में अपना निजी खाता नहीं रखता, प्रत्युत अपना जेबखर्च अपने पिता से प्राप्त करता है, जो उसे जिम्मेदार बनना सिखाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने गुरु या कृष्ण के आदेश का उल्लंघन करके अपने आप को छलता है, तो वह अभक्त या विषयी बन जाता है और आध्यात्मिक पथ से नीचे गिर जाता है। इसीलिए गुरु की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति कृष्णभावनामृत में परिपक्व बन सके।

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषमाणः—सेवा में लगा हुआ; आचार्यम्—गुरु को; सदा—सदैव; उपासीत—पूजे; नीच-वत्—विनीत सेवक की तरह; यान—जब गुरु चले तो पीछे पीछे चलते हुए; शय्या—गुरु के साथ विश्राम करते हुए; आसन—सेवा करने के लिए गुरु के निकट बैठ कर; स्थानैः—खड़े रह कर तथा गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए; न—नहीं; अति—अधिक; दूरे—दूरी पर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े।

गुरु की सेवा करते समय शिष्य विनीत सेवक के समान रहता रहे और जब गुरु चलें, तो वह सेवक की तरह उनके पीछे पीछे चले। जब गुरु सोने लगें, तो सेवक भी पास ही लेट जाय और जब गुरु जगें, तो सेवक उनके निकट बैठ कर उनके चरणकमल चापने तथा अन्य सेवा-कार्य करने में लग जाय। जब गुरु अपने आसन पर बैठे हों, तो सेवक उनके पास हाथ जोड़ कर, गुरु-आदेश की प्रतीक्षा करे। वह इस तरह से गुरु की सदैव पूजा करे।

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः ।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; वसेत्—रहे; भोग—इन्द्रियतृप्ति; विवर्जितः—से मुक्त; विद्या—वैदिक शिक्षा; समाप्यते—पूरी होती है; यावत्—जब तक; बिभ्रत्—धारण करते हुए; व्रतम्—(ब्रह्मचर्य) व्रत; अखण्डितम्—अखण्ड।

जब तक विद्यार्थी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी न कर ले, उसे गुरु के आश्रम में कार्यरत रहना चाहिए, उसे इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया मुक्त रहना चाहिए और उसे अपना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं तोड़ना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में *उपकुर्वाण ब्रह्मचारी* का वर्णन हुआ है, जो अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। *एवंवृत्तः* शब्द सूचित करता है कि अन्ततः भले ही मनुष्य

विवाह करके समाज में बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ या व्यापारी के रूप में प्रधानता प्राप्त कर ले, किन्तु विद्यार्थी जीवन में उसे मिथ्या प्रतिष्ठा से रहित होकर प्रामाणिक गुरु के विनीत सेवक के रूप में रहना चाहिए। *नैष्ठिकि ब्रह्मचारी* विवाह नहीं करता। इसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन्ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असौ—वह विद्यार्थी; छन्दसाम् लोकम्—महर्लोक में; आरोक्ष्यन्—चढ़ने की इच्छा करते हुए; ब्रह्म-विष्टपम्—ब्रह्मलोक; गुरवे—गुरु को; विन्यसेत्—अर्पित करे; देहम्—अपना शरीर; स्व-अध्याय—श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन के; अर्थम्—हेतु; बृहत्-व्रतः—आजीवन ब्रह्मचर्य का शक्तिशाली व्रत रखते हुए।

यदि ब्रह्मचारी महर्लोक या ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि गुरु को अपने सारे कर्म अर्पित कर दे और आजीवन ब्रह्मचर्य के शक्तिशाली व्रत का पालन करते हुए अपने को श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन में समर्पित कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति जीवन की चरम सिद्धि का इच्छुक हो, उसे अपना तन, मन तथा वाणी अपने गुरु की सेवा में लगा देने चाहिए। जो व्यक्ति ब्रह्मलोक तथा महर्लोक जैसे उच्च लोकों को जाना चाहता हो उसे गुरु की सेवा में पूरी तरह लगना चाहिए। इस तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कृष्ण-लोक, जो कि इस ब्रह्माण्ड से बहुत दूर है, उसको प्राप्त करने के लिए कितनी निष्ठा तथा सेवा की जरूरत है।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपसीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में; च—भी; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; माम्—मुझको; परम्—परम; अपृथक्-धीः—द्वैत से रहित; उपासीत—पूजा करे; ब्रह्म-वर्चस्वी—वैदिक प्रकाश से युक्त; अकल्मषः—निष्पाप।

इस तरह गुरु की सेवा करने से वैदिक ज्ञान में प्रबुद्ध, समस्त पापों तथा द्वैत से मुक्त हुआ व्यक्ति, परमात्मा रूप में मेरी पूजा करे क्योंकि मैं अग्नि, गुरु, मनुष्य की आत्मा तथा समस्त जीवों के भीतर प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : मनुष्य वैदिक जीवन-शैली में दक्ष गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करके यशस्वी तथा प्रबुद्ध बन जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ व्यक्ति फिर कभी ऐसे पाप-कृत्यों में रत नहीं होता जो आध्यात्मिक प्रकाश की अग्नि को तुरन्त बुझा सकें। न ही वह मूर्ख तथा क्षुद्र हृदय बनकर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति

के लिए प्रकृति का दोहन करता है। शुद्ध व्यक्ति *अपृथग्-धी*—द्वैतभाव से रहित—होता है क्योंकि उसे सभी वस्तुओं के भीतर भगवान् का दर्शन करने की शिक्षा दी गई है। ऐसी उदात्त चेतना की शिक्षा विश्व-भर में दी जानी चाहिए जिससे मानव समाज शान्त तथा उदात्त बन सके।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के सम्बन्ध में; **निरीक्षण**—देखने; **स्पर्श**—छूने; **संलाप**—बात करने; **क्ष्वेलन**—हँसी-मजाक करने; **आदिकम्**—इत्यादि; **प्राणिनः**—जीव; **मिथुनी-भूतान्**—संभोगरत; **अगृह-स्थः**—संन्यासी, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी; **अग्रतः**—सर्वप्रथम; **त्यजेत्**—छोड़ दे।

जो विवाहित नहीं हैं अर्थात् सन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी, उन्हें स्त्रियों को कभी भी देख कर, छू कर, बात करके, हँसी-मजाक करके या खेल-खेल में उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। न ही वे किसी ऐसे जीव का साथ करें जो संभोगरत हों।

तात्पर्य : *प्राणिनः*—सारे जीवों का सूचक है, चाहे वे पक्षी हों, मधुमक्खी हों या मनुष्य हों। अधिकांश योनियों में मैथुन-क्रिया से पूर्व विविध संभोग-क्रियाएँ होती हैं। मानव समाज में सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद (पुस्तकें, संगीत, फिल्म इत्यादि) तथा मनोरंजन के सभी स्थान (होटल, विक्री-केन्द्र, हवाखोरी के स्थान) कामेच्छा को बढ़ाने तथा रोमांस का वातावरण तैयार करने के लिए होते हैं। जो विवाहित नहीं है—अर्थात् संन्यासी, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ को चाहिए कि संभोग (यौन) से सम्बद्ध हर वस्तु का वहिष्कार करे और किसी जीव को चाहे वह पक्षी हो, कीड़ा हो या मनुष्य हो, संभोग करते न देखे। जब कोई पुरुष किसी स्त्री से मजाक करता है, तो तुरन्त ही घनिष्ठ कामुक वातावरण बन जाता है, अतः जो ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता हो उसे इनसे बचना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ भी ऐसे कार्यों में लिप्त होने पर अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम् ॥ ३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ शुद्ध करना; स्नानम्—स्नान; सन्ध्या—सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को; उपास्तिः—धार्मिक सेवा; मम—मेरी; अर्चनम्—पूजा; तीर्थ-सेवा—तीर्थस्थानों की यात्रा; जपः—भगवन्नाम का उच्चारण; अस्पृश्य—अछूत; अभक्ष्य—अखाद्य; असम्भाष्य—या जिसकी चर्चा करने लायक न हो; वर्जनम्—निषेध; सर्व—सभी; आश्रम—आश्रम; प्रयुक्तः—आदिष्ट; अयम्—यह; नियमः—नियम; कुल-नन्दन—हे उद्धव; मत्-भावः—मेरे अस्तित्व का बोध; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय—शरीर का; संयमः—नियमन, संयम।

हे उद्धव, सामान्य स्वच्छता, हाथों का धोना, स्नान करना, सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को धार्मिक सेवा का कार्य करना, मेरी पूजा करना, तीर्थस्थान जाना, जप करना, अछूत, अखाद्य या चर्चा के अयोग्य वस्तुओं से दूर रहना तथा समस्त जीवों में परमात्मा रूप में मेरे अस्तित्व का स्मरण करना—इन सिद्धान्तों को समाज के सारे सदस्यों को मन, वचन तथा कर्म के संयम द्वारा पालन करना चाहिए।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बृहत्-व्रत—ब्रह्मचर्य का महान् व्रत; धरः—धारण करते हुए; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; अग्निः—अग्नि; इव—सदृश; ज्वलन्—तेजयुक्त; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; तीव्र-तपसा—गम्भीर तपस्या द्वारा; दग्ध—जला हुआ; कर्म—सकाम कर्म की; आशयः—प्रवृत्ति; अमलः—भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित।

ब्रह्मचर्य का महान् व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है और वह गहन तपस्या द्वारा भौतिक कर्म करने की लालसा को भस्म कर देता है। इस तरह भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित होकर, वह मेरा भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में मोक्ष की विधि वर्णित है। एक बार हवाई जहाज से यात्रा करते समय श्रील प्रभुपाद से एक पादड़ी यात्री ने कहा कि उसने उनके शिष्यों को देखा है। उनके मुख 'तेजस्वी' थे। श्रील प्रभुपाद इस घटना को अक्सर बताते रहते थे। आत्मा सूर्य से भी अधिक तेजवान है और ज्यों ज्यों आध्यात्मिक संस्कार प्रभावशाली बनते जाते हैं, त्यों त्यों भक्त का बाह्य स्वरूप भी तेजवान बनता जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान की ज्वलित अग्नि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति को भस्म कर देती है, जिससे मनुष्य सहज ही तपोमय तथा संसारी भोग से विरक्त हो जाता है। समस्त तपस्याओं में ब्रह्मचर्य सर्वोपरि है और इसके द्वारा भौतिक जीवन के बन्धन छिन्न हो जाते हैं। जो *अमल* अर्थात् भौतिक इच्छा से मुक्त होता है, वह भगवान् का शुद्ध भक्त कहलाता है। ज्ञान, कर्म तथा योग के मार्गों में मन स्वार्थ बनाये रखता है किन्तु शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मन को एकमात्र भगवान् के हितों को देखने का प्रशिक्षण दिया

जाता है। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अमल* होता है।

अथानन्तरमावेक्ष्यन्यथाजिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अनन्तरम्—इसके पश्चात्; आवेक्ष्यन्—गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की इच्छा से; यथा—समुचित; जिज्ञासित—अध्ययन करके; आगमः—वैदिक साहित्य; गुरवे—गुरु को; दक्षिणाम्—पारिश्रमिक; दत्त्वा—देकर; स्नायात्—ब्रह्मचारी को स्नान करके, कंघा करना तथा सुन्दर वस्त्र पहनना चाहिए.; गुरु—गुरु द्वारा; अनुमोदितः—अनुमति दिये जाने पर।

जो ब्रह्मचारी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह गुरु को समुचित पारिश्रमिक (गुरु-दक्षिणा) दे, स्नान करे, बाल कटाये और उचित वस्त्र इत्यादि धारण करे। तब अपने गुरु की अनुमति से वह अपने घर को जाय।

तात्पर्य : इस श्लोक में *समावर्तन* अर्थात् गुरु के आश्रम में वैदिक शिक्षा पूरी करके अपने घर लौटने की विधि वर्णित है। जो व्यक्ति अपनी सारी इच्छाओं को भगवद्भक्ति में केन्द्रित नहीं कर पाता, वह गृहस्थ जीवन के प्रति आकृष्ट होता है और यदि यह आकर्षण नियंत्रित नहीं किया जाता तो मनुष्य का पतन हो जाता है। सकाम कर्म तथा मानसिक चिंतन की अविद्या से प्रच्छन्न होने के कारण, जीव भगवद्भक्ति के बाहर भोग की तलाश करता है और अभक्त बन जाता है। अपने आध्यात्मिक संकल्प के पतन से बचने के लिए गृह-जीवन स्वीकार करने वाले को दृढ़तापूर्वक वैदिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति स्त्रियों के साथ घनिष्ठ इन्द्रियतृप्ति पाता है, वह अन्यों के साथ अपने व्यवहार में द्वैत बरतता है; फलस्वरूप वह सादे शुद्ध जीवन के पद से नीचे गिर जाता है। जब कामवासना से मन विचलित होता है, तो मनुष्य भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त की शरण में जाने का प्रतिरोध करने लगता है और उसकी अपराधमूलक प्रवृत्ति के घने बादल आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश को पूरी तरह आच्छादित कर लेते हैं। मनुष्य को शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके किसी से प्रेम करने की उत्कट इच्छा से संधि कर लेनी चाहिए। जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है, ''जो व्यक्ति गोविन्द अर्थात् भगवान् कृष्ण की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्त की पूजा नहीं करता, उसे महावैष्णव नहीं माना जाता, प्रत्युत घमंडी धूर्त माना जाता है।''

गृहं वनं वोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः ।

आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथामत्परश्चरेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—घर; वनम्—जंगल; वा—या तो; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रव्रजेत्—त्याग दे; वा—अथवा; द्विज-उत्तमः—ब्राह्मण; आश्रमात्—जीवन के अधिकारप्राप्त एक पद से; आश्रमम्—दूसरे अधिकारप्राप्त पद तक; गच्छेत्—जाए; न—नहीं; अन्यथा—नहीं तो; अमत्-परः—जो मेरा शरणागत नहीं है; चरेत्—कार्य करे।

अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक ब्रह्मचारी को अपने परिवार के साथ घर पर रहना चाहिए और जो गृहस्थ अपनी चेतना को शुद्ध बनाना चाहे उसे जंगल में प्रवेश करना चाहिए जबकि शुद्ध ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। जो मेरे शरणागत नहीं है उसे एक आश्रम से दूसरे में क्रमशः जाना चाहिए और इससे विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जो भगवान् के शरणागत नहीं हैं उन्हें अपने प्रामाणिक सामाजिक आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो व्यक्ति अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी करना चाहता है उसे सामान्य *गृहस्थ* बन जाना चाहिए और सुविधाजनक आवास बनाकर अपने परिवार का भरण करना चाहिए। जो व्यक्ति संस्कारों को गति प्रदान करना चाहता हो उसे घर तथा व्यापार छोड़ कर अपनी पत्नी समेत किसी पवित्र स्थान में रहना चाहिए जैसाकि यहाँ पर *वनम्* शब्द द्वारा इंगित हुआ है। इस कार्य के लिए भारत में अनेक पवित्र वन हैं—यथा वृन्दावन तथा मायापुर। *द्विजोत्तम* शब्द ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ही *द्विज* हैं—अर्थात् गायत्री मंत्र में दीक्षित होते हैं किन्तु इनमें से ब्राह्मण *द्विजोत्तम* होता है अर्थात् द्विजों में सर्वाश्रेष्ठ। यह संस्तुति की जाती है कि शुद्ध ब्राह्मण संन्यास धारण करे और तब अपनी तथाकथित पत्नी से सम्पर्क न रखे। यहाँ पर ब्राह्मण का विशेष उल्लेख हुआ है क्योंकि क्षत्रियों तथा वैश्यों को संन्यास नहीं लेना पड़ता। तो भी *भागवत* में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें बड़े बड़े राजा अपनी कुलीन पत्नियों समेत जंगल जाकर वानप्रस्थ की तपस्या करते हैं और इस तरह संस्कार को गति प्रदान करते हैं। किन्तु ब्राह्मण सीधे संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

आश्रमाद् आश्रमं गच्छेत् शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को ब्रह्मचारी जीवन से गृहस्थ जीवन में, गृहस्थ जीवन से वानप्रस्थ जीवन में तथा उसके बाद संन्यास में क्रमशः जा सकता है। *आश्रमाद् आश्रमम्* शब्द इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य किसी न किसी अधिकृत सामाजिक पद पर बना रहे, वह उच्च पद से नीचे न आये। जो लोग भगवान् के शरणागत नहीं हैं, उन्हें ऐसे आदेशों का कठोरता से

पालन करना चाहिए अन्यथा वे जल्दी ही नीचे गिर जायेंगे और उनके पाप उन्हें अधिकृत मानव सभ्यता की सीमाओं से बाहर ले जाएँगे।

भगवान् कृष्ण यहाँ पर बल देकर कहते हैं कि अभक्त को वैदिक आश्रमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए जबकि भगवान् के कार्य में चौबीसों घंटे लगे रहने वाले भगवद्भक्त इन आश्रमों से परे हैं। किन्तु यदि कोई वैदिक आश्रमों से परे होने के कारण अवैध कर्म करता है, तो वह भौतिकतावादी नवदीक्षित सिद्ध होता है, महाभागवत नहीं। ऐसा महाभागवत जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विलग रहता है ऐसे वैदिक आश्रमों से बँधा नहीं होता। फलत: एक गृहस्थ भी घर से दूर यात्रा करते हुए कृष्णभावनामृत का प्रचार करके तपोमय जीवन बिता सकता है। यहाँ तक कि एक संन्यासी भगवान् कृष्ण की सेवा में स्त्रियों को भी लगा सकता है। महाभागवतों को वर्णाश्रम के विधि-विधान सीमित नहीं कर सकते। वे मुक्त भाव से विश्व-भर में भगवत्प्रेम का वितरण करते हुए विचरण करते हैं। *मत्-पर* भगवान् के शुद्ध भक्त का सूचक है, जो अपने हृदय तथा चेतना में भगवान् को सदैव बसाये रखता है। जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति का शिकार बन कर नीचे गिरता है, वह *मत्पर* पद पर पूर्णरूपेण स्थापित नहीं रहता। उसे पवित्र मानव जीवन के पद पर स्थायी बने रहने के लिए आश्रमों के नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा यं सवर्णामनु क्रमात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर-गृहस्थी; अर्थी—इच्छुक; सदृशीम्—समान गुणों से युक्त; भार्याम्—पत्नी से; उद्वहेत्—ब्याहे; अजुगुप्सिताम्—आक्षेप से परे; यवीयसीम्—वय में छोटी; तु—निस्सन्देह; वयसा—उम्र में; याम्—दूसरी पत्नी; स-वर्णाम्—समान जाति की पहली पत्नी; अनु—बाद में; क्रमात्—क्रम से।

जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन स्थापित करना चाहता है उसे चाहिए कि अपनी ही जाति की ऐसी स्त्री से विवाह करे जो निष्कलंक तथा उम्र में छोटी हो। यदि कोई व्यक्ति अनेक पत्नियाँ रखना चाहता है, तो उसे प्रथम विवाह के बाद उनसे भी ब्याह करना चाहिए और हर पत्नी एक-दूसरे से निम्न जाति की होनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में कहा गया है—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पहली पत्नी को *सदृशीम्* अर्थात् पति के ही समान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बौद्धिक व्यक्ति को बौद्धिक पत्नी से विवाह करना चाहिए, वीर पुरुष को वीरांगना से, व्यापार-बुद्धि वाले को व्यापार-कार्य को प्रोत्साहन देने वालीस्त्री से तथा शूद्र को अपने से कम बुद्धिमान पत्नी से विवाह करना चाहिए। पत्नी को अपनी पृष्ठभूमि तथा चरित्र के मामले में निष्कलंक होना चाहिए और पुरुष से ५-१० वर्ष छोटी होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहता है, तो जैसाकि इस श्लोक में *वर्णानुपूर्व्येण* शब्द से स्पष्ट है और भगवान् कृष्ण ने जो *अनुक्रमात्* शब्द कहा है, उसके अनुसार उसे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पहला विवाह स्थापित न हो ले और तब अपने से निम्न जाति की दूसरी स्त्री चुने। यदि कोई व्यक्ति तीसरी बार विवाह करता है, तो इस पत्नी को दूसरी से भी निम्न जाति की होना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक बाह्मण की पहली पत्नी ब्राह्मणी, दूसरी पत्नी क्षत्राणी, तीसरी पत्नी वैश्याणी और चतुर्थ पत्नी शूद्राणी होगी। एक क्षत्रिय पहला विवाह एक क्षत्रिय महिला से कर सकता है, तत्पश्चात् वैश्य तथा शूद्र महिलाओं से। एक वैश्य दो जातियों से पत्नी चुन सकता है और एक शूद्र केवल शूद्र जाति से। इस प्रकार के क्रमिक विवाहों से परिवार में अपेक्षतया शान्ति बनी रहेगी। ये वैदिक आदेश जो पिछले श्लोक में वर्णित हैं, विशेष रूप से उन लोगों के लिए हैं, जो भगवद्भक्त नहीं हैं।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इज्या—यज्ञ; **अध्ययन**—वैदिक अध्ययन; **दानानि**—दान; **सर्वेषाम्**—सभी; **च**—भी; **द्वि-जन्मनाम्**—द्विजों के; **प्रतिग्रहः**—दान लेना; **अध्यापनम्**—वैदिक ज्ञान की शिक्षा देना; **च**—भी; **ब्राह्मणस्य**—ब्राह्मण के; **एव**—एकमात्र; **याजनम्**—अन्यों के लिए यज्ञ करना।.

सभी द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को यज्ञ करना चाहिए, वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए और दान देना चाहिए। किन्तु ब्राह्मण ही दान ले सकते हैं, वे ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं और अन्यों के लिए यज्ञ कर सकते हैं।

तात्पर्य : सभी सभ्य व्यक्तियों को यज्ञ करने, दान देने तथा वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सम्मिलित होना चाहिए। द्विजों में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों को विशेष अधिकार दिया गया है कि समाज के सारे

सदस्यों की ओर से यज्ञ करने का नेतृत्व करें, हर एक को वैदिक शिक्षा दें तथा हर एक का दान लें। योग्य ब्राह्मणों की सहायता या सहयोग के बिना निम्न जातियाँ न तो ठीक से वेदाध्ययन कर सकती हैं, न यज्ञ कर सकती हैं, न दान दे सकती हैं, क्योंकि ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए वांछित ज्ञान का उनमें अभाव रहता है। जब क्षत्रिय तथा वैश्यगण प्रामाणिक ब्राह्मणों का आश्रय लेते हैं, तो वे अपना अपना कर्तव्य ठीक से निभा सकते हैं और समाज का कार्य सरलता तथा दक्षता से चलता है।

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिग्रहम्—दान लेना; मन्यमानः—मानते हुए; तपः—तपस्या; तेजः—आध्यात्मिक प्रभाव; यशः—तथा यश का; नुदम्—विनाश; अन्याभ्याम्—अन्य दो (यज्ञ तथा वेद-विद्या) के द्वारा; एव—निस्सन्देह; जीवेत—ब्राह्मण को जीवित रहना चाहिए; शिलैः—खेत से गिरा हुआ अन्न बीन करके; वा—अथवा; दोष—कमी; दृक्—देख कर; तयोः—दोनों में से।

जो ब्राह्मण यह माने कि अन्यों के दान लेने से उसकी तपस्या, आध्यात्मिक प्रतिष्ठा तथा यश नष्ट हो जायेंगे, उसे चाहिए कि अन्य दो ब्राह्मण वृत्तियों से—वेद-ज्ञान की शिक्षा देकर तथा यज्ञ सम्पन्न करके अपना भरण करे। यदि वह ब्राह्मण यह माने कि ये दोनों वृत्तियाँ भी उसके आध्यात्मिक पद को क्षति पहुँचाती हैं, तो उसे चाहिए कि खेतों में गिरा अन्न (शीला) बीने और अन्यों पर निर्भर न रहते हुए जीवन-निर्वाह करे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को यह याद रखना चाहिए कि भगवान् स्वयं ही उसकी रखवाली करेंगे। *श्रीमद्भगवद्गीता* (९.२२) में भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

''किन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो भी आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और उनके पास जो कुछ भी है उसकी रक्षा करता हूँ।''

ब्राह्मण को निजी निर्वाह के लिए पेशेवर भिखारी नहीं बन जाना चाहिए। भारत में ऐसे असंख्य तथाकथित ब्राह्मण हैं, जो महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के द्वारों पर बैठे रहते हैं और आने-जाने वाले हर व्यक्ति से भिक्षा माँगते हैं। यदि कोई कुछ नहीं देता, तो वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति का पीछा करने लगते हैं।

इसी तरह अमेरिका में अनेक बड़े बड़े प्रचारक टेलीविजन तथा रेडियो पर भीख माँग पर प्रचुर धन एकत्र करते हैं। यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव यह सोचता है कि पेशेवर भिखारी बनने से उसकी तपस्या क्षीण हो रही है, उसका आध्यात्मिक पद घट रहा है और इससे अपयश हो रहा है, तो उसे यह कर्म त्याग देना चाहिए। कोई भी मनुष्य भगवान् के कार्य के लिए हर किसी से दान देने के लिए विनती कर सकता है किन्तु यदि वह अपनी जीविका के लिए भीख माँगता है, तो इससे उसकी तपस्या, पद तथा यश में कमी आयेगी। तब ब्राह्मण वैदिक ज्ञान की शिक्षा देने तथा यज्ञ कराने का कार्य कर सकता है। किन्तु ऐसी वृत्तियों से भी उसे ईश्वर का विश्वसनीय पद प्राप्त नहीं होता। जो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए शिक्षा देता है, प्राय: उसके शिक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है और जो यज्ञ कराता हो उसका कार्य भौतिकतावादी पूजक पूरा करा सकते हैं। इस तरह ब्राह्मण संकट में पड़ सकता है। इसलिए उच्च कोटि का ब्राह्मण अथवा वैष्णव अन्त: भगवान् की दया पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहेगा। भगवान् अपने भक्त का पालन करने का वचन देते हैं और बढ़ा-चढ़ा वैष्णव कभी भी भगवान् के वचन पर सन्देह नहीं करता।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ ४२॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का; **हि**—निश्चय ही; **देहः**—शरीर; **अयम्**—यह; **क्षुद्र**—नगण्य; **कामाय**—इन्द्रियतृप्ति के लिए; **न**—नहीं; **इष्यते**—होता है; **कृच्छ्राय**—कठिन; **तपसे**—तपस्या के लिए; **च**—भी; **इह**—इस संसार में; **प्रेत्य**—मर कर; **अनन्त**—असीम; **सुखाय**—सुख के लिए; **च**—भी।

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र इन्द्रिय भोग के निमित्त नहीं होता, प्रत्युत वह कठिन तपस्या स्वीकार करके मृत्यु के उपरान्त असीम सुख भोगेगा।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि अपने जीवन-निर्वाह हेतु एक ब्राह्मण स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार क्यों करे? इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि प्रगत मानव-जीवन गम्भीर तपस्या के लिए होता है, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। आध्यात्मिक प्रगति से मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है और इस नाशवान् शरीर में व्यर्थ ही निमग्न रहना छोड़ देता है। मनुष्य को चाहिए कि जीवन की कम-से-कम आवश्यकताएँ स्वीकार करते हुए भौतिक शरीर से अनासक्त रहे। ब्राह्मणजन कष्टप्रद जीविका स्वीकार करके भी यह नहीं भूलते कि इस शरीर को वृद्ध

होना, रुग्ण होना तथा कष्ट में मरना बदा है। इस तरह प्रगत ब्राह्मण सतर्क तथा दिव्य रहते हुए जीवन के अन्त में भगवद्धाम जाते हैं जहाँ उसे असीम आध्यात्मिक आनन्द मिलता है। ऐसी उच्चतर सतर्कशीलता के बिना कोई योग्य ब्राह्मण कैसे मानाजा सकता है?

जो भक्तगण चौबीसों घण्टे भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रसार करने में लगे रहते हैं, वे वैराग्य या इन्द्रियतृप्ति के स्तर से परे हैं क्योंकि वे हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए शक्ति पाने हेतु ही भोजन करता है। वह अपने शरीर के निमित्त अच्छा या स्वल्प भोजन ग्रहण नहीं करता। किन्तु भगवान् के लिए कुछ भी, अच्छा भोजन भी, ग्रहण किया जा सकता है। जो ब्राह्मण भगवान् का यश फैलाने के लिए अहर्निश कार्य नहीं करता, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अच्छा भोजन करने में संकोच होना चाहिए। किन्तु विरक्त वैष्णव उपदेशक किसी भी जाति के पवित्र लोगों का आमंत्रण स्वीकार कर सकता है और उनको आशीर्वाद देने के लिए ही उनके द्वारा प्रदत्त अच्छा भोजन ग्रहण करता है। इसी प्रकार वह कभी कभी नास्तिकों तथा निर्विशेषवादियों को परास्त करने के लिए पौष्टिक भोजन कर सकता है। जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कथित है कि जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं हो लेता, तब तक वह अत्यन्त योग्य ब्राह्मण नहीं बन सकता। भक्तों में से जो लोग कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ हैं जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में पुष्टि की है।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्
नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

शिल-उञ्छ—अन्न बीनने की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; परितुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; चित्तः—चेतना वाला; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महान्तम्—उदात्त तथा अतिथि-सत्कार करने वाला; विरजम्—भौतिक इच्छाओं से रहित; जुषाणः—अनुशीलन करते हुए; मयि—मुझमें; अर्पित—अर्पित; आत्मा—मन वाला; गृहे—घर में; एव—ही; तिष्ठन्—रहते हुए; न—नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसक्तः—आसक्त, लिप्त; समुपैति—प्राप्त करता है; शान्तिम्—मोक्ष।

ब्राह्मण गृहस्थ को खेतों तथा मंडियों में गिरे अन्न के दाने बीन कर अपने मन में सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपने को निजी इच्छा से मुक्त रखते हुए मुझमें लीन रह कर उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह गृहस्थ के रूप में ब्राह्मण बिना आसक्ति के घर

में ही रह सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : *महान्तम्* शब्द उदात्त (वदान्य) धार्मिक सिद्धान्तों का द्योतक है जैसे कि अतिथि-सत्कार जिसमें वे अतिथि भी सम्मिलित हैं, जो बिना आमंत्रण के आएँ या अप्रत्याशित हों। गृहस्थों को सदैव उदात्त तथा अन्यों को दान देने वाले और व्यर्थ के पारिवारिक स्नेह तथा आसक्ति को समाप्त करने में सतर्क रहने वाले होना चाहिए। प्राचीन काल में अत्यन्त विख्यात ब्राह्मण-गृहस्थ मंडियों में गिरे हुए या फसल काटने के बाद खेतों में गिरे हुए अन्न को एकत्र करते थे। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात है *मय्यर्पितात्मा*—अर्थात् भगवान् कृष्ण में मन लगाना। अपनी भौतिक स्थिति के बावजूद जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, वह मुक्तात्मा बन सकता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलाष्वपि अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत (अर्थात् कृष्ण-सेवा) में कार्य कर रहा मनुष्य इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्तात्मा होता है भले ही वह अनेक तथाकथित भौतिक कार्यकलापों में क्यों न लगा रहे।''

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।
तानुद्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

समुद्धरन्ति—ऊपर उठाते हैं; **ये**—जो; **विप्रम्**—ब्राह्मण या भक्त को; **सीदन्तम्**—(गरीबी) से कष्ट पा रहे; **मत्-परायणम्**—मेरे शरणागत; **तान्**—उठाने वालों को; **उद्धरिष्ये**—मैं ऊपर उठाऊँगा; **न चिरात्**—निकट भविष्य में; **आपद्भ्यः**—सारे कष्टों से; **नौः**—नाव; **इव**—सदृश; **अर्णवात्**—समुद्र से।

जिस प्रकार जहाज समुद्र में गिरे हुए लोगों को बचा लेता है, उसी तरह मैं उन व्यक्तियों को सारी विपत्तियों से तुरन्त बचा लेता हूँ जो दरिद्रता से पीड़ित ब्राह्मणों तथा भक्तों को उबार लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बतलाया है कि ब्राह्मण तथा भक्तगण किस तरह जीवन-सिद्धि पाते हैं। वैसी ही सिद्धि, उन्हें भी प्रदान की जाती है, जो अपनी भौतिक सम्पत्ति का उपयोग भक्तों तथा ब्राह्मणों की दरिद्रता दूर करने में करते हैं। यद्यपि मनुष्य विषय-भोग का जीवन बिताने के लिए भगवद्भक्ति

की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा में अपनी गाढ़ी कमाई अर्पित करके वह अपनी स्थिति सुधार सकता है। जिस तरह समुद्र में गिरे हुए निराश लोगों को एक नाव बचा लेती है उसी तरह भगवान् उन लोगों को उबारते हैं, जो भौतिक आसक्ति के सागर में निराश होकर गिर गये होते हैं यदि वे ब्राह्मणों तथा भक्तों के प्रति उदार हों।

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः ।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वाः—सभी; समुद्धरेत्—ऊपर उठाना चाहिए; राजा—राजा; पिता—पिता; इव—सदृश; व्यसनात्—विपत्तियों से; प्रजाः—जनता; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मन—अपने आप; धीरः—निर्भीक; यथा—जिस तरह; गज-पतिः—गजराज; गजान्—अन्य हाथियों को।.

जिस तरह हाथियों का राजा अपने झुंड के अन्य सारे हाथियों की रक्षा करता है और अपनी भी रक्षा करता है, उसी तरह निर्भीक राजा को पिता के समान अपनी सारी प्रजा को कठिनाई से बचाना चाहिए और अपनी भी रक्षा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों के कर्तव्यों का वर्णन कर चुकने के बाद, अब राजा के चरित्र तथा कार्यों का वर्णन करते हैं। सारी प्रजा को विपत्ति से बचाना राजा का अनिवार्य कर्तव्य है।

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधः—इस प्रकार (अपनी तथा प्रजा की रक्षा करते हुए); नर-पतिः—राजा; विमानेन—वायुयान से; अर्क-वर्चसा—सूर्य के समान तेजोमय; विधूय—हटाकर; इह—पृथ्वी पर; अशुभम्—पापों को; कृत्स्नम्—समस्त; इन्द्रेण—इन्द्र के; सह—साथ; मोदते—भोग करता है।.

जो राजा अपने राज्य से सारे पापों को हटाकर अपनी तथा सारी प्रजा की रक्षा करता है, वह निश्चय ही इन्द्र के साथ सूर्य जैसे तेजवान विमान में सुख भोगता है।

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

सीदन्—कष्ट उठाता; विप्रः—ब्राह्मण; वणिक्—बनिए की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; पण्यैः—व्यापार के द्वारा; एव—निस्सन्देह; आपदम्—विपत्ति; तरेत्—पार करे; खड्गेन—तलवार से; वा—अथवा; आपदा—विपत्ति से; आक्रान्तः—पीड़ित; न—नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति से; कथञ्चन—जैसे भी हो।

यदि कोई ब्राह्मण अपने नियमित कर्तव्यों द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर पाता और कष्ट उठाता है, तो वह व्यापारी की वृत्ति अपनाकर वस्तुएँ क्रय-विक्रय करके अपनी दीन अवस्था को सुधार सकता है। यदि वह व्यापारी के रूप में भी नितान्त दरिद्र बना रहता है, तो वह हाथ में तलवार लेकर क्षत्रिय-वृत्ति अपना सकता है। किन्तु किसी भी दशा में वह किसी सामान्य स्वामी को स्वीकार करके कुत्ते जैसा नहीं बन सकता (श्वान-वृत्ति)।

तात्पर्य : *श्व-वृत्तया* अर्थात् कुत्ते की वृत्ति शूद्रों का सूचक है, जो स्वामी बनाये बिना जीवित नहीं रह सकते। अत्यन्त दीन ब्राह्मण, असह्य कष्ट भोगने पर पहले व्यापारी और तब क्षत्रिय बन सकता है, किन्तु उसे कभी भी स्वामी के साथ अथवा अधीन काम करते हुए, शूद्र पद ग्रहण नहीं करना चाहिए। यद्यपि क्षत्रिय को सामान्यतया वैश्य से उच्च माना जाता है, किन्तु यहाँ पर भगवान् संस्तुति करते हैं कि दीन ब्राह्मण पहले वैश्यवृत्ति अपनाये क्योंकि यह हिंसक नहीं है।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैश्य—व्यापारी वर्ग की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; तु—निस्सन्देह; राजन्यः—राजा; जीवेत्—अपना जीवन-निर्वाह करे; मृगयया—शिकार करके; आपदि—आपात् काल या विपत्ति में; चरेत्—कार्य करे; वा—अथवा; विप्र-रूपेण—ब्राह्मण के रूप में; न—कभी नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; कथञ्चन—किसी भी दशा में।

राजा या राजकुल का सदस्य, जो अपनी सामान्य वृत्ति द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर सकता, वह वैश्य की तरह कर्म कर सकता है, शिकार करके जीवन चला सकता है अथवा ब्राह्मण की तरह अन्यों को वैदिक ज्ञान की शिक्षा देकर काम कर सकता है। किन्तु किसी भी दशा में उसे शूद्र-वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए।

शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शूद्र—शूद्रों की; वृत्तिम्—वृत्ति; भजेत्—स्वीकार करे; वैश्यः—वैश्य; शूद्रः—शूद्र; कारु—मजदूर का; कट—टोकरी तथा चटाई; क्रियाम्—बनाना; कृच्छ्रात्—कठिन स्थिति से; मुक्तः—मुक्त हुआ; न—नहीं; गर्ह्येण—निकृष्ट द्वारा; वृत्तिम्—जीविका; लिप्सेत—कामना करे; कर्मणा—कार्य द्वारा।

जो वैश्य अपना जीवन-निर्वाह न कर सकता हो, वह शूद्र-वृत्ति अपना सकता है और जो शूद्र उपयुक्त स्वामी न पा सके वह डलिया तथा चटाई बनाने जैसे सामान्य कार्यों में लग सकता है। किन्तु समाज के वे सारे सदस्य जिन्होंने आपात्काल में निकृष्ट वृत्तियाँ अपनाई हों, उन्हें विपत्ति बीत जाने पर इन कार्यों को तुरन्त त्याग देना चाहिए।

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

वेद-अध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; स्वधा—स्वधा मंत्र अर्पित करके; स्वाहा—स्वाहा मंत्र द्वारा; बलि—भोजन देकर; अन्न-आद्यैः—अन्न, जल इत्यादि देकर; यथा—के अनुसार; उदयम्—सम्पन्नता; देव—देवता; ऋषि—ऋषि; पितृ—पूर्वजों; भूतानि—तथा सारे जीवों के; मत्-रूपाणि—मेरे शक्ति के स्वरूपों; अनु-अहम्—प्रतिदिन; यजेत्—पूजा करे।

गृहस्थ आश्रम वाले को नित्य वैदिक अध्ययन द्वारा ऋषियों की, स्वधा मंत्र द्वारा पूर्वजों की, स्वाहा मंत्र का उच्चारण करके देवताओं की, अपने हिस्से का भोजन देकर सारे जीवों की तथा अन्न एवं जल अर्पित करके मनुष्यों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह देवताओं, ऋषियों, पूर्वजों, जीवों तथा मनुष्यों को मेरी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ मानते हुए हर मनुष्य को नित्य ये पाँच यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पुनः गृहस्थाश्रम में रहने वालों के कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं। स्पष्टतः, यहाँ पर वर्णित पाँच नैत्यिक अनुष्ठान् उन लोगों के निमित्त हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं और जिन्हें प्रकृति के दुरुपयोग का निराकरण करने के लिए उपर्युक्त यज्ञ करने होते हैं। इस्कान गृहस्थों, संन्यासियों, ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों को चौबीसों घण्टे भगवान् की भक्ति में लगे रहने का प्रशिक्षण देता है। जो लोग इस्कान में पूर्णकालिक प्रचार-कार्य करते हैं, उन्हें कोई और यज्ञ नहीं करना पड़ता जैसी कि *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में पुष्टि की गई है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"जिसने भी सभी प्रकार के कर्तव्यों को छोड़ कर मुकुन्द के, अर्थात् मुक्ति देने वाले के

चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है और गम्भीरतापूर्वक इस पथ को ग्रहण कर लिया है, उसका देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पूर्वजों के प्रति न तो कोई कर्तव्य, न ही ऋण शेष रहता है।''

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन्भृत्यान्न्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—बिना प्रयास के; उपपन्नेन—अर्जित किया गया; शुक्लेन—अपनी ईमानदारीपूर्ण वृत्ति से; उपार्जितेन—प्राप्त किया हुआ; वा—अथवा; धनेन—धन से; अपीडयन्—असुविधा उत्पन्न न करते हुए; भृत्यान्—आश्रितों को; न्यायेन—उचित प्रकार से; एव—निस्सन्देह; आहरेत्—सम्पन्न करे; क्रतून्—यज्ञों तथा अन्य धार्मिक उत्सवों को।

गृहस्थ को चाहिए कि स्वेच्छा से प्राप्त धन से या ईमानदारी से सम्पन्न किये जाने वाले कार्य से जो धन प्राप्त हो, उससे अपने आश्रितों का ठीक से पालन-पोषण करे। उसे अपने साधनों के अनुसार यज्ञ तथा अन्य धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् उन धार्मिक कार्यों का वर्णन कर रहे हैं, जिन्हें यथासम्भव अपने साधनों के अनुसार तथा जब भी अवसर आये, सम्पन्न करना चाहिए।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

कुटुम्बेषु—पारिवारिक जनों से; न—नहीं; सज्जेत—लिप्त हो; न—नहीं; प्रमाद्येत्—अहंकारी बने; कुटुम्बी—अनेक आश्रित पारिवारिक जनों वाला; अपि—यद्यपि; विपश्चित्—चतुर व्यक्ति; नश्वरम्—क्षणभंगुर; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—भावी पुरस्कार यथा स्वर्ग में वास; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले से अनुभव किया गया जैसा।

अनेक आश्रित पारिवारिक जनों की देखरेख करने वाले गृहस्थ को न तो उनसे अत्यधिक लिप्त होना चाहिए, न ही अपने को स्वामी मान कर मानसिक रूप से असन्तुलित रहना चाहिए। बुद्धिमान गृहस्थ को समझना चाहिए कि सारा सम्भव सुख, जिसका वह पहले ही अनुभव कर चुका होता है, क्षणभंगुर है।

तात्पर्य : गृहस्थ व्यक्ति अपनी पत्नी की रक्षा करते, अपने बच्चों को आदेश देते, नौकरों, नाती-पोतों, घरेलू पशुओं इत्यादि का पालन-पोषण करते स्वामी की भाँति आचरण करता है। *न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि* शब्द यह सूचित करते हैं कि यद्यपि मनुष्य अपने परिवार, नौकरों तथा मित्रों से घिरा हुआ

एक छोटे स्वामी जैसा व्यवहार करता है, किन्तु उसे अपने को असली स्वामी मान कर मिथ्या अहंकारवश मानसिक रूप से असंतुलित नहीं हो जाना चाहिए। *विपश्चित्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को गम्भीर तथा बुद्धिमान बने रहना चाहिए और कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि मैं भगवान् का नित्य दास हूँ।

उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग के गृहस्थ विभिन्न प्रकार की विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आर्थिक अथवा सामाजिक वर्ग में, सारा भौतिक भोग, चाहे वह यहाँ का हो या अगले जीवन का, नश्वर होता है तथा अन्ततः व्यर्थ। एक उत्तरदायी गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार वालों को तथा अन्य आश्रित जनों को भगवद्धाम जाने में मार्गदर्शक बने जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन प्राप्त हो। उसे अल्पकाल के लिए मिथ्याभिमानी नहीं बन जाना चाहिए क्योंकि तब वह अपने पारिवारिक जनों सहित बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में बँध जायेगा।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—बच्चे; दार—पत्नी; आप्त—सम्बन्धीजन; बन्धूनाम्—तथा मित्रों के; सङ्गमः—संगति, साथ साथ रहना; पान्थ—यात्रियों की; सङ्गमः—संगति; अनु-देहम्—शरीर के प्रत्येक परिवर्तन सहित; वियन्ति—पृथक् कर दयिे जाते हैं; एते—ये सारे; स्वप्नः—स्वप्न; निद्रा—नींद; अनुगः—घटित होने वाले; यथा—जिस तरह।

बच्चों, पत्नी, सम्बन्धियों तथा मित्रों की संगति यात्रियों के लघु मिलाप जैसी है। शरीर के प्रत्येक परिवर्तन के साथ मनुष्य ऐसे संगियों से उसी तरह विलग हो जाता है, जिस तरह स्वप्न समाप्त होते ही स्वप्न में मिली हुई सारी वस्तुएँ खो जाती हैं।

तात्पर्य : *पान्थ-संगम* सूचक है होटलों, भोजनालयों, पर्यटन-स्थलों या अधिक पारंपारिक सांस्कृतिक स्थानों में, ताजे पानी के कुओं तथा पगडंडियों में मुसाफिरों के क्षणिक साथ का। इस समय हम तमाम सम्बन्धियों, मित्रों तथा हितैषियों से सम्बद्ध हैं, किन्तु अपने भौतिक शरीर के परिवर्तित होते ही हम इन संगियों से उसी तरह पृथक् हो जायेंगे जिस तरह जग जाने पर हम स्वप्न की काल्पनिक वस्तुओं से तुरंत विलग हो जाते हैं। जिस तरह मनुष्य अपने स्वप्न के विषय-भोगों में लिप्त हो जाता है उसी तरह अहं-मम की भ्रामक धारणाओं के जाल में हम तथाकथित सम्बन्धियों तथा मित्रों से लिप्त

हो जाते हैं, जो हमारे मिथ्या अहंकार को तुष्ट करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे क्षणिक अहंमन्यतावादी संग आत्मा तथा ब्रह्म सम्बन्धी हमारे असली ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेता है और हम मायावश स्थायी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ मँडराते रहते हैं। जो व्यक्ति परिवार तथा मित्रों की देहात्म बुद्धि में लिप्त रहता जाता है, वह अहं-मम के मिथ्या अहंकार को या ''मैं सब कुछ हूँ और सबकुछ मेरा है'' नहीं त्याग पाता।

जब तक हम भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग नहीं कर देते, तब तक हम भक्ति के दिव्य पद पर स्थिर नहीं हो सकते, अतएव हम नित्य सुख का रसास्वाद नहीं कर सकते। जब तक मनुष्य भगवान् कृष्ण को अपना एकमात्र सखा मान कर भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह क्षणिक तथा दिखावटी भौतिक सम्बन्धों की लालसा को त्याग नहीं पाता। अपने घर से तथा प्रियजनों से दूर पथिक अन्य यात्रियों से बातें करता है किन्तु ऐसे सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं होता। अतएव मनुष्य को भगवान् कृष्ण से अपने खोये सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हम स्वभावत: भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं, जो कि समस्त आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं और उनके साथ हमारा मौलिक सम्बन्ध प्रेम तथा सुख से पूर्ण है। किन्तु उनसे स्वतंत्र रह कर भोग करने की हमारी इच्छा से ही हम माया के भौतिक सम्बन्धों के चकरा देने वाले व्यर्थ जाल में फँसते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इस लोक में या अन्य किसी भौतिक लोक में आत्मा को आनंद या संतोष नहीं है। अतएव उसे श्रान्त पथिक की भाँति शान्ति के लिए श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी सेवक की भाँति भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; परिमृशन्—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; मुक्तः—मुक्तात्मा; गृहेषु—घर पर; अतिथि-वत्—मेहमान की तरह; वसन्—रहते हुए; न—नहीं; गृहैः—घर की परिस्थिति से; अनुबध्येत—अपने को बँधाये; निर्ममः—स्वामित्व की भावना से रहित; निरहङ्कृतः—मिथ्या अभिमान से रहित।

वास्तविक स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए मुक्तात्मा को चाहिए कि घर में एक मेहमान की तरह किसी स्वामित्व की भावना या मिथ्या अहंकार के बिना रहे। इस तरह वह घरेलू मामलों में नहीं फँसेगा।

तात्पर्य : *मुक्तः* शब्द समस्त भौतिक आसक्ति से छूटे हुए व्यक्ति का द्योतक है। इस अवस्था में, जिसे *मुक्तसंग* कहते हैं, मनुष्य अपने को भौतिक जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। यह मुक्त अवस्था पारिवारिक जीवन बिताते हुए भी प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि वह *कृष्ण-सङ्कीर्तन* के कार्यक्रम में लग जाय जिसमें भगवान् के पवित्र नामों का उच्चारण, अर्चा-विग्रह की पूजा तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेना सम्मिलित है। कृष्ण-संकीर्तन के गम्भीर कार्यक्रम के बिना स्त्री-आसक्ति की लौह शृंखला को और इस आसक्ति से उत्पन्न कार्यों को त्याग पाना कठिन है।

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कर्मभिः—कर्मों द्वारा; गृह-मेधीयैः—पारिवारिक जीवन के लिए उपयुक्त; इष्ट्वा—पूजा करके; माम्—मेरी; एव—निस्सन्देह; भक्ति-मान्—भक्त होते हुए; तिष्ठेत्—घर पर रहता रहे; वनम्—जंगल में; वा—अथवा; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रजा-वान्—जिम्मेदार सन्तान के होते हुए; वा—अथवा; परिव्रजेत्—संन्यास ग्रहण करे।

जो गृहस्थ भक्त अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए मेरी पूजा करता है, वह चाहे तो घर पर ही रह सकता है अथवा किसी पवित्र स्थान में जा सकता है या यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहस्थ के लिए तीन विकल्प बतलाये गये हैं। वह घर पर रहता रहे या वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे जिसमें अपनी पत्नी के साथ किसी तीर्थस्थान में जा सकता है। अथवा यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो जो पारिवारिक कार्यों का भार ले सके, तो वह जीवन की समस्या के निश्चित हल के लिए, संन्यास ले सकता है। तीनों ही आश्रमों में जो सफलता मिलेगी वह भगवान् के प्रति निष्ठावान शरणागति पर निर्भर करेगी। इसलिए मनुष्य में सबसे महत्त्वपूर्ण जिस योग्यता को होना चाहिए, वह कृष्णभावनामृत है।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—किन्तु; आसक्त—लिप्त; मतिः—चेतना वाला; गेहे—अपने घर पर; पुत्र—सन्तान; वित्त—तथा धन के लिए; एषण—तीव्र इच्छा से; आतुरः—विचलित; स्त्रैणः—स्त्री-भोग के लिए कामुक; कृपण—कंजूस; धीः—बुद्धि वाला; मूढः—मूर्ख; मम—हर वस्तु मेरी है; अहम्—मैं ही सबकुछ हूँ; इति—ऐसा सोच कर; बध्यते—बँध जाता है।

किन्तु जिस गृहस्थ का मन अपने घर में आसक्त है और जो इस कारण अपने धन तथा संतान को भोगने की तीव्र इच्छाओं से विचलित है, जो स्त्रियों के लिये काम-भावना से पीड़ित है, जो कृपण मनोवृत्ति रखता है और जो मूर्खतावश यह सोचता है कि, ''प्रत्येक वस्तु मेरी है और मैं ही सबकुछ हूँ'' निस्सन्देह, वह व्यक्ति माया-जाल में फँसा हुआ है।

तात्पर्य : यद्यपि व्यक्ति विविध वैश्लेषिक अथवा मनोवैज्ञानिक विधियों से अपने मन को भ्रामक पारिवारिक आसक्ति से विलग करने का प्रयास करता है, किन्तु वह भौतिक आसक्ति के जाल में अनिवार्यतः गिरता रहता है जब तक उसका हृदय कृष्णभावनामृत से शुद्ध नहीं हो जाता। कंजूस गृहस्थ केवल अपने परिवार या जाति के विषय में ही सोचता है, उसे बाहरी लोगों के प्रति तनिक भी दया नहीं आती। अहंकारी, कामी, आसक्त तथा धन एवं सन्तान का भोग करने की तीव्र इच्छा वाला भौतिकतावादी गृहस्थ चिन्ता के जाल में निराश होकर बँध जाता है।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरे; पितरौ—माता-पिता; वृद्धौ—बूढ़े; भार्या—पत्नी; बाल-आत्म-जा—गोद में बालक लिए; आत्मा-जाः—तथा मेरे अन्य बच्चे; अनाथाः—जिनका कोई रक्षक नहीं हो; माम्—मेरे; ऋते—रहित; दीनाः—दुखी; कथम्—इस जगत में किस तरह; जीवन्ति—जीवित रह सकते हैं; दुःखिताः—दुख सहते हुए।

''हाय! मेरे वृद्ध माता-पिता तथा गोद में बालक वाली मेरी पत्नी तथा मेरे अन्य बच्चे! मेरे बिना उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है और उन्हें असह्य कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरे गरीब सम्बन्धी मेरे बिना कैसे रह सकेंगे?''

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गृह—घरेलू परिस्थिति में; आशय—तीव्र इच्छा से; आक्षिप्त—अभिभूत; हृदयः—हृदय; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाला; अयम्—यह व्यक्ति; अतृप्तः—असंतुष्ट; तान्—उनको (परिवार वालों को); अनुध्यायन्—निरन्तर सोचते हुए; मृतः—मर जाता है; अन्धम्—अंधता, अज्ञान; विशते—प्रवेश करता है; तमः—अंधकार।

इस तरह अपनी मूर्खतापूर्ण मनोवृत्ति के कारण वह गृहस्थ, जिसका हृदय पारिवारिक आसक्ति से अभिभूत रहता है, कभी भी तुष्ट नहीं होता। फलस्वरूप अपने परिवार वालों का निरन्तर ध्यान करते हुए वह मर जाता है और अज्ञान के अंधकार में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : *अन्धम् विशते तम:* सूचित करता है कि आसक्त गृहस्थ अगले जीवन में पदच्युत किया जायेगा क्योंकि उसमें *मूढ धी:* अर्थात् शारीरिक आसक्ति की आदिम मनोवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, अपने को हर वस्तु का केन्द्र मानते हुए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने के बाद, मनुष्य निम्न योनि में प्रवेश करता है। हमें, जैसे भी हो, अपने मनों को कृष्ण में टिकाना चाहिए और अज्ञान के अंधकार से निकल कर कृष्णभावनामृत के असली जीवन में जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन'' नामक सत्रहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

वर्णाश्रम धर्म का वर्णन

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के कर्तव्यों तथा उनके सम्बन्धित प्रगति के उपयुक्त धार्मिक प्रथाओं का वर्णन किया है।

जो व्यक्ति वानप्रस्थ स्वीकार करता है उसे अपनी पत्नी को अपने पुत्रों की देखरेख में घर पर ही छोड़ जाना चाहिए अथवा अपने साथ लेते जाना चाहिए और जीवन के तीसरेपन को जंगल में शान्त मन से बिताना चाहिए। उसे जंगल में उगने वाले फल, कन्दमूल इत्यादि खाने चाहिए; कभी आग में पका अन्न खाना चाहिए तो कभी समय पर पकने वाले फल ग्रहण करने चाहिए। उसे वृक्ष की छाल, तृण, पत्तियाँ अथवा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसके लिए अनिवार्य है कि वह बाल, दाढ़ी या नाखुन न काटे और तपस्या करे। न ही वह अपने अंगों से धूल हटाने का विशेष प्रयास करे। उसे नित्य तीन बार शीतल जल से स्नान करना चाहिए और भूमि पर सोना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में उसे चारों दिशाओं से आग उगलती भयानक धूप में खड़े रहना चाहिए। वर्षा ऋतु में उसे मूसलाधार वर्षा में खड़े

रहना चाहिए और शीत ऋतु में उसे कंठ तक पानी के भीतर डूबे रहना चाहिए। उसे दाँत साफ करने, एक समय एकत्र करके दूसरे समय पर खाने के लिए भोजन संग्रह करने और पशु-मांस के द्वारा भगवान् की पूजा करने का सर्वथा निषेध है। यदि वह अपने शेष जीवन-भर इन कठिन अभ्यासों को करता रहे, तो उसे तपोलोक प्राप्त होगा।

जीवन का चौथापन संन्यास के निमित्त है। उसे ब्रह्मलोक तक के किसी भी लोक में निवास प्राप्त करने से विरक्ति उत्पन्न कर लेनी चाहिए। भौतिक उत्थान के लिए ऐसी आंकाक्षाएँ भौतिक कर्म के फल प्राप्त करने की इच्छा के कारण उठती हैं। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि उच्चतर लोकों में आवास पा लेने से अन्ततः कष्ट ही प्राप्त होता है, तो उसे यह आदेश है कि वह त्याग की भावना से संन्यास ग्रहण करे। संन्यास की विधि में यज्ञ द्वारा भगवान् की पूजा करना, अपने पास की हर वस्तु पुरोहितों को दान में दे देना तथा अपने ही हृदय में विविध यज्ञ-अग्नियों को स्थापित करना सम्मिलित हैं। संन्यासी के लिए स्त्री की संगति या उसका अवलोकन तक विष ग्रहण करने से भी अधिक अवांछित है। आपात्काल के अतिरिक्त संन्यासी को कभी लँगोटा या लँगोटे के ऊपर के आच्छादन के अलावा कुछ भी नहीं पहनना चाहिए। उसे अपने दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिए रहना चाहिए। उसे जीवित प्राणियों के प्रति समस्त हिंसा त्याग कर शरीर, मन तथा वाणी के कार्यों में दमित हो जाना चाहिए। उसे विरक्त होकर और अपने में स्थिर होकर, अकेले ही पर्वतों, नदियों तथा जंगलों जैसे शुद्ध स्थानों की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार कार्य में लग कर उसे भगवान् का स्मरण करना चाहिए और उसे ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ भय न हो किन्तु जहाँ अधिक लोग न रहते हों। उसे प्रतिदिन चारों वर्णों के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए किन्तु पतित या शापित लोगों के घर छोड़ देने चाहिए। उसे शुद्ध हृदय से भगवान् को अपने द्वारा एकत्र किया गया भोजन अर्पित करना चाहिए और *महाप्रसादम्* के रूप में उच्छिष्ट ग्रहण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव यह ध्यान में रखना होगा कि इन्द्रियतृप्ति की लालसा बन्धन है और इन्द्रिय-विषयों को भगवान् माधव की सेवा में लगाना मोक्ष है। यदि उसमें ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव है अथवा वह काम आदि प्रभावशाली इन्द्रियों रूपी छः अजेय शत्रुओं से विचलित होता है, अथवा मात्र जीवनयापन के लिए कोई *त्रिदण्ड* संन्यास ग्रहण करता है, तो उससे वह अपनी आत्मा का ही हनन करेगा।

परमहंस आदेशों तथा निषेधों के वशीभूत नहीं होता। वह बाह्य इन्द्रियतृप्ति से विरक्त भगवद्भक्त होता है और वह मोक्ष जैसे सूक्ष्म तृप्तिदायक उद्देश्यों की इच्छा से भी मुक्त रहता है। वह भेदभाव करने में दक्ष होता है और शिशु की तरह मान-अपमान की भावना से रहित होता है। दक्ष होते हुए भी वह मूढ की तरह घूमता रहता है और अत्यन्त विद्वान होते हुए भी पागल मूर्ख जैसी असम्बद्ध बातें करता है। वेदों में स्थिर होते हुए भी वह असंयत ढंग से आचरण करता है। वह अन्यों के अपशब्द सुन लेता है और किसी की मानहानि नहीं करता। वह न तो शत्रु की तरह कार्य करता है न ही व्यर्थ के तर्क में अपने को लगाता है। वह समस्त प्राणियों में भगवान् को देखता है तथा भगवान् के भीतर सारे जीवों को देखता है। वह भगवान् की पूजा करते रहने के लिए अपने शरीर को जीवित रखने के लिए, बिना प्रयास के जैसा भी अच्छा या बुरा भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर मिल जाता है उसे स्वीकार करता है। यद्यपि उसे अपना शरीर बनाये रखने के लिए भोजन पाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास करना पड़ता है, किन्तु जब कोई चीज मिल जाती है तब वह न तो प्रसन्न होता है और न किसी वस्तु के न मिलने पर हताश होता है। यद्यपि भगवान् पर वैदिक आदेश तथा निषेध लागू नहीं होते, किन्तु वे भी स्वेच्छा से विभिन्न नियत कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसी तरह परमहंस वैदिक आदेशों एवं निषेधों से स्वतंत्र रहते हुए विभिन्न कर्तव्य पूरे करता है। चूँकि भगवान् पर केन्द्रित दिव्य ज्ञान के द्वारा उसमें द्वैत भाव का उच्छेद हुआ रहता है, अत: अपने भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद वह मोक्ष प्राप्त करता है, जिसे *सार्ष्टि* कहते हैं और जिसमें मनुष्य भगवान् जैसा ऐश्वर्य पा लेता है।

जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। शिष्य को अपना मन श्रद्धा से पूरित करके, ईर्ष्या से दूर रह कर तथा भक्ति में स्थिर होकर, गुरु की सेवा करनी चाहिए और उसे परमेश्वर से अभिन्न मानना चाहिए। ब्रह्मचारी का मुख्य कर्तव्य है गुरु-सेवा। गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है जीवों की रक्षा तथा यज्ञ करना, वानप्रस्थ का कर्तव्य है तपस्या करना तथा संन्यासी का कर्तव्य है आत्मसंयम तथा अहिंसा बरतना। ब्रह्मचर्य (गृहस्थ को चाहिए कि पत्नी के ॠतुमती होने पर माह में एक बार छोड़ कर बाकी पूरे समय ब्रह्मचर्य पालन करे), तपस्या, स्वच्छता, आत्मतुष्टि, सभी जीवों से मैत्री तथा भगवान् की पूजा—ये हर जीवात्मा के लिए करणीय हैं। मनुष्य को अन्य लोगों की नहीं अपितु भगवान् की सदैव सेवा करने से और सभी जीवों को परमात्मा रूप में भगवान्

का वास स्थान मानने से, भगवान् की दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है। वेदों के कर्मकांड अनुभाग के अनुयायियों को विविध अनुष्ठानों के द्वारा पितृलोक तथा अन्य लोक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु यदि ये लोग भगवान् की भक्ति से युक्त हो लें, तो इन्हीं कर्मों से वे मोक्ष की चरमावस्था प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच
वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वनम्—जंगल में; विविक्षुः—प्रवेश करने का इच्छुक; पुत्रेषु—पुत्रों में से; भार्याम्—पत्नी को; न्यस्य—सौंप कर; सह—सहित; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; वने—जंगल में; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहे; शान्तः—शान्त भाव से; तृतीयम्—तीसरे; भागम्—भाग में; आयुषः—जीवन के।

भगवान् ने कहा : जो जीवन के तीसरे आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ को ग्रहण करने का इच्छुक हो, उसे अपनी पत्नी को अपने जवान पुत्रों के साथ छोड़ कर या अपने साथ लेकर शान्त मन से जंगल में प्रवेश करना चाहिए।

तात्पर्य : कलियुग में लोग सामान्यतया सौ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहते और यह भी अब असामान्य होता जा रहा है। जो पुरुष सौ वर्ष जीने की आशा रखता है उसे पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम अपना लेना चाहिए और फिर पचहत्तर वर्ष की आयु में पूर्ण संन्यास धारण करना चाहिए। चूँकि कलियुग में थोड़े ही लोग एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं, अतः मनुष्य को उसी के अनुसार तालमेल बैठाना चाहिए। वानप्रस्थ का मन्तव्य भौतिकतावादी पारिवारिक जीवन से पूर्ण वैराग्य की ओर क्रमिक संक्रमण है।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि वा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कन्द—कन्द; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; वन्यैः—जंगल में उगने वाले; मेध्यैः—शुद्ध; वृत्तिम्—जीविका; प्रकल्पयेत्—व्यवस्था करे; वसीत—पहने; वल्कलम्—पेड़ की छाल; वासः—वस्त्रों के रूप में; तृण—घास; पर्ण—पत्ते; अजिनानि—पशुओं की खालें; वा—एवं।

वानप्रस्थ आश्रम अपनाने पर मनुष्य को चाहिए कि जंगल में उगने वाले शुद्ध कन्द, मूल तथा फल खाकर जीविका चलाये। वह पेड़ की छाल, घास, पत्ते या पशुओं की खाल पहने।

तात्पर्य : विरक्त साधु जंगल में पशुओं को नहीं मारता अपितु ऐसे पशुओं की खाल प्राप्त करता है

जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई रहती है। *मनुसंहिता* के गद्यांश के अनुसार, जिसे श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उद्‌धृत किया है, *मेध्यै* (शुद्ध) शब्द सूचित करता है कि जंगल में रहते हुए साधु को शहद से बने द्रव, मांस, कवक, कुकुरमुत्ते या कोई भ्रमात्मक या नशीली जड़ी-बूटियाँ, चाहे वे दवा ही क्यों न हों, ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद्दतः ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रि कालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर के रोएँ; नख—नाखुन (हाथ तथा पाँव के); श्मश्रु—मुँह के बाल (दाढ़ी-मूछ); मलानि—मल; बिभृयात्—सहन करे; दतः—दाँत; न धावेत्—साफ न करे; अप्सु—जल में; मज्जेत—स्नानकरे; त्रि-कालम्—दिन में तीन बार; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; शयः—लेटना।

वानप्रस्थ को अपने सिर, शरीर या मुखमंडल के बाल नहीं सँवारने चाहिए, अपने नाखुन नहीं काटने चाहिए, अनियमित समय पर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए और दाँतों की सफाई का विशेष प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे जल में नित्य तीन बार स्नान करके सन्तुष्ट रहना चाहिए और जमीन पर सोना चाहिए।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन्वर्षास्वासारषाड्जले ।
आकण्थमग्नः शिशिर एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; तप्येत—तपस्या करे; पञ्च-अग्नीन्—पाँच अग्नियाँ (सिर के ऊपर सूर्य तथा चारों दिशाओं में जलने वाली अग्नियाँ); वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसार—वर्षा की झड़ी; षाट्—सहते हुए; जले—जल में; आ-कण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबा हुआ; शिशिरे—जाड़े की ऋतु में; एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; तपः—तपस्या; चरेत्—करे।

इस तरह वानप्रस्थ में लगा हुआ व्यक्ति तपते गर्मी के दिनों में अपने चारों ओर जलती अग्नि तथा सिर के ऊपर तपते सूर्य को झेल कर तपस्या करे। वर्षा ऋतु में वह वर्षा की झड़ी में बाहर रहे और ठिठुरती शीत ऋतु में वह गले तक पानी में डूबा रहे।

तात्पर्य : जो इन्द्रियतृप्ति में अपने को लगाता है उसे जीवन के अन्त में अपने पापपूर्ण तथा मौजी कार्यों के निराकरण के लिए कठिन तपस्या करनी चाहिए। किन्तु भगवद्भक्त स्वभावत: कृष्णभावनामृत उत्पन्न कर लेता है और उसे ऐसी आद्य तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। *पञ्चरात्र* में कहा गया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

"यदि कोई व्यक्ति उचित रीति से भगवान् की पूजा कर रहा हो, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ? और यदि कोई ठीक से भगवान् की तपस्या नहीं करे, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ? यदि श्रीकृष्ण को हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर अनुभव किया जाय, तो फिर कठिन तपस्या से क्या लाभ? और यदि श्रीकृष्ण हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर नहीं दिखते, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ?

अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—आग से; पक्वम्—पकाया गया; समश्नीयात्—खाये; काल—समय के द्वारा; पक्वम्—खाने के योग्य; अथ—अथवा; अपि—निस्सन्देह; वा—अथवा; उलूखल—ओखली से; अश्म—तथा पत्थर; कुट्टः—कूटा या पीसा गया; वा—अथवा; दन्त—दाँतों का प्रयोग करते हुए; उलूखलः—ओखली के रूप में; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा।

वह अग्नि द्वारा तैयार किया गया भोजन यथा अन्न अथवा समय से पके फलों को खा सकता है। वह अपने भोजन को बट्टे से या अपने दाँतों से पीस सकता है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में संस्तुति की जाती है कि जीवन के अन्त में आध्यात्मिक सिद्धि के लिए मनुष्य किसी तीर्थस्थान या जंगल में जाये। पवित्र जंगलों में उसे भोजनालय, सुपर बाजार, तुरन्त भोजनालय आदि नहीं मिलते अतः उसे इन्द्रियतृप्ति को कम करके सादा भोजन करना चाहिए। यद्यपि पाश्चात्य देशों में लोग तैयार भोजन करते हैं, किन्तु जो सादा जीवन बिता रहा हो उसे स्वयं ही अन्न अथवा अन्य भोजन को खाने से पूर्व कूटना-छानना चाहिए। यहाँ इसी का उल्लेख है।

स्वयं सञ्चिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने से; सञ्चिनुयात्—एकत्र करे; सर्वम्—हर वस्तु; आत्मनः—अपनी ही; वृत्ति—जीविका; कारणम्—सुलभ बनाने के लिए; देश—विशेष स्थान; काल—समय; बल—तथा शक्ति; अभिज्ञः—भलीभाँति जानते हुए; न आददीत—न ले; अन्यदा—दूसरी बार के लिए; आहृतम्—वस्तुएँ।

वानप्रस्थ को चाहिए कि देश, काल तथा अपनी सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए, अपने शरीर के पालन हेतु जो आवश्यक हो, उसे एकत्र करे। उसे भविष्य के लिए कोई वस्तु संग्रह नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार तपस्या करने वाले को उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की तुरन्त जरूरत हो और भोजन मिल जाने पर वह पूर्व संचित भोजन को तुरन्त त्याग दे जिससे उसके पास अतिरिक्त न रहे। यह नियम मनुष्य को भगवान् में श्रद्धापूर्वक आश्रित बनाये रखने के लिए है। उसे भोजन या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भविष्य के इस्तेमाल के लिए संग्रह नहीं करनी चाहिए। *देशकालबलाभिज्ञ* सूचित करता है कि किसी दुर्गम स्थान में या आपात्काल में अथवा शारीरिक अक्षमता होने पर इस कठोर नियम का पालन करने की आवश्यकता नहीं है, इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जब तक कोई नितान्त अशक्त न हो, तब तक वह निजी पालन-पोषण के लिए अन्यों पर निर्भर न रहे क्योंकि इससे जो ऋण एकत्र होगा उसे भौतिक जगत में अगला जन्म लेकर ही चुकता किया जा सकेगा। यह केवल उन पर लागू होता है, जो निजी शुद्धि का प्रयास करते हैं, उन पर नहीं जो चौबीसों घण्टे कृष्ण की भक्ति में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के लिए ही खाता, पहनता तथा बोलता है और इस तरह अन्यों से वह जो भी सहायता लेता है, वह अपने लिए नहीं होती। वह भगवान् के मिशन में पूरी तरह समर्पित रहता है। किन्तु जो इस तरह समर्पित नहीं है, उसे अन्यों का ऋण चुकाने के लिए इस जगत में फिर से जन्म लेना होगा।

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत्कालचोदितान् ।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७॥

शब्दार्थ

वन्यैः—जंगल से प्राप्त; चरु—धान, जौ तथा दाल की आहुतियों से; पुरोडाशैः—तथा जंगली धान से तैयार की गई यज्ञ की चपाती; निर्वपेत्—अर्पित करे; काल-चोदितान्—अनुष्ठान यथा आग्रयण जो ऋतु के अनुसार सम्पन्न होते हैं (आग्रयण में वर्षा ऋतु के बाद प्रकट होने वाले पहले फल अर्पित किये जाते हैं); न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; श्रौतेन—वेदों में उल्लिखित; पशुना—पशु-बलि के साथ; माम्—मुझको; यजेत—पूजा करे; वन-आश्रमी—वानप्रस्थ स्वीकार करके जंगल में जाने वाला।.

जिसने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार किया हो उसे चाहिए कि चरु तथा जंगल में पाये जाने

वाले धान तथा अन्य अन्नों से तैयार की गई यज्ञ-रोटी (पुरोडाश) की आहुतियों से ऋतु के अनुसार यज्ञ सम्पन्न करे। किन्तु वानप्रस्थ को चाहिए कि वह मुझे पशु-बलि कभी न अर्पित करे, यहाँ तक कि उन्हें भी जो वेदों में वर्णित हैं।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया हो, उसे न तो पशु-यज्ञ करना चाहिए, न मांस खाना चाहिए।

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पौर्णमासश्च पूर्ववत् ।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अग्नि-होत्रम्—अग्नि-यज्ञ; च—भी; दर्शः—प्रतिपादा को सम्पन्न किया गया यज्ञ; च—भी; पौर्ण-मासः—पूर्णमासी के दिन सम्पन्न यज्ञ; च—भी; पूर्व-वत्—पहले की तरह, जैसाकि गृहस्थाश्रम में किया जाता था; चातुः-मास्यानि—चातुर्मास के व्रत तथा यज्ञ; च—भी; मुनेः—वानप्रस्थ के; आम्नातानि—आदिष्ट; च—भी; नैगमैः—वेदवेत्ताओं के द्वारा।

वानप्रस्थ को चाहिए कि अग्निहोत्र, दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों को उसी तरह करता रहे जिस तरह गृहस्थाश्रम में करता था। उसे चातुर्मास्य के व्रत तथा यज्ञ भी सम्पन्न करने चाहिए क्योंकि वेदविदों ने वानप्रस्थों के लिए इन अनुष्ठानों का आदेश दिया है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यहाँ पर उल्लिखित चारों अनुष्ठानों—अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास तथा चातुर्मास्य की विशद व्याख्या की है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का ही कीर्तन करना चाहिए और वैदिक अनुष्ठानों के कठिन झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। जो व्यक्ति न तो हरे कृष्ण का कीर्तन करता है न ऐसे अनुष्ठान ही करता है, वह *पाषण्डी* बन जाता है।

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः ।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चीर्णेन—अभ्यास से; तपसा—तपस्या के; मुनिः—सन्त वानप्रस्थ; धमनि-सन्ततः—जिसके शरीर की सारी नसें दिखने लगे, इतना दुर्बल; माम्—मुझको; तपः-मयम्—सारी तपस्या का लक्ष्य; आराध्य—पूजा करके; र्षि-लोकात्—महर्लोक से परे; उपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

कठिन तपस्या करते हुए तथा जीवन की आवश्यकताओं मात्र को ही स्वीकार करते हुए, सन्त वानप्रस्थ इतना दुर्बल हो जाता है कि उसकी चमड़ी तथा अस्थियाँ ही रह जाती हैं। इस तरह

कठिन तपस्या द्वारा मेरी पूजा करके वह महर्लोक जाता है और वहाँ मुझे प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो वानप्रस्थ शुद्ध भक्ति उत्पन्न कर लेता है, वह वानप्रस्थ अवस्था में ही भगवान् कृष्ण को पा लेता है। किन्तु जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता, वह पहले महर्लोक या ऋषि लोक जाता है जहाँ से सीधे भगवान् कृष्ण को प्राप्त करता है।

मनुष्य को महर्लोक या ऋषि लोक की प्राप्ति कठोर विधि-निषेधों के पालन से ही होती है। किन्तु भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण के प्रति रुचि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) उत्पन्न किये बिना, परम मोक्ष प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जा पाना सम्भव नहीं है। इसलिए महर्लोक में असफल मुनि कीर्तन तथा श्रवण पर अधिक ध्यान देता है और इस तरह शुद्ध भगवत्प्रेम उत्पन्न कर लेता है।

यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; एतत्—यह; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या से; चीर्णम्—दीर्घकाल तक; तपः—तपस्या; निःश्रेयसम्—परम मोक्ष प्रदान करते हुए; महत्—यशस्वी; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; अल्पीयसे—नगण्य; युञ्ज्यात्—अभ्यास करता है; बालिशः—ऐसा मूर्ख; कः—कौन; अपरः—अन्य; ततः—उसके अलावा।

जो व्यक्ति, मात्र क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए, दीर्घकालीन प्रयत्न द्वारा इस कष्टप्रद किन्तु महान् तपस्या को सम्पन्न करता है, उसे सबसे बड़ा मूर्ख समझना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णित वानप्रस्थ विधि इतनी यशस्विनी है कि इससे महर्लोक तो प्राप्त हो ही जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वर्ग जाने के लिए इस विधि को मनोयोग से करता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है। भगवान् नहीं चाहते कि भौतिकतावादी धूर्तजन इस विधि का दुरुपयोग करें क्योंकि चरम लक्ष्य तो भगवत्प्रेम है।

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; असौ—सन्त वानप्रस्थ; नियमे—अपने नियत कर्तव्यों में; अकल्पः—करने में अक्षम; जरया—वृद्धावस्था के कारण; जात—उत्पन्न; वेपथुः—शरीर का कम्पन; आत्मनि—अपने हृदय में; अग्नीन्—यज्ञ-अग्नियों को; समारोप्य—रख कर; मत्-चित्तः—मुझमें अपना मन स्थिर करके; अग्निम्—अग्नि में; समाविशेत्—प्रवेश करे।

यदि वानप्रस्थ वृद्धावस्था को प्राप्त हो और शरीर काँपने के कारण अपने नियत कर्म पूरा न

कर सके, तो उसे चाहिए कि ध्यान द्वारा यज्ञ-अग्नि को अपने हृदय के भीतर स्थापित करे। फिर अपने मन को मुझमें टिकाकर उस अग्नि में प्रवेश करके अपना शरीर त्याग दे।

तात्पर्य : चूँकि वानप्रस्थ की विधि उन लोगों के लिए संस्तुत की जाती है, जो जीवन के अन्तिम छोर पर होते हैं, अतएव इसकी सम्भावना रहती है कि उनमें वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगें और वह संन्यास की अन्तिम अवस्था तक न पहुँच पाये। यदि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण अपने धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता तो उसके लिए यहाँ यह सलाह दी गई है कि वह अपने मन को कृष्ण में टिकाकर यज्ञ-अग्नि में प्रवेश करे। यद्यपि आधुनिक युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु जैसाकि इस श्लोक से प्रत्यक्ष है भगवद्धाम जाने की गम्भीरता की सराहना तो कर ही सकते हैं।

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; कर्म—सकाम कर्म द्वारा; विपाकेषु—प्राप्तव्य में; लोकेषु—ब्रह्मलोक तक के सारे लोकों में; निरय-आत्मसु—लोक जो नरकतुल्य हैं; विरागः—विरक्ति; जायते—उत्पन्न होती है; सम्यक्—पूरी तरह से; न्यस्त—त्याग कर; अग्निः—वानप्रस्थ की यज्ञ-अग्नि; प्रव्रजेत्—संन्यास ले ले; ततः—तब।

यदि यह समझते हुए कि ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर पाना दयनीय स्थिति है, कोई वानप्रस्थ सकाम कर्मों के सभी सम्भव परिणामों से पूर्ण विरक्ति उत्पन्न कर लेता है, तो वह संन्यास आश्रम ग्रहण कर सकता है।

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।
अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूज कर; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—शास्त्रीय आदेशों; माम्—मुझको; दत्त्वा—देकर; सर्व-स्वम्—जो कुछ भी पास में हो; ऋत्विजे—पुरोहित को; अग्नीन्—यम-अग्नि को; स्व-प्राणे—अपने भीतर; आवेश्य—रख कर; निरपेक्षः—आसक्तिरहित; परिव्रजेत्—सन्यास लेकर निकल पड़े।

शास्त्रीय आदेशों के अनुसार मेरी पूजा करके तथा यज्ञ-पुरोहित को अपनी सारी सम्पत्ति देकर, उसे यज्ञ-अग्नि को अपने भीतर रख लेना चाहिए। इस तरह मन को पूर्णतया विरक्त करके वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करे।

तात्पर्य : जब तक अपनी सारी भौतिकतावादी संगति को त्याग न दिया जाय तथा एकमात्र

भगवान् की सेवा में अपने को लगा न लिया जाय, तब तक संन्यास आश्रम को बनाये रखना मुश्किल है। कोई भी भौतिक इच्छा विरक्त जीवन बिताने में धीरे धीरे अवरोधक बनती है। इसलिए मुक्त संन्यासी को भौतकि इच्छाओं के खरपतवार से अपने को सावधानीपूर्वक मुक्त रखना चाहिए—यह खरपतवार स्त्री, धन तथा यश के प्रति आसक्ति के रूप में होती है। कोई भी सुन्दर उद्यान जो फल-फूलों से लदा हो बिना देखभाल के खरपतवार से भर जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सुन्दर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वही संन्यास आश्रम ग्रहण करता है, किन्तु यदि वह सतर्क रह कर अपने हृदय को स्वच्छ नहीं रखता तो सम्भव है कि वह पुन: माया की ओर मुड़ जाय।

विप्रस्य वै सन्न्यसतो देवा दारादिरूपिण: ।
विघ्नान्कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—सन्त पुरुष का; वै—निस्सन्देह; सन्न्यसत:—संन्यास ग्रहण करते हुए; देवा:—देवतागण; दार-आदि-रूपिण:—उसकी पत्नी तथा अन्य आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर; विघ्नान्—अवरोध; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; अयम्—संन्यासी; हि—निस्सन्देह; अस्मान्—देवताओं को; आक्रम्य—पार करके; समियात्—जाय; परम्—भगवद्धाम।

देवतागण यह सोच कर कि, ''संन्यास लेकर यह व्यक्ति हमसे आगे निकल कर भगवद्धाम जा रहा है'' संन्यासी के मार्ग में उसकी पूर्व पत्नी या अन्य स्त्रियों तथा आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर अवरोध उत्पन्न करते हैं। किन्तु संन्यासी को चाहिए कि इन देवताओं तथा उनके स्वरूपों पर कोई ध्यान न दे।

तात्पर्य : देवताओं को ब्रह्माण्ड-प्रशासन का अधिकार मिला हुआ है और अपनी शक्ति से वे संन्यासी की पत्नी या अन्य स्त्रियों के रूप में प्रकट हो सकते हैं जिससे संन्यासी अपना कठोर व्रत त्याग कर इन्द्रियतृप्ति में फँस जाता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण सारे संन्यासियों को यह कह कर प्रोत्साहित कर रहे हैं ''ऐसे स्वरूपों पर कोई ध्यान न दो। भगवद्धाम वापस जाने का अपना कार्य करते रहो।''

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ १५॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—पहने; चेत्—यदि; मुनिः—संन्यासी; वासः—वस्त्र; कौपीन—लँगोट; आच्छादनम्—आवरण, पर्दा; परम्—अन्य; त्यक्तम्—छोड़ा हुआ; न—कभी नहीं; दण्ड—अपने डंडे के अतिरिक्त; पात्राभ्याम्—तथा कमंडल; अन्यत्—अन्य; किञ्चित्—कोई वस्तु; अनापदि—जब कोई आपात्काल न हो।

यदि संन्यासी लँगोटे के अतिरिक्त भी कुछ पहनना चाहे तो वह कौपीन को ढकने के लिए अपनी कमर और कूल्हे के चारों ओर कोई आवरण इस्तेमाल कर सकता है। अन्यथा, यदि विशेष आवश्यकता न हो तो वह दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार न करे।

तात्पर्य : भौतिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट संन्यासी अपनी भगवान् कृष्ण की पूजा को बिगाड़ देता है।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दृष्टि—देखने से; पूतम्—शुद्ध; न्यसेत्—रखे; पादम्—अपना पाँव; वस्त्र—कपड़े से; पूतम्—छाना हुआ; पिबेत्—पिये; जलम्—जल; सत्य—सत्य द्वारा; पूताम्—पवित्र; वदेत्—बोले; वाचम्—शब्द; मनः—मन से निश्चित किया हुआ; पूतम्—पवित्र; समाचरेत्—सम्पन्न करे।

सन्त पुरुष को चाहिए कि अपनी आँखों से यह निश्चित करके अपना पाँव रखे कि ऐसा कोई जीव या कीड़ा तो नहीं है, जो उसके पाँव से कुचल जायगा। उसे अपने वस्त्र के एक छोर से छान कर ही जल पीना चाहिए और ऐसे शब्द बोलने चाहिए जिनमें सचाई की शुद्धता हो। इसी प्रकार उसे वे ही कर्म करने चाहिए जिन्हें उसके मन ने शुद्ध निश्चित कर लिया हो।

तात्पर्य : चलते समय सन्त पुरुष सावधान रहता है कि पृथ्वी पर कोई छोटा प्राणी पाँवों के नीचे आकर मर न जाय। इसी तरह वह पीने वाले पानी को कपड़े से छान लेता है, जिससे पानी में रहने वाले छोटे छोटे प्राणी पेट में न चले जाँय। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए असत्य भाषण करना भक्ति के लिए हानिप्रद है, अत: इससे बचना चाहिए। निर्विशेषवादी दर्शन का कथन और भौतिक जगत की इन्द्रियतृप्ति के गुणगान करना, चाहे स्वर्ग में ही क्यों न हो, हृदय को कलुषित बनाता है, अत: जो लोग भगवद्भक्ति में पूर्णता के इच्छुक हैं, उन्हें इससे बचना चाहिए। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह समझ में आ जायेगा कि भगवान् कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त किसी भी कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, अतएव मनुष्य को एकान्तिक रूप से कृष्णभावनामृत के शुद्ध कार्यों में ही लगना चाहिए।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मौन—व्यर्थ भाषण से बचना; अनीह—सकाम कर्मों का त्याग; अनिल-आयामाः—श्वास क्रिया को नियंत्रित करना; दण्डाः—अनुशासन; वाक्—वाणी; देह—शरीर का; चेतसाम्—मन का; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एते—ये अनुशासन; यस्य—जिसके; सन्ति—होते हैं; अङ्ग—हे उद्धव; वेणुभिः—बाँस के डंडों से; न—कभी नहीं; भवेत्—होता है; यतिः—असली संन्यासी।.

जिसने व्यर्थ बोलने, व्यर्थ के कार्य करने तथा प्राण-वायु को नियंत्रण में रखने के इन तीन आन्तरिक अनुशासनों को ग्रहण नहीं किया, वह बाँस के दण्ड उठाने मात्र से संन्यासी नहीं माना जा सकता।

तात्पर्य : दण्ड शब्द संन्यासियों द्वारा लिये जाने वाले डंडे का सूचक है और कठोर अनुशासन का भी। वैष्णव संन्यासी तीन बाँस के डण्डों की बनी हुई लाठी धारण करते हैं, जो कि शरीर, मन तथा वाणी से भगवान् की सेवा में समर्पण को बतलाते हैं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने में इन तीन *दण्डों* अर्थात् अनुशासनों (वाणी, शरीर तथा मन पर नियंत्रण) को स्वीकार करना चाहिए। *अनिलायाम्* का अभ्यास (*प्राणायाम्*) मन को वश में करने के लिए होता है और जो व्यक्ति सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा के विषय में ही सोचता है, उसे निश्चय ही प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त हुई रहती है। मन, वाणी तथा शरीर के अनुशासन रूपी आन्तरिक दण्डों को आत्मसात किये बिना तीन बाह्य दण्ड धारण करने से ही कोई वास्तविक वैष्णव संन्यासी नहीं बन जाता जैसाकि यहाँ पर भगवान् कृष्ण बतलाते हैं।

महाभारत के *हंसगीत* भाग में तथा श्रील रूप गोस्वामी के *उपदेशामृत* में संन्यास आश्रम के विषय में शिक्षाएँ हैं। वह बद्धजीव जो *त्रिदण्डि सन्यास* के बाह्य अलंकरणों को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। जो व्यक्ति झूठी प्रतिष्ठा के लिए संन्यास लेता है और कृष्ण-कीर्तन में वास्तविक प्रगति किये बिना सन्त होने का दिखावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा शीघ्र ही विनष्ट कर दिया जायेगा।

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान्वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसङ्क्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ १८॥

शब्दार्थ

भिक्षाम्—भीख माँगने से प्राप्त दान; चतुर्षु—चारों; वर्णेषु—वर्णों में; विगर्ह्यान्—गर्हित, अशुद्ध; वर्जयन्—तिरस्कार करते हुए; चरेत्—पहुँचे; सप्त—सात; आगारान्—घरों में; असङ्क्लृप्तान्—बिना किसी अनुमान या इच्छा के; तुष्येत्—तुष्ट हो ले; लब्धेन—प्राप्त हुए से; तावता—उतने से ही।

जो घर दूषित तथा अस्पृश्य हों उनका तिरस्कार करके वानप्रस्थ को चाहिए कि बिना पूर्व निश्चय के सात घरों में जाय और उनमें भीख माँगने से जो भी प्राप्त हो उससे तुष्ट हो ले। आवश्यकतानुसार वह चारों वर्णों के घरों में जा सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम को प्राप्त सन्त पुरुष भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैदिक संस्कृति के कट्टर अनुयायियों से भीख माँग सकते हैं। वैदिक आदेशानुसार विरक्त सन्त को ब्राह्मण जाति में भीख माँगनी चाहिए, किन्तु यदि वह भूखों मरने वाला हो, तो वह क्षत्रियों से, फिर वैश्यों से तथा अन्त में शूद्रों तक से, यदि वे पापी न हों, भीख माँग सकता है जैसाकि यहाँ पर *विगर्ह्यान्* शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि *असंक्लृप्तान्* यह सूचित करता है कि उसे यह सोच कर किन्हीं घरों में नहीं जाना चाहिए कि, ''उस घर से मुझे उत्तम भोजन मिल सकेगा। भिखारियों में तो उसी घर की बड़ी प्रतिष्ठा है।'' उसे बिना भेदभाव के सात घरों में जाना चाहिए और उनसे जो कुछ मिले उसी से संतुष्ट रहना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए उसे उन निवासियों के घरों से ही माँगना चाहिए जो वर्णाश्रम संस्कृति के सच्चे अनुयायी हों और ईमानदारी से जीविका चला रहे हों और पापकर्मों से मुक्त हों। वह ऐसे ही घरों से भिक्षा माँगे। वह अपने निर्वाह के लिए उनसे भिक्षा न माँगे जो भगवद्भक्ति के विरोधी हैं क्योंकि वर्णाश्रम संस्कृति का पूरा उद्देश्य भक्ति ही है।

जो लोग वैदिक संस्कृति का विरोध करते हैं, वे सन्त पुरुषों द्वारा भिक्षा माँगने को अपराध-कर्म बताकर कानून बनाते हैं। इस तरह वे सन्त भिक्षुकों को सामान्य घुमक्कड़ मान कर अपमान करते हैं और दण्ड देते हैं। काम से जी चुराने वाला आलसी व्यक्ति भीख माँगे तो वह निश्चित रूप से निन्दनीय है, किन्तु एक सन्त पुरुष, जो भगवान् की सेवा में समर्पित हो और भगवान् की दया पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास करने के लिए भिक्षा माँगता हो, उसे मानव समाज में सारी सुविधाएँ दी जानी चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भिक्षा माँगने के तीन रूप हैं। *माधुकर* मधुमक्खी का अनुकरण करने वाली विधि है, जिसमें मधुमक्खी प्रत्येक फूल से थोड़ा-थोड़ा अमृत एकत्र करती है। इस तरह सन्त पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बहुत थोड़ी मात्रा लेता है, जिससे सामाजिक

संघर्ष से बचा जाये। यहाँ पर उल्लिखित विधि *असंक्लृप्त* है, जिसमें व्यक्ति बिना भेदभाव किये सात घरों में जाता है और जो भी प्राप्त होता है उसी से संतुष्ट हो जाता है। *प्राक्प्रणीत* वह विधि है, जिसमें नियमिति दाताओं से ही निर्वाह के लिए संग्रह किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रील वीरराघव आचार्य ने संन्यास की आरंभिक अवस्था का वर्णन किया है, जो *कुटीचक्र* कहलाती है और इस प्रकार है : संन्यास धारण करने वाला व्यक्ति प्रारम्भिक अवस्था में अपने पुत्रों या अन्य सम्बन्धियों या शुभचिन्तकों से एक *कुटी* या ध्यान कुटिया बनाने को कहता है। वह सांसारिक कार्यों को छोड़ कर इसी कुटी के भीतर बैठता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से मुक्त रहने का प्रयास करता है। नियमित जीवन के निर्धारित आदेशों के अनुसार वह *त्रिदण्ड* धारण करता है, कमंडलु से अपने को शुद्ध करता है, अपना सिर (शिखा को छोड़ कर) घुटा देता है, जनेऊ में गायत्री मंत्र का जप करता है और गेरुवे वस्त्र धारण करता है। नियमित स्नान करना, स्वच्छ रहना, आचमन करना, जप करना, वेदाध्ययन करना, ब्रह्मचर्य व्रत रखना और भगवान् का ध्यान करना—इन सबको करते हुए वह अपने पुत्रों, मित्रों तथा सम्बन्धियों से नियमित रूप से भोजन प्राप्त करता है। न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, वह मोक्ष पाने के क्षण तक अपनी कुटी में स्थिर रहता जाता है।

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बहिः—शहरी क्षेत्र से बाहर, एकान्त स्थान में; जल—पानी के; आशयम्—आगार या भण्डार में; गत्वा—जाकर; तत्र—वहाँ; उपस्पृश्य—जल के स्पर्श से शुद्ध होकर; वाक्-यतः—बिना बोले; विभज्य—ठीक से वितरित करके; पावितम्—शुद्ध किया हुआ; शेषम्—बचा हुआ; भुञ्जीत—खाये; अशेषम्—पूरी तरह; आहृतम्—भिक्षा माँग कर एकत्र किया हुआ।

वह भिक्षा माँगने से एकत्र हुआ भोजन लेकर, जनसंख्य वाले क्षेत्रों को त्याग कर एकान्त स्थान में किसी जलाशय के निकट जाये। वहाँ पर स्नान करके तथा भलीभाँति हाथ धोकर भोजन का कुछ अंश माँगने वालों में बाँटे। वह बिना बोले ऐसा करे। तब शेष बचे भाग को ठीक से साफ करके, अपनी थाली का सारा भोजन खा ले और बाद के लिए कुछ भी न छोड़े।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि सन्त पुरुष को चाहिए कि उन भौतिकतावादी व्यक्तियों से न तो तर्क-वितर्क करे, न झगड़े, जो उसके भोजन में से कुछ भाग लेना चाहते हों। *विभज्य* शब्द इसका सूचक है कि कुछ हिस्सा ऐसे लोगों को दिया जाय, जिससे उत्पात न

मचे और तब जो बचे, उसे भगवान् विष्णु को अर्पित करके, तब अपनी थाली का पूरा भोजन खा ले और आगे के लिए कुछ न छोड़े। *बहिः* शब्द बताने वाला है कि उसे सार्वजनिक स्थान में नहीं खाना चाहिए। *वाग्-यत* शब्द बताता है कि मौन होकर तथा भगवान् की कृपा का ध्यान करते हुए भोजन किया जाय।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; चरेत्—इधर-उधर जाये; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—यह; निःसङ्गः—किसी भौतिक आसक्ति में बिना; संयत-इन्द्रियः—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-क्रीडः—परमात्मा के साक्षात्कार से उत्साहित; आत्म-रतः—आध्यात्मिक ज्ञान में पूर्णतया तुष्ट; आत्म-वान्—आध्यात्मिक पद पर स्थित; सम-दर्शनः—सर्वत्र समान दृष्टि से।

बिना किसी आसक्ति के, इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करके, उत्साही बने रह कर तथा भगवान् के साक्षात्कार एवं अपने में तुष्ट सन्त पुरुष को अकेले ही पृथ्वी पर विचरण करना चाहिए। उसे सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए आध्यात्मिक पद पर स्थिर रहना चाहिए।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहता है, वह हरे कृष्ण के कीर्तन में स्थिर नहीं हो सकता। वह भ्रामक इच्छाओं में बँध कर अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह वश में नहीं रख पाता। वस्तुतः मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवद्भक्ति की शरण में रहना चाहिए क्योंकि ऐसी भक्ति से वह आध्यात्मिक सच्चाई के दायरे में रहता जाता है। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के साथ भगवन्नाम के कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य स्वभावतः भौतिक इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से दूर चला जाता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों की सत्संगति से व्यर्थ की भौतिक संगति स्वयमेव समाप्त हो जाती है और मनुष्य बद्धजीव को भौतिक क्षेत्र से ऊपर उठाने और कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक ले जाने वाले वैदिक आदेशों को पूरा करने में समर्थ होता है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (४) में कहा है—

ददाति प्रतिगृहणाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम्॥

''दान में उपहार देना, दान योग्य उपहार ग्रहण करना, विश्वास में अपने मन की बात प्रकट करना, विश्वसनीय रूप से प्रश्न पूछना, प्रसाद ग्रहण करना तथा प्रसाद देना ये प्रेम के छह लक्षण है जिनमें एक

भक्त दूसरे को सहभागी बनाता है।''

इस तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों के संग रहना सीख लेता है, वह भौतिक जीवन के कल्मष से दूर रहता है। शुद्ध संगति से मनुष्य धीरे धीरे श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुणों, संगियों, लीलाओं तथा भक्ति को समझ लेता है और इस तरह इसी जीवन में ही, वह वैकुण्ठ का वासी बन सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति में कोई भौतिक कल्मष नहीं होता और न ही व्यर्थ की कोई चर्चा होती है, क्योंकि सारे शुद्ध भक्त चौबीसों घण्टे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के प्रभाव से मनुष्य *समदर्शन* उत्पन्न कर लेता है और कृष्णभावनामृत के अनुभूत ज्ञान को सर्वत्र देखता है। ज्योंही कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने लगता है, त्योंही वह *आत्मवान* बन जाता है अर्थात् अपने स्वाभाविक पद पर स्थित हो जाता है। ऐसा महावैष्णव जो निरन्तर प्रेमाभक्ति का रसास्वादन करता है और पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करता है, वह *आत्म-क्रीड* है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के भीतर जीवन का भोग करता है। महाभक्त निरन्तर भगवान् तथा उनके भक्तों के प्रति आकृष्ट रहता है अतएव वह *आत्मरत* होता है—भक्ति में निरन्तर लगे रहने से पूर्ण तुष्ट होता है। यहाँ पर उल्लिखित उच्च गुणों को भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बने बिना विकसित नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या रखता है, वह कुसंगति की ओर बढ़ता है, धीरे धीरे इन्द्रियों का संयम खो बैठता है और अपवित्र जीवन के फन्दे में पड़ जाता है। अभक्तों की असंख्य किस्में भगवान् कृष्ण की ईर्ष्या रूपी वृक्ष की शाखाओं के समान हैं। इसलिए उनकी संगति हर संभव विधि से त्याग देनी चाहिए।

भगवान् की शुद्ध भक्ति के बिना मनुष्य का सम्पर्क भगवान् की इच्छा तथा मिशन से टूट जाता है और वह भगवान् की माया द्वारा सृजित अद्‌भुत नर-नारियों, देवताओं, देवियों, राजनीतिज्ञों, वेश्याओं की पूजा करने लगता है। इस तरह मूर्खतावश वह भगवान् के अतिरिक्त वस्तुओं को भी परम अद्‌भुत मानता हैं। वस्तुत: जो लोग असीम सौन्दर्य तथा आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं उनके लिए भगवान् कृष्ण ही एकमात्र असली पूजा की वस्तु हैं। गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत को स्वीकार करके ही कोई भगवान् कृष्ण के दिव्य पद को अनुभव करता है और धीरे धीरे इस श्लोक में उल्लिखित सारे गुण उत्पन्न कर लेता है।

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विविक्त—अकेला; क्षेम—सुरक्षित; शरणः—उसका निवासस्थान; मत्—मुझमें; भाव—निरन्तर विचार से; विमल—शुद्ध; आशयः—चेतना; आत्मानम्—आत्मा के विषय में; चिन्तयेत्—केन्द्रित करे; एकम्—अकेला; अभेदेन—अभिन्न; मया—मुझसे; मुनिः—मुनि।.

मुनि को चाहिए कि सुरक्षित तथा एकान्त स्थान में रहते हुए और निरन्तर मेरे ध्यान द्वारा मन को शुद्ध करके, अपने को मुझसे अभिन्न मानते हुए एकमात्र आत्मा में अपने को एकाग्र करे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् के साथ पाँच प्रमुख प्रकार के सम्बन्धों में से किसी एक द्वारा भगवद्भक्ति में लगा रहता है, वह शुद्ध वैष्णव कहलाता है। भगवत्प्रेम में आगे बढ़ जाने के कारण शुद्ध भक्त बिना किसी भौतिक बाधा के भगवान् के यश का कीर्तन करने में सक्षम रहता है। वह कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं रखता और गुणात्मक दृष्टि से अपने को भगवान् से भिन्न नहीं मानता। जो व्यक्ति इतने पर भी नित्य आत्मा को आच्छादित करने वाली स्थूल देह तथा सूक्ष्म मन के द्वारा आकृष्ट होता रहता है, वही अपने को भगवान् से भिन्न देखता है। यह भ्रान्ति पदार्थ के साथ मिथ्या पहचान के कारण होती है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कल्मष से रहित इन्द्रियों के द्वारा समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा करे। इस तरह की गई भक्ति त्रुटिरहित मानी जाती है।

जो व्यक्ति वैदिक साहित्यक आदेशों की अवहेलना करता है, वह व्यर्थ ही मायामय कार्यों में अपनी इन्द्रियों की गतिशीलता को नष्ट करता है। वह झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से भिन्न मानता है और इस तरह कल्पना करता है कि उसकी रुचि भगवान् की रुचि से स्वतंत्र है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जीवन–स्थैर्य प्राप्त कर पाना असम्भव होता है क्योंकि काल के बाधक प्रभाव से कर्म का क्षेत्र निरन्तर बदलता रहता है। यदि भक्त भगवान् की भक्ति को छोड़ कर कोई रुचि उत्पन्न करता है, तो भगवान् से एकात्मता का उसका ध्यान विचलित होकर पलट जायेगा। जब मन भगवान् के चरणकमलों से विपथ होता है, तो भौतिक प्रकृति की द्वैतता मन में प्रधान हो उठती है और तब मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित कार्यक्रम चलाने लगता है। जो व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध में स्थिर नहीं होता वह निडर या स्थिर नहीं हो सकता और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण से वंचित रह जाता है। इसलिए इस श्लोक में हुए वर्णन के अनुसार मनुष्य को अपनी पहचान चेतना के क्षुद्र कण के रूप में करनी चाहिए

जो परम चेतना, श्रीकृष्ण, से भिन्न नहीं है। इस प्रकार मनुष्य को कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—सतर्क अध्ययन द्वारा देखे; आत्मनः—आत्मा का; बन्धम्—बन्धन; मोक्षम्—मोक्ष; च—भी; ज्ञान—ज्ञान में; निष्ठया—स्थिरता द्वारा; बन्धः—बन्धन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; विक्षेपः—इन्द्रियतृप्ति की ओर विचलन; मोक्षः—मोक्ष; एषाम्—इन इन्द्रियों के; च—भी; संयमः—पूर्ण नियंत्रण।

मुनि को चाहिए कि स्थिर ज्ञान द्वारा वह आत्मा के बन्धन तथा मोक्ष की प्रकृति को निश्चित कर ले। बन्धन तब होता है जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति की ओर चलायमान होती हैं और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण ही मोक्ष है।

तात्पर्य : अपने नित्य स्वभाव को भलीभाँति समझ लेने पर मनुष्य पुनः भौतिक शक्ति के बन्धन में नहीं बँधता और परब्रह्म की निरन्तर सेवा में लगे रहने से वह मोक्ष प्राप्त करता है। तब चलायमान इन्द्रियाँ उसे भौतिक भोक्ता होने की मिथ्या चेतना की ओर नहीं खींच ले जायेंगी। ऐसा दृढ़ इन्द्रिय नियंत्रण उसे भौतिक इन्द्रियतृप्ति की यातना से राहत दिलाता है।

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नियम्य—पूरी तरह नियंत्रित करके; षट्-वर्गम्—छहों इन्द्रियों को (दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद तथा मन); मत्-भावेन—मेरी चेतना द्वारा; चरेत्—रहे; मुनिः—मुनि; विरक्तः—विरक्त; क्षुद्र—नगण्य; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; लब्ध्वा—अनुभव करके; आत्मनि—स्वयं में; सुखम्—सुख; महत्—महान।

इसलिए पाँचों इन्द्रियों तथा मन को कृष्णभावनामृत द्वारा पूर्ण नियंत्रण में रखते हुए, मुनि को अपने भीतर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति से विरक्त हो जाना चाहिए।

पुरग्रामव्रजान्सार्थान्भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुर—शहर; ग्राम—गाँव; व्रजान्—तथा चरागाह; स-अर्थान्—जीवन-निर्वाह के लिए कार्य करने वाले; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; चरेत्—विचरण करे; पुण्य—शुद्ध; देश—स्थान; सरित्—नदियों; शैल—पर्वत; वन—तथा जंगलों सहित; आश्रम-वतीम्—ऐसे निवास-स्थानों वाली; महीम्—पृथ्वी।.

मुनि को चाहिए कि वह पवित्र स्थानों में बहती नदियों के किनारे तथा पर्वतों एवं जंगलों के एकान्त में घूमे। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षा माँगने के लिए ही, शहरों, ग्रामों तथा चरागाहों में प्रवेश करे और सामान्य कामकाजी लोगों के पास जाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *पुर* शब्द बाजारों तथा व्यापारिक केन्द्रों वाले शहरों तथा कस्बों का द्योतक है और *ग्राम* छोटे-छोटे कस्बों का, जिनमें ऐसी सुविधाएँ नहीं होतीं। जो वानप्रस्थ या संन्यासी भौतिक आसक्ति से छूटना चाहता हो, उसे चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए दिन-रात कार्य करने वाले लोगों से दूर रहे और उनके पास उन्हें दान के कार्य में संलग्न करने के लिए ही जाय। जो लोग विश्व-भर में कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं, वे मुक्तात्मा माने जाते हैं अतएव वे भौतिकतावादी जीवों को कृष्ण-भक्ति में लगाने के लिए निरन्तर उनके पास पहुँचते रहते हैं। किन्तु ऐसे प्रचारकों को भी भौतिकतावादी जगत के सम्पर्क से बचना चाहिए, जब तक कि उन्हें कृष्णभावनामृत कार्य को अग्रसर करने के लिए आवश्यक न हो। आदेश यह है कि भौतिकतावादी जगत से व्यर्थ का नाता न जोड़े।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थ-आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम के; पदेषु—पद पर; अभीक्ष्णम्—सदैव; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगना; आचरेत्—सम्पन्न करे; संसिध्यति—आध्यात्मिक रूप से सिद्ध बनता है; आशु—तुरन्त; असम्मोहः—मोह से मुक्त; शुद्ध—शुद्ध; सत्त्वः—अस्तित्व; शील—भिक्षा से या बीन कर प्राप्त; अन्धसा—भोजन से।.

वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले को चाहिए कि वह अन्यों से दान लेता रहे क्योंकि इससे वह मोह से छूट जाता है और शीघ्र ही आध्यात्मिक जीवन में सिद्ध बन जाता है। निस्सन्देह, जो इस विनीत भाव से प्राप्त भोजन से अपना पेट पालता है, उसका जीवन शुद्ध हो जाता है।

तात्पर्य : पाश्चात्य देशों के लोग सामान्यतया इतने मन्दबुद्धि होते हैं कि वे एक सन्त भिक्षुक तथा सामान्य हिप्पी में अन्तर नहीं कर पाते। सन्त भिक्षुक सदैव भगवान् की प्रामाणिक भक्ति में लगा रहता

है और उतना ही स्वीकार करता है जितने से जीवन-निर्वाह हो सके। प्रस्तुतलेखक को स्मरण है कि जब वह कृष्णभावनामृत संघ में आया तो वह एक उद्धत विश्वविद्यालय का छात्र था, किन्तु कृष्ण के नाम पर जब सड़कों पर भिक्षा माँगने लगा, तो तुरन्त ही विनम्र बन गया। यह विधि सैद्धान्तिक नहीं, अपितु अन्यों को आदर देने के लिए बाध्य करके मनुष्य जीवन को शुद्ध बनाने वाली है। जब तक कोई व्यक्ति अन्यों को सम्मान नहीं देता उसका भीख माँगना व्यर्थ है। यही नहीं, भीख माँगने से वह प्राय: बहुत अच्छा भोजन नहीं कर पाता। यह अच्छा है क्योंकि जब जीभ वश में हो जाय तो अन्य इन्द्रियाँ तुरन्त शान्त हो जाती हैं। वानप्रस्थी को अपने भोजन के लिए भिक्षा माँगने की शुद्धिकारक विधि कभी नहीं छोड़नी चाहिए और सामान्य लोगों को चाहिए कि सन्त भिक्षुक को, जो परमेश्वर के लिए उच्चतर कार्यों में लगा रहता है, मूर्खतावश हिप्पियों जैसा नहीं मानें।

नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्रचिकीर्षितात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—इसे; वस्तुतया—चरम सत्य के रूप में; पश्येत्—देखे; दृश्यमानम्—प्रत्यक्ष अनुभव से दिखने वाला; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; असक्त—आसक्ति रहित; चित्तः—चेतना वाला; विरमेत्—विरक्त हो ले; इह—इस जगत में; अमुत्र—तथा भावी जीवन में; चिकीर्षितात्—भौतिक प्रगति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों से।

मनुष्य को चाहिए कि जो भौतिक वस्तुएँ नष्ट हो जायेंगी, उन्हें चरम सत्य के रूप में न देखे। भौतिक आसक्ति से रहित चेतना द्वारा उसे उन सारे कार्यों से विलग हो जाना चाहिए जो इस जीवन में तथा अगले जीवन की भौतिक प्रगति के निमित्त हों।

तात्पर्य : किसी को यह शंका हो सकती है कि एक भद्र पुरुष किस तरह पारिवारिक जीवन से विलग होकर भिक्षुक की तरह थोड़ा-सा भोजन करके रह सकता है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन तथा अन्य सारी भौतिक वस्तुओं को, यथा शरीर ही को, कभी चरम सत्य नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये स्पष्टया नाशवान वस्तुएँ हैं। उसे इस जीवन तथा अगले जीवन में ही ऐसे भौतिक कार्यक्रमों से अलग हो लेना चाहिए जो उसके मोह का वर्धन करें।

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; आत्मनि—भगवान् में; जगत्—ब्रह्माण्ड; मनः—मन; वाक्—वाणी; प्राण—तथा प्राण-वायु से; संहतम्—निर्मित; सर्वम्—समस्त; माया—भौतिक मोह; इति—इस प्रकार; तर्केण—तर्क-वितर्क द्वारा; स्व-स्थः—अपने में स्थिर; त्यक्त्वा—त्याग कर; न—कभी नहीं; तत्—वह; स्मरेत्—स्मरण करे।

उसे चाहिए कि भगवान् के भीतर स्थित ब्रह्माण्ड तथा मन, वाणी एवं प्राण-वायु से निर्मित अपने भौतिक शरीर को तर्क-वितर्क द्वारा भगवान् की मायाशक्ति का ही प्रतिफल माने। इस तरह अपने में स्थित होकर उसे इन वस्तुओं से अपनी श्रद्धा हटा लेनी चाहिए और उन्हें फिर कभी अपने ध्यान की वस्तु नहीं बनानी चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक बद्धजीव इस जगत को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मानता है इसलिए भौतिक शरीर को अपनी वास्तविक पहचान मानता है। *त्यक्त्वा* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को भौतिक जगत तथा भौतिक देह के साथ झूठी पहचान करना त्याग देना चाहिए क्योंकि दोनों ही भगवान् की माया के प्रतिफल हैं। उसे भौतिक जगत तथा भौतिक देह को फिर कभी इन्द्रियतृप्ति के विषयों के रूप में नहीं सोचना चाहिए, अपितु उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो जाना चाहिए। भगवान् की भौतिक शक्ति चेतनारहित है, अतएव वह वास्तविक सुख का आधार नहीं बन सकती। स्वयं भगवान् ही एकमात्र परम चेतन जीव हैं। वे नितान्त आत्माराम हैं और विष्णु रूप में अकेले खड़े रहते हैं। एकमात्र विष्णु ही हमें जीवन की वास्तविक सिद्धि प्रदान कर सकते हैं, भौतिक प्रकृति की क्षुद्र कार्यप्रणाली नहीं।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—दार्शनिक ज्ञान के प्रति; निष्ठः—समर्पित; विरक्तः—भौतिक स्वरूपों से विरक्त; व—या तो; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; वा—अथवा; अनपेक्षकः—मोक्ष भी न चाहने वाला; स-लिङ्गान्—अनुष्ठानों तथा बाह्य विधानों सहति; आश्रमान्—किसी आश्रम से सम्बद्ध कर्तव्यों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; चरेत्—आचरण करे; अविधि-गोचरः—विधि-विधानों की परिधि से बाहर।

ज्ञान के अनुशीलन के प्रति समर्पित तथा बाह्य पदार्थों से विरक्त हुआ विद्वान अध्यात्मवादी (योगी) या मोक्ष की भी इच्छा से विरक्त मेरा भक्त—ये दोनों ही, उन कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं, जो बाह्य अनुष्ठानों अथवा साज-सामग्री पर आधारित होते हैं। इस तरह उनका आचरण विधि-विधानों की सीमा से परे होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक जीवन की *परमहंस अवस्था* को बताता है, जिसमें अनुष्ठान करने या बाह्य साज-सामग्री तथा विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष की खोज करने वाला पूर्णतया स्वरूपसिद्ध ज्ञानयोगी या, इससे भी आगे, भगवान् का पूर्ण भक्त जो मोक्ष भी नहीं चाहता, वह और अधिक भौतिक व्यस्तता की इच्छा नहीं करता। जब कोई व्यक्ति मन को पूरी तरह शुद्ध कर लेता है, तो पापपूर्ण आचरण की सम्भावना नहीं रहती। विधि-विधान तो उनके लिए हैं, जो अज्ञान में रह कर कर्म करने की ओर उन्मुख होते हैं या निजी तृप्ति के लिए ऐसा करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण होता है, वह मुक्त होकर विचरण कर सकता है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ कहा है। जो व्यक्ति अंधाधुंध मोटर-कार चलाना चाहता है या स्थानीय सड़क की हालत से परिचित नहीं होता, उसके लिए सड़क के चिह्नों का अनुशासन तथा यातायात के नियमों का पुलिस द्वारा लागू किया जाना आवश्यक होता है। किन्तु नितान्त सावधान चालक स्थानीय सड़कों की हालत से पूरी तरह परिचित रहता है। उसे न तो गति-सीमा तथा सावधानी के चिह्नों की आवश्यकता होती है न इन नियमों के लागू करने वाले अधिकारियों की। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। वह सभी निषेधात्मक एवं विध्यात्मक आदेशों का स्वयमेव पालन करता है, जो कृष्ण का सदा स्मरण करना और उन्हें कभी न भूलना है। किन्तु किसी को बनावटी परमहंस भक्त के उच्च पद की नकल नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसका आध्यात्मिक जीवन तुरन्त नष्ट हो जायेगा।

पिछले श्लोकों में भगवान् ने जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों, साज-सामग्री तथा अनुशासनों का विस्तार से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, संन्यासी त्रिदण्ड तथा कमण्डलु धारण करता है और विशेष ढंग से खाता-पीता तथा रहता है। परमहंस भक्त भौतिक जगत से सारी आसक्ति तथा रुचि त्याग देता है, जिससे वह वैराग्य के ऐसे बाह्य लक्षणों से आकृष्ट नहीं होता।

बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

बुधः—यद्यपि बुद्धिमान; बालक-वत्—बच्चे के समान (मान-अपमान का ध्यान न रखते हुए); क्रीडेत्—जीवन का भोग करे; कुशलः—यद्यपि दक्ष; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; चरेत्—कार्य करे; वदेत्—बोले; उन्मत्त-वत्—विक्षिप्त की तरह; विद्वान्—विद्वान होने पर भी; गो-चर्याम्—अनियंत्रित आचरण; नैगमः—वैदिक आदेशों में दक्ष होते हुए भी; चरेत्—सम्पन्न करे।

परम चतुर होते हुए भी परमहंस को चाहिए कि मान-अपमान को भुलाकर बालक के समान जीवन का भोग करे, परम दक्ष होते हुए भी जड़ तथा अकुशल व्यक्ति की तरह आचरण करे, परम विद्वान होते हुए भी विक्षिप्त व्यक्ति की तरह बोले तथा वैदिक विधियों का पंडित होते हुए भी अनियंत्रित ढंग से आचरण करे।

तात्पर्य : इस भय से कि कभी कभी लोग परम स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की जिस प्रकार अत्यधिक प्रतिष्ठा करते हैं, उससे उसका मन विचलित न हो जाये, *परमहंस संन्यासी* अपने पद को छिपाता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। ऐसा व्यक्ति न तो जनता को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, न ही सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है क्योंकि उसके जीवन का मिशन भौतिक जगत से विरक्त रहना तथा भगवान् को सदैव प्रसन्न रखना है। यद्यपि वह सामान्य विधि-विधानों की उपेक्षा करता है, किन्तु वह पापी या अनैतिक नहीं बनता, प्रत्युत वह धार्मिक अनुष्ठानों की अवहेलना करता है जैसे विशेष प्रकार से वस्त्र पहनना तथा विशेष अनुष्ठानों एवं तपस्याओं का आचरण करना।

जिन भगवद्भक्तों ने भगवन्नाम का प्रसार करने में अपना जीवन अर्पित कर दिया है, उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनामृत को इस दक्षता से प्रस्तुत करें कि आम जनता को सुहावना लगे और वे इसे स्वीकार कर सकें। जो लोग प्रचार-कार्य करते हैं उन्हें मिशनरी उन्नति के नाम पर अपनी प्रतिष्ठा को अग्रसर करने का प्रयास किये बिना, श्रीकृष्ण को लोकप्रिय बनाने की कोशिश करनी चाहिए। जो परमहंस कृष्णभावनामृत वितरण-कार्य में न लगा हो, उसे जनता के अभिमत से किसी प्रकार का लगाव नहीं रखना चाहिए।

वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वेद-वाद—वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में; रतः—लगा हुआ; न—कभी नहीं; स्यात्—हो; न—न तो; पाषण्डी—नास्तिक, वैदिक आदेशों के विरुद्ध; न—न ही; हैतुकः—कोरा तार्किक या संशयवादी; शुष्क-वाद—व्यर्थ के विषयों के; विवादे—तर्क-वितर्क में; न—कभी नहीं; कञ्चित्—कोई; पक्षम्—पक्ष; समाश्रयेत्—ग्रहण करे।

भक्त को न तो वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में उल्लिखित सकाम अनुष्ठानों में लगना चाहिए, न ही वैदिक आदेशों के विरुद्ध कार्य करके या बोल कर नास्तिक बनना चाहिए। इसी तरह उसे न तो निरे तार्किक या संशयवादी की तरह बोलना चाहिए न व्यर्थ के वाद-विवाद में

किसी का पक्ष लेना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि परमहंस भक्त अपने उच्च पद को छिपाता है, किन्तु अपने को छिपाने का प्रयास करने वाले के लिए भी कुछ कार्यों का निषेध है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि छिपाने के नाम पर उसे भूत-प्रेत नहीं बन जाना चाहिए। *पाषण्ड* शब्द द्योतक है वेदों का विरोध करने वाले नास्तिक दर्शन का यथा बौद्धमत। *हैतुक* शब्द द्योतक है भौतिक तर्क या प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किये जा सकने वाले को मानने वाले का। चूँकि वेदों का सारा उद्देश्य उसे समझना है, जो भौतिक अनुभव के परे है, अतएव संशयवादी का तथाकथित तर्क आध्यात्मिक उन्नति के लिए असंगत है। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में चेतावनी दी है कि भक्त को नास्तिक साहित्य नहीं पढ़ना चाहिए भले ही नास्तिकता का खण्डन उसका उद्देश्य हो। ऐसे साहित्य से पूरी तरह बचना चाहिए। उपर्युक्त निषिद्ध कार्य कृष्णभावनामृत की प्रगति में इतने अहितकर हैं कि इन्हें बाहरी दिखावे के लिए भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उद्विजेत—विचलित या भयभीत हो; जनात्—अन्य लोगों के कारण; धीरः—सन्त पुरुष; जनम्—अन्य लोग; च—भी; उद्वेजयेत्—डराये या विचलित करे; न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; अति-वादान्—अपमानजनक या कटु वचन; तितिक्षेत—सहन करे; न—कभी नहीं; अवमन्येत—कम करके माने; कञ्चन—कोई भी; देहम्—शरीर; उद्दिश्य—के हेतु; पशु-वत्—जानवर के समान; वैरम्—दुश्मनी, शत्रुता; कुर्यात्—उत्पन्न करे; न—कभी नहीं; केनचित्—किसी से।

सन्त पुरुष को चाहिए कि वह न तो किसी के डराने या विचलित करने से डरे, न ही अन्य लोगों को डराये-धमकाये। उसे अन्यों द्वारा किया गया अपमान सहना चाहिए और कभी किसी को छोटा नहीं समझना चाहिए। भौतिक शरीर के लिए वह किसी से शत्रुता न उत्पन्न करे क्योंकि तब वह पशु-तुल्य होगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

तृणाद् अपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

"मनुष्य को चाहिए कि अपने को तिनके से भी निम्न मानते हुए विनीत भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित तथा अन्यों को सम्मान देने के लिए उद्यत रहना चाहिए। ऐसी मन:स्थिति में भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन किया जा सकता है।"

वैष्णव को चाहिए कि मन, वचन या शरीर से किसी अन्य जीव को विचलित न करे। उसे सदैव सहिष्णु होना चाहिए और अन्यों को छोटा नहीं मानना चाहिए। यद्यपि एक वैष्णव भगवान् कृष्ण के लिए असुरों के विरुद्ध कठोर कदम उठा सकता है—जैसाकि अर्जुन, हनुमान तथा अन्य अनेक भक्तों ने किया—किन्तु जहाँ तक अपनी ख्याति का प्रश्न है एक वैष्णव अत्यन्त विनीत होता है।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—निस्सन्देह; परः—परम; हि—निश्चय ही; आत्मा—भगवान्; भूतेषु—सारे शरीरों के भीतर; आत्मनि—जीव के भीतर; अवस्थितः—स्थित; यथा—जिस प्रकार; इन्दुः—चन्द्रमा; उद—जल के; पात्रेषु—विभिन्न जलाशयों में; भूतानि—सारे शरीर; एक—एक परमेश्वर की; आत्मकानि—शक्ति से बने; च—भी।

एक ही परमेश्वर समस्त भौतिक शरीरों के भीतर तथा हर एक की आत्मा के भीतर स्थित है। जिस तरह चन्द्रमा असंख्य जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह परमेश्वर एक होकर भी हर एक के भीतर उपस्थित है। इस तरह हर भौतिक शरीर अन्ततः एक ही भगवान् की शक्ति से बना है।

तात्पर्य : सारे भौतिक शरीर एक ही प्रकृति से बने हैं, जो अंततः एक ही परमेश्वर की शक्ति है। इसलिए किसी जीव के प्रति वैर-भाव को उचित नहीं ठहराया जा सकता। पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि कभी भी किसी के प्रति ईर्ष्यालु या शत्रुवत् नहीं बनते, यहाँ तक कि उन्हें ईश्वर के नियमों का खुला उल्लंघन करने वालों द्वारा प्रताड़ित ही क्यों न किया जा रहा हो। प्रत्येक जीव अन्ततोगत्वा ईश्वर का पुत्र है और ईश्वर हर एक के शरीर के भीतर विद्यमान हैं, अतएव सन्तों को तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति याप्राणी के साथ बर्ताव करते समय भी अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध्वा—न मिलने पर; न—नहीं; विषीदेत—दुखी हो; काले काले—विभिन्न समयों पर; अशनम्—भोजन; क्वचित्—जो भी; लब्ध्वा—पाकर; न—नहीं; हृष्येत्—हर्षित हो; धृति-मान्—संकल्प वाला; उभयम्—दोनों (अच्छा भोजन पाने तथा न पाने पर); दैव—ईश्वर की परम शक्ति के; तन्त्रितम्—वश में।

यदि किसी को विभिन्न समयों पर उचित भोजन नहीं मिलता, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिए और जब उसे अच्छा भोजन मिले तो हर्षित नहीं होना चाहिए। दृढ़ संकल्प करके उसे दोनों ही स्थितियों को ईश्वर के अधीन समझना चाहिए।

तात्पर्य : चूँकि हम भौतिक शरीर का भोग करना चाहते हैं अतएव नाना प्रकार के भौतिक अनुभवों से हमें क्षणिक सुख तथा अनिवार्य दुख मिलते हैं। हम मूर्खतावश अपने को नियंत्रक तथा कर्ता मान बैठते हैं और इस तरह झूठे अहं से हमें शरीर तथा मन की क्षणिक भावनाएँ सहनी होती हैं।

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

आहार—भोजन; अर्थम्—के हेतु; समीहेत—प्रयास करे; युक्तम्—उचित; तत्—व्यक्ति का; प्राण—जीवनी-शक्ति; धारणम्—धारण करते हुए; तत्त्वम्—आध्यात्मिक सत्य; विमृश्यते—चिन्तन किया जाता है; तेन—मन, इन्द्रिय तथा प्राण के उस बल पर; तत्—वह सत्य; विज्ञाय—जान कर; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

आवश्यकता पड़े तो उसे चाहिए कि पर्याप्त भोजन पाने के लिए प्रयास करे क्योंकि स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए यह आवश्यक तथा उचित है। इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण के स्वस्थ रहने पर, वह आध्यात्मिक सत्य का चिन्तन कर सकता है और सत्य समझने पर वह मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : यदि भोजन अपने आप या भिक्षाटन से नहीं आ पाता, तो अपने शरीर तथा आत्मा को बनाये रखने के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक कार्यक्रम में विघ्न न आये। सामान्यतया जो लोग आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे सत्य पर एकाग्र नहीं रह सकते, यदि उनके मन तथा शरीर कम खाने से क्षीण पड़ जाँय। दूसरी ओर अत्यधिक भोजन करना आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा व्यवधान है, अत: उसे त्याग देना चाहिए। इस श्लोक में *आहारार्थम्* शब्द सूचक है आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपने को स्वस्थ बनाये रखने के लिए ही भोजन करने का।

यह अनावश्यक रूप से भिक्षा-संग्रह का समर्थन नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक कार्यक्रम के लिए आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, तो यह अधिक संग्रह उस भारी बोझ के समान बन जाता है, जो उसे भौतिक पद तक घसीट ले जाता है।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—मनमाना; उपपन्न—अर्जित; अन्नम्—भोजन; अद्यात्—खाये; श्रेष्ठम्—उत्तम; उत—अथवा; अपरम्—निम्न जाति का; तथा—उसी तरह; वासः—वस्त्र; तथा—उसी तरह; शय्याम्—बिस्तर; प्राप्तम् प्राप्तम्—अपने आप मिल जाने वाला; भजेत्—स्वीकार करे; मुनिः—मुनि।

मुनि को चाहिए कि अपने आप मिल जाने वाला उत्तम या निम्न कोटि का जैसा भी भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर हो, उसे स्वीकार करे।

तात्पर्य : कभी तो बिना प्रयास के उत्तम भोजन मिलेगा और कभी बेस्वाद भोजन प्राप्त होगा। अतः मुनि को चाहिए कि उत्तम भोजन मिलने पर न तो हर्षित हो न अपने आप मिलने वाले सामान्य भोजन को क्रोधवश ठुकराये। यदि भोजन नहीं आता, तो उसे भूखों नहीं मरना चाहिए। इन श्लोकों से प्रकट है कि मुनि में भी पर्याप्त व्यावहारिक बुद्धि होनी चाहिए।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—सामान्य स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ साफ करना; स्नानम्—स्नान करना; न—नहीं; तु—निस्सन्देह; चोदनया—बलपूर्वक; चरेत्—सम्पन्न करे; अन्यान्—अन्य; च—भी; नियमान्—नियमित कार्य; ज्ञानी—जिसने मेरा ज्ञान प्राप्त कर लिया है; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लीलया—स्वेच्छा से; ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मैं भगवान् होते हुए, स्वेच्छा से अपने नैत्यिक कर्म करता हूँ, उसी तरह मेरा ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले को सामान्य स्वच्छता बरतनी चाहिए, अपने हाथों को जल से साफ करना चाहिए, स्नान करना चाहिए और अन्य नियमित कार्यों को किसी दबाव से नहीं बल्कि स्वेच्छा से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : जब भगवान् इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मानव जाति के समक्ष उचित दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए सामान्यतया वैदिक नियमों का पालन करते हैं। भगवान् स्वेच्छा से कार्य करते हैं

क्योंकि उन्हें कोई भी व्यक्ति बाध्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार *ज्ञानी* जो आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, उसे स्वेच्छा से शरीर-सम्बन्धी नैत्यिक कर्म करने चाहिए, विधि-विधानों के दास रूप में नहीं। ज्ञानी तो कृष्ण का दास होता है, विधि-विधानों का नहीं। तो भी एक योगी भगवान् की प्रसन्नता के लिए नैत्यिक कर्म निष्ठापूर्वक करता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह भगवान् की इच्छानुसार स्वतः हिलता-डुलता है। ज्ञानी कभी भी न तो भौतिक शरीर का दास बन सकता है, न शरीर से सम्बद्ध नियमों का। किन्तु इस श्लोक का तथा वैदिक शास्त्रों केअन्य ऐसे ही कथनों का गलत अर्थ लगाकर अनैतिक मनमाने आचरण को परिपुष्ट नहीं किया जा सकता। भगवान् कृष्ण जीवन की परमहंस अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। जो लोग भौतिक शरीर के प्रति आसक्त हैं, उन्हें इस परमहंस अवस्था से कुछ भी लेना-देना नहीं है, न ही उन्हें इस अद्वितीय पद का दुरुपयोग करना चाहिए।

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।
आदेहान्तात्क्वचित्ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; तस्य—ज्ञान का; विकल्प—कृष्ण से पृथक् किसी वस्तु की; आख्या—अनुभूति; या—जो; च—भी; मत्—मेरे; वीक्षया—ज्ञान द्वारा; हता—विनष्ट; आ—तब तक; देह—शरीर की; अन्तात्—मृत्यु; क्वचित्—कभी कभी; ख्यातिः—ऐसी अनुभूति; ततः—तब; सम्पद्यते—समान ऐश्वर्य पाता है; मया—मेरे साथ।

ज्ञानी किसी भी वस्तु को मुझसे पृथक् नहीं देखता क्योंकि मेरा ज्ञान हो जाने से वह ऐसी भ्रामक अनुभूति को नष्ट कर चुका होता है। चूँकि भौतिक देह तथा मन ऐसी अनुभूति के लिए पहले से अभ्यस्त होते हैं अतः ऐसी अनुभूति की पुनरावृत्ति हो सकती है, किन्तु मृत्यु के समय ऐसा ज्ञानी मेरे समान ही ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के ३२वें श्लोक में कृष्ण ने बतलाया है कि सारी भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ उनकी शक्ति की विस्तार हैं। भगवान् का ज्ञान होने पर मनुष्य यह भ्रम (मोह) त्याग देता है कि कोई भी वस्तु किसी भी समय और कहीं भी भगवान् कृष्ण से पृथक् है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यह भी बतलाया है कि भक्ति करने के लिए शरीर तथा मन को स्वस्थ रखना चाहिए। इसलिए कभी कभी ज्ञानी व्यक्ति भी इस जगत में कुछ परिस्थितियों अथवा वस्तुओं को स्वीकार करते या उनका बहिष्कार करते देखा जा सकता है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तु पर दिखने वालासंक्षिप्त एकाग्रता का द्वैत,

ज्ञानी की मुक्तावस्था को परिवर्तित नहीं करता। उसे मृत्यु के समय वैकुण्ठ में भगवान् कृष्ण जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। मोह का कार्य ही है मनुष्य को कृष्ण से पृथक् करना किन्तु शुद्ध भक्त के आचरण या मनोवृत्ति में द्वैत का संक्षिप्त एवं सामयिक प्राकट्य उसे भगवान् से पृथक् नहीं करता। यह वास्तविक मोह नहीं होता क्योंकि इसमें मोह के अनिवार्य कार्य का—भगवान् कृष्ण से पृथक् करने का—अभाव रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने स्वरूपसिद्ध (ज्ञानी) भक्त का वर्णन इस प्रकार किया है। भगवद्‌भक्त किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् नहीं देखता, अतएव वह अपने को इस जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। वह हर क्षण भगवान् कृष्ण की सेवा करने के लिए इच्छुक रहता है। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के प्रति उन्मुख लोग अपने भोग की व्यवस्था करने में समय बिताते हैं उसी तरह भक्तगण भी भगवान् की भक्ति करने की व्यवस्था करने में सारे दिन लगे रहते हैं। इसलिए उन्हें भौतिकतावादी इन्द्रिय भोक्ताओं की तरह कर्म करने के लिए समय ही नहीं बचता। सामान्य लोगों को ऐसा लग सकता है कि शुद्ध भक्त किसी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखता है किन्तु शुद्ध भक्त मुक्तात्मा के पद पर स्थिर रहता है और उसका भगवद्धाम में आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करना निश्चित है। सामान्य, भौतिकतावादी व्यक्ति भगवद्‌भक्तों के कार्यों को सदा नहीं समझ पाते, अतएव वे उन्हें अपने समान समझ कर उनके पद को घटा कर बताने का प्रयत्न कर सकते हैं। किन्तु जीवन के अन्त में भगवद्‌भक्तों तथा सामान्य भौतिकतावादियों को मिलने वाले फल बहुत भिन्न होते हैं।

दु:खोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ।
अज्ज्ञासितमद्धर्मो मुनिं गुरुमुपव्रजेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

दु:ख—दुख; उदर्केषु—भावी फल के रूप में; कामेषु—इन्द्रियतृप्ति में; जात—उत्पन्न; निर्वेद:—विरक्ति; आत्म-वान्—जीवन में आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक; अजिज्ञासित—ठीक से विचार न करने वाला; मत्—मुझको; धर्म:—प्राप्त करने की विधि; मुनिम्—ज्ञानी व्यक्ति; गुरुम्—गुरु के पास; उपव्रजेत्—जाये।

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के फल को दुखदायी जानते हुए, उससे विरक्त है और जो आध्यात्मिक सिद्धि चाहता है, किन्तु जिसने मुझे प्राप्त करने की विधि का गम्भीरता से विश्लेषण नहीं किया है, उसे प्रामाणिक तथा विद्वान गुरु के पास जाना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले (ज्ञानी) के कर्तव्य

का वर्णन किया है। अब वे आत्म-साक्षात्कार चाहने वाले ऐसे व्यक्ति की स्थिति बता रहे हैं, जो भौतिक जीवन से विरक्त हो चुका है किन्तु जिसमें कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान का अभाव है। ऐसे व्यक्ति को कृष्ण-भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में पहुँचना चाहिए तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सच्चे मन से उन्मुख हो, उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक नियमित अनुशासन ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; परिचरेत्—सेवा करे; भक्तः—भक्त; श्रद्धा-वान्—श्रद्धा समेत; अनसूयकः—ईर्ष्या-द्वेष के बिना रह कर; यावत्—जब तक; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; विजानीयात्—अच्छी तरह जान लेता है; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; गुरुम्—गुरु; आदृतः—आदर समेत।

जब तक भक्त को पूरी तरह आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति न हो ले, उसे चाहिए कि परम श्रद्धा तथा आदरपूर्वक एवं द्वेषरहित होकर गुरु की सेवा करे, क्योंकि गुरु मुझसे अभिन्न होता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी *गुर्वष्टक* प्रार्थनाओं में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु की कृपा से ही मनुष्य को भगवान् की कृपा प्राप्त होती है। जिस भक्त को महान् आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद प्राप्त होता है, वह भगवान् के मिशन में सीधे लगने के योग्य बन जाता है। श्रील प्रभुपाद सदैव कहा करते थे कि वैराग्य में गुरु की सेवा, गुरु के मिशन को अग्रसर करना, भक्ति का सर्वोच्च रूप है। इस श्लोक में *परिचरेत्* शब्द अपने गुरु की सेवा में लगे रहने का सूचक है। दूसरे शब्दों में, जिसे अपने गुरु की शिक्षाएँ ठीक से समझ में न आई हों, उसे चाहिए कि गुरु के निकट रहे जिससे पुनः मोह में न गिरे, किन्तु जिसे अपने गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह विश्व-भर में यात्रा करके अपने गुरु के मिशन का विस्तार कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में कर सकता है।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; असंयत—वश में न करके; षट्—छह; वर्गः—कल्मष का प्रकार; प्रचण्ड—भयानक; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; सारथिः—चालक, बुद्धि; ज्ञान—ज्ञान का; वैराग्य—तथा वैराग्य; रहितः—विहीन; त्रि-दण्डम्—संन्यास आश्रम; उपजीवति—अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रयुक्त करते हुए; सुरान्—पूज्य देवताओं; आत्मानम्—अपने को; आत्म-स्थम्—अपने में स्थित; निह्नुते—अस्वीकार करता है; माम्—मुझको; च—भी; धर्महा—धर्म का विनष्ट करने वाला; अविपक्व—जो लीन न हो पाया हो; कषायः—कल्मष; अस्मात्—इस जगत से; अमुष्मात्—अगले जीवन से; च—भी; विहीयते—विपथ हो जाता है।

जिसने छह प्रकार के मोहों (काम, क्रोध, लोभ, उत्तेजना, मिथ्या अहंकार तथा नशा) पर नियंत्रण नहीं पा लिया, जिसकी बुद्धि जो कि इन्द्रियों की अगुवा है, भौतिक वस्तुओं पर अत्यधिक आसक्त रहती है, जो ज्ञान तथा वैराग्य से रहित हैं, जो अपनी जीविका चलाने के लिए संन्यास ग्रहण करता है, जो पूज्य देवताओं, स्वात्म तथा अपने भीतर के परमेश्वर को अस्वीकार करता है और इस तरह सारा धर्म नष्ट कर देता है और जो अब भी भौतिक कल्मष से दूषित रहता है, वह विपथ होकर इस जन्म को तथा अगले जन्म को भी विनष्ट कर देता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन व्यर्थ के पुरुषों की निन्दा करते हैं, जो स्थूल मोह के सारे लक्षणों से युक्त होते हुए भी, इन्द्रियतृप्ति के लिए संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वैदिक सिद्धान्तों के बुद्धिमान अनुयायी संन्यास के झूठे दिखावे को कभी नहीं मानते। ऐसे तथाकथित संन्यासी जो वैदिक धर्म का विनाश करते हैं, कभी कभी मूर्ख लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे अपने को तथा अपने अनुयायियों को ठगते रहते हैं। ऐसे धूर्त संन्यासी वास्तव में भगवान् कृष्ण की सेवा में कभी नहीं लगे रहते।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भिक्षोः—संन्यासी का; धर्मः—मुख्य धार्मिक सिद्धान्त; शमः—समता; अहिंसा—अहिंसा; तपः—तपस्या; ईक्षा—भेदभाव (मन तथा शरीर में); वन—जंगल में; ओकसः—वास करने वाले का, वानप्रस्थ का; गृहिणः—गृहस्थ का; भूत-रक्षा—समस्त जीवों को शरण प्रदान करते हुए; इज्या—यज्ञ सम्पन्न करना; द्वि-जस्य—ब्रह्मचारी का; आचार्य—गुरु; सेवनम्—सेवा।

संन्यासी के मुख्य धार्मिक कार्य हैं समता तथा अहिंसा जबकि तपस्या तथा शरीर और आत्मा के अन्तर का दार्शनिक ज्ञान ही वानप्रस्थ में प्रधान होते हैं। गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं सारे जीवों को आश्रय देना तथा यज्ञ सम्पन्न करना और ब्रह्मचारी मुख्यतया गुरु की सेवा करने में

लगा रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी अपने गुरु के आश्रम में रहता है और स्वयं आचार्य की सहायता करता है। सामान्यतया गृहस्थों को यज्ञ करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा का कार्य सौंपा जाता है। उन्हें सारे जीवों के लिए जीविका प्रदान करनी चाहिए। वानप्रस्थ को अपने वैराग्य का पद बनाये रखने के लिए शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट समझना चाहिए और तपस्या भी करनी चाहिए। संन्यासी को आत्म-साक्षात्कार में पूरी तरह अपना शरीर, मन तथा वाणी लगाना चाहिए। मन की समता प्राप्त करके वह सारे जीवों का सर्वश्रेष्ठ शुभेच्छु होता है।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-चर्यम्—ब्रह्मचर्य; तपः—तपस्या; शौचम्—आसक्ति रहित मन की शुद्धता; सन्तोषः—पूर्ण सन्तोष; भूत—सारे जीवों के प्रति; सौहृदम्—मैत्री; गृहस्थस्य—गृहस्थ की; अपि—भी; ऋतौ—उचित समय पर; गन्तुः—अपनी पत्नी के पास जाकर; सर्वेषाम्—सभी मनुष्यों की; मत्—मेरी; उपासनम्—पूजा।

गृहस्थ को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही नियत समय पर अपनी पत्नी के साथ संभोग (सहवास) करे। अन्यथा वह ब्रह्मचर्य तपस्या, मन तथा शरीर की स्वच्छता, अपने स्वाभाविक पद पर संतोष तथा सभी जीवों के प्रति मैत्री का अभ्यास करे। मेरी पूजा तो वर्ण अथवा आश्रम का भेदभाव त्याग कर सबों को करनी चाहिए।

तात्पर्य : *सर्वेषां मदुपासनम्* सूचित करता है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सभी अनुयायियों को भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, नहीं तो पद से नीचे गिरने का खतरा है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३) में कहा गया है—*न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः*—भले ही कोई वैदिक अनुष्ठानों तथा प्रथाओं को सम्पन्न करने में बढ़ा-चढ़ा हो, भगवान् की पूजा किये बिना वह निश्चित रूप से नीचे गिर जायेगा।

गृहस्थाश्रमियों को कूकरों-शूकरों की तरह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी संभोग-शक्ति का भोग करने का अधिकार नहीं है। धार्मिक गृहस्थ को नियत काल तथा स्थान में अपनी पत्नी के पास जाना चाहिए और भगवान् की प्रसन्नता के लिए सन्त स्वभाव की सन्तान पैदा करनी चाहिए। अन्यथा, यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि गृहस्थ को चाहिए कि उन्नत मानव सभ्यता के अन्य सदस्यों के साथ

ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे। *शौचम्* शब्द मन तथा शरीर की स्वच्छता का सूचक है या फिर आसक्ति तथा विकर्षण से पूर्ण मुक्ति का। जो व्यक्ति ईश्वर की पूजा परम नियन्ता के रूप में करता है, वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त किसी भी स्थिति में *सन्तोष* का अनुभव करता है। हर व्यक्ति के भीतर भगवान् कृष्ण का दर्शन करने से, वह *भूत-सुहृत्* अर्थात् सबों का शुभेच्छु मित्र बन जाता है।

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् ।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; यः—जो; स्व-धर्मेण—अपने नियत कर्तव्य द्वारा; भजेत्—पूजा करता है; नित्यम्—सदैव; अनन्य-भाक्—पूजा की अन्य सामग्री से नहीं; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरे; भावः—अवगत; मत्-भक्तिम्—मेरी भक्ति; विन्दते—प्राप्त करता है; दृढाम्—अटल।

जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरी पूजा करता है और जो सारे जीवों में मुझे उपस्थित समझता है, वह मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट बतलाया गया है कि सम्पूर्ण वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति करना है, जिसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण विस्तृत रूप में करते आ रहे हैं। किसी भी वर्ण या आश्रम में मनुष्य को भगवद्भक्त होना चाहिए और एकमात्र उन्हीं की पूजा करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है और आचार्य की पूजा सीधे भगवान् के चरणकमलों में पहुँचती है। यद्यपि सामान्य गृहस्थों को कभी कभी वैदिक आदेश दिए जाते हैं कि वे विशिष्ट देवताओं या पूर्वजों की पूजा करें, किन्तु हर एक को स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सभी जीवों के भीतर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है *सर्वभूतेषु मद्भावः।* शुद्ध भगवद्भक्त केवल भगवान् की पूजा करते हैं और जो मनुष्य शुद्ध भक्ति के पद तक नहीं पहुँच सकते हैं, वे देवताओं तथा अन्य सारे जीवों के भीतर भगवान् का ध्यान यह समझ कर तो करें कि सारी धार्मिक विधियाँ अन्ततोगत्वा भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त हैं। प्रचार-कार्य के समय, शुद्ध भक्तों तक को सरकारी नेताओं तथा समाज के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों से पाला पड़ता रहता है, कभी कभी तो उनकी प्रशंसा करनी होती है और उनके आदेशों का पालन करना होता है। तो भी क्योंकि हर एक के भीतर परमात्मा रूप में स्थित भगवान् कृष्ण का भक्तगण सदैव ध्यान करते हैं, इसलिए वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए कार्य करते हैं,—किसी सामान्य व्यक्ति के आनन्द के लिए नहीं। वे व्यक्ति जो अपने वर्णाश्रम कर्तव्यों

के दौरान, विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं, उन्हें भी हर एक का आधार भगवान् को मानना चाहिए। उन्हें सारे कार्यकलापों से भगवान् को प्रसन्न करने में दत्तचित्त रहना चाहिए। जीवन की यह अवस्था ईश्वर-प्रेम कहलाती है और इससे वास्तविक मोक्ष प्राप्त होता है।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—प्रेमाभक्ति से; उद्धव—हे उद्धव; अनपायिन्या—अचल; सर्व—समस्त; लोक—लोकों के; महा-ईश्वरम्—परमेश्वर को; सर्व—हर वस्तु की; उत्पत्ति—सृष्टि का कारण; अप्ययम्—तथा संहार का; ब्रह्म—परब्रह्म; कारणम्—ब्रह्माण्ड का कारण; मा—मेरे पास; उपयाति—आता है; सः—वह।

हे उद्धव, मैं सारे लोकों का परमेश्वर हूँ और परम कारण होने से, मैं इस ब्रह्माण्ड का सृजन और विनाश करता हूँ। इस तरह मैं परब्रह्म हूँ और जो अविचल भक्ति के साथ मेरी पूजा करता है, वह मेरे पास आता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.११) में कहा गया है, कृष्ण को तीन रूपों में जाना जाता है—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा अन्त में सबों के उद्गम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में। भगवान् कृष्ण निर्विशेष दार्शनिकों को अपने शरीर की किरणों में लीन करते हैं, वे पूर्ण योगियों के समक्ष हृदय के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं और अन्त में अपने शुद्ध भक्तों को आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु अपने धाम वापस लाते हैं।

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात्समुपैति माम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्व-धर्म—अपना नियत कार्य करके; निर्णिक्त—शुद्ध करके; सत्त्वः—अपना जीव; निर्ज्ञात—पूरी तरह जानते हुए; मत्-गतिः—मेरा परम पद; ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान से; विज्ञान—तथा आत्म-ज्ञान से; सम्पन्नः—युक्त; न चिरात्—निकट भविष्य में; समुपैति—ठीक से प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

इस तरह जो अपने नियत कर्म करके अपने जीवन को शुद्ध कर चुका होता है, जो मेरे परम पद को पूरी तरह से समझता है और जो शास्त्रीय तथा स्वरूपसिद्ध ज्ञान से युक्त होता है, वह शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों का; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एषः—यह; आचार—प्रामाणिक प्रथा के अनुसार उचित आचरण द्वारा; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सः—वह; एव—निस्सन्देह; मत्-भक्ति—मेरीभक्ति से; युतः—युक्त; निःश्रेयस—जीवन की सर्वोच्च सिद्धि; करः—देने वाला; परः—परम।

जो इस वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायी हैं, वे उचित आचार की प्रामाणिक प्रथाओं के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। जब प्रेमाभक्ति में ऐसे वर्णाश्रम कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, तो वे जीवन की चरम सिद्धि देने वाले होते हैं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के सदस्यों को अनेक परम्परागत कार्य करने होते हैं—यथा पूर्वजों को उनके पापफलों से बचाने के लिए पितरों की पूजा करना। ऐसे समस्त वैदिक अनुष्ठान, यज्ञ, तप इत्यादि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अर्पित कर देना चाहिए। तब वे ही भगवद्धाम वापस जाने के दिव्य साधन बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत या श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति प्रगतिशील मानव जीवन का सार समाहार है।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान्पृच्छति यच्च माम् ।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥ ४८॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; साधो—हे साधु उद्धव; भवान्—तुमने; पृच्छति—पूछा है; यत्—जो; च—तथा; माम्—मुझसे; यथा—साधन जिनसे; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; संयुक्तः—पूरी तरह लगा हुआ; भक्तः—भक्त होने से; माम्—मेरे पास; समियात्—आ सके; परम्—परम।

हे साधु उद्धव, तुमने जैसा पूछा मैंने तुम्हें वे सारे साधन बतला दिये हैं, जिनसे अपने नियत कर्म में लगा हुआ मेरा भक्त मेरे पास वापस आ सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''वर्णाश्रम धर्म का वर्णन'' नामक अठारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस तरह काल्पनिक ज्ञान के अभ्यासकर्ता अपनी विधि

त्याग देते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त शाश्वत रूप से भक्ति में लगे रहते हैं। साथ ही योगियों के यम इत्यादि अभ्यासों का भी वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, ''जो वास्तव में ज्ञानी है, जो आत्मा के सत्य को जानता है और दिव्य अन्तर्दृष्टि रखता है, वह संसार के द्वैतों को तथा भोग के समर्थक तथाकथित ज्ञान का बहिष्कार कर देता है। वह अपने को सबके स्वामी भगवान् को तुष्ट करने के प्रयास में लगाता है। यही शुद्ध *भक्तियोग* है। यद्यपि मंत्रों के उच्चारण जैसे सामान्य पवित्र कार्य से दिव्य ज्ञान बढ़कर है किन्तु शुद्ध भक्ति ज्ञान से भी बढ़कर है।''

इसके बाद जब श्री उद्धव ने अनुरोध किया कि भगवान् कृष्ण उन्हें दिव्य ज्ञान तथा भक्ति के विषय में विस्तार से बतलायें, तो भगवान् ने वही उपदेश कह सुनाये जिन्हें परम वैष्णव भीष्मदेव ने कुरुक्षेत्र युद्ध के अवसर पर श्री युधिष्ठिर को इन्हीं विषयों पर दिया था। इसके बाद यम तथा अन्य योगाभ्यासों के विषय में पूछे जाने पर, भगवान् ने अहिंसा इत्यादि बारह प्रकार के *यम* तथा शारीरिक स्वच्छता इत्यादि बारह प्रकार के *नियम* बतलाये।

श्रीभगवानुवाच
यो विद्याश्रुतसम्पन्नः आत्मवान्नानुमानिकः ।
मयामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि सन्न्यसेत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **यः**—जो; **विद्या**—अनुभूत ज्ञान से; **श्रुत**—तथा प्रारम्भिक शास्त्रीय ज्ञान से; **सम्पन्नः**—युक्त; **आत्म-वान्**—स्वरूपसिद्ध; **न**—नहीं; **आनुमानिकः**—निर्विशेष चिन्तन में संलग्न; **माया**—मोह; **मात्रम्**—एकमात्र; **इदम्**—यह ब्रह्माण्ड; **ज्ञात्वा**—जान कर; **ज्ञानम्**—ऐसा ज्ञान तथा उसे प्राप्त करने के साधन; **च**—भी; **मयि**—मुझमें; **सन्न्यसेत्**—आत्मसमर्पण करे, शरण ग्रहण करे।

भगवान् ने कहा : जिस स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ने प्रकाश पाने तक शास्त्रीय ज्ञान का अनुशीलन किया है और जो भौतिक ब्रह्माण्ड को मात्र मोह समझ कर, निर्विशेष चिन्तन से मुक्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस ज्ञान को तथा उसे प्राप्त करने वाले साधनों को मुझे समर्पित कर दे।

तात्पर्य : *मायामात्रम् इदं ज्ञात्वा* यह ज्ञान सूचित करता है कि नित्य आत्मा तथा नित्य भगवान् भौतिक जगत के नश्वर गुणों से पूरी तरह भिन्न होते हैं। *विद्याश्रुत सम्पन्न* शब्द बताते हैं कि मनुष्य को प्रकाश पाने के लिए वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए और योग, बौद्धिकता या निर्विशेष चिन्तन का दिखावा नहीं करना चाहिए। माया के मोहमय प्रभावों को निष्प्रभावी बनाकर, मनुष्य को

भगवान् का दार्शनिक निषेध करने वाली विधि को उन्हें ही अर्पित करके, अपना ध्यान भगवान् में लगाना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी यह उदाहरण देते हैं कि संकट उपस्थित होने पर, राजा नागरिकों को हथियार दे सकता है, किन्तु सैन्य विजय के पश्चात् वे नागरिक अपने हथियार राजा को लौटा देते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की यही बात इस प्रकार बतलाई है—जीव को सर्वप्रथम भौतिक मोह से अपने को किसी न किसी प्रकार से छुड़ाना पड़ता है, जिसने अनादि काल से उसे आच्छादित कर रखा है। योगाभ्यास के द्वारा नैष्काम तथा वैराग्य का अनुशीलन करते हुए जीव मोह का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है और इस तरह वह अपने को भौतिक अज्ञान से ऊपर उठा लेता है। किन्तु एक बार दिव्य पद पर स्थित हो लेने पर, मोह का ज्ञान तथा ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की विधि—इन दोनों का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह जाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उदाहरण देते हैं कि मनुष्य को साँप या सिंह का भूत सता सकता है। जब तक मनुष्य वशीभूत रह कर सोचता है कि, ''मैं साँप हूँ'' या ''मैं सिंह हूँ'' तब तक रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी द्वारा भूत-प्रेत के प्रभाव को दूर करने के प्रयास होते रहते हैं। किन्तु ऐसे भूत-प्रेत के प्रभाव से मुक्त हो जाने पर, वही व्यक्ति सोचता है ''मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ'' और वह अपने पहले स्वभाव पर लौट आता है। उस समय रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी इत्यादि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस तरह इस श्लोक में *विद्या* शब्द उस ज्ञान को बताता है, जिसे दार्शनिक विश्लेषण, योग, तप तथा वैराग्य से प्राप्त किया जाता है। इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव का ऐसा ज्ञान अज्ञान को दूर करता है और ऐसे ज्ञान का प्रशिक्षण अनेक वैदिक शास्त्र देते हैं। मनुष्य धीरे धीरे भौतिक शरीर तथा मन के साथ तथा मन एवं शरीर से प्रतिक्रिया करने वाले उन भौतिक पदार्थों से अपनी झूठी पहचान त्याग देता है। ऐसा निराकरणकारी ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए और शुद्ध भक्त बनना चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृत में परिपूर्ण हो जाता है, तो मोह के असंख्य विवरणों में उसकी रुचि नहीं रह जाती और धीरे धीरे वह वैकुण्ठ को प्राप्त होता है।

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः ।

स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानिनः—विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिक का; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं; एव—एकमात्र; इष्टः—पूजा की वस्तु; स्व-अर्थः—वांछित जीवन-लक्ष्य; हेतुः—जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधन; च—भी; सम्मतः—नश्चिति मत; स्वर्गः—स्वर्ग जाने के सारे सुख का कारण; च—भी; एव—निस्सन्देह; अपवर्गः—सारे दुख से मुक्ति; च—भी; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; मत्—मुझको; ऋते—रहित; प्रियः—प्रिय वस्तु।

विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिकों के लिए मैं एकमात्र पूजा का लक्ष्य, इच्छित जीवन-लक्ष्य, उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन तथा समस्त ज्ञान का निश्चित *मत* हूँ। चूँकि मैं उनके सुख का तथा दुख से विमुक्ति का कारण हूँ, अतः ऐसे विद्वान व्यक्ति एकमात्र मुझे ही जीवन का प्रभावशाली उद्देश्य या प्रिय लक्ष्य बनाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि अन्ततोगत्वा वह ज्ञान जिससे यह जगत मोह के रूप में देखा जाता है, भगवान् को समर्पित कर दे। भौतिक आसक्ति निश्चय ही जीवों के लिए एक समस्या है क्योंकि वह आत्मा का रोग है। जिस व्यक्ति को खुजली का त्वचा-रोग हो जाता है उसे असह्य जख्मों को खुजलाने से क्षणिक राहत मिलती है। यदि वह खुजलाता नहीं तो उसे घोर कष्ट होता है, किन्तु खुजलाने से क्षणिक आनन्दानुभूति तो होती है, बाद में खुजली के बढ़ने से असह्य कष्ट होता है। वास्तविक सुख खुजली को खुजलाने में नहीं मिलता अपितु ऐसे रोग से मुक्त होने में है। बद्धजीव अनेक मोहमयी इच्छाओं द्वारा सताये जाते हैं और वे हताशा में अवैध यौन, मांसाहार, जुए तथा नशे जैसी गंदी खुजली से इन्द्रियों को तृप्त करना चाहते हैं। वे भौतिक संग, मैत्री तथा प्रेम द्वारा भी राहत पाने का प्रयास करते हैं, किन्तु इनका परिणाम असह्य कष्ट ही निकलता है। असली सुख तो भौतिक इच्छा रूपी खुजली के रोग को सदा सदा के लिए दूर निकाल फेंकना है। चूँकि भौतिक इच्छा आत्मा का रोग है, अतएव इसका उपचार करने तथा इसे निकाल फेंकने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसे उपचार-रूपी ज्ञान की तब तक आवश्यकता रहती है, जब तक मनुष्य रुग्ण रहता है किन्तु जब वह पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, तो ऐसा विशेष चिकित्सा-ज्ञान स्वस्थ पुरुष के लिए रुचिकर नहीं रह जाता और वह ऐसा ज्ञान डाक्टरों के लिए छोड़ सकता है। इसी तरह कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को सदा अपनी निजी समस्याओं के बारे में न सोचते हुए, प्रेम तथा भक्ति के साथ भगवान् कृष्ण के विषय में सोचने की आवश्यकता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने सलाह दी है कि मनुष्य को माया के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा निजी समस्याएँ दूर कर लेनी चाहिए। ऐसी समस्याओं के

निरन्तर चिन्तन को त्यागने पर मनुष्य ईश्वर का प्रेमी बन सकता है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से अपने प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का मार्गदर्शन हृदय के भीतर से तथा बाहर से प्रामाणिक गुरु द्वारा करते हैं। इस तरह वे अपने निष्ठावान भक्तोंको जड़ पदार्थ के प्रति अविवेकी आसक्ति त्यागने का क्रमिक प्रशिक्षण देते हैं। एक बार स्वतंत्र हो जाने पर, भक्त वैकुण्ठ में कृष्ण के साथ अपना सुसम्बन्ध जोड़ लेता है।

कोई यह मिथ्या विचार अपने मन में ला सकता है कि जिस तरह प्रगति की किसी अवस्था में माया के व्यावहारिक वैश्लेषिक ज्ञान के प्रति एकाग्रता छूट जाती है, उसी तरह अन्य अवस्था में वह भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति भी छोड़ सकता है। ऐसे चिन्तन का खण्डन करने के लिए ही यहाँ कई तरह से कृष्ण यह कहते हैं कि वे समस्त विद्वान व्यक्तियों के परम नित्य लक्ष्य हैं। निस्सन्देह, इस ब्रह्माण्ड के भीतर सबसे प्रमुख पंडित चारों कुमार हैं, जो कृष्ण को अपना एकमात्र आराध्य मानते हैं। चूँकि उन्हें पता चल गया कि वे भगवान् के नित्य भिन्नांश हैं, अतएव उन्हें सकाम कर्म तथा ज्ञान में कोई रुचि नहीं रही। भगवान् कृष्ण अपने ऐसे निष्ठावान् भक्तों को स्वर्गिक आनन्द तथा चिन्ता से मुक्ति प्रदान करते हैं, जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त जीवन में कोई अन्य उद्देश्य या प्रिय वस्तु नहीं है।

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान में; संसिद्धाः—परम पूर्ण; पदम्—चरणकमल; श्रेष्ठम्—श्रेष्ठ वस्तु; विदुः—जानते हैं; मम—मेरा; ज्ञानी—विद्वान योगी; प्रिय-तमः—सर्वाधिकप्रिय; अतः—इस तरह; मे—मुझको; ज्ञानेन—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; असौ—वह विद्वान पुरुष; बिभर्ति—धारण करता है (सुख में); माम्—मुझको।

जिन्होंने दार्शनिक तथा अनुभूत ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मेरे चरणकमलों को परम दिव्य वस्तु मानते हैं। इस प्रकार का विद्वान योगी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है और इस पूर्ण ज्ञान से वह मुझे सुख में धारण किये रखता है।

तात्पर्य : *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम*—यह पद निश्चित रूप से निर्विशेषवादियों को *संसिद्धाः* की कोटि से अलग कर देता है। यहाँ भगवान् कृष्ण, चारों कुमार, शुकदेव गोस्वामी, श्री व्यासदेव, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर तथा श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद जैसे महान् पण्डितों का सन्दर्भ दे रहे हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* (७.१७-१८) में भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रिय:॥

''इनमें से जो परम ज्ञानी है और शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।''

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमं गतिम्॥

''निस्सन्देह, ये सब उदारचेता व्यक्ति हैं, किन्तु जो मेरे ज्ञान को प्राप्त है उसे मैं अपने ही समान मानता हूँ। वह मेरी दिव्य सेवा में तत्पर रह कर मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करता है।''

ज्ञान सच्चाई की प्रामाणिक दार्शनिक एवं वैश्लेषिक अनुभूति को बताता है और जब ऐसा ज्ञान चेतना की शुद्धि के द्वारा स्पष्टतया प्राप्त किया जाता है, तो परिणामस्वरूप प्राप्त विशद अनुभव *विज्ञान* कहलाता है। चिन्तनपरक निर्विशेष ज्ञान कभी भी जीव के हृदय को वस्तुत: शुद्ध नहीं करता, प्रत्युत उसे भगवान् की विस्मृति में और गहरा डाल देता है। जिस प्रकार पिता को सदैव अपने पुत्र की शिक्षा पर गर्व रहता है, उसी तरह भगवान् कृष्ण गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा भगवद्धाम आने की दिशा में प्रगति करने वाले जीवों को देख कर परम सुखी होते हैं।

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४॥

शब्दार्थ

तप:—तपस्या; तीर्थम्—तीर्थस्थान जाकर; जप:—मौन प्रार्थना करके; दानम्—दान; पवित्राणि—पुण्य कार्य; इतराणि—अन्य; च—भी; न—नहीं; अलम्—उसी स्तर तक; कुर्वन्ति—प्रदान करते हैं; ताम्—यह; सिद्धिम्—सिद्धि; या—जो; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; कलया—एक अंश; कृता—पुरस्कृत किया जाता है।

जो सिद्धि आध्यात्मिक ज्ञान के एक अंशमात्र से उत्पन्न होती है, वह तपस्या करने, तीर्थस्थानों में जाने, मौन प्रार्थना करने, दान देने अथवा अन्य पुण्यकर्मों में लगने से प्राप्त नहीं की जा सकती।

तात्पर्य : यहाँ पर *ज्ञान* सूचक है भगवान् के परम साम्राज्य की स्पष्ट जानकारी का और यह ज्ञान भगवान् से अभिन्न है। भगवान् परम या सर्वोच्च हैं, इसकी पुष्टि पिछले श्लोक में *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम्* द्वारा ही हो जाती है। कोई चाहे यज्ञ करे या गर्वित भाव से अथवा भौतिक स्वार्थ से तीर्थस्थानों में जाये, चाहे वह ईश्वर की प्रार्थना करे, दान दे या बाह्य दिखावटी रूप से अथवा आसुरी मनोवृत्ति से अन्य

पुण्यकर्म करे, किन्तु भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता का ज्ञान वैकुण्ठ से ठोस सम्बन्ध बनाता है और इस शुद्ध ज्ञान का अनुसरण करते रहने से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक जाता है।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; ज्ञानेन—ज्ञान; सहितम्—सहित; ज्ञात्वा—जान कर; स्व-आत्मानम्—अपने आप को; उद्धव—हे उद्धव; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा स्पष्ट अनुभूति से; सम्पन्नः—युक्त; भज—पूजा करो; माम्—मेरी; भक्ति—प्रेमाभक्ति के; भावतः—भाव में।

इसलिए हे उद्धव, तुम ज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक आत्मा को जानो। तत्पश्चात् अपने वैदिक ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति से आगे बढ़ते हुए प्रेमाभक्ति भाव से मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : *विज्ञान* शब्द से मनुष्य के आदि आध्यात्मिक स्वरूप के अनुभूत ज्ञान का संकेत मिलता है। प्रत्येक जीव का नित्य आध्यात्मिक स्वरूप होता है, जो मूल कृष्णभावनामृत के जागृत होने तक सुप्त पड़ा रहता है। अपने आध्यात्मिक स्वरूप के ज्ञान के बिना भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम का अनुशीलन करना सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञात्वा स्वात्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं, जो यह सूचित करते हैं कि केवल भगवद्धाम में हर जीव अपने व्यक्तित्व की पूरी शक्ति का अनुभव कर सकता है।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता का; यज्ञेन—यज्ञ द्वारा; माम्—मुझको; इष्ट्वा—पूज कर; आत्मानम्—प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमेश्वर को; आत्मनि—अपने भीतर; सर्व—समस्त; यज्ञ—यज्ञों के; पतिम्—स्वामी; माम्—मुझ को; वै—निश्चय ही; संसिद्धिम्—परम सिद्धि; मुनयः—मुनिगण; अगमन्—प्राप्त किया।

पुराकाल में बड़े बड़े मुनि वैदिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता रूपी यज्ञ के द्वारा यह जानते हुए अपने अन्तःकरण में मेरी पूजा करते थे कि मैं ही समस्त यज्ञों का परमेश्वर तथा प्रत्येक हृदय में परमात्मा हूँ। इस तरह मेरे पास आने से इन मुनियों ने परम सिद्धि प्राप्त की।

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; उद्धव—हे उद्धव; आश्रयति—प्रवेश करके रहता जाता है; यः—जो; त्रि-विधः—गुणों के अनुसार तीन विभाग; विकारः—(शरीर तथा मन जिनसे प्रभावित होते हैं ऐसे) निरन्तर रूपान्तर; माया—मोह; अन्तरा—वर्तमान समय में; आपतति—सहसा प्रकट होता है; न—नहीं; आदि—प्रारम्भ में; अपवर्गयोः—न तो अन्त में; यत्—चूँकि; जन्म—जन्म; आदयः—इत्यादि (वृद्धि, जन्म, पालन, जरा, मृत्यु); अस्य—शरीर का; यत्—जब; अमी—ये; तव—तुम्हारे सम्बन्ध में; तस्य—आध्यात्मिक प्रकृति के सम्बन्ध में; किम्—क्या सम्बन्ध; स्युः—हो सकते हैं; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; यत्—चूँकि; असतः—जिसका अस्तित्व नहीं है उसका; अस्ति—अस्तित्व है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; मध्ये—मध्य में, सम्प्रति।

हे उद्धव, प्रकृति के तीन गुणों से निर्मित भौतिक शरीर तथा मन तुमसे लिपटे रहते हैं, किन्तु, वास्तव में, वे माया हैं क्योंकि वे वर्तमान काल में ही प्रकट होते हैं। इनका कोई आदि या अन्त नहीं है। इसलिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ—यथा जन्म, वृद्धि, प्रजनन, पालन, जरा तथा मृत्यु—तुम्हारी नित्य आत्मा से कोई सम्बन्ध रखते हों? इन अवस्थाओं का सम्बन्ध एकमात्र भौतिक देह से है, जिसका न तो इसके पूर्व अस्तित्व था और न रहेगा। शरीर केवल वर्तमान काल में ही रहता है।

तात्पर्य : यह दृष्टान्त दिया जाता है कि जंगल में विचरण करने वाला व्यक्ति किसी रस्सी को देख कर उसे सर्प समझ बैठता है। ऐसी अनुभूति *माया* या मोह है यद्यपि रस्सी का अस्तित्व है और अन्य स्थान पर सर्प भी रहता है। इसलिए *माया* एक वस्तु की दूसरी वस्तु से मिथ्या पहचान को बताती है। भौतिक शरीर अल्पकाल तक रहता है और तब अदृश्य हो जाता है। शरीर न तो भूतकाल में था और न भविष्य में रहेगा। वह तथाकथित वर्तमान काल में क्षणिक अस्तित्व का भोग करता है। यदि हम झूठे ही अपने को भौतिक शरीर या मन मान बैठें, तो हम माया को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति अपनी पहचान अमरीकी, रूसी, चीनी, मैक्सीकन, गोरा या काला, स्त्री या पुरुष, साम्यवादी या पूँजीवादी के रूप में करता है और ऐसी उपाधियों को स्थायी पहचान मान लेता है, वह निश्चित रूप से माया में फँसा होता है। उसकी तुलना उस सुप्त व्यक्ति से की जा सकती है, जो स्वप्न में अपने को भिन्न शरीर में कार्यशील देखता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को बतलाया था कि आध्यात्मिक ज्ञान सर्वोच्च सिद्धि पाने का साधन है और अब वे ऐसे ज्ञान का खुल कर वर्णन कर रहे हैं।

श्रीउद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; विपुलम्—विस्तृत; यथा—जिस तरह; एतत्—यह; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति; युतम्—से युक्त; पुराणम्—महान् दार्शनिकों के मध्य परम्परागत; आख्याहि—कृपा करके बतलायें; विश्व-ईश्वर—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-मूर्ते—हे ब्रह्माण्ड के रूप; त्वत्—तुम्हारे प्रति; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति; च—भी; महत्—महान् आत्माओं द्वारा; विमृग्यम्—खोजे जाते।

श्री उद्धव ने कहा : हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड स्वरूप, कृपा करके मुझे ज्ञान की वह विधि बतलाइये जो स्वतः विरक्ति तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति लाने वाली है, जो दिव्य है और महान् आध्यात्मिक दार्शनिकों में परम्परा से चली आ रही है। महापुरुषों द्वारा खोजा जाने वाला यह ज्ञान आपके प्रति प्रेमाभक्ति को बताने वाला है।

तात्पर्य : जो लोग संसार के अंधकार को पार करने में सक्षम हैं, वे *महत्* अर्थात् महापुरुष कहलाते हैं। ऐसे महापुरुषों को गौण वस्तुएँ यथा विश्व-चेतना या विश्व-नियमन भगवान् की प्रेमाभक्ति से विपथ नहीं कर पाते। श्री उद्धव वह शाश्वत धर्म-ज्ञान सुनने के इच्छुक हैं, जो सभी महापुरुषों के परम्परागत लक्ष्य हैं।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताप—कष्टों द्वारा; त्रयेण—तीन; अभिहतस्य—अभिभूत हुए का; घोरे—घोर; सन्तप्यमानस्य—सताये हुए का; भव—संसार का; अध्वनि—मार्ग में; ईश—हे ईश्वर; पश्यामि—देखता हूँ; न—कोई नहीं; अन्यत्—दूसरी; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारा; अङ्घ्रि—चरणकमल; द्वन्द्व—दो का; आतपत्रात्—छाते की अपेक्षा; अमृत—अमृत की; अभिवर्षात्—वर्षा।

हे प्रभु, जो व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के घोर मार्ग में सताया जा रहा है और तीनों तापों से निरन्तर अभिभूत रहता है, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्भव आश्रय नहीं दिख रहा। ये उस सुखदायक छाते के तुल्य हैं, जो स्वादिष्ट अमृत की वर्षा करता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव के अत्यन्त बौद्धिक स्वभाव को पहचान कर, बारम्बार संस्तुति

करते हैं कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु भगवान् ने यह भी स्पष्ट दिखलाया है कि ऐसे ज्ञान से मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति तक पहुँचना चाहिए अन्यथा वह व्यर्थ है। इस श्लोक में श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के कथन की पुष्टि करते हैं कि वास्तविक सुख भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जब पृथु महाराज का राज्याभिषेक हुआ था, तो वायु देव ने उन्हें एक छाता भेंट किया था, जो निरन्तर पानी की फुहारें निकालता था। यहाँ पर भगवान् के दो चरणकमलों की उपमा उस अद्‌भुत छाते से दी गई है, जो कृष्णभावनामृत के आनन्द रूपी मधुर अमृत की निरन्तर वर्षा करता है। सामान्यतया चिन्तनपरक वैश्लेषिक ज्ञान का अन्त परब्रह्म की निर्विशेष अनुभूति में होता है किन्तु निर्विशेष आध्यात्मिक रूप में तदाकार होने का तथाकथित आनन्द कभी भी कृष्णभावनामृत आनन्द की तुलना नहीं कर सकता जैसाकि श्री उद्धव ने यहाँ पर कहा है। इस तरह कृष्णभावनामृत स्वत: पूर्ण ज्ञान है क्योंकि भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं। इस श्लोक में *अभिहतस्य* तथा *अभिवर्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभिहतस्य* उस व्यक्ति का सूचक है, जो चारों ओर से प्रकृति की मार से पराजित होता रहता है, जबकि *अभिवर्षात्* अमृत वर्षा का सूचक है, जो संसार की सारी समस्याओं को दूर करती है। हमें चाहिए कि अपनी बुद्धि से हम मन्द भौतिक देह तथा अविवेकी भौतिक मन के परे देखें जिससे हम भगवान् कृष्ण के दो चरणकमलों से आने वाले आनन्दमय अमृत की असीम वर्षा का अवलोकन कर सकें। तभी हमारा असली सौभाग्य शुरू होगा।

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दष्टम्—काटा हुआ; जनम्—मनुष्य; सम्पतितम्—पतित; बिले—अंधेरे छेद में; अस्मिन्—इस; काल—समय का; अहिना—सर्प द्वारा; क्षुद्र—नगण्य; सुख—सुख; उरु—तथा भीषण; तर्षम्—लालसा; समुद्धर—कृपया ऊपर उठा लें; एनम्—यह व्यक्ति; कृपया—आपकी अहैतुकी कृपा से; आपवर्ग्यै:—मोक्ष के लिए जागृत; वचोभि:—आपके शब्दों से; आसिञ्च—सींचिये; महा-अनुभाव—हे प्रभु।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, कृपा कीजिये और इस निराश जीव को, जो अंधेरे भवकूप में गिर गया है जहाँ कालरूपी सर्प ने उसे डस लिया है, ऊपर उठाइये। ऐसी गर्हित अवस्था होते हुए भी

यह बेचारा जीव अत्यन्त क्षुद्र भौतिक सुख भोगने की उत्कट इच्छा से युक्त है। हे प्रभु, आप अपने उस उपदेशामृत को छिड़क कर मेरी रक्षा कीजिये, जो आध्यात्मिक मुक्ति के लिए जागृत करने वाला है।

तात्पर्य : अभक्तों द्वारा जिस भौतिक जीवन की अत्यधिक कामना की जाती है, उसकी तुलना विषैले साँपों से युक्त अन्धेरे बिल से की गई है। भौतिक जीवन में किसी को अपने, ईश्वर या ब्रह्माण्ड के परम स्वरूप का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। हर वस्तु अस्पष्ट तथा अंधकारमय लगती है। भौतिक जीवन में कालरूपी विषैला सर्प सदैव डराता रहता है और सर्प के विषैले दाँतों से किसी भी क्षण हमारे निकट सम्बन्धी मारे जा सकते हैं। अन्ततः हम भी काल द्वारा दंशित तथा उसके विषैले प्रभाव से मारे जायेंगे। *सम्पतितम्* शब्द यह बताता है कि जीव का पूरी तरह पतन होता है। दूसरे शब्दों में, वह पुनः उठ नहीं पाता। इसलिए श्री उद्धव भगवान् से याचना करते हैं कि वे उन जैसे पतितात्माओं पर दयालु हों। भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर मनुष्य बिना किसी अन्य योग्यता के भगवद्धाम जा सकता है किन्तु भगवान् की कृपा के बिना विद्वान से विद्वान, तपस्वी, शक्तिमान, धनी अथवा सुन्दर मनुष्य भी संसार की माया रूपी चक्की से कुचल दिया जायेगा। जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है भगवान् *महानुभाव* हैं अर्थात् अत्यन्त महान, शक्तिमान तथा दयालु पुरुष हैं जिनका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भगवान् की कृपा का प्राकट्य *भगवद्गीता* तथा *उद्धव गीता* जैसे यहाँ दिए जा रहे अमृतमय उपदेशों के रूप में होता है। *क्षुद्रसुखोरुतर्षम्* शब्द भौतिक जगत की विडम्बना को प्रकट करने वाला है। यद्यपि भौतिक सुख *क्षुद्र* है, किन्तु इसे भोगने की हमारी इच्छा उरु अर्थात् अत्यधिक है। जड़ पदार्थ को भोगने की हमारी अनियंत्रित लालसा निश्चित रूप से हमारे मन की मोहावस्था है और यही हमें भौतिक जगत के अंधकारमय कूप (बिल) में बाँध कर निरन्तर कष्ट पहुँचाती है। हर जीव को चाहिए कि नश्वर शारीरिक उपाधियों पर आधारित मिथ्या प्रतिष्ठा को ताक पर रख कर भगवान् से उनकी दया की भीख माँगे। भगवान् पतित से पतित जीव की हर सच्ची याचना को सुनते हैं और भगवान् की कृपा का फल अद्भुत होता है। यद्यपि ज्ञानी, योगी तथा सकाम कर्मी अपना अपना लक्ष्य पाने के लिए अथक परिश्रम करते हैं, किन्तु उनकी स्थिति नाजुक तथा अनिश्चित रहती है। किन्तु मात्र कृष्ण-कृपा पाने से मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति, जो महान् अथवा शुद्ध कृष्ण-भक्त

नहीं है भगवान् से कृपा की भीख सच्चे दिल से माँगता है, तो उसे भी भगवान् उदार भाव से अवश्य प्रदान करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—प्राचीन काल में; राजा—राजा; भीष्मम्—भीष्म से; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त के; भृताम्—धारण करने वालों; वरम्—श्रेष्ठ; अजात-शत्रुः—जिसके कोई शत्रु नहीं माना जाता, राजा युधिष्ठिर, ने; पप्रच्छ—पूछा; सर्वेषाम्—सबों के; नः—हम; अनुशृण्वताम्—ध्यानपूर्वक सुनते समय।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, जिस तरह तुम मुझसे पूछ रहे हो, उसी तरह भूतकाल में राजा युधिष्ठिर ने जिन्हें अजातशत्रु कहा जाता है, धर्म के महानतम धारणकर्ता भीष्मदेव से पूछा था और हम सभी ध्यानपूर्वक सुन रहे थे।

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान्बहून्पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ते—समाप्त होने पर; भारते—भारत के वंशजों (कुरुओं तथा पाण्डवों के); युद्धे—युद्ध में; सुहृत्—अपने प्रिय शुभचिन्तकों के; निधन—विनाश से; विह्वलः—अभिभूत; श्रुत्वा—सुन कर; धर्मान्—धार्मिक नियम; बहून्—अनेक; पश्चात्—अन्त में; मोक्ष—मोक्ष सम्बन्धी; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्त; अपृच्छत—पूछा।

जब कुरुक्षेत्र का महान् युद्ध समाप्त हो गया, तो राजा युधिष्ठिर अपने प्रिय हितैषियों की मृत्यु से विह्वल थे। इस तरह अनेक धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में उपदेश सुन कर, अन्त में उन्होंने मोक्ष-मार्ग के विषय में जिज्ञासा की थी।

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; अहम्—मैं; ते—तुमसे; अभिधास्यामि—कहूँगा; देव-व्रत—भीष्मदेव के; मुखात्—मुख से; श्रुतान्—सुने हुए; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—आत्म-अनुभूति; श्रद्धा—श्रद्धा; भक्ति—तथा भक्ति; उप-बृंहितान्—से युक्त।

अब मैं तुमसे भीष्मदेव के मुख से सुने वैदिक ज्ञान, विरक्ति, आत्म-अनुभूति, श्रद्धा तथा भक्ति के उन धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा।

नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथाइकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

नव—नौ; एकादश—ग्यारह; पञ्च—पाँच; त्रीन्—तीन; भावान्—तत्त्वों को; भूतेषु—सारे जीवों (ब्रह्मा से लेकर अचर जीवों) में; येन—जिस ज्ञान से; वै—निश्चय ही; ईक्षेत—देखे; अथ—इस प्रकार; एकम्—एक तत्त्व; अपि—निस्सन्देह; एषु—इन अट्ठाईस तत्त्वों में; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; मम—मेरे द्वारा; निश्चितम्—निर्धारित किया गया।

मैं स्वयं उस ज्ञान को निश्चित करता हूँ जिससे मनुष्य सारे जीवों में नौ, ग्यारह, पाँच तथा तीन तत्त्वों का संमेल देखता है और अन्त में इन अट्ठाईस तत्त्वों के भीतर केवल एक तत्त्व देखता है।

तात्पर्य : नौ तत्त्व हैं—भौतिक प्रकृति, जीव, महत् तत्त्व, मिथ्या अहंकार तथा पाँच इन्द्रिय-विषय यथा ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध। ग्यारह तत्त्व हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पाँव, गुदा तथा प्रजननांग) तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, स्पर्श, आँखें, जीभ तथा नथुने) एवं सब में समन्वय स्थापित करने वाला मन। पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। तीन तत्त्व हैं—प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण। शक्तिमान ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र तृण तक सारे जीवों के शरीर इन्हीं अट्ठाईस तत्त्वों से बने होते हैं। इन अट्ठाइसों तत्त्वों के भीतर एक तत्त्व परमात्मा है, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के भीतर समाया हुआ है।

यह तो आसानी से समझ में आ जाता है कि भौतिक ब्रह्माण्ड असंख्य कारणों तथा कार्यों से बना है। चूँकि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं, अतएव सारे गौण कारण-कार्य भगवान् से अभिन्न हैं। यही समझ असली ज्ञान या *ज्ञान* है, जो जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अनिवार्य है।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; हि—वास्तव में; विज्ञानम्—अनुभूत ज्ञान; न—नहीं; तथा—उसी तरह से; एकेन—एक (भगवान्) द्वारा; येन—जिसके द्वारा; यत्—जो (ब्रह्माण्ड); स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अप्ययान्—तथा संहार; पश्येत्—देखे; भावानाम्—सभी भौतिक तत्त्वों के; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुणों के; आत्मनाम्—से बना।

जब कोई व्यक्ति एक ही कारण से उत्पन्न २८ पृथक् पृथक् भौतिक तत्त्वों को न देख कर, एक कारण रूप भगवान् को देखता है, उस समय मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव *विज्ञान* कहलाता है।

तात्पर्य : *ज्ञान* तथा *विज्ञान* के अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है। बद्धजीव वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करने पर भी, कुछ हद तक अपनी पहचान भौतिक शरीर तथा मन से, फलस्वरूप भौतिक ब्रह्माण्ड से, करता है। वह जिस ब्रह्माण्ड में रहता है उसको समझने का प्रयास करने में वह वैदिक ज्ञान के माध्यम से यह सीखता है कि भगवान् समस्त जगत के परम कारण हैं। वह अपने चारों ओर के जगत से परिचित होकर, जगत को अपना स्वीकार कर लेता है। वह ज्यों ज्यों शारीरिक पहचान की दीवार को भेद कर आध्यात्मिक अनुभूति (विज्ञान) में प्रवेश करता है और नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, त्यों त्यों वह वैकुण्ठ से अपनी पहचान बनाने लगता है। तब उसकी रुचि भगवान् में भौतिक जगत की व्याख्या के रूप में नहीं रह जाती, प्रत्युत वह अपनी संपूर्ण चेतना को पुनर्व्यवस्थित करने लगता है, जिससे उसके ध्यान का केन्द्रविन्दु भगवान् बन जाता है। ऐसी पुनर्व्यवस्था इसलिए आवश्यक है क्योंकि भगवान् हर वस्तु के वास्तविक केन्द्र तथा कारण हैं। इस तरह *विज्ञान* की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति भगवान् को न केवल भौतिक जगत के स्रष्टा अपितु परम पुरुष के रूप में अनुभव करता है, जो अपने ही शाश्वत परिवेश में आनन्दपूर्वक स्थित हैं। ज्यों ज्यों विज्ञानी चिदाकाश में स्थित भगवद्धाम में भगवान् की अनुभूति में अग्रसर होता है, त्यों त्यों वह भौतिक जगत से अरुचि उत्पन्न करता जाता है और भगवान् की उनके क्षणिक रूपों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषा करना बंद कर देता है। विज्ञानी उन वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता जो सृजित होती हैं, पालित होती हैं और अन्त में विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञान की अवस्था उन लोगों के लिए ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था है, जो अपनी पहचान भौतिक जगत के रूप में करते रहते हैं जबकि विज्ञान उनके लिए ज्ञान की परिपक्व अवस्था है, जो अपने को भगवान् का भिन्नांश मानते हैं।

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसङ्क्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६॥

शब्दार्थ

आदौ—कारण अवस्था में; अन्ते—अन्त में; च—भी; मध्ये—पालन की अवस्था में; च—भी; सृज्यात्—एक सृष्टि से; सृज्यम्—दूसरी सृष्टि में; यत्—जो; अन्वियात्—साथ में रहता है; पुनः—फिर; तत्—सभी भौतिक अवस्थाओं के; प्रतिसङ्क्रामे—संहार में; यत्—जो; शिष्येत—बचता है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; सत्—नित्य है, जो।

आदि, अन्त तथा मध्य—ये तीन अवस्थाएँ हैं भौतिक सृष्टि की। जो इन सारी भौतिक अवस्थाओं में एक सृजन (आदि) से दूसरे सृजन (अन्त) तक साथ साथ लगा रहता है और

जब सारी अवस्थाओं का प्रलय हो जाता है, तो भी जो अकेला बचता है, वही एक शाश्वत है।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर पुन: कहते हैं कि एक भगवान् ही असीम भौतिक विविधता के आधार हैं। भौतिक क्रियाशीलता कार्य-कारण की शृंखला है, जिससे असंख्य वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। कोई एक भौतिक कार्य बाद में कारण में बदल जाता है और जब कारण-अवस्था समाप्त हो जाती है, तो कार्य लुप्त हो जाता है। अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है और जब अग्नि का कारण समाप्त हो जाता है, तो पिछले कारण की कार्य-रूप अग्नि भी समाप्त हो जाती है। सीधी-सी बात यह है कि भगवान् की परम शक्ति से ही सारी वस्तुएँ सृजित, पालित और विनष्ट होती हैं। और जब कार्य-कारण का सम्पूर्ण क्षेत्र हट जाता है, जिससे कार्य-कारण सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तो भगवान् अपने धाम में ही रहते जाते हैं। इसलिए कारणस्वरूप होते हुए भी असंख्य वस्तुएँ परम कारण नहीं होतीं। केवल भगवान् ही परम कारण हैं। इसी तरह भौतिक वस्तुएँ विद्यमान रह कर भी सदैव विद्यमान नहीं रहतीं। एकमात्र भगवान् का ही चरम अस्तित्व होता है। भगवान् के चरम पद को ज्ञान द्वारा समझना चाहिए।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुतिः—वैदिक ज्ञान; प्रत्यक्षम्—सीधा अनुभव; ऐतिह्यम्—परम्परागत विद्या; अनुमानम्—तार्किक अनुमान; चतुष्टयम्—चार; प्रमानेषु—सभी प्रकार के प्रमाणों में से; अनवस्थानात्—अस्थिरता के कारण; विकल्पात्—भौतिक विविधता से; सः—वह पुरुष; विरज्यते—विरक्त हो जाता है।

वैदिक ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, परम्परागत विद्या (ऐतिह्य) तथा तार्किक अनुमान—इन चार प्रकार के प्रमाणों से मनुष्य भौतिक जगत की अस्थिर दशा को समझ कर, इस जगत के द्वैत से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रुति अर्थात् वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि हर वस्तु का उद्भव परब्रह्म से होता है, उन्हीं के द्वारा उसका पालन होता है और अन्त में उन्हीं में लय हो जाता है। इसी तरह प्रत्यक्ष अनुभव से हम महान् साम्राज्यों, शहरों, इमारतों, शरीरों इत्यादि के सृजन तथा संहार को देख सकते हैं। इतना ही नहीं, परम्परागत विद्या विश्व के लोगों को चेतावनी देती रहती है कि इस जगत की वस्तुएँ टिकाऊ नहीं हैं। अनुमान द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति स्वर्गलोग के उच्चतम जीवन-स्तर से लेकर घोर नरक की निम्नतम परिस्थितियों

तक सदैव अस्थिर है और किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। इसलिए मनुष्य को *वैराग्य* उत्पन्न करना चाहिए जैसाकि यहाँ पर कहा गया है।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ है कि यहाँ पर उद्धरित चार प्रकार के प्रमाण सर्वोच्च सत्य के वर्णन में परस्पर विरोधमूलक हैं। इसलिए मनुष्य को संसारी द्वैत से विरक्त हो जाना चाहिए जिसमें भौतिक जगत से संबद्ध वेदांश भी हैं। इसके बदले में उसे भगवान् को असली अधिकारी स्वीकार करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों में, भगवान् कृष्ण स्वयं बोल रहे हैं इसलिए सांसारिक तर्क की स्पर्धात्मक पद्धति के भ्रामिक जाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। वह साक्षात् परब्रह्म से सीधे सुन कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तब वह उस ज्ञान की निम्न प्रणाली से विरक्त हो जाता है, जो उसे भौतिक मानसिक पद पर भटकाता रहता है।

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कर्मणाम्—भौतिक कार्यों का; परिणामित्वात्—विकारग्रस्त होने के कारण; आ—तक; विरिञ्च्यात्—ब्रह्मलोक से; अमङ्गलम्—अशुभ दुख; विपश्चित्—बुद्धिमान व्यक्ति; नश्वरम्—क्षणिक; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—जसिका अभी तक अनुभव नहीं किया जा सका; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले अनुभव हुए के समान।

बुद्धिमान पुरुष यह समझे कि कोई भी भौतिक कर्म निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में भी केवल दुख ही दुख है। निस्सन्देह, बुद्धिमान व्यक्ति यह समझ सकता है कि जिस तरह सारी दृश्य वस्तुएँ क्षणिक हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर सारी वस्तुओं का आदि और अन्त है।

तात्पर्य : *अदृष्टम्* शब्द इस ब्रह्माण्ड में उच्चतर लोकों में प्राप्य दैवी जीवन का सूचक है। ऐसा दैवी परिवेश वास्तव में पृथ्वीलोक में अनुभव नहीं किया जाता यद्यपि वैदिक वाङ्मय में इनका वर्णन है। यह तर्क किया जा सकता है कि वेदों के कर्मकाण्ड विभाग में भौतिक स्वर्ग जाने की संस्तुति है और यद्यपि वहाँ पर प्राप्य सुख शाश्वत नहीं है किन्तु कुछ काल तक जीवन–भोग तो किया जा सकता है। फिर भी भगवान् कृष्ण यहाँ बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक में भी, जो स्वर्गलोक से उच्चतर है, कोई सुख नहीं है। उच्च लोकों में भी स्पर्धा, ईर्ष्या, क्षोभ, शोक तथा अन्ततोगत्वा मृत्यु हैं।

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परं ॥ १९॥

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भगवद्भक्ति; पुरा—पूर्व काल में; एव—निस्सन्देह; उक्तः—बतलाया गया; प्रीयमाणाय—जिसने प्रेम उत्पन्न कर लिया है; ते—तुम तक; अनघ—हे निष्पाप उद्धव; पुनः—फिर; च—भी; कथयिष्यामि—बतलाऊँगा; मत्—मुझ तक; भक्तेः—भक्ति का; कारणम्—असली कारण; परम्—परम।

हे निष्पाप उद्धव, चूँकि तुम मुझे चाहते हो इसलिए मैं पहले ही तुम्हें भक्ति की विधि बतला चुका हूँ। अब मैं तुमसे पुनः अपनी प्रेमाभक्ति पाने की श्रेष्ठ विधि बतलाऊँगा।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण श्री उद्धव से पहले ही *भक्तियोग* बतला चुके थे, किन्तु उद्धव उससे तुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे कृष्ण से प्रेम करते हैं। भगवान् से प्रेम करने वाला व्यक्ति वैदिक कर्तव्यों तथा वैश्लेषिक दर्शन के वर्णनों से मिली-जुली भक्ति की विवेचनाओं से पूरी तरह तृप्त नहीं हो सकता। चेतनता की चरम अवस्था शुद्ध कृष्ण-प्रेम है और जिसे कृष्ण की लत लगी हो वह ऐसे विषयों के अमृत का निरन्तर पान करना चाहता है। भगवान् कृष्ण ने मानव सभ्यता के अनेक पक्षों का व्यापक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है, जिसमें वर्णाश्रम प्रणाली, पदार्थ एवं आत्मा का अन्तर तथा इन्द्रियतृप्ति का परित्याग, इत्यादि सम्मिलित हैं। अब उद्धव भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में सुनने के लिए विशेष रूप से लालायित हैं और भगवान् इसी विषय की ओर मुड़ते हैं।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २०॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ २३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्रद्धा—श्रद्धा; अमृत—अमृत में; कथायाम्—कथाओं के; मे—मेरे विषयक; शश्वत्—सदैव; मत्—मेरे; अनुकीर्तनम्—महिमा का गायन; परिनिष्ठा—आसक्ति में स्थिर; च—भी; पूजायाम्—पूजा करने में; स्तुतिभिः—सुन्दर स्तुतियों से; स्तवनम्—प्रार्थनाओं से; मम—मेरे विषय में; आदरः—सम्मान; परिचर्यायाम्—मेरी भक्ति के लिए; सर्व-अङ्गैः—शरीर के सारे अंगों से, साष्टांग; अभिवन्दनम्—नमस्कार करना; मत्—मेरा; भक्त—भक्तों की; पूजा—पूजा; अभ्यधिका—मुझसे बढ़कर; सर्व-

भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरी; मतिः—चेतना; मत्-अर्थेषु—मेरी सेवा करने के निमित्त; अङ्ग-चेष्टा—सामान्य शारीरिक कर्म; च—भी; वचसा—शब्दों से; मत्-गुण—मेरा दिव्य गुण; ईरणम्—घोषित करना; मयि—मुझमें; अर्पणम्—अर्पण करना; च—भी; मनसः—मन का; सर्व-काम—समस्त भौतिक इच्छाओं का; विवर्जनम्—बहिष्कार; मत्-अर्थे—मेरे लिए; अर्थ—सम्पत्ति का; परित्यागः—छोड़ा जाना; भोगस्य—इन्द्रियतृप्ति का; च—भी; सुखस्य—भौतिक सुख का; च—भी; इष्टम्—वांछित कर्म; दत्तम्—दान; हुतम्—यज्ञ की आहुति; जप्तम्—भगवन्नाम का कीर्तन; मत्-अर्थम्—मुझे पाने के लिए; यत्—जो; व्रतम्—व्रत, यथा एकादशी; तपः—तपस्या; एवम्—इस प्रकार; धर्मैः—ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों से; मनुष्यानाम्—मनुष्यों के; उद्धव—हे उद्धव; आत्म-निवेदिनाम्—शरणागतों के; मयि—मुझमें; सञ्जायते—उत्पन्न होता है; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; अस्य—मेरे भक्त का; अवशिष्यते—बच रहता है।

मेरी लीलाओं की आनन्दमयी कथाओं में दृढ़ विश्वास, मेरी महिमा का निरन्तर कीर्तन, मेरी नियमित पूजा में गहन आसक्ति, सुन्दर स्तुतियों से मेरी प्रशंसा करना, मेरी भक्ति का समादर, साष्टांग नमस्कार, मेरे भक्तों की उत्तम पूजा, सारे जीवों में मेरी चेतना का ज्ञान, सामान्य शारीरिक कार्यों को मेरी भक्ति में अर्पण, मेरे गुणों का वर्णन करने के लिए वाणी का प्रयोग, मुझे अपना मन अर्पित करना, समस्त भौतिक इच्छाओं का बहिष्कार, मेरी भक्ति के लिए सम्पत्ति का परित्याग, भौतिक इन्द्रियतृप्ति तथा सुख का परित्याग तथा मुझे पाने के उद्देश्य से दान, यज्ञ, कीर्तन, व्रत, तपस्या इत्यादि वांछित कार्यों को सम्पन्न करना—ये वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त हैं, जिनसे मेरे शरणागत हुए लोग स्वतः मेरे प्रति प्रेम उत्पन्न कर लेते हैं। तो फिर मेरे भक्त के लिए कौन-सा अन्य उद्देश्य या लक्ष्य शेष रह जाता है?

तात्पर्य : इस श्लोक में *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभ्यधिका* "उत्तम कोटि" का सूचक है। भगवान् उनसे अत्यधिक तुष्ट रहते हैं, जो उनके शुद्ध भक्तों की पूजा करते हैं और वे उन्हें तदनुसार फल देते हैं। भगवान् द्वारा अपने शुद्ध भक्तों के उदारमूल्यांकन के कारण, शुद्ध भक्तों की पूजा को साक्षात् भगवान् की पूजा से श्रेष्ठ बताया गया है। *मद् अर्थेष्वङ्ग चेष्टा* शब्द यह बताते हैं कि दाँत साफ करना, स्नान करना, भोजन करना इत्यादि सामान्य शारीरिक कार्य भक्ति-रूप में भगवान् को अर्पित करने चाहिए। *वचसा मद्गुणेरणम्* सूचित करते हैं कि चाहे भोंडी भाषा में या विद्वत्तापूर्ण कवि-स्वर में हो, भगवान् की महिमा का वर्णन होना चाहिए। *मद् अर्थेऽर्थ परित्यागः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को अपना धन भगवान् की महिमा व्यक्त करने वाले उत्सवों में खर्च करना चाहिए, यथा रथ-यात्रा, जन्माष्टमी तथा गौर-पूर्णिमा में। यही नहीं, यहाँ यह भी आदेश है कि मनुष्य अपना धन अपने गुरु तथा अन्य वैष्णवों के मिशन में सहायता पहुँचाने के लिए खर्च करे। जो धन भगवान् की सेवा में ठीक से उपयोग में नहीं लाया जा सकता और इस तरह विमल चेतना में व्यवधान बनता है,

उसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। *भोगस्य* शब्द यौन-भोग इत्यादि इन्द्रियतृप्ति का द्योतक है और *सुखस्य* भावात्मक भौतिक सुख यथा अत्यधिक पारिवारिक आसक्ति का। *दत्तं हुतम्* शब्द सूचित करते हैं कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को घी में तैयार उत्तम भोजन प्रदान किया जाय। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक यज्ञ-अग्नि में स्वाहा उच्चारण के साथ अन्न तथा घृत डाले। *जप्तम्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को निरन्तर भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए।

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं स वैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मनि—भगवान् में; अर्पितम्—स्थिर; चित्तम्—चेतना; शान्तम्—शान्त; सत्त्व—सतोगुण द्वारा; उपबृंहितम्—संपुष्ट; धर्मम्—धार्मिकता; ज्ञानम्—ज्ञान; सः—सहित; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अभिपद्यते—प्राप्त करता है।

जब सतोगुण से संतुष्ट शान्त चेतना भगवान् पर स्थिर कर दी जाती है, तो मनुष्य को धार्मिकता, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : हर वस्तु को भगवान् की सेवा के लिए चाहते हुए और अपने लिए कुछ भी न चाहते हुए, शुद्ध भक्त *शान्त* बन जाता है। वह दिव्य सतोगुण द्वारा परिपुष्ट बनता है और इस तरह भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने के परम धर्म को प्राप्त करता है। वह भगवान् के स्वरूप तथा अपने आध्यात्मिक शरीर, भौतिक शुद्धता तथा पाप से वैराग्य तथा वैकुण्ठ के ऐश्वर्य का *ज्ञान* भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता तदपि जिसकी भक्ति, योग के प्रति आकर्षण से मिश्रित होती है, वह सतोगुण द्वारा परिपुष्ट होता है। वह भगवान् का ध्यान करके धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के कम महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त करता है। अन्ततः मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए क्योंकि भौतिक जगत चाहे जितनी भी उत्तम भेंट क्यों न करे, वह भगवद्धाम की तुलना में नगण्य है।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; अर्पितम्—स्थिर; तत्—यह (चेतना); विकल्पे—भौतिक विविधता में (शरीर, घर, परिवार आदि); इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; परिधावति—चारों ओर दौ लगाते; रजः-वलम्—रजोगुण से परिपुष्ट; च—भी; असत्—जिसमें स्थायी सच्चाई नहीं है उसे; निष्ठम्—समर्पित; चित्तम्—चेतना; विद्धि—जानो; विपर्ययम्—(पूर्व वर्णित के) विरुद्ध।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक देह, घर तथा इन्द्रियतृप्ति की ऐसी ही अन्य वस्तुओं पर टिक जाती है, तो वह इन्द्रियों की सहायता से भौतिक वस्तुओं के पीछे दौ लगाते-लगाते अपना जीवन व्यतीत करता है। इस तरह रजोगुण से बलपूर्वक प्रभावित चेतना नश्वर वस्तुओं के प्रति समर्पित हो जाती है, जिससे अधर्म, अज्ञान, आसक्ति तथा नीचता (कृपणता) उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने ऊपर मन टिकाने का शुभ फल बतलाया है और अब उसकी उल्टी स्थिति बतला रहे हैं। *रजस्वलम्*—सूचित करता है कि मनुष्य की वासना इतनी प्रबल हो उठती है कि वह पापपूर्ण कृत्य करता है और दुर्भाग्य का शिकार बनता है। यद्यपि भौतिकतावादी लोग आसन्न विपत्ति के प्रति आँखें मूँदें रहते हैं, इसकी पुष्टि सभी प्रकार के प्रमाणों से—वैदिक आदेशों, प्रत्यक्ष निरीक्षण, परम्परागत विज्ञता तथा निगमनात्मक तर्क—की जा सकती है कि ईश्वरी नियमों का उल्लंघन विपदापूर्ण है।

धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेस्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥ २७॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; मत्—मेरी; भक्ति—भक्ति; कृत्—उत्पन्न करते हुए; प्रोक्तः—घोषित की जाती है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; ऐकात्म्य—परमात्मा की उपस्थिति; दर्शनम्—देखना; गुणेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; असङ्गः—निर्लिप्त; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अणिमा—अणिमा नामक योग-सिद्धि; आदयः-अन्द् सो फोर्थ्.

वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त वे हैं, जो मनुष्य को मेरी भक्ति तक ले जाते हैं। असली ज्ञान वह जानकारी है, जो मेरी सर्वव्यापकता को प्रकट करती है। इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में पूर्ण अरुचि ही वैराग्य है और अणिमा सिद्धि जैसी आठ सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं।

तात्पर्य : भगवान् परम ज्ञान हैं अतः जो व्यक्ति अज्ञान से छूट जाता है, वह अपने आप भगवद्भक्ति में लग जाता है और धार्मिक कहलाता है। जो व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों तथा उनसे उत्पन्न इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले पदार्थों से विरक्त रहता है, वह वैराग्य को प्राप्त माना जाता है। आठ योग-सिद्धियाँ, जिन्हें भगवान् उद्धव से पहले ही बता चुके हैं, सर्वोच्च ऐश्वर्य के अन्तर्गत आती हैं।

श्रीउद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्षण ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥ २८ ॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किम्सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥
पुंसः किं स्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥ ३१ ॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यमः—अनुशासनात्मक नियम; कति-विधः—कितने भिन्न प्रकार के; प्रोक्तः—विद्यमान कहे जाते हैं; नियमः—नियमित नैत्यिक कार्य; वा—अथवा; अरि-कर्षण—हे शत्रु के दमनकर्ता, कृष्ण; कः—क्या है; शमः—मानसिक सन्तुलन; कः—क्या है; दमः—आत्मसंयम; कृष्ण—हे कृष्ण; का—क्या है; तितिक्षा—सहिष्णुता; धृतिः—दृढ़ता, धैर्य; प्रभो—हे प्रभु; किम्—क्या है; दानम्—दान; किम्—क्या है; तपः—तपस्या; शौर्यम्—शूरता; किम्—क्या है; सत्यम्—सच्चाई; ऋतम्—सत्य; उच्यते—कहलाता है; कः—क्या है; त्यागः—वैराग्य; किम्—क्या है; धनम्—सम्पत्ति; च—भी; इष्टम्—इच्छित; कः—क्या है; यज्ञः—यज्ञ; का—क्या है; च—भी; दक्षिणा—धार्मिक पारिश्रमिक, दक्षिणा; पुंसः—पुरुष का; किम्—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; बलम्—बल; श्री-मन्—हे भाग्यवान् कृष्ण; भगः—ऐश्वर्य; लाभः—लाभ; च—भी; केशव—हे केशव; का—क्या है; विद्या—शिक्षा; ह्रीः—दीनता, नम्रता; परा—परम; का—क्या है; श्रीः—सौन्दर्य; किम्—क्या है; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; एव—निस्सन्देह; च—भी; कः—कौन है; पण्डितः—विद्वान; कः—कौन है; च—भी; मूर्खः—मूर्ख; कः—क्या है; पन्थाः—असली मार्ग; उत्पथः—झूठा मार्ग, कुमार्ग; च—भी; कः—क्या है; कः—क्या है; स्वर्गः—स्वर्ग; नरकः—नरक; कः—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; कः—कौन है; बन्धुः—मित्र; उत—तथा; किम्—क्या है; गृहम्—घर; कः—कौन है; आढ्यः—धनी; कः—कौन है; दरिद्रः—गरीब, निर्धन; वा—अथवा; कृपणः—कंजूस; कः—कौन है; कः—कौन है; ईश्वरः—नियन्ता; एतान्—इन; प्रश्नान्—प्रश्नों को; मम—मुझसे; ब्रूहि—कृपया कहें; विपरीतान्—विरोधी गुण; च—भी; सत्-पते—हे भक्तों के स्वामी।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले, कृपा करके मुझसे यह बतायें कि कितने प्रकार के अनुशासनात्मक नियम (यम) तथा नियमित दैनिक कार्य (नियम) हैं। यही नहीं, हे प्रभु, मुझे यह भी बतायें कि मानसिक संतुलन क्या है, आत्मसंयम क्या है और सहिष्णुता तथा दृढ़ता का असली अर्थ क्या है? दान, तपस्या तथा शौर्य क्या हैं और वास्तविकता तथा सच्चाई का किस तरह वर्णन किया जाता है? त्याग क्या है और सम्पत्ति क्या है? इच्छित क्या है, यज्ञ क्या है और दक्षिणा क्या है? हे केशव, हे भाग्यवान्, मैं किस तरह किसी व्यक्ति के बल, ऐश्वर्य तथा लाभ को समझूँ? सर्वोत्तम शिक्षा क्या है? वास्तविक नम्रता क्या है और असली सौन्दर्य क्या है? सुख और दुख क्या हैं? कौन विद्वान है और कौन मूर्ख है? जीवन के असली तथा मिथ्या मार्ग क्या हैं और स्वर्ग तथा नरक क्या हैं? असली मित्र कौन है और असली घर क्या है? कौन धनी है और कौन निर्धन है? कौन कंजूस है और कौन वास्तविक

नियन्ता है? हे भक्तों के स्वामी, कृपा करके मुझे इन बातों के साथ साथ इनकी विपरीत बातें भी बतलायें।

तात्पर्य : इन पाँच श्लोकों में उल्लिखित सभी बातें भिन्न भिन्न प्रकारों से विश्व-भर में भिन्न संस्कृतियों तथा समाजों में परिभाषित की गई हैं। इसलिए श्री उद्धव सभ्य जीवन के इन विश्वजनीन पक्षों की मानक परिभाषा पाने के लिए परम अधिकारी भगवान् कृष्ण से पूछ रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ ३३ ॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ ३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्य; अस्तेयम्—अन्यों की सम्पत्ति के लिए न तो ललचाना, न चोरी करना; असङ्गः—विरक्ति; ह्रीः—दीनता; असञ्चयः—अपरिग्रह; आस्तिक्यम्—धर्म में विश्वास; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य; च—भी; मौनम्—मौन; स्थैर्यम्—स्थिरता; क्षमा—क्षमा करना; अभयम्—निर्भीकता; शौचम्—भीतरी तथा बाहरी स्वच्छता; जपः—भगवन्नाम का कीर्तन; तपः—तपस्या; होमः—यज्ञ; श्रद्धा—श्रद्धा; आतिथ्यम्—अतिथि-सत्कार; मत्-अर्चनम्—मेरी पूजा; तीर्थ-अटनम्—तीर्थयात्रा करना; पर-अर्थ-ईह—परमेश्वर के लिए कर्म करना तथा इच्छा करना; तुष्टिः—सन्तोष; आचार्य-सेवनम्—गुरु-सेवा; एते—ये; यमाः—अनुशासनात्मक नियम; स-नियमाः—गौण कार्यों के साथ; उभयोः—दोनों का; द्वादश—बारह; स्मृताः—जाने जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों द्वारा; उपासिताः—भक्तिपूर्वक अनुशीलन किया गया; तात—हे उद्धव; यथा-कामम्—अपनी इच्छानुसार; दुहन्ति—पूर्ति करते हैं; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : अहिंसा, सत्य, दूसरों की सम्पत्ति से लालायित न होना या चोरी न करना, वैराग्य, दीनता, अपरिग्रह, धर्म में विश्वास, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा तथा अभय—ये बारह मूल अनुशासनात्मक यम (नियम) हैं। आन्तरिक तथा बाह्य स्वच्छता, भगवन्नाम कीर्तन, यज्ञ, श्रद्धा, आतिथ्य, मेरी पूजा, तीर्थाटन, केवल परम लक्ष्य के लिए कार्य करना तथा इच्छा करना, सन्तोष तथा गुरु-सेवा—ये बारह नियमित कार्य (नियम) हैं। ये चौबीसों कार्य उन लोगों को इच्छित वर देने वाले हैं, जो उनका भक्तिपूर्वक अनुशीलन करते हैं।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥ ३६ ॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥ ३७॥
अन्यच्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः सन्न्यास उच्यते ॥ ३८॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥ ३९॥

शब्दार्थ

शमः—मानसिक सन्तुलन; मत्—मुझमें; निष्ठता—निष्ठा; बुद्धेः—बुद्धि की; दमः—आत्मसंयम; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; संयमः—पूर्ण अनुशासन; तितिक्षा—सहिष्णुता; दुःख—दुख; सम्मर्षः—सहन करना; जिह्वा—जीभ; उपस्थ—जननेन्द्रिय; जयः—जीतना; धृतिः—स्थिरता; दण्ड—आक्रामकता, छेड़छाड़; न्यासः—त्यागना; परम्—परम; दानम्—दान; काम—विषय-वासना; त्यागः—त्यागना; तपः—तपस्या; स्मृतम्—माना जाता है; स्वभाव—भोग करने की सहज प्रवृत्ति; विजयः—जीत; शौर्यम्—वीरता; सत्यम्—सत्य; च—भी; सम-दर्शनम्—परमेश्वर का सर्वत्र दर्शन होना; अन्यत्—अगला तत्त्व (सच्चाई); च—तथा; सु-नृता—मधुर; वाणी—वाणी; कविभिः—मुनियों द्वारा; परिकीर्तिता—घोषित; कर्मसु—सकाम कर्मों में; असङ्गमः—विरक्ति; शौचम्—स्वच्छता; त्यागः—त्याग; सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; उच्यते—कहलाता है; धर्मः—धार्मिकता; इष्टम्—इष्ट; धनम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; यज्ञः—यज्ञ; अहम्—मैं हूँ; भगवत्-तमः—भगवान्; दक्षिणा—दक्षिणा; ज्ञान-सन्देशः—सम्यक ज्ञान का उपदेश; प्राणायामः—श्वास रोकने की योग-पद्धति; परम्—परम; बलम्—शक्ति।

मुझमें बुद्धि लगाना मानसिक सन्तुलन (शम) है और इन्द्रियों का पूर्ण संयम आत्मसंयम (दम) है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना। स्थिरता तब आती है जब मनुष्य जीभ तथा जननेन्द्रियों पर विजय पा लेता है। सबसे बड़ा दान है अन्यों के प्रति सभी प्रकार की छेड़छाड़ त्यागना। काम (विषय-वासना) का परित्याग ही असली तपस्या है। असली शौर्य भौतिक जीवन का भोग करने की सहज प्रवृत्ति को जीतना है तथा भगवान् का सर्वत्र दर्शन करना ही सच्चाई (सत्य) है। सत्यता का अर्थ है मधुर ढंग से सत्य बोलना जैसा कि महर्षियों ने घोषित किया है। स्वच्छता का अर्थ है सकाम कर्मों से विरक्ति जबकि त्याग ही संन्यास है। मनुष्यों की असली इष्ट सम्पत्ति धार्मिकता है और मैं, भगवान् ही यज्ञ हूँ। आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त करने के उद्देश्य से गुरु-भक्ति ही दक्षिणा है और सबसे बड़ी शक्ति है श्वास रोकने की प्राणायाम विधि।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन गुणों का वर्णन कर रहे हैं, जो मानव जीवन में प्रगति करने वाले मनुष्यों के लिए वांछित हैं। *शम* का अर्थ है बुद्धि को भगवान् कृष्ण में स्थिर करना। कृष्णभावनामृत के बिना कोरी शान्ति मन की जड़ तथा व्यर्थ अवस्था है। *दम* का अर्थ है सबसे पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करना। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में किये बिना अपने बच्चों,

शिष्यों या अनुयायियों को अनुशासित बनाना चाहता है, तो वह उपहास का पात्र बन जाता है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना जैसा अन्यों द्वारा अपमान या उपेक्षा से उत्पन्न होता है। कभी कभी शास्त्रों के आदेशों का पालन करने में भौतिक असुविधाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं और ऐसे दुख को भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। यदि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान तथा अपशब्दों को किसी मनुष्य द्वारा सहा नहीं जाता, या प्रामाणिक धार्मिक शास्त्रों के पालन से उत्पन्न असुविधाओं को सहा नहीं जाता, तो उसके लिए अत्यधिक धूप, शीत, कष्ट इत्यादि सहने का दिखावा करके अन्यों पर प्रभाव जमाना कोरी मूर्खता होगी। यदि कोई व्यक्ति अपनी जीभ तथा अपनी जननेन्द्रिय को वश में नहीं करता, तो किसी भी प्रकार की स्थिरता व्यर्थ है। असली दान तो अन्यों के प्रति सारी आक्रामकता का त्याग है। यदि कोई दानखाते में धन देता है, किन्तु साथ ही शोषण कार्यों में या दुरुपयुक्त राजनीतिक दाँव-पेंच में लगा रहता है, तो उसके दान का कोई मूल्य नहीं रहता। तपस्या का अर्थ है विषय-वासना तथा इन्द्रियतृप्ति का त्याग और एकादशी जैसा व्रत रखना। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर को कष्ट देने वाली मनमानी विधियों को ईजाद किया जाय। वास्तविक शौर्य अपनी निम्न मनोवृत्ति को जीतना है। प्रत्येक व्यक्ति तेजस्वी व्यक्ति के रूप में अपने यश का प्रचार करना चाहता है किन्तु उसमें काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि आ ही जाते हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति रजो तथा तमोगुणों से उत्पन्न इन छोटी छोटी बुराइयों को जीत सकता है, तो वह उनकी तुलना में बड़ा वीर है, जो कपट तथा हिंसा द्वारा केवल अपने राजनीतिक विपक्षियों को नष्ट कर देते हैं।

ईर्ष्या-द्वेष का त्याग करके तथा हर शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को पहचान करके मनुष्य सम-दृष्टि उत्पन्न कर सकता है। यह मनोवृत्ति परमेश्वर को प्रसन्न करती है और तब वे अपने को प्रकट करते हैं जिससे मनुष्य की समदृष्टि की पुष्टि होती है। विद्यमान वस्तुओं का मात्र वर्णन करना सच्चाई की अनुभूति नहीं है। उसे सारे जीवों तथा सारी परिस्थितियों की सही आध्यात्मिक समता को भी देखना चाहिए। सत्य का अर्थ है मधुर ढंग से बोलना जिससे लाभकारी प्रभाव पड़े। यदि सच्चाई के नाम पर अन्यों के दोषों पर उंगली उठाता है, तो ऐसा छिद्रान्वेषण सन्त पुरुषों को पसंद नहीं आता। प्रामाणिक गुरु सत्य का भाषण इस तरह करता है कि लोग आध्यात्मिक पद तक उठ सकें। सत्य की यह कला सीखनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति भौतिक वस्तुओं में आसक्त रहता है, तो उसका शरीर तथा

मन सदैव दूषित रहते हैं। अतएव स्वच्छता का अर्थ है भौतिक आसक्ति को त्याग देना, न कि केवल जल से शरीर की त्वचा को बार-बार धोना। असली त्याग तो अपने सम्बन्धियों तथा पत्नी के ऊपर अपनी झूठी स्वामित्व भावना को त्यागना है, मात्र भौतिक वस्तुओं को त्यागना नहीं। असली सम्पत्ति धर्ममय होना है। यज्ञ तो साक्षात् भगवान् है क्योंकि यज्ञकर्ता को अपनी चेतना भगवान् में लीन करनी चाहिए, यज्ञ से प्राप्त होने वाले क्षणिक भौतिक लाभ में नहीं। असली दक्षिणा का अर्थ है कि साधु पुरुषों की सेवा की जाय जिससे वे उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर सकें। मनुष्य को चाहिए कि उस गुरु को, उसी ज्ञान को दूसरों को प्रदान करके, दक्षिणा दे, जिसने उसे प्रकाश दिया है और इस तरह वह आचार्य को प्रसन्न करे। प्रचार का कार्य सबसे बड़ी दक्षिणा है। प्राणायाम द्वारा मनुष्य अपने मन को सरलता से दमित कर सकता है और जो व्यक्ति इस तरह चंचल मन को भलीभाँति वश में कर लेता है, वही सबसे शक्तिशाली पुरुष है।

भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ।
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ॥ ४० ॥
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ।
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ॥ ४१ ॥
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ॥ ४२ ॥
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ।
दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ॥ ४३ ॥
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ।
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ॥ ४४ ॥
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भगः—ऐश्वर्य; मे—मेरा; ऐश्वरः—ईश्वरी; भावः—स्वभाव; लाभः—लाभ; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; विद्या—शिक्षा; आत्मनि—आत्मा में; भिदा—द्वैत; बाधः—निरस्त करना; जुगुप्सा—घृणा; ह्रीः—विनयशीलता; अकर्मसु—पापपूर्ण कार्यों में; श्रीः—सौन्दर्य; गुणाः—सद्गुण; नैरपेक्ष्य—भौतिक वस्तुओं से विराग; आद्याः—इत्यादि; सुखम्—सुख; दुःख—दुख; सुख—भौतिक सुख; अत्ययः—पार करना; दुःखम्—दुख; काम—विषय-वासना का; सुख—सुख पर; अपेक्षा—ध्यान करना; पण्डितः—चतुर व्यक्ति; बन्ध—बन्धन से; मोक्ष—मोक्ष; वित्—जानने वाला; मूर्खः—मूर्ख; देह—देह सहित; आदि—इत्यादि (मन); अहम्-बुद्धिः—जो अपनी पहचान करता है; पन्थाः—असली मार्ग; मत्—मुझ तक; निगमः—जाने वाला; स्मृतः—समझना चाहिए; उत्पथः—गलत रास्ता; चित्त—चेतना की; विक्षेपः—मोहग्रस्तता; स्वर्गः—स्वर्ग; सत्त्व-

गुण—सतोगुण का; उदय:—प्राधान्य; नरक:—नरक; तम:—तमोगुणी की; उन्नाह:—प्रधानता; बन्धु:—असली मित्र; गुरु:—गुरु; अहम्—मैं हूँ; सखे—हे मित्र उद्धव; गृहम्—घर; शरीरम्—शरीर; मानुष्यम्—मनुष्य का; गुण—सद्गुणों सहित; आढ्य:—समृद्ध; हि—निस्सन्देह; आढ्य:—धनी व्यक्ति; उच्यते—कहलाता है; दरिद्र:—निर्धन व्यक्ति; य:—जो; तु—निस्सन्देह; असन्तुष्ट:—असंतुष्ट; कृपण:—कंजूस; य:—जो; अजित—नहीं जीती हैं; इन्द्रिय:—इन्द्रियाँ; गुणेषु—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; असक्त—आसक्त नहीं; धी:—जिसके बुद्धि; ईश:—नियामक; गुण—इन्द्रियतृप्ति; सङ्ग:—आसक्त; विपर्यय:—विपरीत, चाकर; एते—ये; उद्धव—हे उद्धव; ते—तुम्हारे; प्रश्ना:—प्रश्न; सर्वे—सभी; साधु—उचित ढंग से; निरूपिता:—व्याख्या किये गये; किम्—क्या लाभ; वर्णितेन—वर्णन करने का; बहुना—विस्तार से; लक्षणम्—लक्षण; गुण—सद्गुणों के; दोषयो:—तथा दुर्गुणों के; गुण-दोष—अच्छे तथा बुरे गुण; दृशि:—देखना; दोष:—दोष; गुण:—असली सद्गुण; तु—निस्सन्देह; उभय—दोनों से; वर्जित:—पृथक्।

वास्तविक ऐश्वर्य भगवान् के रूप में मेरा निजी स्वभाव है, जिसके माध्यम से मैं छ: असीम ऐश्वर्यों को प्रकट करता हूँ। जीवन का सबसे बड़ा लाभ मेरी भक्ति है और असली शिक्षा (विद्या) आत्मा के भीतर के झूठे द्वैतभाव को समाप्त करना है। असली उदारता अनुचित कार्यों से घृणा करना है। विरक्ति जैसे सद्गुण का होना सौन्दर्य है। भौतिक सुख तथा दुख को लाँघना असली सुख है और असली दुख तो यौन-सुख की खोज में अपने को फँसाना है। बुद्धिमान वही है, जो बन्धन से छूटने की विधि जानता है और मूर्ख वह है, जो अपनी पहचान अपने शरीर तथा मन से करता है। जीवन में असली मार्ग वह है, जो मुझ तक ले जाने वाला है और कुमार्ग इन्द्रियतृप्ति है, जिससे चेतना मोहग्रस्त हो जाती है। वास्तविक स्वर्ग सतोगुण की प्रधानता है और अज्ञान की प्रधानता ही नरक है। मैं समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु रूप में हर एक का असली मित्र हूँ। मनुष्य का घर उसका शरीर है। हे प्रिय मित्र उद्धव, जो सद्गुणों से युक्त है, वही धनी कहा जाता है और जो जीवन से असंतुष्ट रहता है, वही निर्धन है। कृपण वह है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता और असली नियंत्रक वह है, जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त नहीं होता। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, वह दास होता है। इस प्रकार हे उद्धव, मैंने तुम्हारे द्वारा पूछे गये सारे विषयों की व्याख्या कर दी है। इन सद्गुणों तथा दुर्गुणों की अधिक विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं है क्योंकि निरन्तर गुण तथा दोषों को देखना स्वयं में एक दुर्गुण है। सर्वोत्कृष्ट गुण तो भौतिक गुण और दोष को लाँघ जाना है।

तात्पर्य : भगवान् स्वभावत: षड् ऐश्वर्यों—असीम सौन्दर्य, धन, यश, ज्ञान, बल तथा त्याग से युक्त होते हैं। इसलिए जीवन का सबसे बड़ा लाभ है उन भगवान् की साकार प्रेमाभक्ति प्राप्त करना जो समस्त आनन्द के आगार हैं। असली शिक्षा का अर्थ है इस मिथ्या भाव को त्यागना कि कोई भी वस्तु

समस्त शक्तियों के उद्गम भगवान् से पृथक् है। इसी तरह आत्मा को परमात्मा से पृथक् नहीं मानना चाहिए। मात्र लज्जा से उदारता नहीं आती। मनुष्य को चाहिए कि वह पापकर्मों से विरत हो, तभी वह वास्तविक उदार या विनम्र है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में तुष्ट है और भौतिक आनन्द की खोज नहीं करता अथवा भौतिक दुख से दुखी नहीं होता, उसे ही वास्तव में सुखी समझना चाहिए। सबसे कृपण व्यक्ति वह है, जो यौन-सुख में लिप्त रहता है और पंडित वह है, जो ऐसे भौतिक बन्धन से छूटने की विधि जानता है। मूर्ख वह है, जो भगवान् से अपनी नित्य मित्रता त्याग कर अपनी पहचान शरीर, मन, समाज, जाति, परिवार से करता है। जीवन का असली मार्ग अन्तरराज्यीय सड़कें या काँटों और कीचड़ से रहित रास्ता नहीं है। यह वह मार्ग है, जो भगवान् की ओर ले जाता है। जीवन का गलत मार्ग केवल चोर-उचक्कों अथवा चुंगी के फाटकों से युक्त सड़क नहीं होता, यह वह मार्ग है, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति के नितान्त ऊहापोह तक ले जाता है। स्वर्ग वह है, जिसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है। यह इन्द्रलोक नहीं है जहाँ रजो तथा तमोगुण कभी कभी स्वर्गिक वातावरण को क्षुब्ध कर देते हैं।जहाँ कहीं भी तमोगुण प्रधान होता है, वहीं नरक होता है। वह केवल नरकलोक में नहीं होता जहाँ शिवजी के अनुसार शुद्ध भक्त कृष्ण का चिन्तन करके सुखी रहता है। जीवन में हमारा असली मित्र गुरु है, जो हमें सभी प्रकार के संकटों से बचाता है। सभी गुरुओं में भगवान् कृष्ण स्वयं ही *जगद्गुरु* हैं। भौतिक जीवन में हमारा भौतिक शरीर ही हमारा घर है, ईंट, सीमेन्ट, पत्थर, लकड़ी से बना घर नहीं। धनी व्यक्ति वह है, जिसमें असंख्य सद्गुण पाये जायँ—वह बहुत बड़े बैंक-खाते वाला मनोविकारयुक्त मूर्ख नहीं होता। निर्धन वह है, जो असंतुष्ट रहता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता, वही दयनीय है और दुखी है, जबकि भौतिक जीवन से अपने को विरक्त कर लेने वाला वास्तव में स्वामी या नियंत्रक होता है। वर्तमान समय में यूरोप तथा अन्य देशों में प्रभुसत्ता के अवशेष पाये जाते हैं किन्तु ऐसे तथाकथित राजे-रजवाड़े निम्न योनि की आदतें प्रदर्शित करते हैं। असली स्वामी तो वह है, जो आध्यात्मिक पद तक पहुँच कर भौतिक जगत को जीत लेता है। जो व्यक्ति भौतिक जीवन में लिप्त है, वह यहाँ पर वर्णित सद्गुणों से विपरीत गुण प्रदर्शित करेगा और इस तरह वह जीवन में पीछे जाने का प्रतीक होता है। भगवान् अपनी व्याख्या यह कह कर समाप्त करते हैं कि इन अच्छे तथा बुरे गुणों की और अधिक व्याख्या आवश्यक नहीं है। निस्सन्देह, जीवन का उद्देश्य इन गुणों और दोषों को

लाँघ कर शुद्ध कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक पहुँचना है। इसकी अधिक व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि'' नामक उन्नीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

शुद्ध भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य से आगे निकल जाती है

इस अध्याय में कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन व्यक्ति विशेष में अच्छे तथा बुरे गुणों की उपस्थिति के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

वैदिक शास्त्र भगवान् के आदेश को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। इन वैदिक ग्रंथों में द्वैत का स्वरूप बतलाया गया है, जो वर्णाश्रम प्रणाली जैसी विचारधारा पर आधारित है। उसी के साथ साथ वेद इस द्वैतदृष्टि का बहिष्कार करते हैं। उद्धव ने यह जानने के लिए कि शास्त्रों में ऐसे विरोधी विचार क्यों हैं और इनका निराकरण कैसे किया जा सकता है, भगवान् कृष्ण से जिज्ञासा प्रकट की। उत्तर में भगवान् ने बतलाया कि वेद मोक्ष-प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन करते हैं। *कर्म-योग* उन लोगों के लिए है, जो विरक्त नहीं हैं और स्थूल इच्छाओं से परिपूर्ण हैं। *ज्ञान-योग* उनके लिए है, जो कर्मफल से विरक्त होकर भौतिक प्रयत्न करना छोड़ देते हैं। *भक्ति-योग* उन लोगों के लिए है जिन्होंने *युक्तवैराग्य* अर्थात् उपयुक्त त्याग ग्रहण कर रखा है। जब तक मनुष्य अपने कर्म का फल भोगने से अरुचि नहीं दिखाता अथवा जब तक भक्ति-मार्ग में भगवान् की वार्ताओं में श्रद्धा नहीं उत्पन्न हो जाती, तब तक उसे अपने सारे कर्तव्य पूरे करने चाहिए। किन्तु वैरागी को, न ही भगवद्‌भक्त को, अनुष्ठान करने की आवश्यकता रहती है।

वे व्यक्ति जो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, जो निषिद्ध का परित्याग कर देते हैं और जो लोभ तथा अन्य अस्वस्थ लक्षणों से मुक्त हो लेते हैं, वे या तो अद्वैतवादी ज्ञान प्राप्त करते हैं या यदि भाग्यवान हुए तो भगवद्‌भक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसा ज्ञान तथा ऐसी भक्ति इसी मनुष्य-जीवन में प्राप्त की जा सकती हैं, अतएव नरक में रहने वालों तथा देवताओं दोनों के लिए ही अभीष्ट है। यद्यपि मनुष्य-

शरीर ज्ञान तथा भक्ति के रूप में जीवन के सारे उद्देश्य को प्रदान करता है, किन्तु वह नश्वर है। अतएव जो विवेकवान है उसे मृत्यु आने के पूर्व मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य–शरीर नाव के तुल्य है। श्री गुरुदेव कर्णधार हैं और भगवत्कृपा अनुकूल हवा है। यदि मनुष्य शरीररूपी ऐसी दुर्लभ नाव प्राप्त करके, भव–सागर को पार करने की इच्छा नहीं करता, तो वह मनुष्य आत्महन्ता है। मन चंचल है किन्तु इसे सदा ही मनमानी करने की छूट नहीं देनी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को इन्द्रियों तथा प्राण–वायु को जीतना चाहिए और सतोगुण से सम्पन्न बुद्धि के द्वारा, मन को वश में लाना चाहिए।

जब तक मन पूरी तरह स्थिर न हो जाय, मनुष्य को चाहिए कि सभी वस्तुओं की सृष्टि के विषय में सूक्ष्म से स्थूल और उनके विनाश के विषय में उलट कर स्थूल से सूक्ष्म का क्रम से ध्यान करे। जिसे विरक्ति तथा वैराग्य का ज्ञान है, वह अपने गुरु से निरन्तर उपदेश पाकर शरीर तथा अन्य इन्द्रिय–विषयों के साथ अपनी झूठी पहचान त्याग सकता है। यम, नियम तथा अन्य योगाभ्यासों से, दिव्य ज्ञान के अनुशीलन से तथा भगवान् की पूजा तथा ध्यान से, परमात्मा का स्मरण किया जा सकता है।

गुण का अर्थ है अपनी योग्यता के विशिष्ट पद के लक्ष्य पर दृढ़ रहना। अच्छे तथा बुरे के विषय में आदेशों का अनुसरण करते हुए, संचित भौतिक संगति का बहिष्कार करने की इच्छा रखने से, उसके सारे अशुभ भौतिक कर्म कम हो जाते हैं। भगवद्भक्ति से सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जो व्यक्ति निरन्तर भक्ति द्वारा भगवान् की सेवा करता है, वह अपने मन को भगवान् पर स्थिर कर लेता है और इस तरह उसके हृदय के भीतर आस जमाये हुई इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। जब वह भगवान् की उपस्थिति का स्वयं अनुभव करता है, तो उसका मिथ्या अहंकार समूल नष्ट हो जाता है। उसके सारे संशय छिन्न–भिन्न हो जाते हैं और ढेर के ढेर भौतिक कार्यकलाप शून्य बन जाते हैं। इसी कारण भगवद्भक्त ज्ञान तथा वैराग्य को सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने का साधन नहीं मानते। भगवद्भक्ति उसी के हृदय में उत्पन्न होती है, जिसका हृदय भौतिक इच्छा से रहित होता है और जिसे भौतिक वस्तुओं में रुचि नहीं होती। अनुष्ठान सम्बन्धी आदेशों तथा निषेधों से उत्पन्न शुद्धता एवं अशुद्धता को अनन्य सच्चे भगवद्भक्तों पर लागू नहीं किया जा सकता।

श्रीउद्धव उवाच
विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।

अवेक्षतेऽरविण्डाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; विधिः—आदेश; च—भी; प्रतिषेधः—निषेधात्मक आदेश; च—तथा; निगमः—वैदिक वाङ्मय; हि—निस्सन्देह; ईश्वरस्य—भगवान् का; ते—तुम्हारा; अवेक्षते—एकाग्र करता है; अरविण्ड-अक्ष—हे कमलनयन; गुणम्—उत्तम या पवित्र गुण; दोषम्—बुरे या पापपूर्ण गुण; च—भी; कर्मणाम्—कर्मों के।

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, आप भगवान् हैं और इस तरह विधियों तथा निषेधों से युक्त वैदिक वाङ्मय आपका आदेश है। ऐसा वाङ्मय कर्म के गुण तथा दोषों पर ध्यान एकाग्र करता है।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् कृष्ण ने कहा : *गुण दोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः*—भौतिक पुण्य तथा पाप पर ध्यान एकाग्र करना स्वयं दोष है क्योंकि वास्तविक पुण्य का अर्थ है दोनों को पार कर जाना। अब श्री उद्धव इसी बात के पीछे लगे हुए हैं जिससे श्रीकृष्ण इस कठिन विषय की विशद व्याख्या करें। यहाँ पर श्री उद्धव कहते हैं कि ईश्वरीय नियमों से युक्त वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य का विवरण देते हैं, अतएव इसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए कि वेदों द्वारा संस्तुत कर्मों के पार कैसे जाया जाय? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण द्वारा कहे गये वचनों का उद्देश्य उद्धव की समझ में सहसा आ गया और भगवान् को इस रोचक विषय पर विस्तार से बताने के लिए उकसाकर, उद्धव ने बाह्य रूप से भगवान् के कथन को चुनौती दी।

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; विकल्पम्—पाप-पुण्य से उत्पन्न नाना प्रकार के उच्च तथा निम्न पद; च—तथा; प्रतिलोम—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता माता से निम्न कुल का होता है; अनुलोम-जम्—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता उच्च कुल का और माता निम्न कुल की हो; द्रव्य—भौतिक वस्तुएँ या धन; देश—स्थान; वयः—आयु; कालान्—समय; स्वर्गम्—स्वर्ग; नरकम्—नरक; एव—निस्सन्देह; च—भी।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार, वर्णाश्रम में उच्च तथा निम्न कोटियाँ परिवार-नियोजन के पवित्र और पापमय गुणों के कारण हैं। इस प्रकार पाप तथा पुण्य किसी स्थिति विशेष में यथा भौतिक अवयव, स्थान, आयु तथा काल में, वैदिक विश्लेषण के सन्दर्भ बिन्दु हैं। निस्सन्देह, वेदों से भौतिक स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व प्रकट होते हैं, जो निश्चित रूप से पाप तथा पुण्य पर आधारित हैं।

तात्पर्य : *प्रतिलोम* सूचक है कुलीन पत्नी और निम्न पुरुष के संयोग का। उदाहरणार्थ, *वैदेहक* जाति के लोग शूद्र पिता तथा ब्राह्मण माता से उत्पन्न होते हैं जबकि *सूत* वे हैं, जो क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता या शूद्र पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न होते हैं। *अनुलोम* सूचक है कुलीन पिता तथा निम्न जाति की माता से उत्पन्न लोगों का। *मूर्धावसिक्त* लोग वे हैं, जो ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न हैं। अम्बष्ठ लोग ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न हैं। ये प्राय: चिकित्सक होते हैं। *करण* सूचक है वैश्य पिता तथा शूद्र माता से या क्षत्रिय पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान का। जातियों का ऐसा मिश्रण वैदिक संस्कृति में अच्छा नहीं माना जाता था, इसका निरूपण *भगवद्गीता* के प्रथम अध्याय में हुआ है। अर्जुन को चिन्ता थी कि युद्धक्षेत्र में इतने क्षत्रियों की मृत्यु से कुलीन स्त्रियाँ निम्न जातीय पुरुषों से मिलेंगी। इसी आधार पर वह लड़ने से इनकार कर रहा था। जो भी हो, सम्पूर्ण वैदिक सामाजिक प्रणाली पाप और पुण्य के भेदभाव पर आश्रित है और श्री उद्धव भगवान् को प्रोत्साहित कर रहे हैं कि वे अपने इस कथन की विस्तृत व्याख्या करें कि, ''मनुष्य को पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए।''

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
नि:श्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—दोनों में भेद; दृष्टिम्—देखे; अन्तरेण—के बिना; वच:—शब्द; तव—तुम्हारा; नि:श्रेयसम्—जीवन की सिद्धि, मोक्ष; कथम्—कैसे सम्भव; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; निषेध—वर्जन; विधि—आदेश; लक्षणम्—लक्षण से युक्त।

पाप तथा पुण्य के बीच के अन्तर को देखे बिना भला कोई किस तरह आपके उन आदेशों को जो कि वैदिक वाङ्मय के रूप में हैं, समझ सकता है, जो मनुष्य को पुण्य करने का आदेश देते हैं और पाप करने से मना करते हैं? इतना ही नहीं, अन्ततोगत्वा मोक्ष प्रदान करने वाले ऐसे प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय के बिना, मनुष्य किस तरह जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : यदि कोई पुण्यकर्म करने और पापकर्म से बचने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता, तो प्रामाणिक धर्म-शास्त्रों को समझना कठिन हो जाता है। और ऐसे शास्त्रों के बिना मनुष्य मोक्ष कैसे पा सकते हैं? श्री उद्धव के प्रश्न का यही सारांश है।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४॥

शब्दार्थ

पितृ—पितरों के; देव—देवताओं के; मनुष्याणाम्—मनुष्यों के; वेदः—वैदिक ज्ञान; चक्षुः—आँख है; तव—आपसे उत्पन्न; ईश्वर—हे परमेश्वर; श्रेयः—श्रेष्ठ; तु—निस्सन्देह; अनुपलब्धे—प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर; अर्थे—मानव-जीवन के लक्ष्य यथा इन्द्रियतृप्ति, मोक्ष, स्वर्ग-प्राप्ति में; साध्य-साधनयोः—कार्य-कारण दोनों में; अपि—निस्सन्देह।

हे प्रभु, प्रत्यक्ष अनुभव से परे वस्तुओं को—यथा आध्यात्मिक मोक्ष या स्वर्ग-प्राप्ति तथा अन्य भौतिक भोग जो हमारी वर्तमान क्षमता से परे हैं—समझने के लिए तथा सामान्यतया सभी वस्तुओं के साध्य-साधन को समझने के लिए, पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों को आपके नियम रूप वैदिक वाङ्मय की सलाह लेनी चाहिए क्योंकि ये सर्वोच्च प्रमाण तथा ईश्वरी ज्ञान हैं।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि मनुष्य तो मूर्खता कर सकते हैं, किन्तु उच्च पद पर स्थित पितरगण तथा देवताओं को ब्रह्माण्ड के विषयों में सर्वज्ञ माना जाता है। यदि ऐसे श्रेष्ठ प्राणी पृथ्वी से संचार स्थापित करने लगें, तो हर व्यक्ति वैदिक ज्ञान को एक तरफ छोड़ कर अपनी इच्छा पूरी कर लेगा। यहाँ इस विचार से *वेदश्चक्षुः* शब्दों के द्वारा इनकार किया गया है। देवताओं तथा पितरों तक को परम मोक्ष की द्वन्द्वात्मक धारणा है और भौतिक मामलों में तो वे व्यक्तिगत हताशा से प्रभावित होते हैं। यद्यपि देवतागण निम्न योनियों को, यथा मनुष्यों को भौतिक वर देने में सक्षम हैं, किन्तु कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की उनकी व्यक्तिगत योजनाएँ विफल हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, एक धनी व्यापारी अपने अनेक कर्मियों को तुच्छ वेतन देने में कठिनाई का अनुभव नहीं करता किन्तु यही व्यापारी अपने परिवार तथा मित्रों के साथ अपने व्यवहार से सर्वथा निराश हो सकता है और अपनी सम्पत्ति को अधिक निवेश द्वारा बढ़ाने के प्रयास में असफल हो सकता है। यद्यपि धनी व्यक्ति अपने अधीन कर्मियों को सर्वशक्तिसम्पन्न प्रतीत होता है, किन्तु अपनी निजी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे स्वयं संघर्ष करना पड़ता है। इसी तरह देवताओं तथा पितरों को अपना स्वर्गिक जीवन-स्तर बनाये रखने तथा विस्तार करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए उन्हें निरन्तर श्रेष्ठ वैदिक ज्ञान की शरण में जाना पड़ता है। यहाँ तक कि विश्व के मामलों के प्रशासन में भी वे वेदों के दिशा निर्देशों का ही पालन करते हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम हैं। यदि देवता जैसे काल्पनिक प्राणियों को वेदों की शरण लेनी पड़ती है, तो जरा उन मनुष्यों की स्थिति की कल्पना करें जो अपने जीवन के हर पग पर कुण्ठित रहते हैं। हर मनुष्य को भौतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में वैदिक ज्ञान

को सर्वोच्च प्रमाण मानना चाहिए। उद्धव भगवान् को यह बताते हैं कि यदि वैदिक ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया जाता है, तो भौतिक पाप तथा पुण्य की संकल्पना को बहिष्कृत कर पाना असम्भव दिखता है। इस तरह उद्धव पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् के विवादपूर्ण कथन की पुनः परीक्षा करने पर अड़े हुए हैं।

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥५॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—अन्तर; दृष्टिः—देखना; निगमात्—वैदिक ज्ञान से; ते—तुम्हारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; स्वतः—स्वयमेव; निगमेन—वेदों से; अपवादः—निरस्तीकरण; च—भी; भिदायाः—ऐसे भेद का; इति—इस प्रकार; ह—स्पष्टतः; भ्रमः—भ्रम, संशय।

हे प्रभु, पाप तथा पुण्य में दिखाई पड़ने वाला अन्तर आपके ही वैदिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और वह स्वयमेव उत्पन्न नहीं होता। यदि वही वैदिक वाङ्मय बाद में पाप तथा पुण्य के ऐसे अन्तर को निरस्त कर दे, तो निश्चित रूप से भ्रम उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं, वे*दैश्च सर्वैर हमेव वेद्यः*—सारे वेदों से मुझे जाना जाता है। निस्सन्देह, मैं वेदान्त का संकलनकर्ता और मैं वेदों को उसी रूप में जानता हूँ—वैदिक ज्ञान भगवान् के श्वास लेने से उत्पन्न होता है अतएव भगवान् कृष्ण जो भी बोलते हैं वह वेद या पूर्ण ज्ञान है। वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य के वर्णनों से परिपूर्ण हैं, किन्तु कृष्ण का यह कथन भी कि पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए, वैदिक ज्ञान है। श्री उद्धव यह बात समझ चुके थे, इसीलिए वे भगवान् से अनुरोध करते हैं कि ऊपर से दिखने वाले इस विरोधाभास को स्पष्ट कर दें। अन्ततोगत्वा, भौतिक जगत जीवों को उनकी विकृत इच्छाओं को तुष्ट करने का अवसर प्रदान करता है और उसी के साथ साथ भगवद्धाम वापस जाकर धीरे धीरे मोक्ष प्राप्त करने का भी। इस तरह भौतिक पुण्य को साधन मानना चाहिए, परम साध्य नहीं क्योंकि भौतिक जगत स्वयं नश्वर तथा सीमित है, पूर्ण नहीं। भगवान् स्वयं गुण तथा अच्छाई के आगार हैं। वे व्यक्ति तथा कार्य जो भगवान् को प्रसन्न करते हैं पुण्यात्मा तथा जो उन्हें रुष्ट करते हैं पापपूर्ण माने जाते हैं। इन शब्दों की कोई अन्य स्थायी परिभाषा नहीं दी जा सकती। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को भुलाकर संसारी नैतिकतावादी बन जाता है, तो उसकी स्थिति निश्चय ही अपूर्ण है और उसे पुण्य का चरम लक्ष्य—भगवद्धाम जाना—प्राप्त नहीं हो

सकेगा। दूसरी ओर, नैतिकतावादियों को भय है कि यदि पाप-पुण्य के भेद को कम कर दिया जायेगा, तो लोग ईश्वर के नाम पर अनेक अत्याचार करते रहेंगे। आधुनिक जगत में आध्यात्मिक सत्ता की स्पष्ट जानकारी नहीं है और नैतिकतावादी व्यक्ति नैतिकता का उल्लंघन करने की किसी अपील को धर्मान्धता, अराजकता, हिंसा तथा व्यभिचार मानते हैं। इस तरह वे भगवान् को प्रसन्न करने की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। चूँकि यह बात विवादास्पद है, अतएव उद्धव उत्सुकतापूर्वक भगवान् से अनुरोध कर रहे हैं कि वे स्पष्ट व्याख्या करें।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगाः—विधियाँ; त्रयः—तीन; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्ताः—कही गई; नृणाम्—मनुष्यों के; श्रेयः—सिद्धि; विधित्सया—देने की इच्छा से; ज्ञानम्—दर्शन का मार्ग; कर्म—कर्म का मार्ग; च—भी; भक्तिः—भक्ति-मार्ग; च—भी; न—कोई नहीं; उपायः—उपाय, साधन; अन्यः—अन्य; अस्ति—है; कुत्रचित्—जो भी।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, चूँकि मेरी इच्छा है कि मनुष्य सिद्धि प्राप्त करे, अतएव मैंने प्रगति के तीन मार्ग प्रस्तुत किये हैं—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। इन तीनों के अतिरिक्त ऊपर उठने का अन्य कोई साधन नहीं है।

तात्पर्य : अन्ततोगत्वा दार्शनिक चिन्तन, पवित्र नियमित कर्म तथा भक्ति का लक्ष्य एक—कृष्णभावनामृत—है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

"जो जिस भाव से मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता है। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।" यद्यपि मानव-सिद्धि की सभी प्रामाणिक विधियाँ अन्ततः कृष्णभावनामृत में या ईश्वर-प्रेम में जाकर समाप्त होती हैं, किन्तु विभिन्न कर्मियों की अपनी अपनी मनोवृत्तियाँ तथा योग्यताएँ होती हैं और उनका आकर्षण आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों में होता है। भगवान् कृष्ण यहाँ पर तीनों विधियों का एकसाथ वर्णन यह बताने के लिए कर रहे हैं कि उनका चरम लक्ष्य एक है। साथ ही दार्शनिक चिन्तन तथा नियमित पुण्यकार्य को

कभी भी शुद्ध भगवत्प्रेम के तुल्य नहीं माना जा सकता जैसाकि भगवान् ने पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया है। *त्रय:* शब्द बताता है कि यद्यपि तीनों का उद्देश्य एक है किन्तु प्रगति तथा उपलब्धि के मामले में उनमें विविधता है। मनुष्य को मात्र चिन्तन या पुण्यकर्म द्वारा वही फल नहीं मिल सकता जो भगवान् की शरण ग्रहण करने पर मिलता है किन्तु जो पूर्णतया भगवान् की दया एवं मैत्री पर निर्भर रहता है। *कर्म* शब्द यहाँ पर भगवान् को अर्पित कर्म का सूचक है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में वर्णन हुआ है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन: ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर॥

"श्री विष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत में बन्धन उत्पन्न होता है। अत: हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।" ज्ञानयोग में मनुष्य भगवान् के चमकीले तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु भक्तगण ऐसे मोक्ष को नारकीय मानते हैं क्योंकि लीन होने से मनुष्य भगवान् के परम आनन्दमय स्वरूप के प्रति अपनी भिज्ञता को खो देता है। कर्मीजन मोक्ष के अतिरिक्त मानव प्रगति के तीन पक्षों की—धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की खोज करते हैं। कर्मीजन सोचते हैं कि वे अपनी असंख्य इच्छाओं को समाप्त कर लेने पर संसाररूपी अंधेरी सुरंग से आध्यात्मिक मोक्ष के प्रकाश में प्रवेश करेंगे। यह विधि अत्यन्त घातक है तथा अनिश्चित है क्योंकि भौतिक इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है, किन्तु नियमित कर्म-योग में किंचित त्रुटि होने से भी पाप होता है, जो मनुष्य को उन्नति के मार्ग से बाहर फेंक देता है। भक्तों का लक्ष्य भगवत्प्रेम होता है अतएव वे भगवान् को सर्वाधिक प्रिय लगने वाले होते हैं। जो भी हो, वैदिक उन्नति के तीनों विभाग भगवान् कृष्ण की दया पर निर्भर करते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के आशीर्वाद के बिना इन मार्गों पर प्रगति नहीं कर सकता। अन्य वैदिक विधियाँ यथा तपस्या, दान इत्यादि यहाँ पर वर्णित तीन मुख्य विभागों में ही सम्मिलित हैं।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

निर्विण्णानाम्—ऊबे हुए; ज्ञान-योगः—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; न्यासिनाम्—विरक्तों के लिए; इह—तीनों मार्गों में; कर्मसु—सामान्य कर्म में; तेषु—इन कर्मों में; अनिर्विण्ण—ऊबे नहीं है; चित्तानाम्—चेतनायुक्त; कर्म-योगः—कर्म-योग का मार्ग; तु—निस्सन्देह; कामिनाम्—जो अब भी भौतिक सुख चाहते हैं, उनके लिए।

तीनों मार्गों में से ज्ञान-योग अर्थात् दार्शनिक चिन्तन का मार्ग उन लोगों के लिए संस्तुत किया जाता है, जो भौतिक जीवन से ऊब चुके हैं और सामान्य सकाम कर्मों से विरक्त हैं। जो लोग भौतिक जीवन से ऊबे नहीं हैं और जिन्हें अब भी अनेक इच्छाएँ पूरी करनी हैं, उन्हें कर्म-योग के माध्यम से मोक्ष की खोज करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् उन विभिन्न मनोवृत्तियों को बतलाते हैं जिनसे मनुष्य सिद्धि की विभिन्न विधियाँ अपनाते हैं। जो समाज, मैत्री तथा प्रेम के सामान्य भौतिक जीवन में कुण्ठित या निराश रहते हैं और जो यह समझते हैं कि स्वर्ग जाने से अधिक भौतिक कष्ट मिलते हैं, वे ज्ञान-मार्ग का सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं। वे प्रामाणिक दार्शनिक विवेक से भव-बन्धन को लाँघ जाते हैं। जो लोग इतने पर भी भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम का भोग करने के इच्छुक रहते हैं और जो लोग अपने सम्बन्धियों सहित स्वर्ग जाने की सम्भावना से उत्तेजित रहते हैं, वे कठिन दार्शनिक प्रगति के मार्ग को सीधे ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि इसमें महान् तपस्या की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तियों को पारिवारिक जीवन में रहते रहने तथा अपने कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करने की सलाह दी जाती है। इस तरह वे भी सिद्ध बन सकते हैं और धीरे धीरे भौतिक जीवन से विरक्त होना सीख सकते हैं।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—सौभाग्यवश किसी तरह से; मत्-कथा-आदौ—मेरी महिमा का वर्णन करने वाली कथाओं, गीतों, दर्शन तथा नाटकीय प्रदर्शनों में; जात—जागृत किया हुआ; श्रद्धः—श्रद्धा; तु—निस्सनदेह; यः—जो कोई; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; न—नहीं; अति-सक्तः—अत्यन्त आसक्त; भक्ति-योगः—प्रेमाभक्ति का मार्ग; अस्य—उसका; सिद्धि-दः—सिद्धि देने वाला।

यदि कहीं कोई सौभाग्यवश मेरी महिमा के सुनने तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, तो ऐसे व्यक्ति को जो भौतिक जीवन से न तो अत्यधिक ऊबा रहता है न आसक्त रहता है मेरी प्रेमाभक्ति के मार्ग द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

तात्पर्य : यदि किसी तरह से किसी को भगवद्भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है और वह उनसे भगवान् कृष्ण का दिव्य संदेश सुनता है, तो वह भगवान् का भक्त बन सकता है। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, जो लोग भौतिक जीवन से ऊब जाते हैं, वे निर्विशेषवादी दार्शनिक चिन्तन करने लगते हैं और साकार अस्तित्व के प्रत्येक चिह्न का परित्याग करने का कठोरता से प्रयास करने लगते हैं। जो लोग अब भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे अपने सामान्य कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करके अपने को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति का उत्तम अभ्यर्थी न तो भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है न आसक्त रहता है। वह सामान्य जीवन को और अधिक काल तक नहीं बिताना चाहता, क्योंकि यह असली सुख प्रदान नहीं कर सकता। फिर भी भक्ति का अभ्यर्थी अपने निजी जीवन को पूर्ण बनाने की आशा नहीं त्यागता। जो व्यक्ति भौतिक आसक्ति तथा भौतिक आसक्ति के प्रति निर्विशेष प्रतिक्रिया इन दो छोरों से बचता है और जो किसी न किसी तरह से शुद्ध भक्तों की संगति पा लेता है और उनके सन्देश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह भगवद्धाम जाने के लिए उत्तम अभ्यर्थी है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ बताया है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—उस समय तक; **कर्माणि**—सकाम कर्म; **कुर्वीत**—सम्पन्न करे; **न निर्विद्येत**—तृप्त नहीं होता; **यावता**—जब तक; **मत्-कथा**—मेरे विषय में वार्ताओं का; **श्रवण-आदौ**—श्रवणम् कीर्तनम् आदि के मामले में; **वा**—अथवा; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **यावत्**—जब तक; **न**—नहीं; **जायते**—जागृत होती है।

जब तक मनुष्य सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता और *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा भक्ति के लिए रुचि जागृत नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के विधानों के अनुसार कर्म करना होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति द्वारा भगवान् कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न न कर ले और इस तरह पूरे समय भगवान् की भक्ति में लगा न रहे, तब तक उसे सामान्य वैदिक सिद्धान्तों तथा कर्तव्यों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। स्वयं भगवान् ने कहा है—

श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।

आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥

''श्रुति तथा स्मृति ग्रन्थों को मेरे ही आदेश मानना चाहिए। जो इन संहिताओं का उल्लंघन करता है, वह मेरी इच्छा का उल्लंघन करता समझा जाता है और इस तरह वह मेरा विरोध करता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति अपने को मेरा भक्त बतलाता है, किन्तु वास्तव में वह वैष्णव नहीं होता।'' भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि जब तक कोई व्यक्ति कीर्तन तथा श्रवण-विधि में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे अनेक लक्षण हैं जिनसे मनुष्य भगवान् के उच्च भक्त को पहचान सकता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध (१.२.७) में कहा गया है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

जो व्यक्ति सचमुच ही उच्च भक्ति में लगा होता है, वह तुरन्त ही कृष्णभावनामृत का स्पष्ट ज्ञान तथा अभक्तिमय कार्यों से विरक्ति—इन दोनों को ही उत्पन्न कर लेता है। जो इस पद को प्राप्त नहीं हुआ रहता, उसे या तो वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए या फिर भगवान् का शत्रु बनने का खतरा मोल लेना चाहिए। दूसरी ओर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसी कोई बात करने से हिचकिचाता नहीं जिससे भगवान् का मिशन आगे बढ़े। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षि भूताप्तनणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना य: शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥

''जिसने भी समस्त प्रकार के कर्तव्यों को त्याग कर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ले ली है और इस मार्ग को गम्भीरता के साथ ग्रहण किया है, वह देवताओं, मुनियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पितरों के प्रति ऋणी नहीं रहता।''

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि जब कोई व्यक्ति पूरी तरह कृष्ण की शरण में जाता है, तो वह भगवान् के इस वचन का आश्रय लेता है कि वे शरणागत के अन्य सारे उत्तरदायित्वों तथा ऋणों को समाप्त कर देंगे। इस तरह भगवान् के रक्षा के वचन पर ध्यान करते हुए वह निडर बन जाता है। किन्तु जो लोग भौतिक रूप से आसक्त हैं, वे भगवान् की पूर्ण शरणागति के विचार से डरे

रहते हैं और इस तरह वे भगवान् के प्रति अपने वैमनस्य को प्रकट करते हैं।

स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्यों में; स्थः—स्थित; यजन्—पूजा करते हुए; यज्ञैः—नियत यज्ञों से; अनाशीः-कामः—कर्मफल की इच्छा न रखते हुए; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; याति—जाता है; स्वर्ग—स्वर्ग; नरकौ—या नरक में; यदि—यदि; अन्यत्—अपने नियत कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ; न—नहीं; समाचरेत्—सम्पन्न करता है।

हे उद्धव, जो व्यक्ति वैदिक यज्ञों द्वारा समुचित पूजा करके, किन्तु ऐसी पूजा का फल न चाह कर, अपने नियत कर्तव्य में स्थित रहता है, वह स्वर्गलोक नहीं जाता है; इसी तरह निषिद्ध कार्यों को न करने से वह नरक नहीं जाएगा।

तात्पर्य : यहाँ पर कर्म-योग की सिद्धि का वर्णन हुआ है। जो व्यक्ति अपने धार्मिक कर्मों का पुरस्कार नहीं चाहता, वह स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग जाकर अपना समय बर्बाद नहीं करता। इसी तरह जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता या निषिद्ध कार्य नहीं करता, वह दण्ड पाने के लिए नरक जाने की परवाह नहीं करता। इस तरह पुरस्कारों तथा दण्डों से बचते हुए, ऐसा निष्काम व्यक्ति भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सकता है।

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इस; लोके—जगत में; वर्तमानः—रहते हुए; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; स्थः—स्थित; अनघः—पापकर्मों से मुक्त; शुचिः—भौतिक कल्मष से धुला; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; आप्नोति—प्राप्त करता है; मत्—मेरी; भक्तिम्—भक्ति; वा—अथवा; यदृच्छया—अपने भाग्य के अनुसार।

जो व्यक्ति अपने नियत कर्म में दृढ़ रहता है, जो पापमय कार्यों से मुक्त होता है और भौतिक कल्मष से रहित होता है, वह इसी जीवन में या तो दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है या दैववश मेरी भक्ति पाता है।

तात्पर्य : *अस्मिन् लोके* बताता है वर्तमान आयु को। अपने शरीर की मृत्यु के पूर्व मनुष्य दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है या बड़े दैववश परमेश्वर की भक्ति पा सकता है। *यदृच्छया* शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को जैसे तैसे शुद्ध भक्तों का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उनसे श्रद्धापूर्वक सुनता

है, तो वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार मनुष्य दिव्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, जबकि शुद्ध भक्ति के द्वारा भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है, जिसमें मोक्ष स्वत: सम्मिलित रहता है। ये दोनों ही परिणाम उन सामान्य सकाम कर्मों से श्रेष्ठ होते हैं जिनके द्वारा वह पशुओं के समान वस्तुओं का भोग करना चाहता है। यदि किसी की भक्ति सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन की प्रवृत्ति से मिश्रित होती है, तो उसे भगवत् प्रेम की निरपेक्ष अवस्था प्राप्त हो सकती है। किन्तु जो लोग एकमात्र कृष्ण की सेवा की ओर उन्मुख होते हैं, वे दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य सम्बन्ध में भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त करते हैं।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्गिण:—स्वर्गलोक के निवासी; अपि—भी; एतम्—यह; इच्छन्ति—चाहते हैं; लोकम्—पृथ्वीलोक; निरयिण:—नरकवासी; तथा—उसी तरह से; साधकम्—उपलब्धि की ओर; ज्ञान-भक्तिभ्याम्—दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम का; उभयम्—दोनों (स्वर्ग तथा नरक); तत्—उस सिद्धि के लिए; असाधकम्—उपयोगी नहीं।

स्वर्ग तथा नरक दोनों ही के निवासी पृथ्वीलोक पर मनुष्य का जन्म पाने की आकांक्षा रखते हैं क्योंकि मनुष्य-जीवन दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम की प्राप्ति को सुगम बनाता है, जबकि न तो स्वर्गिक, न ही नारकीय शरीर पूर्णत: ऐसा अवसर सुलभ कराते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि स्वर्ग में मनुष्य असामान्य इन्द्रियतृप्ति में लीन हो जाता है और नरक में वह कष्ट में डूबा रहता है। दोनों ही स्थितियों में दिव्य ज्ञान या भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिए तनिक भी प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस तरह अत्यधिक कष्ट या अत्यधिक भोग आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं।

न नर: स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षण: ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नर:—मनुष्य; स्व:-गतिम्—स्वर्ग जाने की; काङ्क्षेत्—इच्छा करे; नारकीम्—नरक तक; वा—अथवा; विचक्षण:—विद्वान व्यक्ति; न—नहीं; इमम्—यह; लोकम्—पृथ्वीलोक; च—भी; काङ्क्षेत—इच्छा करे; देह—भौतिक शरीर में; आवेशात्—तल्लीनता से; प्रमाद्यति—मूर्ख बनता है।

जो मनुष्य विद्वान हो उसे न तो कभी स्वर्गलोक जाने, न नरक में निवास करने की इच्छा

करनी चाहिए। निस्सन्देह, मनुष्य को तो पृथ्वी पर स्थायी निवास की भी कभी कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि भौतिक देह में ऐसी तल्लीनता से मनुष्य अपने वास्तविक आत्म-हित के प्रति मूर्खतावश उपेक्षा बरतने लगता है।

तात्पर्य : जिसे पृथ्वी पर मानव-जीवन प्राप्त हुआ है उसे कृष्णभावनामृत द्वारा या भगवद्भक्ति द्वारा आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त करने का सर्वोत्तम अवसर मिला रहता है। इसलिए उसे न तो स्वर्ग जाने और न ही नरक में वास करने की कामना करनी चाहिए क्योंकि वहाँ पर अत्यधिक भोग या दण्ड मनुष्य के मन को आत्म-साक्षात्कार से हटा देते हैं। दूसरी ओर, उसे यह नहीं सोचना चाहिए, "पृथ्वी इतनी अच्छी है कि मैं यहाँ सदा सदा रुका रह सकता हूँ।" मनुष्य को सभी प्रकार से भौतिक जगत से विरक्ति उत्पन्न करके भगवद्धाम वापस जाना चाहिए, जहाँ जीवन नित्य तथा आनन्द एवं ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

अब कृष्ण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक मानव प्रगति भौतिक पुण्य तथा पाप से परे है। भगवान् ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि मानव उन्नति की मूलतः तीन विधियाँ हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति और लक्ष्य है दिव्य ज्ञान तथा अंततः भगवत्प्रेम। अब भगवान् बतलाते हैं कि स्वर्गलोक तक पहुँचना (पुण्य का अन्तिम लक्ष्य) तथा नरक में वास करना (पापपूर्ण कर्मों का फल) दोनों ही जीवन के असली लक्ष्य की पूर्ति में बाधक हैं। न तो भौतिक पुण्य न ही पाप नित्य जीव को उसके स्वाभाविक पद पर स्थापित कर सकते हैं; अतएव वास्तविक जीवन-सिद्धि पाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता होती है।

एतद्विद्वान्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानते हुए; पुरा—पहले; मृत्योः—मृत्यु; अभवाय—जगत को लाँघने के लिए; घटेत—कार्य करे; सः—वह; अप्रमत्तः—आलस्य या मूर्खता से रहित; इदम्—यह; ज्ञात्वा—जान कर; मर्त्यम्—मरणशील; अपि—यद्यपि; अर्थ—जीवन-लक्ष्य का; सिद्धि-दम्—सिद्धि देने वाला।

यह जानते हुए कि यद्यपि भौतिक शरीर मर्त्य है, तो भी यह उसे जीवन-सिद्धि प्रदान कर सकता है, विद्वान व्यक्ति को मूर्खतावश मृत्यु आने के पूर्व इस अवसर का लाभ उठाने में उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए।

**छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ

छिद्यमानम्—काटे जाकर; यमैः—क्रूर पुरुषों द्वारा जो साक्षात् मृत्यु सरीखे हैं; एतैः—इन; कृत-नीडम्—जिसमें उसने घोंसला बना रखा है; वनस्पतिम्—वृक्ष; खगः—पक्षी; स्व-केतम्—उसका घर; उत्सृज्य—त्याग करके; क्षेमम्—सुख; याति—प्राप्त करता है; हि—निस्सन्देह; अलम्पटः—आसक्तिरहित।

जब साक्षात् मृत्यु रूपी क्रूर पुरुषों द्वारा वह वृक्ष काट दिया जाता है, जिसमें किसी पक्षी का घोंसला बना था, तो वह पक्षी बिना किसी आसक्ति के उस वृक्ष को त्याग देता है और इस तरह वह अन्य स्थान में सुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर देहात्म बुद्धि से विरक्ति का उदाहरण दिया गया है। जीव शरीर के भीतर उसी तरह निवास करता है, जिस तरह पक्षी वृक्ष में रहता है। तब विचारहीन व्यक्ति वृक्ष काट डालते हैं, तो पक्षी अपने पिछले घोंसले के लिए शोक न प्रकट करते हुए, अन्य स्थान में अपना निवास बनाने में रंचमात्र नहीं हिचकता।

**अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

अहः—दिन; रात्रैः—तथा रातों से; छिद्यमानम्—काटा जाता हुआ; बुद्ध्वा—जान कर; आयुः—उम्र; भय—भय से; वेपथुः—कम्पमान; मुक्त-सङ्गः—आसक्तिरहित; परम्—परमेश्वर; बुद्ध्वा—समझ कर; निरीहः—भौतिक इच्छा से रहित; उपशाम्यति—पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है।

यह जानते हुए कि मेरी आयु दिन-रात बीतने के साथ क्षीण होती जा रही है, मनुष्य को भय से काँपना चाहिए। इस तरह सारी भौतिक आसक्ति तथा इच्छा त्याग कर, वह भगवान् को समझने लगता है और परम शान्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान भक्त जानता है कि दिन-रात बीतने से उसकी आयु समाप्त हो रही है; इसलिए वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों से अपनी व्यर्थ की आसक्ति त्याग देता है। इसकी बजाय वह जीवन में स्थायी लाभ पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। जिस तरह विरक्त पक्षी तुरन्त ही अपना घोंसला त्याग कर दूसरे वृक्ष में चला जाता है, उसी तरह भक्त भी जानता है कि भौतिक जगत में निवास का कोई स्थायी अवसर नहीं है। इसलिए वह अपनी कार्यशक्ति को भगवद्धाम में नित्य आवास प्राप्त करने में

लगाता है। कृष्ण के ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करने से भौतिक गुणों को लाँघ कर भक्त अन्त में परम शान्ति प्राप्त करता है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥ १७॥

शब्दार्थ

न्र्—मानव; देहम्—शरीर; आद्यम्—समस्त अनुकूल फलों का उद्गम; सु-लभम्—बिना प्रयास के प्राप्त; सु-दुर्लभम्—यद्यपि महान् प्रयत्न से भी प्राप्त कर पाना असम्भव है; प्लवम्—नाव; सु-कल्पम्—अपने उद्देश्य के लिए सर्वथा अनुकूल; गुरु—गुरु; कर्ण-धारम्—नाव के माँझी के समान; मया—मेरे द्वारा; अनुकूलेन—अनुकूल; नभस्वता—वायु द्वारा; ईरितम्—बहाई जाकर; पुमान्—पुरुष; भव—संसार के; अब्धिम्—समुद्र; न—नहीं; तरेत्—पार करता है; सः—वह; आत्म-हा—अपनी ही आत्मा का हनन करने वाला, आत्महंता।.

जीवन का समस्त लाभ प्रदान करने वाला मानव शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वत: प्राप्त होता है यद्यपि यह अत्यन्त दुर्लभ है। इस मानव शरीर की तुलना उस सुनिर्मित नाव से की जा सकती है, जिसका माँझी गुरु है और भगवान् के आदेश वे अनुकूल हवाएँ हैं, जो उसे आगे बढ़ाती हैं। इन सारे लाभों पर विचार करते हुए जो मनुष्य अपने जीवन का उपयोग संसाररूपी सागर को पार करने में नहीं करता, उसे अपने ही आत्मा का हन्ता माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : यह मानव शरीर जो अनेक निम्न योनियों से होता हुआ प्राप्त हुआ है, इस तरह निर्मित हुआ है कि यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह भगवान् की सेवा करे। ऐसी सेवा के लिए प्रामाणिक गुरु उपयुक्त मार्गदर्शक है। भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा उस अनुकूल वायु के तुल्य है, जो भगवद्धाम जाने के मार्ग में शरीररूपी नाव को सरलता से बहा ले जाती हैं। भगवान् कृष्ण अपने उपदेश वैदिक वाङ्मय में देते हैं, गुरु के माध्यम से बोलते हैं और अपने निष्ठावान् भक्त को भक्त के हृदय के भीतर से प्रोत्साहित करते हैं, आगाह करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। भगवान् द्वारा ऐसा दयामय मार्गदर्शन निष्ठावान् भक्त को तेजी से भगवद्धाम के पथ पर ले जाता है। किन्तु जो यह नहीं समझ पाता कि मनुष्य शरीर भवसागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव है, उसे गुरु स्वरूप माँझी को स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वह भगवान् की कृपा रूपी अनुकूल वायु को नहीं समझ पाता। इस तरह उसे मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त

करने का अवसर नहीं मिल पाता। वह आत्महित के विपरीत कर्म करने से धीरे धीरे अपनी ही आत्मा का हन्ता बन जाता है।

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आरम्भेषु—भौतिक प्रयत्नों में; निर्विण्णः—निराश; विरक्तः—विरक्त; संयत—पूरी तरह नियंत्रित; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; अभ्यासेन—अभ्यास से; आत्मनः—आत्मा का; योगी—योगी; धारयेत्—एकाग्र करे; अचलम्—स्थिर; मनः—मन।

भौतिक सुख के लिए समस्त प्रयासों से ऊब कर तथा निराश होकर, जब योगी इन्द्रियों को पूरी तरह नियंत्रित करके विरक्ति उत्पन्न कर ले, तब उसे आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा अपने मन को अविचल भाव से आध्यात्मिक पद पर स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियतृप्ति का अपरिहार्य फल निराशा तथा हृदयविदारक पीड़ा है। मनुष्य धीरे धीरे निराश तथा जीवन से हताश होने लगता है। तब भगवान् या उनके भक्त से सदुपदेश पाकर वह अपनी भौतिक निराशा को आध्यात्मिक सफलता में परिणत कर लेता है। वस्तुतः, भगवान् कृष्ण हमारे एकमात्र असली मित्र हैं और यह सरल सूझ मनुष्य को भगवान् की संगति में आध्यात्मिक सुख के नये जीवन तक ले जा सकती है।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धार्यमाणम्—आध्यात्मिक पद पर एकाग्र (स्थिर) होकर; मनः—मन; यर्हि—जब; भ्राम्यत्—भटकता है; आशु—सहसा; अनवस्थितम्—आध्यात्मिक पद पर स्थित न होकर; अतन्द्रितः—सावधानीपूर्वक; अनुरोधेन—नियत नियमों के अनुसार; मार्गेण—विधि द्वारा; आत्म—अपने; वशम्—नियंत्रण में; नयेत्—ले आये।

जब भी आध्यात्मिक पद पर एकाग्र मन सहसा अपने आध्यात्मिक पद से भटके, तो मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से नियत साधनों के सहारे उसे अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य अपने मन को गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत में लगाता है, किन्तु मन इतना चंचल है कि उसे अपने आध्यात्मिक पद से सहसा हटाया जा सकता है। तब मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से मन को अपने वश में लाये। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अत्यधिक संयमी या अत्यधिक कामुक होने पर मन को वश में नहीं रखा जा सकता। कभी कभी इन्द्रियों को सीमित तुष्टि

प्रदान करके मन को वश में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति संयम से भोजन करता हो तो यदाकदा वह मन्दिर के अर्चा-विग्रहों पर अर्पित होने वाला महाप्रसाद ग्रहण कर सकता है, जिससे मन विचलित नहीं होगा। इसी तरह वह यदाकदा अन्य योगियों के साथ मजाक करके या तैर कर मन बहला सकता है। किन्तु यदि इन कार्यों को प्रचुर मात्रा में किया जाय, तो इससे आध्यात्मिक जीवन में गतिरोध आयेगा। जब मन कोई पापपूर्ण तृप्ति चाहे—यथा अवैध यौन या नशा—तो मनुष्य मन की मूर्खता सह ले और कठिन प्रयास द्वारा कृष्णभावनामृत के साथ आगे बढ़ता जाय। तब मोह की तरंगें शीघ्र शमित हो जायेंगी और प्रगति का पथ खुल जायेगा।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन का; गतिम्—लक्ष्य; न—नहीं; विसृजेत्—ओझल होने दे; जित-प्राणः—जिसने श्वास को जीत लिया है; जित-इन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; सत्त्व—सतोगुण का; सम्पन्नया—सम्पन्नता से युक्त; बुद्ध्या—बुद्धि से; मनः—मन; आत्म-वशम्—अपने वश में; नयेत्—लाये।

मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कार्यों के वास्तविक लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न होने दे, प्रत्युत प्राण-वायु तथा इन्द्रियों पर विजय पाकर तथा सतोगुण से प्रबलित बुद्धि का उपयोग करके, मन को अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मन आत्म-साक्षात्कार के सीमा-क्षेत्र से सहसा बाहर विचरण कर सकता है, किन्तु सतोगुणी विमल बुद्धि से मन को वश में लाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि मन को सदैव कृष्ण की सेवा में व्यस्त रखा जाय जिससे वह इन्द्रियतृप्ति के भयावह मार्ग में, जिसमें यौन-आकर्षण मुख्य है, विचरण न करे। मन में हर क्षण भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए जब तक मन को गम्भीरतापूर्वक वश में नहीं रखा जाता, तब तक आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर स्थिर होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

एष वै परमो योगो मनसः सङ्ग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; परमः—परम; योगः—योग-विधि; मनसः—मन का; सङ्ग्रहः—पूर्ण नियंत्रण; स्मृतः—इस प्रकार घोषित; हृदय-ज्ञत्वम्—घनिष्ठतापूर्वक जानने का गुण; अन्विच्छन्—सावधानी से देखते हुए; दम्यस्य—जिसका दमन किया जाना है; इव—सदृश; अर्वतः—घोड़े; मुहुः—सदैव।

एक दक्ष घुड़सवार तेज घोड़े को पालतू बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम घोड़े को क्षण-भर उसकी राह चलने देता है, तब लगाम खींच कर धीरे धीरे उसे इच्छित राह पर ले आता है। इसी प्रकार परम योग-विधि वह है, जिससे मनुष्य मन की गतियों तथा इच्छाओं का सावधानी से अवलोकन करता है और क्रमशः उन्हें पूर्ण वश में कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह दक्ष घुड़सवार अनसधाये घोड़े की मनोवृत्तियों को ठीक से जानते हुए उसे धीरे धीरे अपने वश में ले आता है, उसी तरह दक्ष योगी पहले तो मन को उसकी भौतिकतावादी इच्छाओं को प्रकट होने देता है और तब श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है। विद्वान योगी इन्द्रिय-विषयों को पहले रोक रखता है और फिर उनकी इच्छापूर्ति करता है, जिससे मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह वश में रहती हैं जैसे घुड़सवार कभी लगाम को कड़ी करता है और कभी ढीली कर लेता है, जिससे घोड़ा स्वतंत्रतापूर्वक दौ सके। घुड़सवार कभी भी अपने वास्तवकि लक्ष्य या गन्तव्य को नहीं भूलता और अन्त में घोड़े को सही रास्ते पर ले आता है। इसी तरह विद्वान योगी कभी कभी इन्द्रियों को कर्म करने की छूट देते हुए भी, आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य को कभी नहीं भूलता, न ही इन्द्रियों को पापकर्मों में प्रवृत्त होने देता है। अत्यधिक संयम या नियंत्रण से मानसिक विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है, जिस तरह तेजी से लगाम खींचने पर घोड़ा सवार के विरुद्ध खड़ा हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार मार्ग विमल बुद्धि पर निर्भर करता है और ऐसी दक्षता प्राप्त करने का सबसे सरल तरीका है भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भले ही कोई महान् पंडित या आध्यात्मिक बुद्धिजीवी न हो, किन्तु यदि वह निःस्वार्थ भाव से भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, तो भगवान् हृदय के भीतर से ऐसी विधि प्रकट करते हैं, जो मन को वश में करने के लिए आवश्यक होती है। मन की इच्छारूपी तरंगों पर आरूढ़ होकर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति आसन से गिरता नहीं और वह अन्त में भगवद्धाम जा पहुँचता है।

साङ्ख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २२॥

शब्दार्थ

साङ्ख्येन—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक तत्त्वों (विराट, पार्थिव तथा सूक्ष्म) का; प्रतिलोम—उल्टे कार्य द्वारा; अनुलोमतः—अग्रसर कार्य द्वारा; भव—सृष्टि; अप्ययौ—संहार; अनुध्यायेत्—निरन्तर अवलोकन करे; मनः—मन; यावत्—जब तक; प्रसीदति—आध्यात्मिक रूप से तुष्ट नहीं हो जाता।

जब तक मनुष्य का मन आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे समस्त भौतिक वस्तुओं की नश्वर प्रकृति का, चाहे वे विराट विश्व की हों, पृथ्वी की हों या सूक्ष्म हों, वैश्लेषिक अध्ययन करते रहना चाहिये। उसे सृजन का अनुलोम विधि से और संहार का प्रतिलोम विधि से निरन्तर अवलोकन करना चाहिए।

तात्पर्य : कहावत है कि जो ऊपर उठता है, वह नीचे आता ही है। इसी तरह से *भगवद्गीता* (२.२७) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

"जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अत: अपने अपरिहार्य कर्तव्य-पालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।" *मनो यावत् प्रसीदति*—जब तक कोई अपनी चेतना को पूर्ण ज्ञान के मुक्त पद पर स्थापित नहीं कर लेता, तब तक उसे प्रकृति के दृढ़ वैश्लेषिक अवलोकन द्वारा माया के वारों को निरंतर परे रखना चाहिए। भौतिक मन यौन के प्रति आकृष्ट हो सकता है, इसलिए आध्यात्मिक बुद्धि से उसे अपने शरीर के क्षणिक स्वभाव की छानबीन करनी चाहिए और उस शरीर की भी जो किसी की काम-वासना का कृत्रिम लक्ष्य बनता है। वह इस कठोर विश्लेषण को सभी भौतिक शरीरों पर चाहे वह ब्रह्मा का विराट शरीर हो या किसी नगण्य कीटाणु का शरीर हो, लागू करे। जैसाकि भगवान् कृष्ण पहले कह चुके हैं, जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ चुका होता है, वह इन्द्रियतृप्ति से अपने को स्वत: बचाता है और आध्यात्मिक प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को प्राप्त होता है। जिसने कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त नहीं किया, उसे निरन्तर चौकस रहना चाहिए जिससे वह भगवान् की माया द्वारा ठगा न जा सके। जो व्यक्ति माया का दुरुपयोग करना चाहता है, वह अपने आध्यात्मिक जीवन को चौपट कर लेता है और नाना प्रकार के कष्ट पाता है।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निर्विण्णस्य—भौतिक जगत के मोहमय स्वभाव से ऊबे, उद्विग्न; विरक्तस्य—तथा विरक्त; पुरुषस्य—पुरुष का; उक्त-वेदिनः—अपने गुरु के आदेशों से नियंत्रित व्यक्ति; मनः—मन; त्यजति—त्याग देता है; दौरात्म्यम्—भौतिक शरीर तथा मन से झूठी पहचान; चिन्तितस्य—सोचे हुए का; अनुचिन्तया—निरन्तर विश्लेषण द्वारा।

जब कोई व्यक्ति इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव से ऊब उठता है और इस तरह उससे विरक्त हो जाता है, तो उसका मन अपने गुरु के आदेशों से मार्गदर्शन पाकर, इस जगत के स्वभाव के बारे में बारम्बार विचार करता है और अन्त में पदार्थ के साथ अपनी झूठी पहचान को त्याग देता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन को वश में करना कठिन है किन्तु निरन्तर अभ्यास द्वारा इसे कृष्णभावनाभावित किया जा सकता है। निष्ठावान शिष्य अपने गुरु के आदेशों को लगातार स्मरण रखता है और उसके बल पर वह बारम्बार इस नग्न सत्य का सामना करता है कि यह भौतिक जगत चरम सत्य नहीं है। विरक्ति तथा धैर्य (अनवरत चेष्टा) के द्वारा मन इन्द्रियतृप्ति के प्रति अपनी मनोवृत्ति त्याग देता है; फलस्वरूप, निष्ठावान् कृष्ण-भक्त पर से माया की जकड़ हट जाती है। धीरे धीरे विशुद्ध मन इस जगत से झूठी पहचान को पूरी तरह त्याग देता है और अपना ध्यान आध्यात्मकि पद पर ले जाता है। तभी मनुष्य को योग-विधि में पूर्ण माना जाता है।

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—अनुशासनात्मक नियमों आदि के द्वारा.; योग-पथैः—योग-प्रणाली की विधियों द्वारा; आन्वीक्षिक्या—तर्क द्वारा; च—भी; विद्यया—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; मम—मेरी; अर्चा—पूजा; उपाषनाभिः—उपासना द्वारा.; वा—अथवा; न—कभी नहीं; अन्यैः—अन्य (साधनों) द्वारा; योग्यम्—ध्यान की वस्तु, भगवान् पर; स्मरेत्—एकाग्र करे; मनः—मन।

मनुष्य को चाहिए कि योग-प्रणाली के विभिन्न यमों तथा संस्कारों द्वारा, तर्क तथा आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा अथवा मेरी पूजा और उपासना द्वारा, योग के लक्ष्य भगवान् के स्मरण में अपने मन को लगाये। इस कार्य के लिए वह अन्य साधनों का प्रयोग न करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वा* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह बताता है कि जो व्यक्ति भगवान् की

पूजा तथा उपासना में लगा हुआ हो, उसे न तो योग के यम-नियमों में लगने की झंझट उठानी चाहिए न वैदिक अध्ययन तथा तर्क की गुत्थियों में पड़ना चाहिए। *योग्यम्* तो भगवान् हैं जैसाकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से पुष्टि होती है। जो व्यक्ति सीधे भगवान् की पूजा करता है, उसे अन्य विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान् पर पूर्ण निर्भरता अपने आप सिद्धि की परम विधि है।

यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; कुर्यात्—करे; प्रमादेन—उपेक्षा के कारण; योगी—योगी; कर्म—कोई कार्य; विगर्हितम्—निन्दनीय; योगेन—योग-विधि द्वारा; एव—एकमात्र; दहेत्—जला दे; अंहः—वह पाप; न—नहीं; अन्यत्—अन्य साधनों से; तत्र—इस मामले में; कदाचन—कभी भी।

यदि क्षणिक असावधानी से कोई योगी अकस्मात् कोई गर्हित (निन्दित) कर्म कर बैठता है, तो उसे चाहिए कि वह योगाभ्यास द्वारा उस पाप को कभी भी किसी अन्य विधि का प्रयोग किए बिना जला डाले।

तात्पर्य : यहाँ पर *योगेन* शब्द *ज्ञानेन योगेन* तथा *भक्त्या योगेन* का सूचक है क्योंकि ये दोनों दिव्य प्रणालियाँ पापकर्मफलों को भस्म करने की शक्ति रखती हैं। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि *अंहस्* शब्द अपनी इच्छा के विरुद्ध आकस्मिक पतन का सूचक है। भगवान् की दया का पहले से निश्चित किया गया दुरुपयोग कभी भी क्षम्य नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भगवान् किसी भी बाह्य शुद्धिकर अनुष्ठान को वर्जित करते हैं क्योंकि दिव्य योग-प्रणालियाँ स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी विधियाँ हैं, विशेष करके *भक्ति-योग।* यदि कोई व्यक्ति पापफल को शुद्ध करने के प्रयास में अपने नियत कर्म त्याग कर विशेष अनुष्ठान या तपस्या करने लगता है, तो उसे अपने नियत कर्म छोड़ने का अतिरिक्त दोष लगेगा। मनुष्य को आकस्मिक पतन से अपने को उठाकर जीवन में अपने नियत कार्यों में पूरे जोर से लग जाना चाहिए और व्यर्थ ही हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को पश्चाताप करना चाहिए और लज्जित होना चाहिए अन्यथा शुद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यदि आकस्मिक पतन से कोई व्यक्ति अत्यधिक अवसन्न हो जाता है, तो सिद्धि तक पहुँचने के लिए उसमें उत्साह ही नहीं रहेगा। *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्य भाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥

''यदि कोई जघन्य से जघन्य भी कर्म करे, परन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए क्योंकि वह उपयुक्त पद पर स्थित है।'' सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को भगवान् की भक्ति में ठीक से लगे रहना चाहिए क्योंकि तब भगवान् उसे क्षमा कर देंगे और उसके आकस्मिक पतन को शुद्ध कर देंगे। किन्तु मनुष्य को ऐसी कष्टकर घटना से बचने के लिए अत्यधिक सावधान रहना चाहिए।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद पर; या—जो; निष्ठा—स्थायी अभ्यास; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—ठीक से घोषित; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; जाति—स्वभाव से; अशुद्धानाम्—अशुद्ध; अनेन—इससे; नियमः—अनुशासनात्मक नियंत्रण; कृतः—स्थापित किया जाता है; गुण—पुण्य का; दोष—पाप का; विधानेन—नियम द्वारा; सङ्गानाम्—विभिन्न प्रकार की इन्द्रियतृप्ति की संगति से; त्याजन—विरक्ति की; इच्छया—इच्छा से।

यह दृढ़तापूर्वक घोषित है कि योगियों का अपने अपने आध्यात्मिक पदों पर निरन्तर बने रहना असली पुण्य है और जब कोई योगी अपने नियत कर्तव्य की अवहेलना करता है, तो वह पाप होता है। जो पाप तथा पुण्य के इस मानदण्ड को, इन्द्रियतृप्ति के साथ समस्त पुरानी संगति को सच्चे दिल से त्यागने की इच्छा से अपनाता है, वह भौतिकतावादी कर्मों को वश में कर लेता है, जो स्वभाव से अशुद्ध होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे लोग जो ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार में सीधे लगे हुए हैं, उन्हें अपने नियमित कर्तव्यों को छोड़ने तथा आकस्मिक पतन के प्रायश्चित्त करने के लिए विशेष तपस्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैदिक साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए दिशा निर्देश करना है, भौतिक इन्द्रियतृप्ति को बढ़ावा देना नहीं। यद्यपि स्वर्गलोक जाने तथा समस्त प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य भोगने के लिए, वेद असंख्य अनुष्ठानों की संस्तुति करते हैं, किन्तु ऐसे भौतिकतावादी फल भौतिकतावादी

लोगों को काम में लगाये रखने के लिए होते हैं, अन्यथा वे असुर बन जाँय। आकस्मिक पतन से शुद्ध होने के लिए योगी को अपने आध्यात्मिक अभ्यास से परे अन्य कोई विधि नहीं अपनानी चाहिए। *संगानां त्याजनेच्छया* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को कृष्णभावनामृत या आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास ऊपर ऊपर, या कभी कभी, नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे अपने विगत पापमय जीवन से छूटने के लिए निष्ठापूर्वक कामना करनी चाहिए। इसी तरह *या निष्ठा* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को निरन्तर कृष्णभावनामृत का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अनिवार्य आवश्यक पुण्य इन्द्रियतृप्ति को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना है। जो व्यक्ति चौबीसों घण्टे भगवान् की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि लगाता है, वह सबसे पवित्र व्यक्ति है और भगवान् ऐसे शरणागत जीव की स्वयं रक्षा करते हैं।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ २७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥ २८॥

शब्दार्थ

जात—जागृत; श्रद्धः—श्रद्धा; मत्-कथासु—मेरे यश के वर्णनों में; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; सर्व—सभी; कर्मसु—कामों में; वेद—जानता है; दुःख—दुख; आत्मकान्—से निर्मित; कामान्—सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति; परित्यागे—परित्याग करने में; अपि—यद्यपि; अनीश्वरः—असमर्थ; ततः—ऐसी श्रद्धा के कारण; भजेत—पूजा करे; माम्—मेरी; प्रीतः—सुखी रहते हुए; श्रद्धालुः—श्रद्धावान्; दृढ—पक्का; निश्चयः—संकल्प; जुषमाणः—में संलग्न; च—भी; तान्—उन; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; दुःख—दुख; उदर्कान्—देने वाले; च—भी; गर्हयन्—के लिए पश्चाताप करते हुए।

मेरे यश की कथाओं में श्रद्धा उत्पन्न करके, सारे भौतिक कार्यों से ऊब कर और यह जानते हुए भी कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति दुखदायी है, किन्तु इन्द्रिय-भोग त्याग पाने में असमर्थ, मेरे भक्त को चाहिए कि वह सुखी रहे और अत्यन्त श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ मेरी पूजा करे। कभी कभी इन्द्रिय-भोग में लगे रहते हुए भी, मेरा भक्त जानता है कि समस्त प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का परिणाम दुख है और वह ऐसे कार्यों के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता है।

तात्पर्य : भगवान् ने यहाँ पर शुद्ध भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन किया है। निष्ठावान् भक्त ने यह जान लिया होता है कि सारे भौतिक कर्म इन्द्रियतृप्ति तक पहुँचते हैं और इन्द्रियतृप्ति से दुख उत्पन्न होता है। इसलिए भक्त की हार्दिक इच्छा चौबीसों घण्टे बिना किसी स्वार्थ के भगवान् कृष्ण की

प्रेमाभक्ति में लगे रहने की होती है। भक्त चाहता है कि वह भगवान् के नित्य सेवक के रूप में अपने स्वाभाविक पद पर पहुँच जाय और इस उच्च पद पर उठाये जाने के लिए वह भगवान् से प्रार्थना करता है। *अनीश्वर* शब्द बताता है कि अपने विगत पापपूर्ण कर्मों तथा बुरी आदतों के कारण, तुरन्त ही भोग की इच्छा को मनुष्य शमित नहीं कर पाता। भगवान् यहाँ पर ऐसे भक्त को अत्यधिक अवसन्न या हताश न होने तथा भक्ति करते रहने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। *निर्विण्ण* शब्द सूचित करता है कि निष्ठावान् भक्त में यद्यपि थोड़ी-बहुत इन्द्रियतृप्ति बची रहती है, किन्तु वह भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है और किसी भी परिस्थिति में जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करता है। वस्तुतः वह हर प्रकार के भौतिकतावादी कर्म से बचता है। *कामान्* शब्द द्योतक है यौन-आकर्षण तथा सन्तान, घर इत्यादि के रूप में गौण उत्पादों का। भौतिक जगत में यौन की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि कभी कभी भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा निष्ठावान भक्त भी यौन-आकर्षण से, या पत्नी तथा सन्तान के लिए बची हुई भावना से, विचलित हो उठता है। शुद्ध भक्त समस्त जीवों के प्रति, जिसमें तथाकथित पत्नी तथा सन्तानें सम्मिलित हैं, आध्यात्मिक स्नेह रखता है, किन्तु वह जानता है कि शारीरिक आकर्षण से कोई अच्छाई नहीं आती क्योंकि इससे वह तथा उसके पारिवारिकजन कर्मफल की दुखमय श्रृंखला में बँध जाते हैं। *दृढ-निश्चय* शब्द सूचित करता है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, भक्त कृष्ण के हेतु अपने नियत कर्म करने के लिए दृढ़-संकल्प रहता है। इस तरह वह सोचता है, ''मेरे पूर्व लज्जाजनक जीवन से मेरा हृदय अनेक भ्रामक आसक्तियों से दूषित है। उन्हें अपने आप रोकने की मुझमें कोई शक्ति नहीं है। मेरे हृदय के भीतर स्थित श्रीकृष्ण ही ऐसे अशुभ कल्मष को दूर कर सकते हैं। किन्तु भगवान् चाहे ऐसी आसक्ति को तुरन्त दूर कर दें या इसी तरह मुझे उनसे पीड़ित होते रहने दें, मैं उनकी भक्ति नहीं छोड़ूँगा। भगवान् मेरे रास्ते में लाखों अड़चनें क्यों न डालें और चाहे मैं अपने अपराधों के कारण नरक भी क्यों न जाऊँ, मैं क्षण-भर के लिए भी भगवान् की सेवा करना बन्द नहीं करूँगा। मेरी रुचि मानसिक चिन्तन तथा सकाम कर्मों में नहीं है और यदि साक्षात् ब्रह्मा भी आकर मुझसे यह कहें कि इन कार्यों को करते रहो, तो भी मैं कोई रुचि नहीं दिखलाऊँगा। यद्यपि मैं भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त हूँ, किन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इनसे कोई लाभ होने वाला नहीं है क्योंकि वे मुझे केवल कष्ट देती हैं और कृष्ण के प्रति मेरी भक्ति में विघ्न उत्पन्न करती हैं। इसलिए मैं

इतनी सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी मूर्खतापूर्ण आसक्ति के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता हूँ और मैं धैर्यपूर्वक भगवान् कृष्ण की कृपा की प्रतीक्षा में हूँ।''

प्रीत शब्द सूचित करता है कि भक्त अपने को भगवान् के पुत्र या प्रजा की तरह समझता है और भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध में अत्यधिक आसक्त रहता है। इसलिए इन्द्रिय-भोग में यदाकदा हुई त्रुटियों के लिए पश्चाताप करते हुए भी, वह भगवान् कृष्ण की सेवा करने के अपने उत्साह को कभी त्यागता नहीं। यदि कोई भक्त भक्ति से अत्यधिक खिन्न या हतोत्साहित हो जाता है, तो वह निर्विशेषवादी चेतना की ओर मुड़ सकता है या अपनी भगवद्भक्ति छोड़ सकता है। इसलिए यहाँ पर भगवान् सलाह देते हैं कि कोई भले ही पश्चाताप करे, किन्तु उसे अत्यधिक अवसन्न नहीं होना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि अपने विगत पापों के कारण वह मन तथा इन्द्रियों के उत्पातों से कभी कभी प्रभावित हो सकता है, किन्तु इसीलिए उसे विरक्ति का भक्त नहीं बन जाना चाहिए जैसाकि चिन्तनशील दार्शनिक करते हैं। यद्यपि अपनी भक्ति को शुद्ध करने के लिए मनुष्य विरक्ति चाह सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्म करने की अपेक्षा वैराग्य के प्रति अधिक चिन्ता करता है, तो वह प्रेमाभक्ति के पद को ठीक से समझ नहीं पा रहा है। भगवान् कृष्ण में श्रद्धा इतनी प्रबल होती है कि समय आने पर यह स्वयमेव विरक्ति तथा पूर्ण ज्ञान प्रदान करेगी। यदि भक्त कृष्ण को अपनी पूजा का केन्द्रबिन्दु बनाना त्याग कर ज्ञान तथा विरक्ति पर अधिक ध्यान देता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग पर की गई प्रगति से विपथ हो जायेगा। भगवान् के निष्ठावान् भक्त को पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए कि अपनी भक्ति के बल पर तथा भगवान् की कृपा के बल पर वह जीवन की हर शुभ वस्तु को प्राप्त कर सकेगा। उसे यह विश्वास करना चाहिए कि कृष्ण सर्व दयामय हैं और वे ही उसके जीवन के एकमात्र असली लक्ष्य हैं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा के साथ इन्द्रिय-भोग त्यागने की सच्ची इच्छा से मनुष्य इस जगत के सारे अवरोधों को पार कर लेगा।

यहाँ पर *जात श्रद्धः मत्कथासु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् की कृपा तथा महिमा के श्रवण करने से मनुष्य क्रमशः समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जायेगा और हर क्षण इन्द्रियतृप्ति में घोर हताशा देखेगा। दृढ़ विश्वास तथा संकल्प के साथ भगवान् की महिमा का कीर्तन अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक विधि है, जिससे समस्त भौतिक संगति को त्यागा जा सकता है।

भगवद्भक्ति में कुछ भी अशुभ नहीं होता। भक्त को यदाकदा जिन कठिनाइयों का अनुभव करना होता है, वे विगत कर्मों के कारण आती हैं। दूसरी ओर, इन्द्रियतृप्ति का प्रयास सर्वथा अशुभ है। इस तरह इन्द्रियतृप्ति तथा भक्ति एक-दूसरे के विपरीत हैं। अतएव सभी परिस्थितयों में मनुष्य को भगवान् की कृपा पर सदैव विश्वास रखते हुए, निष्ठावान् सेवक बने रहना चाहिए। तभी वह निश्चित रूप से भगवद्धाम जा सकेगा।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ २९॥

शब्दार्थ

प्रोक्तेन—कही गई; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; भजतः—पूजा करते हुए; मा—मुझको; असकृत्—निरन्तर; मुनेः—मुनि की; कामाः—भौतिक इच्छाएँ; हृदय्याः—हृदय में; नश्यन्ति—नष्ट हो जाती हैं; सर्वे—सभी; मयि—मुझमें; हृदि—जब हृदय; स्थिते—दृढ़ता से स्थित है।

जब बुद्धिमान व्यक्ति मेरे द्वारा बताई गई प्रेमाभक्ति के द्वारा निरन्तर मेरी पूजा करने में लग जाता है, तो उसका हृदय दृढ़तापूर्वक मुझ में स्थित हो जाता है। इस तरह उसके हृदय के भीतर की सारी भौतिक इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियाँ मनोरथों को पूरा करने में लगी रहती हैं और एक के बाद एक अनेक प्रकार की इच्छाओं को प्रबल बनाती हैं। जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य महिमा के, पूरी श्रद्धा से श्रवण और कीर्तन के द्वारा, भगवद्भक्ति में निरन्तर लगा रहता है, वह इन भौतिक इच्छाओं की परेशानी से छुटकारा पा जाता है। भगवान् की सेवा करने से उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही असली भोक्ता हैं और अन्य सारे लोग भक्ति द्वारा भगवान् की प्रसन्नता में हाथ बँटाने के लिए हैं। भगवद्भक्त श्रीकृष्ण को अपने हृदय के सिंहासन पर बिठाकर निरन्तर सेवा करता रहता है। जिस तरह उदय होने वाला सूर्य धीरे धीरे सारे अंधकार को दूर कर देता है, उसी तरह हृदय के भीतर भगवान् की उपस्थिति से सारी भौतिक इच्छाएँ क्रमशः क्षीण होकर लुप्त हो जाती हैं। *मयि हृदि स्थिते* शब्दावली बताती है कि महान् भक्त भगवान् कृष्ण को न केवल अपने हृदय के भीतर देखता है, अपितु सारे जीवों के हृदयों में देखता है। इस तरह श्रीकृष्ण की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने वाले निष्ठावान् भक्त को हृदय में अवशिष्ट भौतिक इच्छाओं से निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। उसे श्रद्धापूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब भक्ति सहज ही हृदय में सारे कल्मष को धो देगी।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—टूट कर, छेद कर; **हृदय**—हृदय; **ग्रन्थिः**—गाँठें; **छिद्यन्ते**—खण्ड खण्ड कर; **सर्व**—सभी; **संशयाः**—आशंकाएँ; **क्षीयन्ते**—समाप्त हो जाती हैं; **च**—तथा; **अस्य**—उसके; **कर्मणि**—कर्मों की शृंखला; **मयि**—जब मैं; **दृष्टे**—दिखता हूँ; **अखिल-आत्मनि**—भगवान् के रूप में।

जब मैं उसे भगवान् के रूप में दिखता हूँ, तो उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : *हृदय-ग्रंथि* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य का हृदय भौतिक शरीर के साथ झूठी पहचान के द्वारा मोह से बँधा रहता है। इस तरह मनुष्य असंख्य प्रकार से स्त्री-पुरुष के शारीरिक संयोग के स्वप्न देखते हुए भौतिक यौन-सुख में लीन रहता है। यौन-आकर्षण के नशे में ग्रस्त मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि भगवान् ही समस्त सुख के आगार तथा परम भोक्ता हैं। जब भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हुए, हर क्षण दिव्य आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी भक्ति में स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तो झूठी पहचान की गाँठ खुल जाती है और उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं। मोह में हम कल्पना करते हैं कि जीव बिना इन्द्रियतृप्ति के तथा परब्रह्म के विषय में चिन्तनपरक संशय के बिना, पूर्ण रूप से तुष्ट नहीं हो सकता। भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति तथा चिन्तनपरक संशय को सभ्य जीवन के लिए अनिवार्य समझते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि भगवान् कृष्ण सुख के अथाह सागर एवं साक्षात् ज्ञान हैं। भगवान् कृष्ण विषयक यह अनुभूति इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन की युग्म प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर देती है। इस तरह *कर्म* उसी तरह स्वतः समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन हटा लेने पर अग्नि बुझ जाती है।

उच्च भक्ति मनुष्य को भव-बन्धन से स्वयमेव मोक्ष दिलाती है जैसाकि भगवान् कपिल ने पुष्टि की है : *जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा*—''भक्ति जीव के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी पृथक् प्रयास के विलीन कर देती है, जिस तरह जठराग्नि सभी प्रकार के भोजन को पचा देती है'' (भागवत ३.२५.३३) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक के तात्पर्य में कहा है ''भक्त को मोक्ष पाने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भगवान् की सेवा ही मोक्ष की विधि है क्योंकि भगवान् की सेवा में अपने को लगाना भौतिक बन्धन से अपने को छुड़ाना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की बहुत सुन्दर

व्याख्या की है। उन्होंने कहा है, ''यदि भगवान् के चरणकमलों में मेरी अचल भक्ति है, तो मुक्ति तो मेरी दासी की तरह सेवा करती है। मैं जो कुछ भी कहता हूँ उसे करने के लिए यह मुक्ति दासी सदा तैयार रहती है।'' भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं है। वह पृथक् प्रयास के बिना ही प्राप्त हो जाती है।''

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; मत्-भक्ति-युक्तस्य—मेरी प्रेमाभक्ति में लगे रहने वाले का; योगिनः—भक्त का; वै—निश्चय ही; मत्-आत्मनः—जिसका मन मुझ में स्थिर है; न—नहीं; ज्ञानम्—ज्ञान का अनुशीलन; न—न तो; च—भी; वैराग्यम्—वैराग्य का अनुशीलन; प्रायः—सामान्यतया; श्रेयः—सिद्धि प्राप्त करने के साधन; भवेत्—होए; इह—इस जगत में।

इसलिए वह भक्त जो मुझ पर अपना मन स्थिर करके मेरी प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, उसके लिए ज्ञान का अनुशीलन तथा वैराग्य सामान्यतया इस जगत में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के साधन नहीं हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण का शरणागत भक्त भगवद्भक्ति के बाहर ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य के माध्यम से सिद्धि नहीं खोजता। कृष्ण-भक्ति स्वयं ही परम दिव्य विधि होने से, ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य से युक्त गौण विधियों पर कभी आश्रित नहीं रहती। भक्त भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा श्रवण से स्वत: सारा ज्ञान प्राप्त करता है और ज्यों ज्यों भगवान् की ओर यह आसक्ति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों वह निम्न प्रकृति के प्रति आसक्ति को त्यागता जाता है। पिछले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट घोषित किया है कि भक्त को अपने मन में घर करने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भक्ति के अलावा अन्य साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यद्यपि निष्ठावान् भक्त भगवान् को आत्मसमर्पण कर चुका होता है, किन्तु कुछ भौतिक आसक्तियाँ अवशेष रह सकती हैं, जो उसे सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त करने से रोकती हैं। किन्तु भक्ति समय आने पर स्वत: ऐसी अवशिष्ट आसक्तियों को समूल नष्ट कर देगी। यदि भक्त ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य द्वारा अपने को शुद्ध बनाना चाहता है, जो भक्ति की सीमा के बाहर हैं, तो भगवान् के चरणकमलों से उसके दूर चले जाने और दिव्य पथ से च्युत होने का खतरा रहता है। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति के बाहर शुद्धि का प्रयास करता है, वह वास्तव में भक्तियोग की दिव्य शक्ति को ठीक से पहचानता नहीं और भगवान् कृष्ण की अपार दया को नहीं

समझता है।

इस जगत में मनुष्य का हृदय यौन-आकर्षण से बँधा है, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में व्यतिक्रम उत्पन्न करता है। स्त्रियों से सम्पर्क से मदोन्मत्त होकर बद्धजीव गर्वित हो उठता है और भगवान् के प्रति अपनी प्रेममयी सेवकाई भूल जाता है। ज्ञान के निश्चय अनुशीलन तथा वैराग्य से बद्धजीव भगवत्कृपा के बिना ही अपने को शुद्ध करने का प्रयास कर सकता है किन्तु ऐसे मिथ्या अभिमान का परित्याग होना चाहिए जिस तरह कि भौतिक आकर्षण के मिथ्या अभिमान का परित्याग करना होता है। जब बद्धजीव को शुद्ध भगवद्भक्ति उपलब्ध हो, तो अन्य विधियों के प्रति आकर्षण उसके भक्तिमय जीवन से विपथन है। हृदय के भीतर दृढ़ रूप से वास करने वाली भौतिक इच्छा को भगवान् की शरण लेकर ही नष्ट किया जा सकता है। मनुष्य को ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य पर झूठा विश्वास न करके, पूरी तरह भगवान् कृष्ण की कृपा पर निर्भर रहना चाहिए और उसी के साथ साथ भगवान् द्वारा उपदेश दिये गये भक्तियोग के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करना चाहिए।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥ ३२ ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो प्राप्त किया जाता है; कर्मभिः—सकाम कर्म द्वारा; यत्—जो; तपसा—तपस्या से; ज्ञान—ज्ञान के अनुशीलन से; वैराग्यतः—वैराग्य से; च—भी; यत्—जो प्राप्त किया जाता है; योगेन—योग-प्रणाली द्वारा; दान—दान से; धर्मेण—धार्मिक कार्यों से; श्रेयोभिः—जीवन को शुभ बनाने की विधियों से; इतरैः—अन्यों द्वारा; अपि—निस्सन्देह; सर्वम्—समस्त; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी प्रेमाभक्ति द्वारा; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; लभते—प्राप्त करता है; अञ्जसा—अनायास; स्वर्ग—स्वर्ग जाना; अपवर्गम्—सारे कष्ट से मोक्ष; मत्-धाम—मेरे धाम में निवास; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; यदि—यदि; वञ्छति—चाहता है।

इन सारी वस्तुओं को जो सकाम कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा जीवन को पूर्ण बनाने वाले अन्य सारे साधनों से प्राप्त की जाती हैं, मेरा भक्त मेरे प्रति भक्ति से अनायास प्राप्त कर लेता है। यदि मेरा भक्त किसी न किसी तरह स्वर्ग जाने, मोक्ष या मेरे धाम में निवास करने की इच्छा करता है, तो वह ऐसे वर सरलता से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर भगवद्भक्ति की महिमा प्रकट करते हैं। यद्यपि शुद्ध भक्तजन निष्काम होते हैं और एकमात्र भगवान् की सेवा करने की इच्छा करते हैं, किन्तु कभी कभी महान् भक्त

भक्ति को सुगम बनाने के लिए भगवान् का वर चाह सकता है। *भागवत* के छठे स्कन्ध में हम देखते हैं कि भगवद्भक्त चित्रकेतु ने स्वर्ग जाना चाहा था जिससे विद्याधर लोक की सुन्दरियों के साथ वह भगवान् की महिमा का सुन्दर ढंग से कीर्तन कर सके। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* के परम कथाकार, श्री शुकदेव गोस्वामी, भगवान् की मायाशक्ति के पाश से बचने के लिए अपनी माता के गर्भ से बाहर नहीं आना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी *अपवर्गम्* अर्थात् माया से मोक्ष चाहते थे जिससे उनकी भक्ति में अवरोध न उत्पन्न हो। अत: भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही माया को दूर भेज दिया जिससे शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ से बाहर आयें। भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की गहन प्रेममयी इच्छा से भक्त वैकुण्ठ–लोक भी जाना चाह सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, भक्त जब ज्ञान का स्वतंत्र अनुशीलन तथा वैराग्य त्याग देता है, तो भगवद्भक्ति में उसकी अविचल श्रद्धा हो सकती है और साथ ही वह ऐसे कार्यों के फल के प्रति थोड़ा–बहुत आसक्त रह सकता है। दक्ष सकाम कर्मों के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग का निवास उपलब्ध होता है और वह वैराग्य के अनुशीलन से समस्त शारीरिक कष्ट से छुटकारा पा जाता है। यदि भगवान् कृष्ण भक्त के हृदय में ऐसे वर की इच्छा का पता लगा लेते हैं, तो वे अपने भक्त को वह वरदान आसानी से दे सकते हैं।

इस श्लोक में *इतरै* शब्द तीर्थस्थानों में जाने, धार्मिक व्रत रखने इत्यादि का सूचक है। इस श्लोक के पूर्व वाले श्लोक में ऊपर उठने की कई शुभ विधियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु इन सारी विधियों के शुभ फलों को भगवद्भक्ति से सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह सारे भगवद्भक्तों को, चाहे वे प्रगति की जिस अवस्था में हों, अपनी सारी शक्ति एकमात्र भगवान् की सेवा में लगानी चाहिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेव गोस्वामी ने पुष्टि की है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम ॥

''उदार बुद्धि वाले व्यक्ति को, चाहे वह भौतिक इच्छा से पूर्ण हो, चाहे किसी भौतिक इच्छा से रहित हो, या मोक्ष चाहने वाला हो, सभी साधनों से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।'' (भागवत २.३.१०)

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; साधवः—सन्त पुरुष; धीराः—गहन बुद्धि से; भक्ताः—भक्तगण; हि—निश्चय ही; एकान्तिनः—पूर्णतया विरक्त; मम—मुझको; वाञ्छन्ति—चाहते हैं; अपि—निस्सन्देह; मया—मेरे द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; कैवल्यम्—मोक्ष; अपुनः-भवम्—जन्म तथा मृत्यु से छुटकारा।

चूँकि मेरे भक्तगण साधु आचरण के तथा गम्भीर बुद्धि वाले होते हैं, इसलिए वे अपने आप को पूरी तरह मुझमें समर्पित कर देते हैं और मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते। यहाँ तक कि यदि मैं उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति भी प्रदान करता हूँ, तो वे इसे स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : *एकान्तिनो मम* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के शुद्ध भक्त सन्त स्वभाव के तथा अत्यन्त बुद्धिमान होने से अपने आप को केवल भगवद्भक्ति में अर्पित कर देते हैं। यहाँ तक कि जब भगवान् उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति प्रदान करते हैं, तो वे उसे स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त स्वत: भगवान् के धाम में आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त करता है और भगवद्भक्ति के बिना केवल मुक्ति को अत्यन्त गर्हित मानता है। जो कोई कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है या निर्विशेष मोक्ष या भौतिक इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने के मन्तव्य से, ऊपरी तौर पर भगवान् की सेवा करता है उसे दिव्य भगवद्भक्त नहीं कहा जा सकता। जब तक मनुष्य सांसारिक धार्मिकता, अर्थ, काम या मोक्ष की इच्छा करता है, तब तक वह *समाधि* पद या पूर्ण आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर सकता। हर जीव वास्तव में कृष्ण का नित्य दास है और निजी इच्छा से रहित होकर स्वाभावत: कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगने के लिए है। इस श्लोक में जीवन के इस शुद्ध तथा परम पद का वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

नैरपेक्ष्यम्—भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी न चाहने वाला; परम्—सर्वश्रेष्ठ; प्राहुः—कहा जाता है; निःश्रेयसम्—मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था; अनल्पकम्—महान्; तस्मात्—इसलिए; निराशिषः—निजी लाभ न चाहने वाले की; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; निरपेक्षस्य—मुझे ही देखने वाले का; मे—मुझ तक; भवेत्—उठ सकता है।

कहा जाता है कि पूर्ण विरक्ति स्वतंत्रता की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए जिसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती और जो निजी लाभ के पीछे नहीं भागता, वह मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर

सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

''जिस व्यक्ति की बुद्धि उदार है, वह चाहे समस्त इच्छाओं से पूर्ण हो, चाहे किसी इच्छा से रहित हो, या मोक्ष की इच्छा करता हो, उसे सभी तरह से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।''

शुकदेव गोस्वामी के इस कथन में *तीव्रेण भक्तियोगेन* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है ''जिस प्रकार शुद्ध सूर्य की किरण अत्यन्त शक्तिशाली होती है और इसीलिए *तीव्र* कहलाती है उसी तरह श्रवण, कीर्तन इत्यादि के शुद्ध *भक्ति-योग* को कोई भी सम्पन्न कर सकता है चाहे उसका आन्तरिक मन्तव्य जो भी हो।'' निस्सन्देह इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से अत्यन्त पतित हैं और भौतिक काम, लोभ, क्रोध, शोक इत्यादि से दूषित हैं। इस युग में अधिकांश लोग *सर्वकाम* हैं अर्थात् भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हैं। तो भी हम यह समझ लें कि मात्र भगवान् कृष्ण की शरण लेने से हम जीवन में हर वस्तु प्राप्त कर सकेंगे। जीव को भगवद्भक्ति के अलावा अन्य किसी विधि में नहीं लगना चाहिए। उसे यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और हमारे भीतर स्थित भगवान् कृष्ण ही हमारी असली इच्छा पूरी कर सकते हैं। यह कोरा विश्वास कि भगवान् कृष्ण के पास जाकर मनुष्य हर चीज प्राप्त कर सकता है, समस्त ज्ञान का सार है और यह पतित व्यक्ति को भी इस कठिन युग की कष्टप्रद बाधाओं से बाहर ले जाता है।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मयि—मुझमें; एक-अन्त—शुद्ध; भक्तानाम्—भक्तों का; गुण—अच्छे के रूप में संस्तुत; दोष—अनुपयुक्त के रूप में वर्जित; उद्भवाः—ऐसी वस्तुओं से उत्पन्न; गुणाः—पाप तथा पुण्य; साधूनाम्—भौतिक लालसाओं से मुक्त लोगों के; सम-चित्तानाम्—सभी परिस्थितियों में स्थिर आध्यात्मिक चेतना बनाये रखने वालों के; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से समझा जा सकने वाला; परम्—परे; उपेयुषाम्—प्राप्त कर लेने वालों के।

इस जगत के अच्छे तथा बुरे से उत्पन्न भौतिक पुण्य तथा पाप मेरे शुद्ध भक्तों के अन्तःकरण

में नहीं रह सकते क्योंकि वे भौतिक लालसा से मुक्त होने के कारण सभी परिस्थितियों में आध्यात्मिक चेतना स्थिर बनाये रखते हैं। निस्सन्देह, ऐसे भक्तों ने भौतिक बुद्धि से अतीत मुझ भगवान् को पा लिया है।

तात्पर्य : *बुद्धेः परम्* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दिव्य गुणों में लीन रहने वाले शुद्ध भक्त के भीतर प्रकृति के गुण नहीं पाये जा सकते। *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि शुद्ध भक्त को निजी इच्छाओं से पूर्ण विरक्ति के द्वारा पहचाना जाता है। अत: भगवान् कृष्ण की निष्काम सेवा में निरन्तर लगा रहने वाला शुद्ध भक्त असंख्य वैदिक अनुष्ठानों तथा नियमों को सदैव नहीं मान सकता। इस तरह की कभी कभी होने वाली असावधानी को अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं माना जा सकता। इसी तरह सामान्य भौतिक शुद्धता को भी शरणागत जीव की परम योग्यता नहीं माना जा सकता। कृष्ण-प्रेम तथा भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्ण समर्पण से वह तुरन्त दिव्य पद तक उठ जायेगा जहाँ पर भगवान् के लिए सम्पन्न सारे कार्य परम पूर्ण होते हैं और ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति होते हैं।कभी कभी सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति यह झूठा दावा करते हैं कि उनके मनमाने अनैतिक कार्यों से यह उच्च पद उन्हें प्राप्त हुआ है और इस तरह समाज में उत्पात मचाते हैं। किन्तु जिस तरह सामान्य व्यक्ति को किसी राष्ट्र-नेता के निजी सचिव के अधिकार प्राप्त होने का झूठा दावा नहीं करना चाहिए, उसी तरह सामान्य बद्धजीव को मूर्खतापूर्वक यह दावा नहीं करना चाहिए कि उसके अनैतिक, मनमाने कार्यों को ईश्वर की इच्छा होने के कारण ईश्वर का संरक्षण मिला है। मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए, उसे साक्षात् भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होना चाहिए और भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्णतया आत्मसमर्पण करना चाहिए तभी वह सामान्य पाप-पुण्य से परे माना जा सकेगा।

ऐसे उदाहरण हैं जिनमें उच्च भक्तगण भक्ति के सन्तमय पद से कुछ काल के लिए च्युत हुए हैं। *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् उपदेश देते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥

भगवद्भक्त के क्षणिक पतन से ऐसे व्यक्ति के प्रति भगवान् की भावनाएँ बदलती नहीं। सामान्य माता-पिता तक अपनी सन्तान के द्वारा किये गये क्षणिक उल्लंघन को क्षमा कर देते हैं। जिस तरह

सन्तान तथा माता–पिता परस्पर प्रेम करते हैं, उसी तरह भगवान् के शरणागत दास भगवान् के साथ प्रेम–सम्बन्ध का आनन्द लूटते हैं। जिसकी पूर्व कल्पना न की गई हो, ऐसे आकस्मिक पतन को भगवान् तुरन्त क्षमा कर देते हैं। समाज के सारे सदस्यों को भगवान् का ही अनुकरण करना चाहिए। आकस्मिक पतन के कारण उच्च भक्त पर भौतिकतावादी या पापी का बिल्ला नहीं लग जाना चाहिए। भक्त तुरन्त ही सन्त जैसी सेवा करने लगता है और भगवान् से क्षमा माँगता है। किन्तु जो स्थायी रूप से पतितावस्था में बना रहता है, उसे भगवान् का उच्च भक्त नहीं स्वीकार किया जा सकता।

एवमेतान्मया दिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; एतान्—ये; मया—मेरे द्वारा; दिष्टान्—आदेश दिये; अनुतिष्ठन्ति—पालन करते हैं; मे—मुझको; पथः—प्राप्त करने का साधन; क्षेमम्—मोह से छुटकारा; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; मत्-स्थानम्—मेरा धाम; यत्—जो; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; विदुः—जानते हैं।.

जो लोग मेरे द्वारा सिखलाये गये, मुझे प्राप्त करने के इन नियमों का गम्भीरता से पालन करते हैं, वे मोह से छुटकारा पा लेते हैं और मेरे धाम में पहुँचने पर वे परब्रह्म को भलीभाँति समझते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''शुद्ध भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य से आगे है'' नामक बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की व्याख्या

कुछ लोग कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इन तीनों प्रकार के योग के लिए अनुपयुक्त हैं। वे भगवान् कृष्ण से द्वेष रखते हैं, इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त रहते हैं और ऐसे सकाम कर्मों के वशीभूत होते हैं जिनका लक्ष्य भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होता है। यह अध्याय उनके दोषों को स्थान, काल, वस्तु तथा लाभ उठाने वालों को दृष्टि में रख कर वर्णन करता है।

जो लोग भगवान् सम्बन्धी ज्ञान तथा भक्ति के विषय में पूर्ण हैं, उनके लिए गुणों अथवा दोषों का

कोई अर्थ नहीं है। किन्तु भौतिक जीवन की समाप्ति के लिए इच्छुक कर्मी के लिए नियमित तथा विशिष्ट सकाम कर्म करना गुण है और उन्हें न कर पाना दोष है। उसके लिए पापकर्मों के निराकरण के लिए जो कुछ किया जाय, वह अच्छा है।

सतोगुणी ज्ञानियों तथा भक्तों के लिए उपयुक्त कार्य क्रमशः ज्ञान का अनुशीलन एवं श्रवण, कीर्तन आदि से युक्त भक्ति के अभ्यास हैं। दोनों के लिए उनके कर्मों में बाधक हर वस्तु बुरी है। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक प्रगति के लिए इच्छुक नहीं हैं, या जो सिद्ध आत्माएँ नहीं हैं, अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक जीवन से द्वेष रखते हैं और अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उनके लिए शुद्धि तथा अशुद्धि एवं शुभ तथा अशुभ सम्बन्धी अनेक विचारणीय विषय होते हैं। इनमें शरीर, कर्म-स्थल, काल, काम में आने वाली वस्तुएँ, कर्ता, मंत्र तथा विशेष कर्म ध्यान में रखे जाते हैं।

वस्तुतः गुण तथा दोष परम नहीं हैं प्रत्युत प्रगति के विशेष स्तर के सापेक्ष होते हैं। अपने स्तर के उपयुक्त विवेक पर बने रहना शुभ है और अन्य सब कुछ बुरा है। गुण तथा दोष का यही मूलभूत ज्ञान है। यहाँ तक कि एक ही कोटि की वस्तुओं में धार्मिक कार्यों के करने में संसारी आदान-प्रदान (लेन-देन) में तथा जीवनयापन में शुद्धि अथवा अशुद्धि के बारे में विभिन्न प्रकार के मत हैं। इन अन्तरों को विभिन्न शास्त्रों में दिया गया है।

वर्णाश्रम सिद्धान्त में शारीरिक शुद्धि तथा अशुद्धि के नीतिवचन सूत्रबद्ध हैं। कर्मस्थल के अनुसार, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर श्याम-मृग की उपस्थिति के आधार पर किया जाता है। काल के सम्बन्ध में काल के ही रूप में अथवा विभिन्न वस्तुओं के साथ विशिष्ट सम्बन्ध के रूप में, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर किया जाता है। शारीरिक वस्तुओं के सम्बन्ध में शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर वस्तुओं तथा शब्दों को पवित्र बनाने तथा स्नान, दान, तपस्या, भगवान् का स्मरण करने जैसे कार्यों के द्वारा किया जाता है। कर्म करने वाले की शुद्धि तथा अशुद्धि में भी अन्तर होते हैं। जब मंत्र को प्रामाणिक गुरु के मुख से प्राप्त किया जाता है, तो मंत्र को शुद्ध माना जाता है और यदि कोई अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह शुद्ध बन जाता है। यदि स्थान, काल इत्यादि छह कारकों को शुद्ध कर लिया जाता है, तब *धर्म* या गुण रहता है अन्यथा *अधर्म* या दोष होता है।

अन्ततः गुण तथा दोष में अन्तर का कोई यथेष्ठ आधार नहीं है क्योंकि वे स्थान, काल, लाभ प्राप्त करने वाले आदि के अनुसार बदलते हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कर्मों के सम्बन्ध में सभी शास्त्रों का अभिमत भौतिकतावादी मनोवृत्तियों को दमन करना है। वास्तविक धर्म ऐसा है, जो शोक, शंका तथा भय को नष्ट करता है और सौभाग्य प्रदान करता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया कर्म वास्तव में लाभप्रद नहीं है। विभिन्न *फलश्रुतियों* में दिये गये ऐसे लाभों का वर्णन सर्वोच्च लाभ के लिए क्रमशः रुचि उत्पन्न करना है। किन्तु अल्प बुद्धि वाले लोग शास्त्रों के अलंकारयुक्त वर देने वाले श्लोकों को ही वेदों का वास्तविक सार मान बैठते हैं किन्तु जिन्हें वेदों का वास्तविक ज्ञान है, वे ऐसा नहीं मानते। ऐसे व्यक्तियों को जिनके मन वेदों की अलंकारमयी वाणी से चंचल हैं, भगवान् हरि की कथाएँ सुनने में कोई आकर्षण नहीं लगता। यह जान लेना चाहिए कि आदि भगवान् से पृथक् वेदों का कोई आन्तरिक तात्पर्य नहीं है। वेद अपना ध्यान पूरी तरह से परब्रह्म भगवान् पर ही केन्द्रित करते हैं। चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् की मायाशक्ति है, इसलिए भौतिक जगत का खण्डन करके ही पदार्थ से निःसंग बना जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच
य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ये—जो; एतान्—इन; मत्-पथः—मुझे प्राप्त करने का साधन; हित्वा—त्याग कर; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—वैश्लेषिक दर्शन; क्रिया—नियमित कर्म; आत्मकान्—से युक्त; क्षुद्रान्—नगण्य; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; चलैः—चंचल; प्राणैः—इन्द्रियों से; जुषन्तः—अनुशीलन करते हुए; संसरन्ति—संसार को भोगते हैं; ते—वे।

भगवान् ने कहा : जो मुझे प्राप्त करने वाली उन विधियों को, जो भक्ति, वैश्लेषिक दर्शन (ज्ञान) तथा नियत कर्मों की नियमित सम्पन्नता (कर्म-योग) से युक्त हैं, त्याग देता है और भौतिक इन्द्रियों से विचलित होकर क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है, वह निश्चय ही बारम्बार संसार-चक्र में फँसता जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कर चुके हैं, वैश्लेषिक ज्ञान तथा नियत कर्मों की सम्पन्नता अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत अथवा शुद्ध ईश-प्रेम प्राप्त करने के लिए है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित भक्ति, बद्धजीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाती है

और इस प्रकार भगवान् को प्राप्त करने का यह सर्वोत्तम साधन है। किन्तु इन तीनों विधियों में एक निहित एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत है। अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और भगवान् की कृपा पाने के लिए कोई प्रामाणिक साधन नहीं अपनाते। सम्प्रति इस श्रेणी में करोड़ों अभागे लोग आते हैं और जैसा यहाँ वर्णित है, वे भव-बन्धन का निरन्तर कष्ट भोगते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद में; या—ऐसी; निष्ठा—स्थिरता; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—घोषित; विपर्ययः—विपरीत; तु—निस्सन्देह; दोषः—पाप; स्यात्—है; उभयोः—दोनोंमें; एषः—यह; निश्चयः—निश्चित मत।

अपने पद पर स्थिरता वास्तविक शुद्धि कहलाती है और अपने पद से विचलन अशुद्धि है। इस तरह दोनों को निश्चित किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने बतलाया कि आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग निष्काम होकर कर्म करने से शुरू होता है, फिर अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और भगवद्भक्ति में संलग्न होने में जाकर समाप्त होता है। यहाँ पर भगवान् इस बात पर बल दे रहे हैं कि भगवान् द्वारा नियत कार्यों से विपथ होकर, बद्धजीव को कृष्णभावनामृत के सहज विकास को कृत्रिम रूप से ठप्प नहीं कर देना चाहिए। मनुष्य-जीवन की निम्नतर अवस्थाओं में मनुष्य समाज, मैत्री तथा प्रेम पर आधारित सकाम कर्मों को करने के लिए स्थूल शरीर तथा इच्छाओं के साथ झूठी पहचान में फँसा रहता है। जब ऐसे भैतिकतावादी कार्यकलापों को यज्ञ द्वारा भगवान् को अर्पित कर दिया जाता है, तो वह *कर्म-योग* को प्राप्त होता है। नियमित यज्ञ द्वारा मनुष्य देहात्म बुद्धि को क्रमशः त्याग कर आध्यात्मिक ज्ञान के साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को भौतिक शरीर तथा मन से सर्वथा पृथक्, नित्य आत्मा के रूप में समझने लगता है। भौतिकतावाद के चंगुल से छूट कर राहत का अनुभव करते हुए, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यधिक आसक्त होता है और इस तरह वह *ज्ञान-योग* की अवस्था को प्राप्त होता है। आध्यात्मिक पथ पर और आगे बढ़ने पर वह अपने को परमात्मा भगवान् कृष्ण का भिन्नांश समझने लगता है। तब वह देखता है कि उसका बद्ध जीवन

तथा उसका आध्यात्मिक ज्ञान भगवान् से ही प्राप्त था, जो कि पवित्र तथा पापमय दोनों ही तरह के सारे कर्मों का फल देने वाले हैं। भगवद्भक्ति में लगने तथा अपने को भगवान् का नित्य दास मानने पर मनुष्य की आसक्ति शुद्ध भगवत्प्रेम में विकसित होती है। इस तरह मनुष्य पहले भौतिक शरीर से आसक्ति की निम्न अवस्था को छोड़ता है और फिर बाद में आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन की आसक्ति को त्याग देता है। इससे मनुष्य भौतिक जीवन से छुटकारा पा जाता है। अन्त में वह भगवान् को ही अपने नित्य प्रेम का आश्रय मान लेता है और कृष्णभावनामृत में पूरी तरह ईश्वर की शरण में चला जाता है।

इस श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि जो अब भी शरीर तथा मन से आसक्त रहता है, वह *कर्म–योग* के नियत कार्यों को कृत्रिम ढंग से त्याग नहीं पाता। इसी तरह जो आध्यात्मिक नवदीक्षित है और भौतिक जीवन की माया का अनुभव करने लगता ही है, उसे *प्रेमाभक्ति* अवस्था का अनुकरण करते हुए भगवान् की अन्तरंग लीलाओं को चौबीसों घंटे सोचने का कृत्रिम प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्युत, उसे भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए जिससे मनुष्य देह तथा मन के प्रति आसक्ति को त्याग देता है। *श्रीमद्भागवत* में भौतिक जगत के अनेक वैश्लेषिक विवरण मिलते हैं और इनसे बद्धजीव, पदार्थ के साथ झूठी पहचान से मुक्त हो सकता है। किन्तु जो जगत की समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म आसक्तियों से मुक्त होकर भगवत्प्रेम की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर चुका है, वह कर्म–योग तथा ज्ञानयोग की निम्नतर अवस्थाओं को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति में लग सकता है।

अध्याय उन्नीस के श्लोक ४५ में कृष्ण कहते हैं— *गुणदोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित: ।* भगवद्भक्त में किसी को गुण तथा दोष का दर्शन नहीं करना चाहिए। ऐसी संसारी धारणाओं को त्याग कर मनुष्य पुण्यात्मा बन सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि कभी कभी नवदीक्षित भक्त उन कर्मियों तथा ज्ञानियों की संगति से दूषित हो सकता है, जो बड़े उत्साह के साथ सकाम कर्मों तथा मानसिक चिंतन का अनुसरण करते हैं। ऐसे भक्त के धार्मिक कार्यकलाप संसारी प्रवृत्तियों से प्रभावित हो सकते हैं। इसी तरह कोई सामान्य पुरुष जो शुद्ध भक्त के उच्च पद को देखता है, कभी कभी अपने को भक्त के ही समान शुद्ध भक्ति के उच्च पद पर मानते हुए, भक्त के कार्यों का अनुकरण करता है। *भक्ति–योग* के ऐसे अधकचरे अभ्यासकर्ता आलोचना से मुक्त नहीं होते क्योंकि उनके सकाम कर्म,

उनकामानसिक चिन्तन तथा उनकी झूठी प्रतिष्ठा भगवान् की शुद्ध भक्ति में अडंगा जैसे हैं। भगवान् की सेवा में लगे शुद्ध भक्त की आलोचना नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जिस भक्त की भक्ति भौतिक गुणों से मिश्रित हो, उसका सुधार होना चाहिए जिससे वह शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सके। अबोध मनुष्यों को उन लोगों की मिश्रित भक्ति से गुमराह नहीं होना चाहिए जो मात्र भक्तियोग में नहीं लगे हैं। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में पूरी तरह नहीं लग सकते उन्हें अपने नियत कार्यों को यह कह कर कि वे माया हैं, त्याग नहीं देना चाहिए। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति शुद्ध कृष्णभावनामृत में पूरी तरह लगने में असमर्थ है, उसे अपने परिवार का परित्याग मोह मान कर नहीं कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह अवैध यौन–जीवन में जा गिरेगा। इसलिए जब तक कोई कृष्णभावनामृत का प्रत्यक्ष अभ्यास करने की अवस्था को प्राप्त न कर ले, उसे भौतिक शुद्धि तथा भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए।

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धि—शुद्धि; अशुद्धी—तथा अशुद्धि; विधीयेते—स्थापित की जाती हैं; समानेषु—समान श्रेणी वालों में; अपि—निस्सन्देह; वस्तुषु—वस्तुओं में; द्रव्यस्य—विशेष वस्तु का; विचिकित्सा—मूल्यांकन; अर्थम्—के हेतु; गुण-दोषौ—अच्छे तथा बुरे गुण; शुभ-अशुभौ—शुभ तथा अशुभ; धर्म-अर्थम्—धार्मिक कार्यों के लिए; व्यवहार-अर्थम्—सामान्य व्यवहार के हेतु; यात्रा-अर्थम्—अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) हेतु; इति—इस प्रकार; च—भी; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप उद्धव, यह समझने के लिए कि जीवन में क्या उचित है, मनुष्य को किसी एक पदार्थ का मूल्यांकन उसकी विशेष कोटि के भीतर ही करना चाहिए। इस तरह धर्म का विश्लेषण करते समय मनुष्य को शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करना चाहिए। इसी प्रकार अपने सामान्य व्यवहार में मनुष्य को अच्छे तथा बुरे में अन्तर करना चाहिए और अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) के लिए उसे पहचानना चाहिए कि क्या शुभ है और क्या अशुभ है।

तात्पर्य : धार्मिक कार्यों, सामान्य व्यवहार तथा निजी अस्तित्व के लिए मूल्य के निर्णय से नहीं बचा जा सकता। नैतिकता तथा धर्म सभ्य समाज की सनातन आवश्यकताएँ हैं इसलिए शुद्धि–अशुद्धि, पुण्य–पाप, नैतिकता–अनैतिकता में जो अन्तर है उसको सुनिश्चित करना चाहिए। इसी प्रकार हम अपने

सामान्य सांसारिक कार्यों में स्वादिष्ट तथा स्वादहीन भोजन, अच्छे तथा बुरे व्यापार, उच्च कोटि तथा निम्न कोटि के आवास, अच्छे तथा बुरे मित्र, आदि में अन्तर करते हैं। और अपने स्वास्थ्य तथा अपने अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए हमें सुरक्षित-असुरक्षति, स्वस्थ-अस्वस्थ, लाभप्रद-अलाभप्रद में निरन्तर अन्तर करना चाहिए। यहाँ तक कि विद्वान पुरुष को भी इस संसार में अच्छे तथा बुरे में निरन्तर भेद करना चाहिए। किन्तु उस के साथ साथ उसे कृष्णभावनामृत के दिव्य पद को भी समझना चाहिए। सावधानीपूर्वक गणना करने के बावजूद कि भौतिक दृष्टि से क्या स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है और क्या अनुपयोगी है, भौतिक शरीर को मरना पड़ता है। इसी तरह सामाजिक रूप से क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल है इसकी छानबीन करने पर भी, समय के साथ मनुष्य का सारा सामाजिक परिवेश समाप्त हो जायेगा। इसी तरह इतिहास के प्रवाह में बड़े बड़े धर्म उदय और अस्त होते हैं। इस तरह कोरी धार्मिकता, सामाजिक तथा आर्थिक दाक्षिण्य अथवा शारीरिक स्वस्थता से ही जीवन की वास्तविक पूर्णता नहीं मिल जाती। भौतिक जगत की सापेक्ष अच्छाई के परे दिव्य अच्छाई है। कोई भी विज्ञ व्यक्ति भौतिक भेद-भाव की आवश्यकता को स्वीकार करता है फिर भी मनुष्य को अन्ततः कृष्णभावनामृत की दिव्य अवस्था तक पहुँचना चाहिए जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। भगवान् कृष्ण उद्धव को अपनी विस्तृत शिक्षाओं के द्वारा धीरे धीरे कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं, जो अनन्त प्रकार के भौतिक गुण-दोष से परे है।

दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

दर्शितः—दिखलाया गया; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; आचारः—जीवन-शैली; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त; उद्वहताम्—वहन करने वालों के लिए; धुरम्—भार।

मैंने जीवन की यह शैली उन लोगों के लिए प्रकट की है, जो संसारी धार्मिक सिद्धान्तों का भार वहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : वे सामान्य धार्मिक सिद्धान्त जो असंख्य विधि तथा निषेध की संस्तुति करने वाले हैं, उन लोगों के लिए भारतुल्य हैं, जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध (१.१.११) में कहा गया है—*भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानिविभागशः*—संसार में असंख्य धार्मिक शास्त्र हैं, जो असंख्य धार्मिक कर्तव्यों की संस्तुति करते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

प्रामाणिक शास्त्र वे हैं, जो भगवान् द्वारा या उनके प्रतिनिधियों द्वारा कहे गये हैं। *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—मनुष्य को चाहिए कि संसारी शुद्धि के कष्टकर भार को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति करे जिसमें हर बात सरल हो जाती है। *भगवद्गीता* (९.२) में कृष्ण ने यह भी कहा है—*सु-सुखं कर्तुमव्ययम्*—भक्तियोग-विधि, जो कि पूरी तरह भगवत्कृपा पर निर्भर है, अत्यन्त सुखप्रद है और सरलता से सम्पन्न होने वाली है। इसी प्रकार लोचनदास ठाकुर गाते हैं—

परम करुण, पहुङ् दुइ जन

निताइ-गौरचन्द्र

सब अवतार-, सार-शिरोमणि

केवल आनन्दकाण्ड

श्री चैतन्य महाप्रभु, जो कि साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं ५०० वर्ष पूर्व भगवन्नाम कीर्तन-विधि का वितरण करने के लिए प्रकट हुए थे। इस तरह कृत्रिम तपस्या का भार वहन करने के बजाय मनुष्य सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है, जिससे उसका हृदय स्वच्छ हो जाता है और तुरन्त ही दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। जिन लोगों ने चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को ग्रहण किया है, वे चार मूल सिद्धान्तों का पालन करते हैं। ये हैं—अवैध यौन, मच्छली अण्डे एवं मांसाहार, नशे तथा जुए का परित्याग। वे प्रात:काल जग जाते हैं, हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं और भगवान् की सेवा में लगे रह कर सुखपूर्वक दिन बिताते हैं। किन्तु जो लोग वेदों के कर्मकांड अनुभाग का पालन करते हैं, वे असंख्य विधि-विधानों, अनुष्ठानों तथा उत्सवों से बोझिल रहते हैं, जिन्हें या तो स्वयं करना पड़ता है या योग्य ब्राह्मण से सम्पन्न कराना होता है। इसमें त्रुटि होने का हर क्षण भय बना रहता है, जिससे संचित पुण्य की पूर्ण क्षति हो सकती है। इसी तरह जो दार्शनिक मार्ग पर चलते हैं उन्हें दार्शनिक कोटियों की परिभाषा, परिष्कार तथा समंजन करना होता है। यह विधि ऐसी है, जिसका अन्त संशय तथा निराशा में होता है। योग का अभ्यास करने वाले कष्टप्रद तपस्या करते हैं और अपने को कठिन गर्मी तथा शीत, भूख इत्यादि से कष्ट पहुँचाते हैं। ऐसे सारे भौतिकतावादी लोगों को निजी इच्छाएँ पूरी करनी रहती हैं किन्तु भगवद्भक्त तो भगवान् के सुख की कामना करते हैं और भगवान् की कृपा पर

ही निर्भर रह कर भगवद्धाम जाते हैं। पिछले श्लोक में भगवान् ने यह उल्लेख किया है कि भौतिक जगत में अनन्त अन्तर हैं जिनका मूल्यांकन जीवन-भर किया जाना है। किन्तु भक्त तो हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखता है और भगवान् की सेवा में लगा रह कर विनीत, सरल तथा आनन्दित बना रहता है। वह न तो महान् धार्मिक उत्सव सम्पन्न करता है, न ही समाजविरोधी या अनैतिक बनता है। वह केवल कृष्ण-नाम कीर्तन करता है और सरलता से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। सामान्य व्यक्ति शारीरिक भरण-पोषण के लिए उद्योग करते हैं किन्तु भक्त तो भगवान् की कृपा से स्वत: लालित-पालित होता है। उसके सामान्य आचार-विचार तथा धार्मिक कृत्य भी भगवान् को अर्पित रहते हैं और इस तरह भक्त के जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। कृष्ण उसकी रक्षा तथा पालन करते हैं और भक्त अपनी हर वस्तु कृष्ण को प्रदान करता है। यह स्वाभाविक मुक्त अवस्था कृष्णभावनामृत कहलाती है। यही चरम शुभ है जैसाकि भगवान् इस पूरे स्कन्ध में बतलाते रहे हैं।

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्चधातवः ।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५॥

शब्दार्थ

भूमि—पृथ्वी; अम्बु—जल; अग्नि—अग्नि; अनिल—वायु; आकाशाः—आकाश; भूतानाम्—सारे बद्धजीवों का; पञ्च—पाँच; धातवः—मूलभूत तत्त्व; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा से लेकर; स्थावर-आदीनाम्—जड़ प्राणियों तक; शारीराः—शरीरों के निर्माण हेतु प्रयुक्त; आत्म—परमात्मा; संयुताः—समान रूप से सम्बन्धित।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच मूलभूत तत्त्व हैं जिनसे ब्रह्मा से लेकर जड़ प्राणियों तक समस्त बद्धजीवों के शरीर बने हैं। ये सारे तत्त्व एक भगवान् से उद्भूत होते हैं।

तात्पर्य : सारे शरीर इन्हीं पाँच स्थूल तत्त्वों के, जो एक भगवान् से उद्भूत हैं, विभिन्न अनुपातों से बने हुए हैं और जीवों को आच्छादित किये रहते हैं।

गुण तथा दोष की संकल्पनाएँ भगवान् की चुनाव-इच्छा पर निर्भर करती हैं न कि भौतिक पदार्थों के गुणात्मक अन्तरों पर। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सारी भौतिक घटनाओं को अंततः एकरूप देखता है। भौतिक जगत में भक्त का सदाचार, बुद्धिमय विवेक तथा कलात्मक भाव ईश्वर की इच्छा पर आश्रित होते हैं। सारे भौतिक तत्त्व भगवान् से उद्भूत होने के कारण अन्ततः अभिन्न होते हैं। किन्तु

सांसारिक अच्छाई (पुण्य) के समर्थक डरते रहते हैं कि यदि गुण-दोष के भौतिक द्वैत को कम करके बतलाया जायगा तो लोग अनैतिक अथवा अराजकतावादी बन जायेंगे। निश्चय ही आधुनिक विज्ञानी जिस निर्विशेष तथा नास्तिक दर्शन का प्रचार करते हैं, जिसमें भौतिक विविधता अणुओं-परमाणुओं के गणित-रूपी वर्णनों में ही सिमट जाती है, उससे अनैतिक समाज का जन्म होता है। यद्यपि भौतिक विज्ञान तथा वैदिक ज्ञान दोनों ही भौतिक विविधता के मोह का उद्घाटन करते हैं और समस्त भौतिक शक्ति की एकरूपता को बतलाते हैं, किन्तु मात्र कृष्ण-भक्त ही ईश्वर की इच्छा के परम पुण्य के प्रति समर्पित होते हैं। इस तरह वे सदैव ही समस्त जीवों के लाभ हेतु कर्म करते हैं और भगवान् की इच्छा के अनुसार भौतिक विविधता को भगवान् की सेवा के लिए स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत के बिना लोग आध्यात्मिक अच्छाई को नहीं समझ सकते। इसीलिए वे भौतिक स्तर पर परस्पर-निर्भर स्वार्थमय सभ्यता का निर्माण करने का प्रयास करते हैं। ऐसी मूर्खतापूर्ण व्यवस्था सरलता से ध्वस्त हो जाती है जैसाकि आधुनिक युग में व्याप्त सामाजिक संघर्ष तथा अव्यवस्था से प्रकट है। सभ्य समाज के सारे सदस्यों को भगवान् की परम सत्ता को स्वीकार करना चाहिए, तभी सामाजिक शान्ति तथा भाईचारा सांसारिक पाप-पुण्य के मलिन सम्बन्धों पर आश्रित नहीं रहेगा।

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।
धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वेदेन—वैदिक वाङ्मय द्वारा; **नाम**—नाम; **रूपाणि**—तथा रूप; **विषमाणि**—भिन्न; **समेषु**—जो समान हैं; **अपि**—निस्सन्देह; **धातुषु**—पाँच तत्त्वों (से बने शरीरों) में; **उद्धव**—हे उद्धव; **कल्प्यन्ते**—बने हुए हैं; **एतेषाम्**—इनमें से, जीव; **स्व-अर्थ**—निजी लाभ की; **सिद्धये**—प्राप्ति के लिए।

हे उद्धव, यद्यपि सारे शरीर इन्हीं पाँच तत्त्वों से बने हैं और इसीलिए समान हैं, किन्तु वैदिक ग्रंथ ऐसे शरीरों की कल्पना भिन्न भिन्न नामों तथा रूपों में करते हैं जिससे जीव अपने जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : *नामरूपाणि विषमाणि* द्योतक है *वर्णाश्रम धर्म* का जिसमें मानव समाज के सारे सदस्यों को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के अनुसार उपाधि दी जाती है। जो लोग बौद्धिक या धार्मिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं; जो राजनीतिक सिद्धि की साधना में लगे रहते हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं; जो आर्थिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो खाने, सोने, संभोग तथा

ईमानदार कर्म में लगे रहते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा बौद्धिक, शक्ति का इच्छुक, अध्यवसायी या नीच नहीं होता। वह तो सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है। यदि बद्धजीव की विभिन्न मनोवृत्तियाँ वर्णाश्रम प्रणाली में संयोजित नहीं होतीं तो उनका निश्चय ही दुरुपयोग होता है, जिससे मनुष्य मनुष्य-जीवन के आदर्श से नीचे गिर जाता है। वैदिक प्रणाली भगवान् द्वारा इसलिए सुयोजित की गई है कि बद्धजीव अपने अपने कार्यों में लगे रहें और उसी के साथ साथ जीवन के चरम लक्ष्य—कृष्णभावनामृत—की ओर अग्रसर होते रहें। जिस प्रकार एक वैद्य एक विक्षिप्त व्यक्ति से उसके मिथ्या जीनव-बोध को ध्यान में रख कर दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसी तरह वैदिक वाङ्मय को समझने वाला व्यक्ति जीवों को भौतिक तत्त्वों के साथ उनकी मोहमयी पहचान के अनुसार कार्य में लगाता है। यद्यपि सारे शरीर उन्हीं भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं, अतएव गुणात्मक रूप से एक-से होते हैं, जैसाकि *समेषु* शब्द द्वारा यहाँ सूचित हुआ है, किन्तु वर्णाश्रम की सृष्टि सारे मनुष्यों को उनकी अपनी अपनी भौतिक पहचानों के अनुसार कृष्णभावनामृत में लगाने के लिए की गई है। परम गुण तो स्वयं भगवान् हैं और जो कोई भगवान् के पास पहुँच जाता है, वह भी उसी तरह गुण बन जाता है। चूँकि इस संसार में उष्मा का उद्‌गम सूर्य है, अतएव जो वस्तु सूर्य के पास पहुँचती है, वह गर्म होती जाती है जब तक कि वह अन्त में अग्नि में लीन न हो जाये। उसी तरह ज्यों ज्यों हम भगवान् के दिव्य स्वभाव के पास पहुँचते हैं, त्यों त्यों हममें स्वत: परम अच्छाई आती जाती है। यद्यपि यही ज्ञान वैदिक वाङ्मय का असली आधार है, तो भी संसारी पुण्य का आदेश मिलता है और पाप का निषेध मिलता है, जिससे मनुष्य भौतिक अच्छाई प्राप्त कर सके जहाँ पर उसे आध्यात्मिक ज्ञान दृष्टिगोचर होगा।

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; आदि—इत्यादि; भावानाम्—भावों का; वस्तूनाम्—वस्तुओं का; मम—मेरा; सत्-तम—हे परम सन्त उद्धव; गुण-दोषौ—पुण्य तथा पाप; विधीयेते—स्थापित किये जाते हैं; नियम-अर्थम्—प्रतबिन्ध के लिए; हि—निश्चय ही; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के।.

हे सन्त उद्धव, मैंने भौतिकतावादी कर्मों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए यह सुनिश्चित कर दिया है कि देश, काल तथा सारी भौतिक वस्तुओं में से कौन उचित है और कौन अनुचित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नियमार्थम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव अपनी झूठी पहचान अपनी इन्द्रियों से करता है, अतएव जो वस्तु शरीर को तुरन्त तुष्टि प्रदान करती है उसे वह अच्छी (गुण) और जो असुविधाजनक या विक्षोभ लाने वाली हो उसे बुरी (दोष) मानता है। किन्तु उच्चतर बुद्धि से मनुष्य दीर्घकालीन हित या अनाहित को पहचानता है। उदाहरणार्थ, कोई दवा पीते समय कड़वी लग सकती है, किन्तु दीर्घकालीन हित को ध्यान में रख कर मनुष्य दवा पी लेता है, जिससे वह अभी कष्ट न देने वाले किन्तु अन्ततः घातक होने वाले रोग से छुटकारा पा सके। इसी तरह वैदिक वाङ्मय संसार की सारी वस्तुओं तथा कार्यकलापों में से क्या उचित है और क्या अनुचित है इसकी स्थापना करके मनुष्यों की पापपूर्ण मनोवृत्तियों को प्रतिबंधित करता है। चूँकि हर व्यक्ति को भोजन करना चाहिए इसलिए वेद सतोगुणी भोजन की संस्तुति करते हैं, मांस, मछली, अंडा जैसे भोजन की नहीं जो पापमय हैं। इसी तरह यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शान्त तथा पवित्र समुदाय में रहे, पापी लोगों की संगति में न रहे, न ही गन्दे या उत्तेजक वातावरण में रहे। भौतिक जगत को उपाधि देकर और उसके शोषण पर प्रतिबन्ध लगाकर वैदकि ज्ञान बद्धजीव को क्रमशः सतोगुण के स्तर पर लाता है। उस अवस्था में मनुष्य भगवान् की सेवा करने के और जीवन की दिव्य अवस्था में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इस तरह की मात्र उपयुक्तता वास्तविक योग्यता नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत के बिना कोरा भौतिक पुण्य बद्धजीव को भगवद्धाम जाने के योग्य नहीं बना सकता। इस जगत में हम सारे के सारे लोग मिथ्या अहंकार से ग्रस्त हैं जिसे वैदिक आदेशों के सामने नतमस्तक होकर कम करना ही चाहिए। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में पूरी तरह लगा हो उसके लिए इन प्रारम्भिक विधियों को ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह आत्म-समर्पण द्वारा भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर लेता है। पिछले श्लोक में भगवान् ने बतलाया कि विभिन्न जीवों के शरीरों को वैदिक वाङ्मय विभिन्न मूल्य क्यों प्रदान करता है। यहाँ पर वे इन शरीरों से अन्तःक्रिया करने वाली भौतिक वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में वैदिक मूल्यांकन बतला रहे हैं।

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽसुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अकृष्ण-सारः—धब्बारहित बारहसिंगा; **देशानाम्**—स्थानों में; **अब्रह्मण्यः**—जहाँ ब्राह्मणों के प्रति भक्ति-भाव नहीं है; **अशुचिः**—दूषित; **भवेत्**—है; **कृष्ण-सारः**—काले धब्बों वाले बारहसिंगे; **अपि**—भी; **असौवीर**—साधु स्वभाव वाले व्यक्तियों से रहित; **कीकट**—गया प्रदेश (जहाँ निम्न जाति के लोग रहते हैं); **असंस्कृत**—जहाँ के लोग संस्कार या स्वच्छता नहीं बरतते; **ईरणम्**—जहाँ की भूमि बंजर है।

स्थानों में से वे स्थान दूषित माने जाते हैं, जो धब्बेदार बारहसिंगों से रहित हैं, जो ब्राह्मणों के प्रति भक्ति से रहित है, जहाँ धब्बेदार बारहसिंगे होते हैं, किन्तु जो सम्माननीय व्यक्तियों से रहित होते हैं तथा कीकट जैसे प्रदेश एवं वे स्थान जहाँ स्वच्छता तथा संस्कारों की अवहेलना की जाती है, जहाँ मांस-भक्षकों का प्राधान्य होता है या जहाँ पृथ्वी बंजर होती है।

तात्पर्य : *कृष्णसार* शब्द धब्बेदार बारहसिंगे का सूचक है, जिसका चर्म ब्रह्मचारी वटु, गुरु आश्रम में निवास करते समय पहनते हैं। ब्रह्मचारी कभी जंगल में शिकार नहीं करते अपितु मरे हुए बारहसिंगों का चर्म ग्रहण करते हैं। धब्बेदार अर्थात् श्याम-बारहसिंगे का चर्म वैदिक यज्ञ के समय दीक्षा ग्रहण करने वाले भी धारण करते हैं। चूँकि ऐसे प्राणियों से विहीन स्थानों में ठीक से यज्ञ नहीं किये जा सकते, इसलिए ऐसे स्थान अशुद्ध हैं। इतना ही नहीं, भले ही किसी स्थान के निवासी सकाम कर्म तथा अनुष्ठानिक यज्ञ करने में पटु हों, किन्तु यदि वे भगवद्भक्ति से द्वेष रखते हैं, तो भी ऐसा स्थान दूषित है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि पहले बिहार तथा बंगाल प्रान्त भगवद्भक्ति से रहित थे अत: वे अशुद्ध माने जाते थे। तत्पश्चात् जब जयदेव जैसे महान् वैष्णव इन स्थानों में उत्पन्न हुए तो उन्होंने इन प्रान्तों को पवित्र स्थल बना दिया।

असौवीर शब्द उन स्थानों का सूचक है, जो *सौवीर* अर्थात् सम्मान्य साधु पुरुषों से विहीन हैं। सामान्यतया जो व्यक्ति राज्य के नियमों का पालन करता है, वह सम्मान्य नागरिक माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करता है, वह *सुवीर* अर्थात् संस्कृत या सभ्य व्यक्ति माना जाता है। और जिस स्थान पर ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति रहते हैं, वह *सौवीरम्* कहलाता है। *कीकट* वर्तमान बिहार राज्य का द्योतक है, जो परम्परा से असभ्य लोगों की रियासत माना गया है। किन्तु ऐसे प्रान्तों में भी, जिस स्थान पर सन्त पुरुष एकत्र हों, पवित्र माना जाता है। दूसरी ओर, सम्मान्य व्यक्तियों वाला प्रान्त भी पापी लोगों की उपस्थिति से तुरन्त दूषित हो जाता है। *असंस्कृत* सूचक है बाहरी सफाई के अभाव तथा आन्तरिक सफाई के संस्कारों की अनुपस्थिति का। श्रील मध्वाचार्य ने *स्कन्द पुराण* से उद्धरण दिया है "धार्मिक व्यक्तियों को नदियों, सागरों, पर्वतों, कुटियों, जंगलों, आध्यात्मिक शहरों या

उन स्थानों से आठ मील के घेरे के अन्दर रहना चाहिए जहाँ *शालग्राम शिला* पाया जाय। अन्य सारे स्थलों को *कीकट* अर्थात् दूषित समझा जाय। किन्तु यदि ऐसे दूषित स्थानों में भी श्याम-बारहसिंगे पाये जाँय तो वहाँ तब तक रहा जा सकता है जब तक पापी लोग वहाँ उपस्थित न हों। किन्तु यदि व्यावहारिक अधिकार सम्मानित अधिकारियों के हाथ में हो तो पापी लोगों के उपस्थित होने पर भी वहाँ रहा जा सकता है। इसी तरह जहाँ कहीं विष्णु का अर्चा-विग्रह विधिपूर्वक संस्थापित होकर पूजा जाता है, वहाँ रहा जा सकता है।''

यहाँ पर भगवान् पुण्य तथा पाप की विस्तृत व्याख्या करते हैं, जो शुद्धि तथा अशुद्धि पर आधारित हैं। इसीलिए यहाँ शुद्ध तथा दूषित वास-स्थानों का वर्णन हुआ है।

कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कर्मण्यः—नियत कार्य करने के लिए अनुकूल; गुणवान्—शुद्ध; कालः—समय; द्रव्यतः—शुभ वस्तुओं की प्राप्ति से; स्वतः—अपने आप; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; यतः—जिस (काल) के कारण; निवर्तते—अवरुद्ध होता है; कर्म—कर्तव्य; सः—वह (काल); दोषः—अशुद्ध; अकर्मकः—उचित ढंग से कर्म करने के लिए अनुपयुक्त; स्मृतः—माना जाता है।

कोई विशेष काल तब शुद्ध माना जाता है जब वह अपने स्वभाव से अथवा उपयुक्त साज-सामग्री प्राप्त होने से मनुष्य के नियत कर्तव्य को करने के लिए उपयुक्त हो। वह काल जो किसी के कर्तव्य में बाधक हो अशुद्ध माना जाता है।

तात्पर्य : शुद्ध तथा अशुद्ध स्थानों की व्याख्या करने के बाद अब भगवान् काल के विभिन्न गुणों की व्याख्या कर रहे हैं। कुछ काल, यथा ब्राह्म मूहूर्त, सूर्योदय से कुछ घण्टे पूर्व, आध्यात्मिक उन्नति के लिए शुभ माने जाते हैं। अन्य काल, जो स्वयं में शुभ नहीं होते, वे भौतिक सम्पन्नता प्राप्त होने पर शुभ बन जाते हैं जिससे जीवन-लक्ष्य सरल हो जाता है।

राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक उत्पात, जिनसे धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में रुकावट उत्पन्न हो, अशुभ काल माने जाते हैं। इसी तरह प्रसव के तुरन्त बाद या ऋतुकाल में स्त्री दूषित मानी जाती है। वह ऐसे अवसरों पर सामान्य धार्मिक कर्म नहीं कर सकती, इसलिए ये अशुभ तथा अशुद्ध काल माने जाते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि समस्त कालों में वह क्षण सबसे शुभ होता है जब मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त होती है। यदि वह इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत होकर

भगवद्भक्ति की उपेक्षा करता है, तो वह निश्चित रूप से अशुभ काल में रहता है। इसीलिए जिस क्षण उसे भगवान् या भगवान् के भक्त की संगति प्राप्त होती है, वह सर्वाधिक अशुभ काल है और ऐसी संगति को खो देना सर्वाधिक अशुभ काल है। दूसरे शब्दों में, जीवन की सिद्धि एकमात्र कृष्णभावनामृत है, जिससे मनुष्य भौतिक प्रकृति के तीन गुणों द्वारा उत्पन्न काल तथा देश के द्वैतों को पार कर सकता है।

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।
संस्कारेणाथ कालेन महत्वाल्पतयाथ वा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्यस्य—एक वस्तु की; शुद्धि—शुद्धि, शुद्धता; अशुद्धी—या अशुद्धि; च—तथा; द्रव्येण—अन्य वस्तु से; वचनेन—वाणी से; च—तथा; संस्कारेण—संस्कार द्वारा; अथ—या; कालेन—काल द्वारा; महत्व-अल्पतया—महानता या लघुता द्वारा; अथ वा—अथवा, या कि।

किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि की स्थापना दूसरी वस्तु के सम्प्रयोग से, शब्दों से, अनुष्ठानों (संस्कारों) से, काल के प्रभाव से अथवा आपेक्षिक महत्त्व से की जाती है।

तात्पर्य : वस्त्र स्वच्छ जल से शुद्ध होता है और मूत्रादि से अशुद्ध हो जाता है। साधु ब्राह्मण के शब्द शुद्ध होते हैं। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति के शब्द काम तथा द्वेष से दूषित रहते हैं। साधु भक्त वास्तविक शुद्धि की व्याख्या अन्यों से करता है किन्तु अभक्त झूठा प्रचार करता है, जिससे अबोध लोग दूषित पापकृत्य करने लगते हैं। शुद्ध अनुष्ठान भगवान् की तुष्टि हेतु होते हैं जबकि भौतिकतावादी उत्सवों से लोग भौतिकतावादी तथा आसुरी कृत्य करने लगते हैं। *संस्कारेण* शब्द यह भी सूचित करता है कि किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि अनुष्ठानों को पूरा करने के विधि-विधानों द्वारा निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ, देव पर चढ़ाये जाने वाले फूल को जल से शुद्ध कर लेना चाहिए। सूँघे हुए फूल या चखे हुए फल दूषित हो जाते हैं अत: उन्हें देव पर नहीं चढ़ाना चाहिए। *कालेन* शब्द सूचित करता है कि कुछ वस्तुएँ काल द्वारा शुद्ध होती हैं, तो कुछ अशुद्ध। उदाहरणार्थ, वर्षाजल दस दिनों अथवा आपात्काल में तीन दिनों के बाद शुद्ध माना जाता है। दूसरी ओर कुछ भोजन समय के साथ सड़ने लगते हैं और इस तरह अशुद्ध बन जाते हैं। *महत्व* सूचित करता है कि बड़े बड़े जलाशय दूषित नहीं होते। *अल्पतया* का अर्थ है कि थोड़ी मात्रा में जल आसानी से दूषित हो जाता है। इसी तरह महात्माजन भौतिकतावादी व्यक्तियों के यदाकदा सम्पर्क से दूषित नहीं होते किन्तु जो व्यक्ति बहुत

थोड़ी ईश्वर-भक्ति करते होते हैं, वे कुसंगति में पड़ कर आसानी से संशयग्रस्त हो उठते हैं। इस तरह सारे पदार्थों की शुद्धि तथा अशुद्धि को अन्य वस्तुओं के संमेल से तथा वाणी, संस्कार, काल एवं महत्त्व के अनुसार निश्चित किया जा सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि अशुद्ध या सड़ा अथवा बासी भोजन सामान्य व्यक्तियों के लिए तो वर्जित है किन्तु जिनके लिए कोई जीविका-साधन न हो, उनके लिए क्षम्य है।

शक्त्याशक्त्याथ वा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शक्त्या—सापेक्ष शक्ति से; **अशक्त्या**—क्लीवता, नपुंसकता; **अथ वा**—या; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **समृद्ध्या**—ऐश्वर्य से; **च**—तथा; **यत्**—जो; **आत्मने**—अपने से; **अघम्**—पापकर्म; **कुर्वन्ति**—करते हैं; **हि**—निस्सन्देह; **यथा**—वास्तव में; **देश**—स्थान; **अवस्था**—अथवा अपनी दशा के; **अनुसारतः**—अनुसार।

किसी व्यक्ति की शक्ति अथवा दुर्बलता, बुद्धि, सम्पत्ति, स्थान तथा भौतिक स्थिति के अनुसार उस व्यक्ति पर अशुद्ध वस्तुएँ पाप लगा सकती हैं अथवा नहीं भी लगा सकतीं।

तात्पर्य : भगवान् ने विभिन्न देशों, कालों तथा वस्तुओं की शुद्धि तथा अशुद्धि का वर्णन किया है। प्रकृति के नियमानुसार जो अशुद्ध है, वह किसी मनुष्य को उसके पद के अनुसार दूषित कर सकती है जैसाकि यहाँ वर्णित है। उदाहरणार्थ, विशेष अवसरों पर, यथा सूर्य-ग्रहण पर या शिशु के जन्म के तुरन्त बाद कर्मकाण्डीय आदेशों के अनुसार भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यदि कोई शारीरिक रूप से क्षीण है, तो वह भोजन कर सकता है; उसे अशुद्ध नहीं माना जाता। सामान्य लोग शिशु-जन्म के बाद के दस दिन अत्यन्त शुभ मानते हैं किन्तु जो विद्वान है, वह जानता है कि यह अवधि वस्तुतः अशुद्ध होती है। इस नियम से अनभिज्ञता के कारण कोई दण्ड पाने से नहीं बच सकता, किन्तु जो जान-बूझकर पाप करता है, वह अत्यन्त पतित माना जाता है। जहाँ तक *समृद्धि* की बात है, फटे-पुराने तथा मैले-कुचैले वस्त्र या अस्त-व्यस्त आवास किसी धनी व्यक्ति के लिए अशुद्ध हो सकते हैं किन्तु निर्धन के लिए ये ग्राह्य होते हैं। *देश* शब्द सूचित करता है कि सुरक्षित तथा शान्त स्थान में धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए मनुष्य बाध्य है किन्तु संकटपूर्ण अथवा अशान्त स्थिति होने पर गौण नियमों की यदाकदा उपेक्षा क्षम्य है। स्वस्थ व्यक्ति को चाहिए कि देवताओं को नमस्कार करे, धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित हो और अपने नियत कर्म करे किन्तु एक बालक या रोगी व्यक्ति को ऐसे कर्म न

करने की छूट दी जाती है जैसाकि *अवस्था* शब्द से सूचित होता है।अन्ततः, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् कृष्ण की दिव्य भक्ति अनुकूल होकर और सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की किसी आकांक्षा से रहित होकर करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।" (भक्तिरसामृतसिंधु १.१.११) जो वस्तु भगवान् कृष्ण की भक्ति के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो अनुकूल न हो उसका बहिष्कार कर दे। वह प्रामाणिक गुरु से ईश्वर की सेवा करने की विधि सीखे और अपने जीवन को सदैव शुद्ध तथा चिन्तामुक्त रखे। किन्तु भौतिक वस्तुओं की सापेक्ष शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करते समय सामान्यतया उपर्युक्त सारी बातों को ध्यान में रखे।

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धान्य—अन्न; दारु—लकड़ी (सामान्य तथा पवित्र पात्रों के रूप में); अस्थि—हड्डी (यथा हाथी-दाँत); तन्तूनाम्—तथा धागे की; रस—द्रव (तेल, घी इत्यादि); तैजस—तेजवान वस्तुएँ (यथा स्वर्ण); चर्मणाम्—तथा चमड़े की; काल—समय; वायु—हवा; अग्नि—आग; मृत्—मिट्टी; तोयैः—तथा जल से; पार्थिवानाम्—(तथा) मिट्टी की बनी वस्तुओं (यथा चक्र, पात्र, ईंटे); युत—से युक्त; अयुतैः—या पृथक्-पृथक्।

अन्न, लकड़ी के पात्र, अस्थि से बने पदार्थ, धागे, द्रव, अग्नि से प्राप्त वस्तुएँ, चमड़े तथा मिट्टी से बनी वस्तुएँ—ये सब काल, वायु, अग्नि, पृथ्वी तथा जल के द्वारा अलग अलग से अथवा उनके मिल जाने से शुद्ध हो जाती हैं।

तात्पर्य : यहाँ *काल* का उल्लेख हुआ है क्योंकि सारे संस्कार काल के भीतर ही घटित होते हैं।

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धलेपं व्यपोहति ।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अमेध्य—अशुद्ध वस्तु से; लिप्तम्—छू कर; यत्—जो वस्तु; येन—जिससे; गन्ध—दुर्गन्ध; लेपम्—तथा अशुद्ध लेप; व्यपोहति—त्याग देती है; भजते—दूषित वस्तु पुनः धारण कर लेती है; प्रकृतिम्—अपना पूर्व स्वभाव; तस्य—उस वस्तु का; तत्—वह प्रयोग; शौचम्—शुद्धीकरण; तावत्—उस हद तक; इष्यते—माना जाता है।

कोई शुद्ध करने वाला पदार्थ तब उपयुक्त माना जाता है जब उसके लगाने से किसी दूषित

वस्तु की दुर्गंध या गन्दी परत हट जाय और वह अपने पूर्व स्वभाव को प्राप्त कर ले।

तात्पर्य : लकड़ी का सामान, रसोई के बर्तन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को मल कर, क्षार या अम्ल अथवा जल के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इससे उन वस्तुओं की दुर्गंध अथवा अशुद्ध परत निकल जाती है और वे अपने पूर्व स्वच्छ रूप को प्राप्त कर लेती है।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्द्विजः ॥ १४॥

शब्दार्थ

स्नान—**नहाना**; **दान**—**दान देना**; **तपः**—**तपस्या**; **अवस्था**—**तथा अपनी उम्र के कारण**; **वीर्य**—**सामर्थ्य**; **संस्कार**—**संस्कार द्वारा**; **कर्मभिः**—**तथा नियत कार्यों से**; **मत्-स्मृत्या**—**मेरा स्मरण करके**; **च**—**भी**; **आत्मनः**—**आत्मा की**; **शौचम्**—**शुद्धि**; **शुद्धः**—**शुद्ध**; **कर्म**—**कर्म**; **आचरेत्**—**करे**; **द्विजः**—**द्विजन्मा मनुष्य**।

स्नान, दान, तप, आयु, निजी बल (सामर्थ्य), संस्कार, नियत कर्म तथा इन सबसे ऊपर मेरे स्मरण द्वारा आत्म-शुद्धि की जा सकती है। ब्राह्मण तथा अन्य द्विजातियों को अपना अपना विहित कर्म करने के पूर्व ठीक से शुद्ध हो लेना चाहिए।

तात्पर्य : *अवस्था* शब्द सूचित करता है कि जब बालक तथा बालिकाएँ छोटे हों, तो उन्हें बालपन की अबोधता द्वारा शुद्ध रखा जाता है और जब वे बड़े हो जाते हैं, तो उचित शिक्षा तथा कार्य में लगाकर शुद्ध रखा जा सकता है। मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के बल पर पापकर्मों तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख लोगों की संगति से बचना चाहिए। *कर्म* यहाँ पर नियत या विहित कर्तव्यों का यथा गुरु तथा अर्चा-विग्रह के पूजन, नित्य तीन समय गायत्री मंत्र का जप तथा दीक्षा ग्रहण करने का द्योतक है। वर्णाश्रम प्रणाली के नियत कर्म स्वतः मनुष्य को अपनी शारीरिक उपाधियों को उपयुक्त धार्मिक कार्यों में लगाकर मिथ्या अहंकार के आवरण से शुद्ध कर देते हैं। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के विशिष्ट कर्मों का वर्णन पहले ही भगवान् इस स्कन्ध में कर चुके हैं। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *मत्स्मृत्या* है। अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से मोह के दूषण से बचा नहीं जा सकता। प्रकृति के गुणों में शाश्वत अन्तःक्रिया होती रहती है, जिससे मनुष्य कभी तमोगुण में जा गिरता है, तो कभी सतोगुण को प्राप्त करता है। इस तरह वह माया-जगत में व्यर्थ ही चक्कर लगाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत द्वारा वह परब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध कर्म करने की अपनी प्रवृत्ति को उखाड़ कर फेंक सकता है। तब वह माया के पाश से मुक्त हो

जाता है और भगवद्धाम को प्राप्त होता है। जैसाकि *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

"कोई चाहे शुद्ध हो, दूषित हो और उसकी बाह्य स्थिति चाहे जैसी हो यदि वह कमलनेत्र भगवान् का स्मरण करता है, तो अपने जीवन को बाहर तथा भीतर से स्वच्छ कर सकता है।"

श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि हम भगवान् के नामों का निरन्तर कीर्तन करें। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। अपने जीवन को शुद्ध बनाने के लिए इच्छुक हर व्यक्ति के लिए यह दिव्य विधि अनिवार्य है।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥ १५॥

शब्दार्थ

मन्त्रस्य—मंत्र (की शुद्धि) का; च—तथा; परिज्ञानम्—सही ज्ञान; कर्म—कर्म की; शुद्धिः—शुद्धि; मत्-अर्पणम्—मुझे अर्पित करना; धर्मः—धार्मिकता; सम्पद्यते—प्राप्त की जाती है; षड्भिः—छः के (स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि) द्वारा; अधर्मः—अधर्म; तु—लेकिन; विपर्ययः—अन्यथा।

मंत्र तब शुद्ध होता है जब उसका सही सही उच्चारण किया जाय तथा कोई कर्म तब शुद्ध बनता है, जब वह मुझे अर्पित किया जाय। इस तरह स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि से मनुष्य धार्मिक बनता है और इन छहों की उपेक्षा करने से, वह अधार्मिक माना जाता है।

तात्पर्य : मंत्र को प्रामाणिक गुरु से ग्रहण किया जाता है, जो शिष्य को मंत्र की विधि, अर्थ और चरम उद्देश्य बतलाता है। इस युग में प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को *महामन्त्र* देता है अर्थात् हरे कृष्ण मंत्र देता है। जो व्यक्ति अपने को भगवान् का दास मानते हुए इस मंत्र का कीर्तन करता है, वह धीरे धीरे निरपराध विधि से कीर्तन करना सीख जाता है और ऐसे शुद्ध कीर्तन से वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। यहाँ पर भगवान् शुद्धि तथा अशुद्धि विषयक अपनी व्याख्या की समाप्ति करते हैं, जो अन्ततः धार्मिक तथा अधार्मिक जीवन के रूप में प्रकट होती हैं।

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ।

गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—**कभी**; गुणः—**पुण्य**; अपि—**भी**; दोषः—**पाप**; स्यात्—**बन जाता है**; दोषः—**पाप**; अपि—**भी**; विधिना—**वैदिक आदेश के बल पर**; गुणः—**पुण्य**; गुण-दोष—**पुण्य तथा पाप में**; अर्थ—**के मामले में**; नियमः—**विधान**; तत्—**उनके**; भिदाम्—**अन्तर**; एव—**वास्तव में**; बाधते—**नष्ट करता है**।

कभी पुण्य पाप बनता है और कभी वैदिक आदेशों के बल पर पाप पुण्य बन जाता है। ऐसे विशिष्ट नियमों से पुण्य और पाप का स्पष्ट अन्तर मिट जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि भौतिक पुण्य तथा पाप सापेक्ष मान्यताएँ हैं। उदाहरणार्थ, यदि पड़ोसी के घर में आग लगी हो और यदि कोई व्यक्ति घर में छेद करके फँसे हुए परिवार को निकाल लाता है, तो उस संकट की स्थिति के कारण वह व्यक्ति पवित्र वीर माना जाता है। किन्तु सामान्य स्थिति में कोई व्यक्ति किसी के घर में छेद करता है, या पड़ोसी की खिड़की तोड़ देता है, तो वह अपराधी माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़ देता है, वह गैर-जिम्मेदार तथा विचारहीन व्यक्ति माना जाता है। किन्तु यदि वही व्यक्ति संन्यास लेता है और अपने उच्च पद पर बना रहता है, तो वह अत्यन्त साधु पुरुष माना जाता है। अतएव पुण्य तथा पाप विशेष परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं और कभी कभी उनमें भेद कर पाना कठिन हो जाता है।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार चौदह वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति अच्छे तथा बुरे में अन्तर करने में समर्थ हो जाते हैं, अतएव वे अपने पवित्र तथा पापपूर्ण कार्यों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। इसके विपरीत, अज्ञान में मग्न पशुओं को न तो उनके अपराधों के लिए दोष दिया जा सकता है न तथाकथित अच्छे गुणों के लिए, जो कि अज्ञानजन्य हैं, प्रशंसित किया जा सकता है। जो मनुष्य यह सोच कर कि जैसा चाहो करो और उसके लिए किसी तरह का दोष स्वीकार न करो, पशुओं जैसा कर्म करते हैं, उन्हें अज्ञान-रत पशुओं के रूप में जन्म लेना पड़ेगा। यही नहीं, कुछ अन्य मूर्ख व्यक्ति भी हैं, जो पुण्य तथा पाप की सापेक्षता को देख कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम अच्छाई कहीं नहीं है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि कृष्णभावनामृत सबसे अच्छा है क्योंकि इसमें उस परब्रह्म भगवान् के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता होती है, जिसकी अच्छाई शाश्वत तथा सर्वोपरि है। जो लोग भौतिक पुण्य तथा पाप का अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें अन्ततः विषय की सापेक्षता तथा परिवर्तनशीलता के कारण निराश होना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत का आध्यात्मिक पद प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वही

विहित तथा सभी परिस्थितियों में पूर्ण है।

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥ १७॥

शब्दार्थ

समान—बराबर; कर्म—कर्म का; आचरणम्—सम्पन्न किया जाना; पतितानाम्—पतितों का; न—नहीं; पातकम्—पतन का कारण; औत्पत्तिकः—स्वभाव द्वारा निर्देशित; गुणः—सद्गुण बन जाता है; सङ्गः—भौतिक सान्निध्य; न—नहीं; शयानः—लेटा हुआ; पतति—गिरता है; अधः—और नीचे।

जिन कर्मों से एक उच्चासीन व्यक्ति नीचे गिरता है, उन्हीं के द्वारा वे व्यक्ति नीचे नहीं गिरते जो पहले से गिरे हुए (पतित) हैं। निस्सन्देह, जमीन पर लेटा रहने वाला व्यक्ति और नीचे कैसे गिर सकता है? वह भौतिक संगति, जो मनुष्य के अपने स्वभाव द्वारा आदिष्ट होती है, सद्गुण मानी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् भौतिक पुण्य तथा पाप का निर्धारण करने में दुविधा का और अधिक वर्णन करते हैं। यद्यपि एक विरक्त संन्यासी के लिए स्त्री-संसर्ग अत्यन्त निन्दनीय है, किन्तु वही संसर्ग एक गृहस्थ के लिए पवित्र है क्योंकि अपनी स्त्री के पास उपयुक्त समय में प्रजनन करने के लिए उसे वैदिक आदेश प्राप्त है। इसी तरह यदि कोई ब्राह्मण सुरापान करता है, तो यह अत्यन्त निन्दनीय कर्म माना जाता है, किन्तु एक शूद्र, जो कि सीमा के अन्दर सुरापान करता है, आत्मसंयमी माना जाता है। अतः भौतिक स्तर पर, पुण्य और पाप आपेक्षिक विचार हैं। किन्तु दीक्षा प्राप्त करने वाले किसी भी व्यक्ति को चार नियमों का कड़ाई से पालन करना होता है। ये हैं—मांस, मछली या अंडे न खाना, अवैध यौन का परित्याग, नशा न करना तथा जुआ न खेलना। यदि कोई दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना करता है, तो वह निश्चय ही मोक्ष के उच्च पद से नीचे गिरेगा।

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥ १८॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जिस जिस से; निवर्तेत—दूर रहता है; विमुच्येत—छूट जाता है; ततः ततः—उस उस से; एषः—यह; धर्मः—धर्म-प्रणाली; नृणाम्—मनुष्यों का; क्षेमः—कल्याण का मार्ग; शोक—दुख; मोह—मोह; भय—तथा भय; अपहः—मिटा देता है।

किसी पापपूर्ण या भौतिकतावादी कर्म से अपने को दूर रख कर, मनुष्य उसके बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसा त्याग मनुष्यों के धार्मिक तथा कल्याणप्रद जीवन की आधारभूमि है और

यह सारे शोक, मोह तथा भय को भगा देता है।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य-लीला ६.२२०) में कहा गया है—

महाप्रभुर भक्तगणेर वैराग्य प्रधान।

याहा देखिऽप्रीत हन गौर-भगवान्॥

"त्याग ही श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्तों का जीवनाधार है। इस त्याग को देख कर श्री चैतन्य महाप्रभु अत्यन्त तुष्ट होते हैं।"

मनुष्य मिथ्या अहंकारवश अपने को ही अपने कर्मों का स्वामी और भोक्ता मानता है। वस्तुत: भगवान् कृष्ण ही हमारे कर्मों के स्वामी तथा भोक्ता हैं। कृष्णभावनामृत में इस तथ्य की अनुभूति होने से असली वैराग्य प्राप्त होता है। हर व्यक्ति को अपना कर्म भगवान् की भेंट के रूप में करना चाहिए। तब भौतिक बन्धन की सम्भावना नहीं रहेगी। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि जब विहित कर्मों को भगवान् की भेंट मान कर किया जाता है, तो भव-बन्धन से छुटकारा मिलता है। पापकर्म भगवान् को अर्पित नहीं किये जा सकते, इसलिए इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। वास्तव में, पाप तथा पुण्य में अन्तर इसीलिए किया जाता है कि जीव पुण्यात्मा बनें और भगवान् की शरण में जाने के पात्र बन सकें। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजते मां दृढ-व्रता:॥

"जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।"

पुण्यकर्म के द्वारा मनुष्य का जीवन कल्याणप्रद तथा शोक, मोह एवं भय से मुक्त हो जाता है और तब वह कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर सकता है।

विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।
सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; गुण-अध्यासात्—उन्हें अच्छा मानने के कारण; पुंसः—मनुष्य की; सङ्गः—आसक्ति; ततः—इस कल्पना से; भवेत्—हो जाता है; सङ्गात्—भौतिक संगति से; तत्र—इस प्रकार; भवेत्—उत्पन्न होता है; कामः—काम; कामात्—काम से; एव—भी; कलिः—कलह; नृणाम्—मनुष्यों में।

जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों को अभीष्ट मान लेता है, वह निश्चित रूप से उनमें आसक्त हो जाता है। ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और यही काम लोगों में कलह उत्पन्न कराता है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन का असली लक्ष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति नहीं होना चाहिए क्योंकि मानव समाज में कलह का आधार यही है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की अनुमति देता है, किन्तु वेदों का चरम उद्देश्य वैराग्य है क्योंकि वैदिक संस्कृति ऐसी किसी वस्तु की संस्तुति नहीं कर सकती जिससे मानव-जीवन में बाधा उत्पन्न हो। कामी पुरुष सहज ही क्रुद्ध हो उठता है और जो भी उसकी कामेच्छाओं में बाधा उत्पन्न करता है, उसका वह शत्रु बन जाता है। चूँकि उसकी यौन-इच्छा कभी तुष्ट नहीं की जा सकती, इसलिए कामी पुरुष अपनी ही संगिनी से असंतुष्ट रहने लगता है और इस तरह 'प्रेम-घृणा' का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कामी पुरुष अपने को ईश्वर की सृष्टि का भोक्ता मानता है, इसीलिए वह गर्व एवं मिथ्या प्रतिष्ठा से युक्त रहता है। ऐसा कामी गर्वीला व्यक्ति कभी भी प्रामाणिक गुरु के चरणों में आत्म-निवेदन करने की ओर आकृष्ट नहीं होता। फलत: अवैध यौन के प्रति आकर्षण कृष्णभावनामृत का जो भगवान् के प्रतिनिधि के समक्ष विनीत आत्मसमर्पण पर आधारित है, प्रत्यक्ष शत्रु है। भगवान् कृष्ण ने भी *भगवद्गीता* में कहा है कि अवैध यौन इस दुनिया का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

चूँकि आधुनिक समाज में पुरुषों तथा स्त्रियों को परस्पर मिलने-जुलने की छूट दी हुई है, इसलिए नागरिकों को संभवत: शान्ति नहीं मिल पा रही प्रत्युत सामाजिक जीवन के लिए संघर्ष मानो नियम बन चुका है। यह उस अज्ञानग्रस्त समाज का लक्षण है, जो भौतिक शरीर को परम कल्याण मानता है जैसाकि *विषयेषु गुणा ध्यासात्* शब्दों द्वारा वर्णन हुआ है। जिसे अपना शरीर प्रिय है, वह निश्चित रूप से विषय-वासना से ग्रस्त रहेगा।

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कलेः—कलह से; दुर्विषहः—असह्य; क्रोधः—क्रोध; तमः—अज्ञान; तम्—उस क्रोध को; अनुवर्तते—पीछा करता है; तमसा—अज्ञान से; ग्रस्यते—पकड़ा जाता है; पुंसः—मनुष्य की; चेतना—चेतना; व्यापिनी—विस्तृत; द्रुतम्—तेजी से।.

कलह से असह्य क्रोध उत्पन्न होता है और उससे अज्ञान का अंधकार उत्पन्न होता है। यह अज्ञान तुरन्त ही मनुष्य की विस्तृत चेतना पर हावी हो जाता है।

तात्पर्य : मनुष्य में भौतिक संग की इच्छा इसलिए जागृत होती है क्योंकि वह इस बात से इनकार करना चाहता है कि हर वस्तु ईश्वर की शक्ति है। वह इन्द्रिय-विषयों को झूठे ही भगवान् से पृथक् मान कर, उनका उपभोग करना चाहता है। ऐसी इच्छा से मानव-समाज में संघर्ष तथा कलह उत्पन्न होता है। इस संघर्ष से महान् क्रोध उत्पन्न होता है, जो मनुष्यों को मूर्ख तथा ध्वंसात्मक बना देता है। इस तरह वह मानव-जीवन का लक्ष्य भूल जाता है।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तया—उस बुद्धि से; विरहितः—रहित, विहीन; साधो—हे साधु उद्धव; जन्तुः—प्राणी; शून्याय—शून्य; कल्पते—बन जाता है; ततः—फलस्वरूप; अस्य—उसका; स्व-अर्थ—जीवन-लक्ष्य से; विभ्रंशः—पतन; मूर्च्छितस्य—जड़वत् उस व्यक्ति का; मृतस्य—मृत; च—तथा।.

हे साधु उद्धव, असली बुद्धि से विहीन व्यक्ति को हर वस्तु से रहित माना जाता है। वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से हट कर उसी तरह मन्द (जड़) पड़ जाता है, जिस तरह कि मृत मनुष्य।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत इतना आवश्यक है कि जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के इस प्रगतिशील मार्ग से विपथ हो जाता है, वह एक तरह से अचेतन या मृत मनुष्य जैसा माना जाता है। चूँकि हर जीव कृष्ण का भिन्नांश है अतएव जो अपनी पहचान बाह्य शरीर से करता है, वह वास्तव में अपनी स्थिति के प्रति अचेत रहता है। इसीलिए कहा गया है *शून्याय कल्पते*—जिसका कोई अस्तित्व नहीं है उसका पीछा करने से वह जीवन के लाभ से अथवा किसी प्रगति से वंचित रहता है। जिसकी चेतना शून्य में लीन रहती हो वह एक तरह से शून्य बन जाता है। इस प्रकार नित्य जीव पतित होकर भवसागर में डूब जाता है और एकमात्र भगवद्भक्तों की विशेष कृपा से, उसका उद्धार हो सकता है। इसीलिए भगवद्भक्तिजन पतित लोगों को हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने का उपदेश देते हैं। इस विधि से

हमारी असली चेतना तथा जीवन तुरन्त ही पुनरुज्जीवित हो सकते हैं।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।
वृक्ष जीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥ २२॥

शब्दार्थ

विषय—इन्द्रियतृप्ति में; अभिनिवेशेन—अति लिप्त होने से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने को; वेद—जानता है; न—न तो; अपरम्—दूसरे को; वृक्ष—पेड़ की; जीवकया—जीवन-शैली द्वारा; जीवन्—जीते हुए; व्यर्थम्—व्यर्थ; भस्त्रा इव—धौंकनी के समान; यः—जो; श्वसन्—साँस लेता है।

इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने के कारण मनुष्य अपने आपको या दूसरों को पहचान नहीं पाता। वह वृक्ष की भाँति अज्ञान में व्यर्थ ही जीवित रह कर, धौंकनी की तरह श्वास मात्र लेता रहता है।

तात्पर्य : जिस तरह रक्षा का कोई साधन न होने से वृक्ष सदैव काटे जाते हैं, उसी तरह बद्धजीव प्रकृति के क्रूर नियमों द्वारा निरन्तर काटे जाते हैं जिससे असंख्य कष्ट मिलते हैं और अन्त में आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। यद्यपि मूर्ख लोग सोचते हैं कि वे अपनी तथा अन्यों की सहायता कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे न तो अपनी पहचान जानते हैं न तथाकथित अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की। वे बाह्य शरीर की इन्द्रियों की तृप्ति में लगे रहते हैं और व्यर्थ ही किसी आध्यात्मिक लाभ के बिना जीवन बिता देते हैं। इस तरह की व्यर्थ जीवन-शैली को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा संस्तुत भगवान् के नाम-कीर्तन की विधि से पूर्ण बनाया जा सकता है।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

फल-श्रुतिः—पुरस्कार का वचन देने वाले शास्त्र-कथन; इयम्—ये; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; न—नहीं हैं; श्रेयः—सर्वोच्च कल्याण; रोचनम्—प्रलोभन; परम्—मात्र; श्रेयः—चरम कल्याण; विवक्षया—कहने के विचारसे; प्रोक्तम्—कहा हुआ; यथा—जिस तरह; भैषज्य—औषधि लेने के लिए; रोचनम्—प्रलोभन, फुसलावा।

फल प्रदान करने का वादा करने वाले श्रुति के वचन मनुष्यों को परम कल्याण दिये जाने की संस्तुति नहीं करते अपितु वे लाभप्रद धार्मिक कर्म करने के लिए प्रलोभन मात्र हैं, जिस तरह कि बच्चे को लाभप्रद औषधि पीने के लिए फुसलाने हेतु मिश्री देने का वादा किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने वाले लोग मानव-जीवन के असली लक्ष्य से हट जाते हैं। किन्तु चूँकि वेद स्वयं ही यज्ञ तथा तपस्या के

फलस्वरूप स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति का वचन देते हैं, तो फिर स्वर्ग जाने को जीवन-लक्ष्य से हटना कैसे कहा जा सकता है? यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्रों द्वारा प्रदत्त कर्मफल कोरे प्रलोभन होते हैं जिस तरह बच्चे को दवा पिलाने के लिए मिश्री का प्रलोभन दिया जाता है। उपयोगी तो औषधि है न कि मिश्री। उसी तरह सकाम यज्ञों में विष्णु-पूजा ही लाभप्रद है, उसका फल नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग शास्त्रों के चरम लक्ष्य को सकाम फल बतलाते हैं, वे लोग भगवान् की इच्छा के विरोधी और मूर्ख हैं। भगवान् चाहते हैं कि सारे बद्धजीव शुद्ध बनें और भगवद्धाम आयें जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन-लाभ हो सके। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर भगवान् की इच्छा का विरोध करता है, वह जीवन-लक्ष्य के विषय में निश्चित रूप से मोहग्रस्त है।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥ २४॥

शब्दार्थ

उत्पत्त्या एव—मात्र जन्म से; **हि**—निस्सन्देह; **कामेषु**—स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की वस्तुओं में; **प्राणेषु**—(आयु, इन्द्रिय-कर्म, शक्ति तथा संभोग-शक्ति) जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में; **स्व-जनेषु**—अपने परिवार के सदस्यों में; **च**—तथा; **आसक्त-मनसः**—मन के भीतर आसक्त होकर; **मर्त्याः**—मर्त्य मनुष्य लोग; **आत्मनः**—अपनी ही आत्मा के; **अनर्थ**—उद्देश्य को नष्ट करने वाले; **हेतुषु**—कारणों में।

संसार में जन्म लेने से ही सारे मनुष्य अपने मन में इन्द्रियतृप्ति, दीर्घायु, इन्द्रिय-कर्म, बल, संभोग-शक्ति तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति आसक्त हो जाते हैं। इस तरह उनके मन ऐसी बात में लीन रहते हैं जिनसे उनके वास्तविक स्वार्थ को धक्का लगता है।

तात्पर्य : अपने भौतिक शरीर तथा परिवार एवं मित्रों के शरीरों के प्रति हमारी आसक्ति से असह्य कष्ट होता है तथा चिन्ता उत्पन्न होती हैं। देहात्म बुद्धि में लीन मन आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर पाता, फलतः आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन की आशा उसके तथाकथित स्नेह की वस्तुओं के कारण नष्ट हो जाती है। अज्ञान में किये गये कर्म न तो अपने लिए न ही अन्यों के लिए लाभदायक होते हैं जिस तरह स्वप्न में दिये गये दान से किसी को वास्तविक लाभ नहीं पहुँचता। बद्धजीव ईश्वर से पृथक् संसार का स्वप्न देखता रहता है किन्तु इस स्वप्न में अनुभव की गई कोई भी प्रगति मात्र छलावा होगी। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*सर्वलोक महेश्वरम्।* वे ही परम भोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकों के स्वामी हैं। एकमात्र कृष्णभावनामृत द्वारा अर्थात् ईश्वर की सर्वोच्चता स्वीकार करके ही, जीवन में

असली उन्नति की जा सकती है।

नतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥ २५॥

शब्दार्थ

नतान्—विनीत; अविदुषः—अज्ञानी; स्व-अर्थम्—अपने हित के; भ्राम्यतः—घूमते हुए; वृजिन—संकट के; अध्वनि—मार्ग पर; कथम्—किस कार्य के लिए; युञ्ज्यात्—लगा सकेंगे; पुनः—आगे भी; तेषु—उनमें (इन्द्रियतृप्ति के गुण में); तान्—उनको; तमः—अंधकार; विशतः—घुसते हुए; बुधः—बुद्धिमान (बौद्धिक सत्ता)।

अपने स्वार्थ से अनजान लोग भौतिक संसार के मार्ग में विचरण कर रहे हैं और धीरे धीरे अंधकार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। भला वेद उन्हें और अधिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति क्यों प्रोत्साहित करने लगे यदि वे मूर्खजन विनीत भाव से वैदिक आदेशों पर ध्यान दें।

तात्पर्य : भौतिकतावादी लोग समाज, मैत्री तथा प्रेम को, जो कि यौन-लिप्तता पर आधारित हैं, त्याग कर वैराग्य तथा आत्म-साक्षात्कार का जीवन बिताने को तैयार नहीं हैं। ऐसे मूर्ख लोगों को वैदिक आदेशों की छत्रछाया में लाने के लिए ही वेद उन लोगों को जो वैदिक आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं असंख्य फलों का वादा करते हैं, जिनमें स्वर्ग-प्राप्ति तक सम्मिलित हैं। किन्तु जैसाकि भगवान् बतला चुके हैं ऐसे फल उस बालक को मिश्री देने के तुल्य हैं, जो बाद में श्रद्धापूर्वक दवा पी लेता है। निस्सन्देह भौतिक भोग ही दुख की जड़ है क्योंकि भोग्य वस्तुएँ तथाकथित भोक्ता के साथ साथ विनष्ट होने वाली हैं। भौतिक जीवन नितान्त वेदनापूर्ण तथा चिन्ता, हताशा एवं शोक से व्याप्त है। हम स्त्री का नग्न शरीर, सुन्दर आवास, अच्छा स्वादिष्ट भोजन या अपनी प्रतिष्ठा का विस्तार जैसी तथाकथित भोग्य वस्तुओं को देख कर, चलायमान हो उठते हैं, किन्तु ऐसा कल्पित सुख मात्र तुष्टि की प्रबल आशा है, जो कभी प्राप्त नहीं होती। मनुष्य निरन्तर इस संसार में उद्विग्न रहता है और वह जितना ही भोग करने का प्रयास करता है उतना ही हताश होता जाता है। इसलिए वैदिक ज्ञान, जो कि आध्यात्मिक स्तर पर परम शान्ति तथा सुख को अपना लक्ष्य बनाता है, भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुमति नहीं दे सकता। भौतिक फल तो बद्धजीवों को भगवान् विष्णु में समर्पण रूपी ओषधि प्रदान करने के लिए विविध यज्ञों के माध्यम से प्रलोभन के रूप में दिये जाते हैं। जो *वेदवादरत* हैं उनका कहना है कि शास्त्र बद्धजीवों के अज्ञान में इन्द्रियतृप्ति सुलभ बनाने के निमित्त हैं। किन्तु धर्म का असली लक्ष्य आध्यात्मिक मोक्ष है, जिसमें इन्द्रियतृप्ति समाप्त हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के तेज

के समक्ष शारीरिक आसक्ति का अंधकार टिक नहीं पाता। आध्यात्मिक आनन्द के सागर में इस जगत का चिन्तापूर्ण बाह्य आनन्द लुप्त हो जाता है। *वेद* का सही अर्थ है भगवान् के आज्ञाकारी दास के रूप में आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए भगवान् की शरण में जाना।

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; व्यवसितम्—वास्तविक निष्कर्ष; केचित्—कुछ लोग; अविज्ञाय—न जानते हुए; कु-बुद्धयः—विकृत बुद्धि वाले; फल-श्रुतिम्—भौतिक फल का वादा करने वाले शास्त्रों के कथन; कुसुमिताम्—फूलों जैसे, अलंकारिक; न—नहीं; वेद-ज्ञाः—वेदों के ज्ञाता; वदन्ति—कहते हैं; हि—निस्सन्देह।

विकृत बुद्धि वाले लोग वैदिक ज्ञान के इस वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पाते, प्रत्युत वे फलों का वादा करने वाले वेदों के अलंकारमय कथनों को परम वैदिक सत्य कह कर प्रचार करते हैं। किन्तु जो वेदों के वास्तविक ज्ञाता हैं, वे कभी भी इस तरह नहीं बोलते।

तात्पर्य : कर्ममीमांसा दर्शन मानने वाले यह घोषित करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड के परे कोई भगवद्धाम नहीं है; अतः मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक स्वर्ग में बने रहने के लिए वैदिक अनुष्ठानों को नियमित रूप से सम्पन्न करे। जैसाकि पिछले अध्याय में भगवान् श्री उद्धव से बतला चुके हैं, भौतिक जगत में मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं है क्योंकि वह निरन्तर स्वर्ग तथा नरक के बीच चक्कर लगाता रहेगा और इस तरह सदैव भौतिक वातावरण में उद्विग्न रहेगा। भले ही वैद्य बच्चे को मिश्री लेपित दवा दे, किन्तु जो व्यक्ति बालक को मिश्री खाने परन्तु दवा फेंकने के लिए प्रेरित करता है, वह बहुत बड़ा मूर्ख है। इसी तरह वेदों के वे अलंकारिक वचन जिनमें स्वर्गिक सुख का वर्णन मिलता है वैदिक ज्ञान के असली फल को देने वाले नहीं होते, अपितु इन्द्रियतृप्ति के सजावटी फूल ही देते हैं। वेदों में (ऋग्वेद १.२२.२०) कहा गया है *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।* स्वर्ग में निरन्तर वास करने वाले देवता तक भगवद्धाम के लिए लालायित रहते हैं। जो मूर्खजन स्वर्ग में रहने के स्तर की प्रशंसा करते हैं, उन्हें ध्यान देना चाहिए कि देवता स्वयं भी भगवान् के भक्त हैं। मनुष्य को तथाकथित वैदिक ज्ञान का थोथा प्रचारक न बन कर कृष्णभावनामृत स्वीकार करके जीवन-प्रगति की समस्या का वास्तविक हल ढूँढना चाहिए।

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥ २७॥

शब्दार्थ

कामिनः—कामी पुरुष; कृपणाः—कंजूस; लुब्धाः—लालची; पुष्पेषु—फूल; फल-बुद्धयः—परम फल सोच कर; अग्नि—आग; मुग्धाः—मोहित; धूम-तान्ताः—धुएँ से दम घुटना; स्वम्—अपनी; लोकम्—पहचान; न विदन्ति—पहचानते हैं; ते—वे।.

काम, क्रोध तथा लोभ से पूरित मनुष्यगण मात्र फूलों को ही जीवन का वास्तविक फल मान बैठते हैं। अग्नि की चमक से मोहग्रस्त होकर तथा इसके धुएँ से घुट कर, वे अपनी असली पहचान नहीं जान पाते।

तात्पर्य : जो लोग स्त्री-संगति में आसक्त रहते हैं, वे अपने तथा अपनी प्रिया की इन्द्रियतृप्ति के लिए हर वस्तु की कामना करते हैं और इस तरह वे चिन्ता तथा ईर्ष्या से पूर्ण लोभी पृथकतावादी बन जाते हैं। ऐसे अभागे लोग वेदों के पुष्पित कथनों को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मानते हैं। *अग्नि-मुग्धाः* शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भौतिक लाभ प्रदान करने वाले *अग्नि* यज्ञों को सर्वोच्च धार्मिक सत्य मानते हैं और इस तरह अज्ञान में लिप्त होते हैं। अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है, जिससे दृष्टि धूमिल होती है। इसी तरह सकाम यज्ञों का मार्ग धुंधला तथा अस्पष्ट है। उन्हें आत्मा की स्पष्ट जानकारी नहीं होती। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि सकाम धर्मज्ञ न तो अपनी असली आध्यात्मिक पहचान को जान पाते हैं, न ही भगवद्धाम में आत्मा की असली शरण का अनुभव करते हैं।

भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारा वैदिक ज्ञान मनुष्य को शुद्ध भगवत्प्रेम तक ले जाने के निमित्त है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से परब्रह्म हैं और उनसे प्रेम करना ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। वैदिक ज्ञान बद्धजीव को शुद्ध कृष्णभावनामृत की इस सिद्धि तक ले जाने का धैर्यपूर्ण प्रयास करता है।

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥ २८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; माम्—मुझको; अङ्ग—हे उद्धव; जानन्ति—जानते हैं; हृदि-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; यः—जो; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; यतः—जहाँ से आता है; उक्थ-शस्त्राः—जो वैदिक अनुष्ठानों को प्रशंसनीय मानते हैं, या जिनके लिए उनके अनुष्ठान कृत्य उन हथियारों के तुल्य हैं, जो यज्ञ-पशुओं को मारता है; हि—निस्सन्देह; असु-तृपः—मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखने वाले; यथा—जिस तरह; नीहार—कुहरा में; चक्षुषः—आँखों वाले।.

हे उद्धव, वैदिक अनुष्ठानों का आदर करने से प्राप्त इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोग, यह

नहीं समझ सकते कि मैं हर एक के हृदय में स्थित हूँ और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मुझसे अभिन्न नहीं है और मुझी से उद्भूत है। निस्सन्देह, वे उन व्यक्तियों के समान हैं जिनकी आँखें कुहरे से ढकी रहती हैं।

तात्पर्य : *उक्थ-शस्त्राः* शब्द कतिपय वैदिक स्तुतियों के उच्चारण का द्योतक है जिनसे इस जगत में तथा अगले लोक में सकाम फल प्राप्त किये जाते हैं। *शस्त्र* शब्द हथियार का सूचक है। इस तरह उक्थ-शस्त्र का अर्थ वह हथियार है, जो यज्ञ में यज्ञ-पशु को मारने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शारीरिक तृप्ति के लिए वैदिक ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति भौतिकतावादी धार्मिक नियमों के हथियार से अपनी हत्या कर रहे हैं। उनकी उपमा घने कुहरे के भीतर देखने का प्रयास करने वाले मनुष्यों से दी जाती है। मिथ्या देहात्म बुद्धि, जो मनुष्य-शरीर के भीतर की आत्मा की उपेक्षा कराती है, अज्ञान के गहन कुहरे की भाँति है, जो हमारी ईश-दृष्टि को रोकती है। इसलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में अपना उपदेश देहात्म बुद्धि के गहन अंधकार को दूर करने से शुरू करते हैं। धर्म का अर्थ है ईश्वर का नियम। ईश्वर का अन्तिम आदेश या नियम यह है कि हर बद्धजीव उनकी शरण में आये, उनकी सेवा करना और प्रेम करना सीखे और इस तरह भगवद्धाम वापस जाये। कृष्णभावनामृत की विधि यही है।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥ २९॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्खलाः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

ते—वे; मे—मेरा; मतम्—निष्कर्ष, निर्णय; अविज्ञाय—बिना समझे; परोक्षम्—गुह्य; विषय-आत्मकाः—इन्द्रियतृप्ति में लीन; हिंसायाम्—हिंसा के प्रति; यदि—यदि; रागः—अनुरक्ति; स्यात्—हो; यज्ञे—यज्ञ विषयक संस्तुतियों में; एव—निश्चय ही; न—नहीं; चोदना—प्रोत्साहन; हिंसा-विहाराः—हिंसा में रुचि लेने वाले; हि—निस्सन्देह; आलब्धैः—वध किये गये; पशुभिः—पशुओं के द्वारा; स्व-सुख—अपने सुख के लिए; इच्छया—इच्छा से; यजन्ते—पूजा करते हैं; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—याज्ञिक अनुष्ठानों से; पितृ—पितर, पूर्वज; भूत-पतीन्—तथा भूत-प्रेतों के प्रधान; खलाः—क्रूर पुरुष।

जो लोग इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत हैं, वे मेरे द्वारा बतलाये गये वैदिक ज्ञान के गुह्य मत को नहीं समझ सकते। वे हिंसा में आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी ही इन्द्रियतृप्ति के लिए यज्ञ में निरपराध पशुओं का निष्ठुरता से वध करते हैं और इस तरह वे देवताओं, पितरों तथा भूत-प्रेतों

के नायकों की पूजा करते हैं। किन्तु वैदिक यज्ञ-विधि में हिंसा की ऐसी उत्कट इच्छा को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्र उन क्रूर, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की तुष्टि के लिए जो मांस तथा रक्त का स्वाद लिए बिना नहीं रह सकते, यदा-कदा पशु-यज्ञ की संस्तुति करते हैं। किन्तु ऐसी छूटों पर कठोर अनुष्ठानों द्वारा अंकुश लगा हुआ है, जिससे धीरे धीरे पशु-वध को कम किया जा सके, वैसे ही जिस तरह शराब लाइसेंस का अत्यधिक शुल्क फुटकर शराब बेचने वालों की संख्या को नियंत्रित करता है। किन्तु अविवेकी लोग ऐसी प्रतिबन्धित छूटों का दूसरा अर्थ लगाकर घोषित करते रहते हैं कि वैदिक यज्ञ इन्द्रियतृप्ति हेतु पशु-वध करने के निमित्त हैं। भौतिकतावादी होने के कारण, वे पितृ-लोक या देव-लोक जाने के इच्छुक रहते हैं, अतएव ऐसे प्राणियों को पूजते हैं। कभी कभी वे भूत-प्रेतों की सूक्ष्म जीवन-शैली से आकृष्ट होकर उनकी पूजा करते हैं। ये विधियाँ भगवान् के प्रति उनकी निपट अज्ञानता की सूचक हैं क्योंकि भगवान् ही समस्त यज्ञों तथा तपों के वास्तविक भोक्ता हैं। असुरगण वैदिक यज्ञ तो करते हैं किन्तु वे नारायण से द्वेष रखते हैं क्योंकि वे देवताओं, पितरों या शिवजी को ईश्वर के तुल्य मानते हैं। वे वैदिक अनुष्ठानों की प्रामाणिकता को जानते हुए भी, वैदिक मत को नहीं मानते, इसलिए वे ईश्वर की शरण कभी नहीं ग्रहण करते। इस तरह पशु-वधिकों के आसुरी समाज में मिथ्या धर्म पलता है। यद्यपि अमरीका जैसे देशों के लोग बाहर से एकमात्र ईश्वर को मानने का दावा करते हैं, किन्तु अनेक मनोरंजनकर्ताओं, राजनीतिज्ञों, खिलाड़ियों तथा ऐसे ही तुच्छ लोगों की, जो लोकप्रिय वीर हैं, पूजा की जाती है तथा यशोगान किया जाता है। निपट भौतिकतावादी होने के कारण पशु-वधिक भौतिक माया के असाधारण स्वरूप से आकृष्ट होते हैं। वे कृष्णभावनामृत के असली पद या आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझ पाते।

स्वप्नोपममम‍ुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान्यथा वणिक् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्न—स्वप्न; उपमम्—समान; अमुम्—वह; लोकम्—(मृत्यु के पश्चात्) संसार; असन्तम्—असत्य; श्रवण-प्रियम्—सुनने में मोहक; आशिषः—जीवन में सांसारिक उपलब्धियाँ; हृदि—हृदय में; सङ्कल्प्य—कल्पना करके; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; अर्थान्—उनकी सम्पत्ति; यथा—सदृश; वणिक्—व्यापारीजन।

जिस तरह कोई मूर्ख व्यापारी व्यर्थ की व्यापारिक कल्पना में अपनी असली सम्पत्ति गँवा

देता है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीवन की वास्तविक मूल्यवान वस्तुओं को त्याग कर स्वर्ग जाने के पीछे पड़े रहते हैं, जो सुनने में मोहक तो है किन्तु स्वप्न सदृश असत्य है। ऐसे मोहग्रस्त लोग अपने हृदयों में यह कल्पना करते हैं कि वे सारे भौतिक वर प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सारे संसार के लोग इसी जीवन में या अगले जीवन में पूर्ण इन्द्रियतृप्ति पाने के लिए भरसक कार्य करते हैं। नित्य जीव के रूप में हम कृष्ण के भिन्नांश हैं अतएव भगवान् के सान्निध्य में हम समस्त आनन्द तथा ज्ञान से सहज ही युक्त होते हैं। किन्तु हम आध्यात्मिक आनन्द तथा ज्ञान के इस उच्च पद को त्याग कर शारीरिक सुख रूपी मृगतृष्णा के पीछे दौने में अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं जिस तरह मूर्ख व्यापारी काल्पनिक व्यापार में, जिससे कोई असली लाभ नहीं मिलता, अपनी असली पूँजी को गँवा देता है।

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान्देवादीन्न यथैव माम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—अथवा तमोगुण में; निष्ठाः—स्थित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्य; तमः—या अविद्या; जुषः—जो प्रकट करते हैं; उपासते—पूजा करते हैं; इन्द्र-मुख्यान्—इन्द्र इत्यादि; देव-आदीन्—देवताओं इत्यादि को; न—नहीं; यथा एव—सही ढंग से; माम्—मुझको।

रजो, सतो तथा तमोगुण में स्थित लोग इन्द्र इत्यादि विशेष देवताओं तथा अन्य अर्चाविग्रहों की पूजा करते हैं, जो उन्हीं रजो, सतो या तमोगुण को प्रकट करते हैं, किन्तु वे मेरी समुचित पूजा करने में असफल रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि देवता भगवान् के भिन्नांश हैं, किन्तु देव-पूजा से यह झूठा विचार पलता है कि देवतागण भगवान् से पृथक् सत्ता रखते हैं। ऐसी पूजा *अविधि-पूर्वकम्* है—अर्थात् परब्रह्म तक पहुँचने का अनुचित साधन है। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है कि तमोगुणी लोगों में भी कभी कभी रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। सतोगुणी प्रवृत्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष नरक तो जा सकते हैं, किन्तु उन्हें स्वर्ग का भी थोड़ा सुख भोगने दिया जाता है। इस तरह यह देखा जाता है कि दयनीय आर्थिक या राजनीतिक दशा को भोगने वाला व्यक्ति अपनी नारकीय स्थिति के बावजूद, सुन्दर पत्नी की संगति प्राप्त करता है। रजोगुण से कुछ कुछ मिश्रित तमोगुणी व्यक्ति सीधे नरक जाते हैं और जो निपट तमोगुणी हैं, वे नरक के गहन अंधकार को प्राप्त करते हैं। जो लोग भगवद्भक्ति से वंचित रहते

हैं, वे इन श्रेणियों में से तमोगुण श्रेणी में आते हैं। कभी कभी सतोगुणी लोग भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु यह विश्वास करके कि वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा वे देवताओं जैसा स्तर प्राप्त कर सकेंगे, देवताओं के प्रति अधिक आकृष्ट होते हैं। यह घमंडी मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अवरोधक और अन्ततः पतन का कारण बनती है।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥ ३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चातिलुब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—यज्ञ करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—हमारे यज्ञों से; गत्वा—जाकर; रंस्यामहे—हम भोग करेंगे; दिवि—स्वर्ग में; तस्य—उस भोग का; अन्ते—अन्त में; इह—इस पृथ्वी पर; भूयास्मः—हम हो जायेंगे; महा-शालाः—महान् गृहस्थ; महा-कुलाः—राजसी परिवार के लोग; एवम्—इस प्रकार; पुष्पितया—फूलों जैसे; वाचा—शब्दों से; व्याक्षिप्त-मनसाम्—मोहग्रस्त मनों वाले; नृणाम्—लोग; मानिनाम्—अत्यन्त घमंडी; च—तथा; अति-लुब्धानाम्—अत्यन्त लोभी; मद्-वार्ता—मुझसे सम्बन्धित कथाएँ; अपि—भी; न रोचते—आकर्षण नहीं होता।

देवताओं के उपासक सोचते हैं, ''हम इस जीवन में देवताओं की पूजा करेंगे और अपने यज्ञों के बल पर हम स्वर्ग जाकर वहाँ भोग करेंगे। भोग समाप्त होने पर हम इस जगत में लौट आयेंगे और राज-परिवारों में वैभवशाली गृहस्थों के रूप में जन्म लेंगे।'' ऐसे लोग अत्यधिक घमंडी तथा लालची होने से, वेदों के अलंकारयुक्त शब्दों से मोहित हो जाते हैं। वे मुझ भगवान् की कथाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते।

तात्पर्य : असली आनन्द तो भगवान् के दिव्य स्वरूप में पाया जाता है, जो कि साक्षात् कामदेव हैं और वैकुण्ठ में प्रेममयी लीलाओं में लगे रहते हैं। मूर्ख देवोपासक भगवान् की लीलाओं के दिव्य आनन्द की उपेक्षा करके ईश्वर जैसा बनने का स्वप्न देखते हैं, किन्तु उन्हें इसके ठीकविपरीत फल मिलता है। दूसरे शब्दों में, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वेदाः—वेद; ब्रह्म-आत्म—स्वयं को शुद्ध आत्मा समझते हुए; विषयाः—विषयों वाले; त्रि-काण्ड-विषयाः—तीन विभाग वाले (कर्म, देवपूजा तथा परब्रह्म का साक्षात्कार); इमे—ये; परोक्ष-वादाः—गोपनीय ढंग से बोलने वाले; ऋषयः—वैदिक विद्वान; परोक्षम्—अप्रत्यक्ष विवेचना; मम—मेरा; च—भी; प्रियम्—प्रिय।

तीन काण्ड वाले वेद अंततः यह बतलाते हैं कि जीव ही शुद्ध आत्मा है। किन्तु वैदिक ऋषि-मुनि तथा मंत्र गुप्त रूप से बतलाते हैं और मैं भी ऐसे गुह्य वर्णनों से प्रसन्न होता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने इस विचार का स्पष्ट खण्डन किया है कि वैदिक ज्ञान भौतिक भोग के लिए है और अब वे वैदिक वाङ्मय के असली उद्देश्य—आत्म-साक्षात्कार—का सार प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बद्धजीव भौतिक शक्ति के पाश में संघर्ष कर रहे हैं, किन्तु उनका वास्तविक पद भगवद्धाम में दिव्य स्वतंत्रता है। वेद बद्धजीव को मोह के अंधकार से क्रमशः ऊपर उठाकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थापित करते हैं। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (४.४.२३) में कहा गया है—*अनावृत्तिः शब्दात्*—वैदिक ज्ञान को सुनने वाले को जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं लौटना पड़ता।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि स्वयं भगवान्, उनके प्रतिनिधि, वैदिक द्रष्टा तथा मंत्र गोपनीय शब्दों में क्यों बोलते हैं? जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—भगवान् अपने को रास्ते में लिए जाने की आज्ञा नहीं देते और इस तरह वे बनावटी या शत्रुतापूर्ण लोगों के लिए प्रकट नहीं होते। भौतिक वातावरण से दूषित लोगों को वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा जो सकाम फल प्रदान करते हैं, शुद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे को मिश्री का लोभ देकर, औषधि लेने के लिए प्रेरणा दी जाती है। वैदिक वाङ्मय की गोपनीय स्थिति के कारण, मन्द बुद्धि वाले लोग वेदों के परम दिव्य उद्देश्य को नहीं समझ सकते, अतः परिणामस्वरूप वे इन्द्रियतृप्ति के स्तर पर गिर जाते हैं।

ब्रह्मात्म शब्द अन्ततः भगवान् का सूचक है जिन्होंने *भगवद्गीता* में कहा है कि मेरा ज्ञान *राजगुह्यम्* अर्थात् गुह्यों में परम गुह्य है। जो कोई भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति पर आश्रित रहता है, वह परब्रह्म के विषय में निपट अविद्या में रहता है। जो व्यक्ति मानसिक तथा बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित रहता है, उसे यह संकेत मिल सकता है कि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक शरीर के भीतर स्थित रहते हैं। किन्तु जो भगवान् पर ही आश्रित रह कर *भगवद्गीता* में दिये गये उनके सन्देश को सुनता है, वह पूरी स्थिति को समझता है और वैदिक ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य पूरा करके भगवद्धाम जाता है।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म—वेदों की दिव्य ध्वनि; सु-दुर्बोधम्—समझ पाने में अत्यन्त कठिन; प्राण—प्राण-वायु; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—तथा मन; मयम्—विभिन्न स्तरों पर प्राकट्य; अनन्त-पारम्—अन्तहीन; गम्भीरम्—गहरा; दुर्विगाह्यम्—थाह पाना कठिन, अथाह; समुद्र-वत्—समुद्र के समान।

वेदों की दिव्य ध्वनि को समझ पाना अत्यन्त कठिन है और वह प्राण, इन्द्रियों तथा मन के भीतर विभिन्न स्तरों में प्रकट होती है। यह वैदिक ध्वनि समुद्र के समान असीम, अगाध तथा अथाह है।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान के अनुसार वैदिक ध्वनि चार अवस्थाओं में विभक्त है, जिसे सबसे बुद्धिमान ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। इसका कारण यह है कि इसके तीन विभाग जीव के भीतर स्थित होते हैं, केवल चौथा विभाग ही वाणी के रूप में बाह्यत: प्रकट होता है। यहाँ तक कि वैदिक ध्वनि की यह चौथी अवस्था, जो कि *वैरवरी* कहलाती है, सामान्य मनुष्य की समझ में नहीं आती। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि ये विभाग निम्नवत हैं। वैदिक ध्वनि की *प्राण* अवस्था *परा* कहलाती है और वह *आधार चक्र* में स्थित है; मानसिक अवस्था *पश्यन्ती* कहलाती है और नाभि-प्रदेश में मणिपूरक चक्र में स्थित है; बौद्धिक अवस्था, जो *मध्यमा* कहलाती है हृदय प्रदेश में *अनाहत* चक्र में स्थित है। अन्त में, वैदिक ध्वनि की व्यक्त ऐन्द्रिय अवस्था *वैरवरी* कहलाती है।

ऐसी वैदिक ध्वनि *अनन्त-पार* है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड के भीतर तथा उसके परे की सारी प्राण-शक्तियों को जान लेती है और इस तरह देश या काल से विभाजित नहीं होती। वस्तुत:, वैदिक ध्वनि इतनी सूक्ष्म, अथाह तथा अगाध है कि स्वयं भगवान् तथा उनके शक्तिप्रदत्त अनुयायी यथा व्यास तथा नारद ही उसके वास्तविक स्वरूप तथा अर्थ को समझ सकते हैं। सामान्य जनों के वश की बात नहीं कि वै वैदिक ध्वनि की गूढ़ता तथा सूक्ष्मता को जान सकें, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है, वह तुरन्त ही समस्त वैदिक ज्ञान के निष्कर्ष अर्थात् वैदिक ज्ञान के मूल स्रोत, भगवान् कृष्ण, को जान लेता है। मूर्खजन अपने प्राण, इन्द्रियाँ तथा मन को इन्द्रियतृप्ति में लगाते हैं; फलत: वे भगवन्नाम की महत्ता को नहीं समझ पाते। अन्ततोगत्वा वैदिक ध्वनि का सार भगवन्नाम ही है, जो स्वयं भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि भगवान् असीम हैं, इसलिए उनका नाम भी समान रूप से

असीम है। भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा के बिना भगवान् की दिव्य महिमा को कोई नहीं समझ सकता। निरपराध होकर, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करने से मनुष्य वैदिक ध्वनि के रहस्यों तक प्रवेश पा जाता है। अन्यथा वेदों का ज्ञान *दुर्विगाह्यम्* अर्थात् अथाह बना रहेगा।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; उपबृंहितम्—स्थापित; भूम्ना—असीम; ब्रह्मणा—परिवर्तनरहित ब्रह्म द्वारा; अनन्त-शक्तिना—अनन्त शक्ति वाले; भूतेषु—जीवों में; घोष-रूपेण—सूक्ष्म ध्वनि के रूप में, ऊंकार; बिसेषु—सूक्ष्म कमलनाल में; ऊर्णा—एक तन्तु; इव—सदृश; लक्ष्यते—प्रकट होता है।

मैं सारे जीवों के भीतर असीम, अपरिवर्तनीय तथा सर्वशक्तिमान भगवान् के रूप में निवास करते हुए, सारे जीवों के भीतर ऊंकार के रूप में वैदिक ध्वनि स्थापित करता हूँ। वह उसी तरह सूक्ष्म अनुभव की जाती है, जिस तरह कि कमलनाल का एक तन्तु।

तात्पर्य : भगवान् स्वयं प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर निवास करते हैं और इस श्लोक से हम यह जान सकते हैं कि समस्त वैदिक ज्ञान का बीज भी सारे जीवों के भीतर स्थित है। इस तरह से वैदिक ज्ञान का उद्बोधन तथा उसे ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का जागृत होना हर एक के लिए स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। सारी सिद्धि जीव के हृदय के भीतर पाई जाती है। जैसे ही भगवन्नाम का कीर्तन करने से हृदय शुद्ध हो जाता है वैसे ही सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत का तुरन्त उदय होता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ ३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओंकाराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥ ३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥ ४०॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ा; हृदयात्—अपने हृदय से; ऊर्णाम्—अपने जाले को; उद्वमते—निकालता है; मुखात्—अपने मुँह से होकर; आकाशात्—आकाश से; घोष-वान्—ध्वनि प्रकट करते हुए; प्राणः—मूल प्राण-वायु के रूप में

भगवान्; मनसा—मन के द्वारा; स्पर्श-रूपिणा—स्पर्श अक्षरों के रूप में प्रकट होने वाला; छन्दः-मयः—समस्त छन्दों से युक्त; अमृत-मयः—दिव्य आनन्द से पूरित; सहस्र-पदवीम्—हजारों दिशाओं में फूट कर निकलने वाला; प्रभुः—भगवान्; ओंकारात्—ॐकार सूक्ष्म ध्वनि से; व्यञ्जित—विस्तृत; स्पर्श—व्यंजन से; स्वर—स्वरों; उष्म—उष्म; अन्त-स्थ—तथा उपस्वर; भूषिताम्—अलंकृत; विचित्र—नाना प्रकार की; भाषा—मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा; विततम्—विस्तृत; छन्दोभिः—छन्दों से; चतुः-उत्तरैः—पिछले से चार वर्ण अधिक; अनन्त-पाराम्—अन्तहीन; बृहतीम्—वैदिक वाङ्मय का विस्तार; सृजति—उत्पन्न करता है; आक्षिपते—तथा समेट लेता है; स्वयम्—खुद, स्वयं।

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदय से अपना जाला निकाल कर मुख-मार्ग से बाहर उगलती है, उसी तरह भगवान् गूँजती हुई आदि प्राण-वायु के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इस प्राण-वायु में सारे पवित्र वैदिक छन्द तथा दिव्य आनन्द भरे रहते हैं। इस तरह प्रभु अपने हृदय के आकाश से अपने मन के द्वारा महान् तथा असीम वैदिक ध्वनि को उत्पन्न करते हैं, जो स्पर्श जैसी नाना प्रकार की ध्वनियों को जन्म देती है। यह वैदिक ध्वनि हजारों दिशाओं में फूटती है और ॐकार वर्ण से विस्तृत विभिन्न अक्षरों से अलंकृत होती है—यथा व्यंजन, स्वर, उष्म तथा अन्तस्थ। तत्पश्चात् अनेक मौखिक भेदों से वेद का विस्तार होता है और विभिन्न छन्दों में अभिव्यक्ति होती है जिनमें प्रत्येक छंद पिछले वाले से चार वर्ण अधिक होता है। अन्त में भगवान् वैदिक ध्वनि के अपने स्वरूप को अपने ही भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इन तीन श्लोकों की विशद पारिभाषिक व्याख्या की है, जिसको समझने के लिए संस्कृत भाषा का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है। किन्तु मूल बात यह है कि दिव्य ज्ञान की अभिव्यक्ति वैदिक ध्वनि द्वारा होती है, जो स्वयं परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप है। वैदिक ध्वनि भगवान् से निकलती है और उनको समझने तथा उनका गुणानुवाद करने के लिए ही ध्वनित की जाती है। समस्त वैदिक ध्वनि का सार *भगवद्गीता* में निहित है, जिसमें भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारा वैदिक ज्ञान हमें यह शिक्षा देने निमित्त है कि हम ईश्वर को जानें और उन्हें प्रेम करें। जो व्यक्ति सदैव कृष्ण चिन्तन करता है, जो उनका भक्त बनता है और जो व्यक्ति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनको नमस्कार करता है तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए पूजता है, वह निश्चित रूप से उस सबकी पूरी जानकारी पा लेता है, जिसको *वेद* (ज्ञान) शब्द से इंगित किया गया है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् च—गायत्री, उष्णिक तथा अनुष्टुप् नामक; बृहती पङ्क्तिः—बृहती तथा पंक्ति; एव च—भी; त्रिष्टुप् जगती अतिच्छन्दः—त्रिष्टुप्, जगती तथा अतिच्छन्द; हि—निस्सन्देह; अत्यष्टि-अतिजगत्-विराट्—अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट।

वैदिक छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट।

तात्पर्य : गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, उष्णिक् में २८ तथा अनुष्टुप् में ३२ इत्यादि। इस तरह हर छन्द में पिछले की अपेक्षा चार अक्षर अधिक होते जाते हैं। वैदिक ध्वनि *बृहती* कहलाती है, अतएव सामान्य जीवों को इस विषय की सारी पारिभाषिक बातें समझ पाना सम्भव नहीं है।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; विधत्ते—(कर्म-काण्ड में) आदेश है; किम्—क्या; आचष्टे—(देवता-काण्ड में) सूचित होता है; किम्—क्या; अनूद्य—विभिन्न प्रकार से वर्णन करके; विकल्पयेत्—विकल्प की संभावना बताता है (ज्ञान-काण्ड में); इति—इस प्रकार; अस्याः—वैदिक वाङ्मय का; हृदयम्—हृदय, अथवा गुप्त उद्देश्य; लोके—इस जगत में; न—नहीं; अन्यः—दूसरा; मत्—मेरी अपेक्षा; वेद—जानता है; कश्चन—कोई।

सारे जगत में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वैदिक ज्ञान के गुह्य उद्देश्य को नहीं समझता। अतः लोग यह नहीं जानते कि कर्म-काण्ड के अनुष्ठानिक आदेशों में वेद किस बात की संस्तुति कर रहे हैं अथवा उपासना-काण्ड में प्राप्य पूजा के सूत्रों से कौन-सी वस्तु सूचित होती है अथवा वेदों के ज्ञान-काण्ड में विभिन्न संकल्पनाओं के माध्यम से किसकी विशद व्याख्या की गई है।

तात्पर्य : भगवान् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं। चूँकि भगवान् ही वैदिक ज्ञान के उद्गम, पालक तथा चरम लक्ष्य हैं, अतएव वे *वेदवित्* हैं। तथाकथित दार्शनिक, चाहे वे वैदिक पंडित हों या सामान्यजन, अपना अपना सांप्रदायिक मत दे सकते हैं किन्तु वेदों के गुप्त उद्देश्य को स्वयं भगवान् ही जानते हैं। वे ही सारे जीवों के एकमात्र आश्रय तथा प्रेय हैं। उन्होंने *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय (१०.४१) में कहा है—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तद्तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥

“तुम जान लो कि सारी सुन्दर, भव्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं।” सारी सुन्दर अद्वितीय तथा शक्तिशाली अभिव्यक्तियाँ भगवान् के निजी ऐश्वर्य के तुच्छ

प्रदर्शन हैं। भले ही सामान्यजन धर्म को लेकर परस्पर लड़ें-झगड़ें, किन्तु वास्तविक उद्देश्य तो एक है—कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम। सारे वैदिक सूत्र कृष्णभावनामृत की पूर्ण अवस्था तक ले जाने वाली प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य भगवद्भक्ति को आत्मसमर्पण करता है। इस जगत में भगवद्भक्त उनका प्रतिनिधित्व करते हैं औरवे कभी ऐसी बात नहीं कहते जिसका अधिकार उन्हें भगवान् से प्राप्त न हो। चूँकि वे भगवान् के ही शब्दों को दुहराते हैं, इसलिए उन्हें भी *वेदवित्* माना जाता है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विधत्ते—यज्ञ में आदेश देता है; अभिधत्ते—पूजा की वस्तु के रूप में नामकरण करता है; माम्—मुझको; विकल्प्य—विकल्प के रूप में प्रस्तुत करके; अपोह्यते—खंडन किया जाता हूँ; तु—भी; अहम्—मैं; एतावान्—इस तरह; सर्व-वेद—सारे वेदों का; अर्थः—अर्थ; शब्दः—ध्वनि; आस्थाय—स्थापित करके; माम्—मुझको; भिदाम्—भौतिक द्वैत; माया-मात्रम्—मात्र माया के रूप में; अनूद्य—विस्तार से वर्णन करके; अन्ते—अन्त में; प्रतिषिध्य—निषेध करके; प्रसीदति—तुष्ट हो जाता है।.

मैं वेदों द्वारा आदिष्ट अनुष्ठानिक यज्ञ हूँ और मैं ही उपास्य देव हूँ। मैं ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत किया जाता हूँ और दार्शनिक विश्लेषण द्वारा निषेध किया जाने वाला भी मैं ही हूँ। इस तरह दिव्य ध्वनि मुझे समस्त वैदिक ज्ञान के अनिवार्य अर्थ के रूप में स्थापित करती है। सारे वेद समस्त भौतिक द्वैत का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए उसे मेरी ही मोहक शक्ति मान कर, अन्त में इस द्वैत का पूर्णतया निषेध करते हैं और अपने आप को तुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् यह घोषित कर चुके हैं कि एकमात्र वे ही वेदों के परम आशय को जानते हैं और अब वे यह प्रकट करत हैं कि वे ही समस्त वैदिक ज्ञान के परम आधार तथा आशय हैं। वेदों के *कर्मकाण्ड* अनुभाग में स्वर्ग जाने के लिए अनुष्ठानिक यज्ञों की संस्तुति हुई है। ऐसे यज्ञ साक्षात् भगवान् ही हैं। इसी तरह वेदों के *उपासना-काण्ड* में विभिन्न देवताओं को पूजा का विषय बतलाया गया है और ये देव भगवान् के अंश होने के कारण उनसे भिन्न नहीं हैं। वेदों के *ज्ञान-काण्ड* में विश्लेषण की विविध दार्शनिक विधियों का मंडन तथा खण्डन मिलता है। ऐसा ज्ञान जो भगवान् की शक्ति का विश्लेषण करता है, भगवान् से भिन्न नहीं है। अन्ततः भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं क्योंकि हर

वस्तु भगवान् की विविध शक्तियों का अंश है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय द्वैत में लीन लोगों को अनेक प्रकार के इच्छित भौतिक फल प्रदान करते हुए, उन्हें वैदिक जीवन–शैली अपनाने के लिए मोहित करता है, किन्तु सारे वेद अन्त में समस्त द्वैत का निषेध करते हुए मनुष्य को ईश–भावनामृत की अवस्था तक ले जाते हैं जहाँ पर कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न नहीं रह जाती।

वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक आदेश हैं जिनमें कहा गया है कि जीवन की एक विशेष अवस्था में मनुष्य कर्म–काण्ड छोड़ कर ज्ञान–मार्ग अपनाये। इसी तरह अन्य आदेश यह घोषित करते हैं कि मानसिक चिंतन त्याग कर परब्रह्म परमेश्वर की शरण ग्रहण की जाय। किन्तु किसी भी स्थल पर यह आदेश नहीं है कि कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति छोड़ दे क्योंकि यह तो हर जीव का शाश्वत स्वाभाविक पद है। वेदों में अनेकानेक मतों का मंडन–खंडन हुआ है क्योंकि प्रगति करने वाले व्यक्ति को ज्ञान की दिशा में प्रगति करते हुए पिछली अवस्था को त्यागना होता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति यौन में लिप्त रहता है, उसके लिए यह शिक्षा दी जाती है कि वह धर्म–विवाह करके अपनी पत्नी के साथ यौन–सुख भोगे। किन्तु जब व्यक्ति वैराग्य अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उसे ऐसे अनुष्ठानिक ज्ञान का परित्याग कर देना चाहिए और संन्यास ले लेना चाहिये। इस अवस्था में मनुष्य को स्त्री का दर्शन करने या उससे बोलने का भी निषेध रहता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सिद्धि को प्राप्त होता है, जिसमें सर्वत्र भगवान् प्रकट दिखते हैं, तो वह सारे जीवों को, जिसमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं, भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाये क्योंकि तब उसके आध्यात्मिक पतन का कोई भय नहीं रह जाता। इस तरह वैदिक वाङ्मय में आध्यात्मिक दृष्टि की उत्तरोत्तर अवस्थाओं पर आधारित विभिन्न आदेशों का खण्डन–मण्डन मिलता है। चूँकि ऐसे सारे आदेश तथा सारी विधियाँ कृष्णभावनामृत प्राप्त करने के निमित्त हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न नहीं हैं। इसलिए बद्ध आत्मा को किसी बीच की अवस्था को जीवन का असली लक्ष्य मान कर भगवद्धाम जाने की यात्रा पर रुक नहीं जाना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण ही हर वस्तु के उद्गम, स्थिति तथा आश्रय हैं और हर जीव उनका नित्य दास है। इस तरह आनन्द तथा ज्ञान के शाश्वत जीवन के लिए मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए वैदिक मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की

व्याख्या'' नामक इक्कीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना

इस अध्याय में प्राकृतिक तत्त्वों की गणना एवं उनका वर्गीकरण किया गया है, पुरुष तथा स्त्री प्रकृति का अन्तर बतलाया गया है और जन्म-मृत्यु का वर्णन किया गया है।

भौतिक तत्त्वों के विषय में अनेक मत हैं। किन्तु यह मतान्तर जो कि माया के प्रभाव से है, तर्कहीन नहीं है। प्रकृति के सारे तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं; अतएव जिन विद्वानों ने भगवान् की मायाशक्ति को स्वीकार किया है, वे अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तावित कर सकते हैं। उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों का मूल कारण ईश्वर की दुर्लंघ्य माया है।

परम भोक्ता तथा परम नियन्ता में कोई भेद नहीं है। उनमें किसी अन्तर की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। सामान्य ज्ञान भौतिक प्रकृति का केवल गुण है, आत्मा का नहीं है। भौतिक प्रकृति के कच्चे माल को उसकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अभिहित किया जाता है। सतोगुण में इसे ज्ञान कहते हैं, रजोगुण में क्रिया और तमोगुण में अज्ञान कहते हैं। भगवान् का दूसरा नाम काल है और भौतिक लिप्सा का अन्य नाम *सूत्र* या *महत्-तत्त्व* है। प्रकृति के पच्चीस तत्त्व हैं—भगवान्, प्रकृति, महत्, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आँखें, कान, नाक, जीभ, त्वचा, वाणी, हाथ, पाँव, जननांग, गुदा, मन, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध।

अव्यक्त परम पुरुष प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है। तब प्रकृति जो भगवान् के नियंत्रण में है, कारण-कार्य का रूप धारण करती है और भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य सम्पन्न करती है। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से *पुरुष* तथा *प्रकृति* अभिन्न लगते हैं, किन्तु उनमें अन्तर तो होता ही है। भौतिक सृष्टि प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती है और इसका गुण है विकार। जीव, जो कि भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं, अपने भौतिक कार्य के माध्यम से नाना प्रकार के शरीर धारण करते और त्यागते रहते हैं। किन्तु जो लोग माया द्वारा मोहित होकर आत्मा से अनजान रहते जाते हैं, वे इसे नहीं समझते। मन

सकाम कर्म की भावना से पूरित होने के कारण इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है और आत्मा उसी के पीछे चलता रहता है। इतने पर भी इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने से मनुष्य अपने विगत जीवन को स्मरण नहीं रख पाता।

शरीर में नौ अवस्थाएँ होती हैं, जो प्रकृति के गुणों की संगति से आती हैं। ये हैं—गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, मध्यावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु। अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म से मनुष्य अपने शरीर के उत्थान-पतन के विषय में आसानी से समझ सकता है। आत्मा, जो कि द्रष्टा है, इस शरीर से भिन्न है। किन्तु सही तथ्यों की जानकारी न होने से, जीव इन्द्रियतृप्ति के विषयों से उलझ कर, भौतिक जगत के चक्र में अपना गन्तव्य प्राप्त करता है। इस तरह जीव भौतिक कार्य के वशीभूत होकर निरन्तर भटकता रहता है—सतोगुण की प्रधानता होने पर वह साधु या देवता के रूप में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रधानता होने पर असुरों या मनुष्यों के रूप में और तमोगुण की प्रधानता होने पर भूतप्रेतों या पशुओं की योनि में भटकता रहता है। आत्मा कभी भी इन्द्रिय-विषयों के भोग में लिप्त नहीं होता, प्रत्युत इन्द्रियाँ ही यह कार्य करती हैं। इसलिए जीव को इन्द्रियतृप्ति के आनन्दों की कोई वास्तविक आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन लोगों ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है और जो उनकी दिव्य सेवा में समर्पित रहते हैं, ऐसे शान्त पुरुषों के अतिरिक्त सारे लोग, यहाँ तक कि तथाकथित विद्वान पंडित भी सर्वशक्तिमान प्रकृति द्वारा अनिवार्य रूप से पराजित हो जाते हैं।

श्रीउद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश सङ्ख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥ १ ॥
केचित्षड्‌विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिं ।
सप्तैके नव षट्‌केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।
केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ॥ २ ॥
एतावत्त्वं हि सङ्ख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कति—कितने; तत्त्वानि—सृष्टि के मूलभूत तत्त्व; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; सङ्ख्यातानि—गिनाये गये हैं; ऋषिभिः—महान् अधिकारियों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; नव—नौ (ईश्वर, आत्मा, महत् तत्त्व,

मिथ्या अहंकार तथा पाँच स्थूल तत्त्व); एकादश—ग्यारह (दस ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन); पञ्च—पाँच (पाँच इन्द्रिय-विषय); त्रीणि—तीन (सतो, रजो तथा तमोगुण इस प्रकार कुल मिलाकर अट्ठाईस); आत्थ—कहा है; त्वम्—तुमने; इह—इस जगत में आविर्भूत होकर; शुश्रुम—ऐसा मैंने सुना है; केचित्—कुछ; षट्-विंशतिम्—छब्बीस; प्राहुः—कहते हैं; अपरे—अन्य; पञ्च-विंशतिम्—पच्चीस; सप्त—सात; एके—कुछ; नव—नौ; षट्—छः; केचित्—कुछ; चत्वारि—चार; एकादश—ग्यारह; अपरे—और दूसरे; केचित्—कुछ; सप्तदश—सत्रह; प्राहुः—कहते हैं; षोडश—सोलह; एके—कुछ; त्रयोदश—तेरह; एतावत्त्वम्—ऐसी गणनाएँ; हि—निस्सन्देह; सङ्ख्यानाम्—तत्त्वों की गणना करने की विविध विधियों के; ऋषयः—ऋषिगण; यत् विवक्षया—यह व्यक्त करने के विचार से कि कौन-से भाव; गायन्ति—उन्होंने घोषित किया है; पृथक्—विविध प्रकारों से; आयुः-मन्—हे परम शाश्वत; इदम्—यह; नः—हमसे; वक्तुम्—बताने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

उद्धव ने पूछा : हे प्रभु, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, ऋषियों ने सृष्टि के तत्त्वों की कितनी संख्या बतलाई है? मैंने आपके मुख से कुल अट्ठाइस का वर्णन सुना है—ईश्वर, जीवात्मा, महत तत्त्व, मिथ्या अहंकार, पाँच स्थूल तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म इन्द्रिय-विषय तथा तीन गुण। किन्तु कुछ विद्वान छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं जबकि अन्य लोग इनकी संख्या पच्चीस या सात, नौ, छह, चार या ग्यारह और कुछ लोग सत्रह, सोलह या तेरह बतलाते हैं। जब ये ऋषि ऐसे विविध प्रकारों से सर्जक तत्त्वों की गणना कर रहे थे, तो उनके मनों में क्याथा? हे परम शाश्वत, कृपा करके मुझे यह बतलायें।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण ने यह भलीभाँति समझाया है कि वैदिक ज्ञान इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भौतिक बन्धन से मोक्ष के लिए होता है। अब उद्धव बीच में कुछ प्रश्न पूछ रहे हैं जिनके उत्तर मिलने ही चाहिए ताकि मोक्ष का मार्ग साफ हो जाय। ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों की सही संख्या के बारे में, विशिष्ट बाह्य पदार्थों के होने-न होने के बारे में तथा आत्मा के अस्तित्व के बारे में असहमति व्यक्त की है। वेदों के ज्ञानकांड अनुभाग का उद्देश्य भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान तथा दिव्य तत्त्व के रूप में आत्मा के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना है। अन्ततः परमेश्वर सभी तत्त्वों के ऊपर हैं और वे अपनी निजी शक्ति से उनको धारण करते हैं। उद्धव विभिन्न ऋषियों की कार्यप्रणालियों को संख्या के द्वारा बताते हुए सर्वप्रथम भगवान् का मत प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में *आयुष्मन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत हैं अतएव उन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य का पूरा पूरा ज्ञान रहता है और इस तरह वे आदि तथा सर्वोच्च दार्शनिक हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव द्वारा उल्लिखित विविध वैश्लेषिक विधियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही सत्य के कोटि-निर्धारण की पृथक्-पृथक् विधियाँ हैं। सत्य

के नास्तिक चिन्तन में ईश्वर के अस्तित्व को कोई मान्यता नहीं दी जाती; फलत: सत्य की व्याख्या करना व्यर्थ का प्रयास होगा। भगवान् स्वयं ही विभिन्न जीवों को सत्य के बारे में भिन्न भिन्न प्रकारों से सोचने तथा बोलने की शक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य तो साक्षात् भगवान् हैं, जो अब श्री उद्धव से बोलेंगे।

श्रीभगवानुवाच
युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; युक्तम्—युक्तियुक्त; च—भी; सन्ति—उपस्थित रहते हैं; सर्वत्र—सभी जगह; भाषन्ते—कहते हैं; ब्राह्मणा:—ब्राह्मणजन; यथा—कैसे; मायाम्—योगशक्ति; मदीयम्—मेरी; उद्गृह्य—अपनाकर; वदताम्—बोलने वाले के; किम्—क्या; नु—आखिरकार; दुर्घटम्—असम्भव होगा।

भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया : चूँकि सारे तत्त्व सभी जगह उपस्थित रहते हैं इसलिए यह युक्तियुक्त है कि विभिन्न विद्वान ब्राह्मणों ने उनकी व्याख्या भिन्न भिन्न विधियों से की है। ऐसे सभी दार्शनिकों ने मेरी योगशक्ति का आश्रय लेकर ही ऐसा कहा है, अतएव वे सत्य का खण्डन किये बिना कुछ भी कह सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सन्ति सर्वत्र* से यह सूचित होता है कि सारे भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में पाये जाते हैं। इसलिए असंख्य प्रकारों से उनका कोटि-निर्धारण करके वर्णन किया जा सकता है। भौतिक जगत आखिरकार मायामय है और निरन्तर रूपान्तरित होता रहता है। इसकी माप विभिन्न विधियों से की जा सकती है, जिस तरह कि मृगमरीचिका को विविध प्रकारों से बतलाया जाता है किन्तु भगवान् ने जिन अठ्ठाईस तत्त्वों को बतलाया है, वे सही हैं और उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि इस श्लोक में *माया* शब्द *महामाया* अर्थात् अविद्याशक्ति का सूचक नहीं है अपितु भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति का सूचक है, जो वैदिक ज्ञान के विद्वान अनुयायियों को शरण देने वाली है। यहाँ पर जिन जिन दार्शनिकों का उल्लेख हुआ है वे सत्य के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन करते हैं और उनके मत विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही घटना को कोटि-निर्धारण की विभिन्न प्रणालियों से बतला रहे हैं। भौतिक जगत में ऐसी दार्शनिक असहमति का कोई अन्त नहीं है, इसलिए सबों को भगवान् के मत के विषय में एक हो जाना चाहिए,

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। इसी तरह *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण सभी बद्धात्माओं से अनुरोध करते हैं कि वे विविध प्रकार की पूजाएँ छोड़ कर उनके भक्त बन कर पूर्ण कृष्णभावनामृत में उनकी शरण में आयें। इस तरह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे के कीर्तन से सारे ब्रह्माण्ड को भगवत्प्रेम में एक किया जा सकता है। इस तरह एक निष्ठावान भक्त से अपनी बात बताकर वैश्लेषिक दर्शन के विवाद को समाप्त कर दिया गया है।

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; एतत्—यह; एवम्—ऐसा; यथा—जिस तरह; आत्थ—कहते हो; त्वम्—तुम; यत्—जो; अहम्—मैं; वच्मि—कह रहा हूँ; तत्—वह; तथा—उस तरह; एवम्—इस तरह; विवदताम्—तर्क करनेवालों के लिए; हेतुम्—तर्कपूर्ण कारणों पर; शक्तयः—शक्तियाँ; मे—मेरी; दुरत्ययाः—दुर्लंघ्य।

जब दार्शनिकजन तर्क करते हैं, ''तुम जिस तरह इस विशेष प्रसंग की व्याख्या करना चाहते हो, मैं उसे उस रूप में नहीं करना चाहता'' तो इसमें मेरी दुर्लंघ्य शक्तियाँ ही उनकी विश्लेषणान्तमक असहमतियों को प्रेरणा देती हैं।

तात्पर्य : भगवान् की भौतिक शक्तियों के कारण ही संसारी दार्शनिकजन निरन्तर यह वाद-विवाद करते रहते हैं कि मुर्गी पहले आई कि अंडा। विभिन्न दार्शनिकजन सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव के कारण विभिन्न मतों के प्रति आकृष्ट होते हैं और भगवान् द्वारा उत्पन्न भौतिक वातावरण के प्रभाव से, ये दार्शनिक एक-दूसरे से निरन्तर असहमत रहते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् ने स्पष्ट व्याख्या की है। *श्रीमद्भागवत* (६.४.३१) में कहा गया है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

''मैं उन सर्वव्यापक भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनमें असीम दिव्य गुण पाये जाते हैं। विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों के हृदयों के भीतर से कर्म करते हुए उन्होंने उन्हें उनकी आत्मा भुलवा दी जिससे वे कभी तो सहमत होते हैं और कभी असहमत। इस तरह भगवान् इस जगत में ऐसी स्थिति

उत्पन्न कर देते हैं जिसमें वे एकमत नहीं हो पाते। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—जिन (मेरी शक्तियों) के; **व्यतिकरात्**—परस्पर क्रिया से; **आसीत्**—उत्पन्न हुआ है; **विकल्पः**—मतभेद; **वदताम्**—विवाद करने वालों के; **पदम्**—विवाद का विषय; **प्राप्ते**—प्राप्त कर चुकने पर; **शम**—मुझ पर अपनी बुद्धि स्थिर करने की सामर्थ्य; **दमे**—बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण; **अप्येति**—(मतभेद) दूर हो जाता है; **वादः**—विवाद, तर्क; **तम् अनु**—फलस्वरूप; **शाम्यति**—शमन हो जाता है।

मेरी शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विभिन्न मत (वाद) उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिन लोगों ने अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर कर ली है और अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उनके मतभेद दूर हो जाते हैं और इस तरह तर्क (वाद-विवाद) का कारण ही मिट जाता है।

तात्पर्य : विभिन्न दार्शनिकजनों के मनों में भगवान् की भौतिक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विरोधी अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये दार्शनिक अपने अपने मतों का समर्थन यह कह कर करते हैं, ''यह हो सकता है अथवा कदाचित् वह हो सकता है, या यह नहीं हो सकता है अथवा कदाचित् वह नहीं हो सकता।'' ऐसे तर्कपूर्ण प्रस्ताव, संशय, विरोधी प्रस्ताव आदि हजारों रूप धारण करके वाद-विवाद का आधार बनते हैं। वस्तुत: भगवान् कृष्ण सारे जगत के आधार हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत हैं, उन्हीं के द्वारा पालित हैं और अन्त में भगवान् के भीतर ही लीन हो जाती हैं। कृष्ण *परतत्त्व* हैं अर्थात् समस्त परतंत्र सत्यों के मूल में पाये जाने वाले सर्वोच्च सत्य हैं। ऐसे विद्वान पुरुषों के समाज में, जिन्होंने भगवान् को सर्वस्व समझ लिया हो और कोई दार्शनिक विवाद नहीं उत्पन्न होता। ऐसा मतैक्य दार्शनिक जिज्ञासा की अनुपस्थिति या तार्किक व्याख्या पर निर्भर नहीं रहता अपितु यह आध्यात्मिक प्रकाश का सहज परिणाम होता है। तथाकथित दार्शनिक डींग मारते हैं कि वे परब्रह्म की खोज पर खोज करते जा रहे हैं किन्तु वे परब्रह्म को पा लेने वाले को उससे अल्पज्ञ मानते हैं जिसने परम सत्य को अभी नहीं पाया है परन्तु जो उसे अभी खोज रहा है। चूँकि कृष्ण परब्रह्म हैं, अतएव जो पूरी तरह उनकी शरण में जाता है, वह अत्यन्त विद्वान पुरुष बन जाता है।

परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।

पौर्वापर्यप्रसङ्ख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

परस्पर—आपस में; अनुप्रवेशात्—प्रवेश करने के कारण (सूक्ष्म कारण का स्थूल कारण में या इसके विपरीत); तत्त्वानाम्—विभिन्न तत्त्वों के; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ (उद्धव); पौर्व—पूर्व कारणों के रूप में; अपर्य—अथवा प्रतिफलों की; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; यथा—किन्तु; वक्तुः—वक्ता; विवक्षितम्—वर्णन करने के लिए इच्छुक।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, चूँकि सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए दार्शनिकजन अपनी अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकारों से मूलभूत भौतिक तत्त्वों की गणना कर सकते हैं।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का जन्म श्रृंखला प्रतिक्रिया के रूप में घटित होता है, जिसमें सूक्ष्म तत्त्व विस्तार करके घनीभूत तत्त्वों में बदलते जाते हैं। चूँकि कारण एक तरह से कार्य में उपस्थित रहता है और इसी तरह कार्य कारण के भीतर उपस्थित रहता है, इसलिए सारे सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे के भीतर प्रवेश कर गये हैं। इस तरह मूलभूत भौतिक तत्त्वों को अपने अपने तरीके से विभिन्न संख्याएँ तथा नाम प्रदान करके अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। यद्यपि भौतिक दार्शनिकजन बड़े ही घमंड के साथ अपने अपने सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु वे सब अपनी अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार अनुमान लगाते हैं जैसाकि इस श्लोक में तथा अगले श्लोक में वर्णन हुआ है।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन्वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८॥

शब्दार्थ

एकस्मिन्—एक (तत्त्व) में; अपि—भी; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; प्रविष्टानि—भीतर घुसे हुए; इतराणि—अन्य; च—भी; पूर्वस्मिन्—पूर्व वाले में; वा—अथवा; परस्मिन्—अथवा बाद वाले में; वा—अथवा; तत्त्वे—किसी तत्त्व में; तत्त्वानि—अन्य तत्त्व; सर्वशः—विभिन्न गणनाओं में से हर एक में।

सारे सूक्ष्म तत्त्व वस्तुतः अपने स्थूल कार्यों के भीतर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह सारे स्थूल तत्त्व अपने सूक्ष्म कारणों के भीतर उपस्थित रहते हैं क्योंकि भौतिक सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की क्रमागत अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस तरह हम किसी एक तत्त्व में सारे भौतिक तत्त्वों को पा सकते हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर उपस्थित हैं, इसलिए ईश्वर की सृष्टि का विश्लेषण करने तथा उसे श्रेणीबद्ध करने की असंख्य विधियाँ हैं। किन्तु अन्ततः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वयं भगवान् हैं, जो विराट विश्व के समस्त रूपान्तरों के आधार हैं। जैसाकि भगवान् कपिल के *सांख्य*

योग में बतलाया गया है, भौतिक जगत की सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की ओर अग्रसर होने से होती है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता कि हमें कीचड़ के भीतर मिट्टी का छिपा हुआ पात्र मिल सकता है और मिट्टी के पात्र के भीतर कीचड़ मिल सकता है। इसी तरह एक तत्त्व दूसरे के भीतर उपस्थित है। और अन्त में सारे तत्त्व भगवान् में आश्रय पाते हैं, जो सारी वस्तुओं के भीतर एक ही समय में उपस्थित रहते हैं। इस तरह इस ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप में समझने के लिए कृष्णभावनामृत एक परम वैज्ञानिक विधि है।

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसङ्ख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पौर्व—कारणरूप तत्त्वों को उनके व्यक्त कार्यों में सम्मिलित मानते हुए; अपर्यम्—अथवा तत्त्वों में उनके सूक्ष्म कारणों को निहित मानते हुए; अतः—इसलिए; अमीषाम्—इन चिन्तकों के; प्रसङ्ख्यानम्—गणना करते हुए; अभीप्सताम्—इच्छाकरने वालों के; यथा—जिस तरह; विविक्तम्—निश्चित; यत्-वक्त्रम्—जिसके मुख से; गृह्णीमः—हम स्वीकार करते हैं; युक्ति—तर्क का; सम्भवात्—सम्भावना से।

इसलिए इनमें से चाहे जो भी विचारक बोल रहा हो और इसकी परवाह न करते हुए कि वे अपनी गणनाओं में भौतिक तत्त्वों को उनके पिछले सूक्ष्म कारणों में सम्मिलित करें अथवा उनके परवर्ती प्रकट कार्यों के भीतर करें, मैं उनके मतों को प्रामाणिक मान लेता हूँ क्योंकि विभिन्न सिद्धान्तों में से हर एक की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य दार्शनिक भौतिक सृष्टि का विवेकपूर्ण वर्णन विभिन्न दृष्टियों से कर सकते हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत के बिना किसी का भी ज्ञान पूर्ण नहीं बन सकता। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को केवल इस आधार पर झूठे ही गर्व नहीं करना चाहिए कि उसने इस जगत के भीतर किसी विशेष सत्य को निश्चित कर लिया है। भगवान् यहाँ पर बतलाते हैं कि जो कोई विश्लेषण की वैदिक विधि का अनुसरण करता है, उसे भौतिक सृष्टि के विषय में अनेक अन्तर्दृष्टियाँ प्राप्त होंगी। किन्तु अन्ततः मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर कृष्णभावनामृत में अपने ज्ञान को पूर्ण बनाना चाहिए।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अनादि—जिसका आदि न हो; अविद्या—अज्ञान से; युक्तस्य—जुड़े रहने वाले; पुरुषस्य—पुरुष का; आत्म-वेदनम्—आत्म-साक्षात्कार की विधि; स्वतः—अपनी योग्यता से; न सम्भवात्—चूँकि ऐसा हो नहीं सकता; अन्यः—दूसरा व्यक्ति; तत्त्व-ज्ञः—दिव्य सचाई को जानने वाला; ज्ञान-दः—असली ज्ञान का प्रदाता; भवेत्—हो।

चूँकि अनादि काल से अज्ञान से आवृत व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार करने में अक्षम होता है, अतएव ऐसा कोई अन्य व्यक्ति होना चाहिए जो परब्रह्म को पूरी तरह जानता हो और उसे यह ज्ञान प्रदान कर सकता हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् को भौतिक कार्यों के भीतर उनके कारणों तथा कार्यों को उनके कारणों के भीतर गणना करने की विभिन्न विधियाँ सह्य हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले दो आध्यात्मिक तत्त्वों—अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई कल्पना नहीं हो सकती। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जीव अपने को प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् तो *तत्त्वज्ञ* तथा *ज्ञानद* हैं। श्रील उद्धव ने उल्लेख किया है कि कुछ दार्शनिक २५ तत्त्वों का और कुछ २६ तत्त्वों का वर्णन करते हैं। इनमें अन्तर यह है कि छब्बीस तत्त्वों में आत्मा तथा परमात्मा कृष्ण की पृथक्-पृथक् कोटि है, जबकि २५ तत्त्वों के समर्थक *जीव तत्त्व* तथा *विष्णु तत्त्व* की दो कोटियों को एक में मिला देते हैं और भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को छुपा लेते हैं।

प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित ज्ञान कभी दिव्य पद को प्राप्त नहीं कर सकता जहाँ पर भगवान् रूप, रंग, स्वाद, संगीतमय ध्वनि, प्रेमालाप (माधुर्य) की शाश्वत आध्यात्मिक विविधताओं के परम भोक्ता हैं। संसारी दार्शनिक भौतिक भोग तथा भौतिक वैराग्य के बीच उछल-कूद मचाते रहते हैं। वे परब्रह्म की मायावाद (निर्विशेष) अनुभूति के शिकार होने के कारण भगवान् की शरण प्राप्त नहीं कर सकते, अतएव वे उन्हें समझ नहीं पाते। चूँकि मूर्ख निर्विशेष दार्शनिकजन अपने को सर्वोच्च मानते हैं, इसलिए वे यह समझ ही नहीं पाते कि भक्ति को आध्यात्मिक पद प्राप्त रहता है। ये निर्विशेषवादी भगवान् की अधीनता का डट कर बहिष्कार करते हुए अन्त में भगवान् की माया से अभिभूत हो जाते हैं और संसार के कष्ट भोगते हैं। दूसरी ओर, वैष्णव भगवान् से ईर्ष्या नहीं करते। वे प्रसन्नतापूर्वक उनकी शरण तथा सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह भगवान् अपने भक्तों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें प्रबुद्ध बनाते हैं और अपने दिव्य आनन्द से परिपूर्ण बनाते हैं। इस तरह भगवान् की आध्यात्मिक सेवा निराशा तथा भौतिक सेवा के उत्पीड़न से मुक्त है।

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—भोक्ता; ईश्वरयोः—तथा परम नियन्ता के मध्य; अत्र—यहाँ पर; न—नहीं है; वैलक्षण्यम्—असमानता; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; तत्—उनके; अन्य—सर्वथा पृथक् होकर के; कल्पना—कल्पित भाव; अपार्था—व्यर्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणः—गुण।

सतोगुणी ज्ञान के अनुसार जीव तथा परम नियन्ता में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं हैं। उनमें गुणात्मक अन्तर की कल्पना व्यर्थ है।

तात्पर्य : कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व २५ हैं जिनमें आत्मा तथा परमात्मा को एक ही कोटि में माना जाता है। भगवान् ऐसे निर्विशेष ज्ञान को भौतिक बतलाते हैं—*ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः* किन्तु ऐसे ज्ञान को परमेश्वर की तथा परमेश्वर के अंशरूप जीवों की जो उन्हीं से उद्भूत हैं, गुणात्मक समता स्थापित करने में स्वीकार किया जा सकता है। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि परम आत्मा तो स्वर्ग में है किन्तु वे यह भी सोचते हैं कि मनुष्य अपने शरीरों से अभिन्न हैं और इस तरह गुणात्मक रूप से सदा-सदा के लिए परमेश्वर से पृथक् हैं। जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है, जीव के साथ भगवान् का गुणात्मक एकत्व, जीवन की भौतिकतावादी धारणा का खंडन करता है और परब्रह्म की आंशिक स्थापना करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वास्तविक स्थिति को *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व* बतलाया है। सतोगुण होने पर एकत्व की अनुभूति की जाती है। किन्तु जब मनुष्य बढ़कर *विशुद्ध सत्त्व* को प्राप्त होता है, तो उसे गुणात्मक एकत्व के भीतर आध्यात्मिक विविधता प्राप्त होती है, जिससे परब्रह्म विषयक ज्ञान पूरा हो जाता है। *न वैलक्षण्यम् अण्वपि* शब्द यह पुष्टि करते हैं कि जीव निर्विवादतः भगवान् का अंश है और गुणात्मक रूप से उनसे एकाकार है। इस तरह जीव को परमेश्वर से पृथक् करने तथा भगवान् के प्रति उसकी नित्य दासता से इनकार करने के किसी दार्शनिक प्रयास का खंडन किया जाता है। जीव की भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के निष्कर्ष तक पहुँचने की कल्पना को यहाँ पर *अपार्था* अर्थात् व्यर्थ कहा गया है। फिर भी आध्यात्मिक ज्ञान के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भगवान् को २५ तत्त्वों का सिद्धान्त मान्य है।

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति; गुण—तीन गुणों की; साम्यम्—आदि साम्यावस्था; वै—निस्सन्देह; प्रकृतेः—प्रकृति के; न आत्मनः—आत्मा के नहीं; गुणाः—ये गुण; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार कहलाने वाले; स्थिति—सृष्टि के पालन; उत्पत्ति—इसके उत्पन्न होने; अन्त—तथा इसके संहार के; हेतवः—कारण।

मूलतः प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था के रूप में विद्यमान रहती है और ये गुण दिव्य आत्मा के न होकर एकमात्र प्रकृति के होते हैं। ये गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के प्रभावशाली कारण हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीन गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"

अपनी आदि साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुण तथा बाद में इन गुणों से उत्पन्न सृष्टि उस जीव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं, जो उनके द्वारा नियंत्रित होता है। इस तरह इस जगत में जीव को वास्तविक कर्ता या स्रष्टा नहीं माना जा सकता। सतोगुण का प्रतीक है ज्ञान का अनुभव, रजोगुण का प्रतीक है कर्म का अनुभव और तमोगुण का प्रतीक है अंधकार का अनुभव। ज्ञान, कर्म तथा अंधकार के इन गुणों का दिव्य आत्मा से कोई असली सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप के गुण प्रदर्शित करता है (सन्धिनी, संवित तथा ह्लादिनी शक्तियाँ)। भौतिक गुणों की भगवद्धाम में कोई पहुँच नहीं है, जिसके अनन्त वातावरण में रहने के लिए जीव है।

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; ज्ञानम्—ज्ञान; रजः—रजोगुण; कर्म—सकाम कर्म; तमः—तमोगुण; अज्ञानम्—मूर्खता; इह—इस जगत में; उच्यते—कहलाता है; गुण—गुणों का; व्यतिकरः—क्षुब्ध विकार; कालः—काल; स्वभावः—आन्तरिक मनोवृत्ति, प्रकृति; सूत्रम्—महत् तत्त्व; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इस जगत में सतोगुण को ज्ञान, रजोगुण को सकाम कर्म तथा तमोगुण को अज्ञान माना जाता है। काल को भौतिक गुणों की क्षुब्ध अन्तःक्रिया के रूप में देखा जाता है और आदि सूत्र

अर्थात् महत् तत्त्व से समग्र कार्य की मनोवृत्ति प्रकट होती है।

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया के लिए जो प्रोत्साहन है, वही काल की अग्रगामी चाल है। काल के बीतने से गर्भ में भ्रूण बढ़ता है, धीरे धीरे बाहर आता है, फिर बढ़ता है, प्रतिफल उत्पन्न करता है, क्षीण होता है तथा मर जाता है। यह सब काल के प्रभाव से होता है। काल की अनुपस्थिति में तत्त्व परस्पर क्रिया नहीं करते अपितु *प्रधान* के रूप में निष्क्रिय बने रहते हैं। कृष्ण भौतिक जगत की मूलभूत कोटियों की स्थापना कर रहे हैं जिससे मनुष्य भगवान् की सृष्टि का अनुमान लगा सकें। यदि कोटियों को संक्षिप्त न किया गया होता, तो विश्लेषण तथा अनुभूतिकरण असम्भव होते, क्योंकि भगवान् की शक्ति अनन्त है। यद्यपि भौतिक तत्त्वों के आधारभूत विभागों में अनेक विभाग हैं किन्तु आत्मा को सदैव एक पृथक् दिव्य तत्त्व माना जाता है, जो ईश्वर के धाम में निवास के लिए बनाया गया है।

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥ १४॥

शब्दार्थ

पुरुषः—भोक्ता; प्रकृतिः—प्रकृति; व्यक्तम्—पदार्थ की आदि अभिव्यक्ति; अहङ्कारः—मिथ्या अहंकार; नभः—आकाश; अनिलः—वायु; ज्योतिः—अग्नि; आपः—जल; क्षितिः—पृथ्वी; इति—इस प्रकार; तत्त्वानि—सृष्टि के सारे तत्त्व; उक्तानि—कहे गये; मे—मेरे द्वारा; नव—नौ।

मैं नौ मूल तत्त्वों का वर्णन भोक्ता आत्मा, प्रकृति, महत् तत्त्व की आदि अभिव्यक्ति, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में कर चुका हूँ।

तात्पर्य : *प्रकृति* प्रारम्भ में अव्यक्त रहती है, किन्तु बाद में *महत् तत्त्व* रूप में प्रकट होती है। यद्यपि जीव पुरुष या भोक्ता है, किन्तु जिस वास्तविक विधि से वह भोग कर सकता है, वह भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को प्रसन्न करने में है, जिस तरह कि हाथ आमाशय को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है। भौतिक प्रकृति के भीतर जीव भगवान् के प्रति अपनी अधीनता को भूल कर मिथ्या भोक्ता बन जाता है। इस तरह जीव तथा परमात्मा के साथ भौतिक तत्त्वों का क्रमबद्ध विश्लेषण यह दिखाने के लिए किया जाता है कि बद्धजीव की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति प्रकृति से परे है।

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।

वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रि: कर्माण्यङ्गोभयं मन: ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्श जो त्वचा पर अनुभव किया जाता है उसकी इन्द्रिय; दर्शनम्—दृष्टि; घ्राण:—गंध; जिह्वा—स्वाद की इन्द्रिय, जिसका अनुभव जीभ पर होता है; इति—इस प्रकार; ज्ञान-शक्तय:—ज्ञानअर्जित करने वाली इन्द्रियाँ; वाक्—वाणी; पाणि—हाथ; उपस्थ—जननांग; पायु—गुदा; अङ्घ्रि:—पाँव; कर्माणि—कर्मेन्द्रियाँ; अङ्ग—हे उद्धव; उभयम्—दोनों ही कोटियों की; मन:—मन।

हे उद्धव, श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, गंध तथा स्वाद—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाणी, हाथ, जननेन्द्रिय, गुदा तथा पाँव—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन इन दोनों कोटियों में आता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का वर्णन हुआ है।

शब्द: स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातय: ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धय: ॥ १६॥

शब्दार्थ

शब्द:—ध्वनि; स्पर्श:—स्पर्श; रस:—स्वाद; गन्ध:—सुगन्धि; रूपम्—रूप; च—तथा; इति—इस प्रकार; अर्थ—इन्द्रिय-विषयों की; जातय:—कोटियाँ; गति—चाल; उक्ति—वाणी; उत्सर्ग—मलमूत्र का त्याग (जननेन्द्रिय तथा गुदा दोनों द्वारा); शिल्पानि—तथा निर्माण; कर्म-आयतन—उपर्युक्त कर्मेन्द्रियों द्वारा; सिद्धय:—सम्पन्न।

ध्वनि, स्पर्श, स्वाद, गंध तथा रूप ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और गति, वाणी, उत्सर्ग तथा शिल्प—ये कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *उत्सर्ग* सूचक है जननेन्द्रिय तथा गुदा से मल-त्याग का और इस तरह इसमें दो तत्त्व रहते हैं। इस तरह पाँच-पाँच के दो समूहों में कुल दस तत्त्वों की सूची दी हुई है।

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥ १७॥

शब्दार्थ

सर्ग—सृष्टि का; आदौ—प्रारम्भ में; प्रकृति:—भौतिक प्रकृति; हि—निस्सन्देह; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; कार्य—प्रकट फल; कारण—तथा सूक्ष्म कारण; रूपिणी—साकार; सत्त्व-आदिभि:—सतो, रजो तथा तमो; गुणै:—गुणों द्वारा; धत्ते—अपना पद ग्रहण करता है; पुरुष:—परमेश्वर; अव्यक्त:—भौतिक अभिव्यक्ति में जो लोग न हो; ईक्षते—देखता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में सतो, रजो तथा तमोगुणों के द्वारा प्रकृति इस ब्रह्माण्ड में समस्त सूक्ष्म कारणों तथा स्थूल अभिव्यक्तियों से युक्त होकर अपना रूप ग्रहण करती है। भगवान् भौतिक अभिव्यक्ति की पारस्परिक क्रिया में प्रविष्ट नहीं होता, अपितु प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है।

तात्पर्य : भगवान् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक तत्त्वों की तरह रूपान्तरित नहीं होते। इस तरह भगवान्

अव्यक्त हैं अर्थात् विश्व के विकास की किसी भी अवस्था में अपने को प्रकट नहीं करते। भौतिक तत्त्वों की सूची चाहे जिस विधि से बनाई जाय, भगवान् सम्पूर्ण विश्व के चरम स्रष्टा, पालक तथा संहारक बने रहते हैं।

व्यक्तादायो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

व्यक्त-आदयः—महत् तत्त्व इत्यादि; विकुर्वाणाः—रूपान्तरित होने वाले; धातवः—तत्त्व; पुरुष—भगवान् की; ईक्षया—चितवन से; लब्ध—प्राप्त हुआ; वीर्याः—उनकी शक्तियाँ; सृजन्ति—सृष्टि करती हैं; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; संहताः—घुला-मिला; प्रकृतेः—प्रकृति का; बलात्—बल द्वारा।

जब महत् तत्त्व आदि भौतिक तत्त्व रूपान्तरित होते हैं, तो वे भगवान् के दृष्टिपात से अपनी विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। वे प्रकृति की शक्ति के मिलने-जुलने से विश्व अंडा (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न करती हैं।

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; एव—निस्सन्देह; धातवः—तत्त्व; इति—इस प्रकार कह कर; तत्र—वहाँ; अर्थाः—भौतिक तत्त्व; पञ्च—पाँच; ख-आदयः—आकाश इत्यादि; ज्ञानम्—ज्ञान का स्वामी आत्मा; आत्मा—परमात्मा; उभय—दोनों का (जीव, जो कि द्रष्टा है तथा दृष्ट प्रकृति); आधारः—मूलभूत आधार; ततः—इनसे; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—तथा जीवनदायी वायु।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व सात हैं। ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इसी के साथ चेतन आत्मा तथा परमात्मा भी सम्मिलित हैं, जो भौतिक तत्त्वों तथा सामान्य आत्मा दोनों ही के आधाररूप हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण-वायु तथा अन्य सारे भौतिक कार्य इन्हीं सात तत्त्वों से उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : अपना मत बता चुकने के बाद भगवान् अब अन्य विविध वैश्लेषिक विधियों का सारांश दे रहे हैं।

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युइत आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समपाविशत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

षट्—छह; इति—इस सिद्धान्त में; अत्र—इस सिद्धान्त में; अपि—भी; भूतानि—तत्त्व; पञ्च—पाँच; षष्ठः—छठा; परः—दिव्य; पुमान्—भगवान्; तैः—उन (पाँच स्थूल तत्त्वों) से; युक्तः—जुड़ा; आत्म—अपने से; सम्भूतैः—उत्पन्न; सृष्ट्वा—निर्मित कर; इदम्—यह सृष्टि; समुपाविशत्—उन्होंने भीतर प्रवेश किया।

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि तत्त्व छः हैं—पाँच तो भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) हैं तथा छठा तत्त्व भगवान् है। वही भगवान् जो अपने से निकले हुए तत्त्वों से युक्त होकर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और तब स्वयं उसके भीतर प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि इस दर्शन के अनुसार साधारण जीव को परमात्मा की कोटि में सम्मिलित किया जाता है। इस तरह यह सिद्धान्त एकमात्र भगवान् को तथा पाँच भौतिक तत्त्वों को स्वीकार करता है।

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

चत्वारि—चार; एव—भी; इति—इस प्रकार; तत्र—उस दशा में; अपि—भी; तेजः—अग्नि; आपः—जल; अन्नम्—पृथ्वी; आत्मनः—आत्मा से; जातानि—उत्पन्न; तैः—उनके द्वारा; इदम्—यह जगत; जातम्—उत्पन्न हुआ; जन्म—जन्म; अवयविनः—प्रकट फल का; खलु—निस्सन्देह।

कुछ दार्शनिक चार मूलभूत तत्त्वों की उपस्थिति का अनुमोदन करते हैं जिनमें से अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये तीन तत्त्व एक चौथे तत्त्व आत्मा से उद्भूत हैं। एक बार अस्तित्व में आने पर ये तत्त्व विराट जगत उत्पन्न करते हैं जिसमें सारा भौतिक सृजन होता है।

सङ्ख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सङ्ख्याने—गणना में; सप्तदशके—सत्रह तत्त्वों के रूप में; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; मात्र—पाँचों की सूक्ष्म अनुभूतियाँ; इन्द्रियाणि—तथा पाँच संगत इन्द्रियाँ; च—भी; पञ्च पञ्च—पाँच पाँच के समूहों में; एक-मनसा—एक मन के साथ साथ; आत्मा—आत्मा; सप्तदशः—सत्रहवाँ; स्मृतः—ऐसा माना जाता है।

कुछ लोग सत्तरह मूलभूत तत्त्वों के अस्तित्व की गणना करते हैं—ये हैं पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच इन्द्रिय-विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा सत्तरहवाँ आत्मा।

तद्वत्षोडशसङ्ख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तद्वत्—इसी तरह; षोडश-सङ्ख्याने—सोलह की गणना में; आत्मा—आत्मा; एव—निस्सन्देह; मनः—मन के रूप में; उच्यते—पहचाना जाता है; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; एव—निश्चय ही; मनः—मन; आत्मा—आत्मा (आत्मा तथा परमात्मा दोनों); त्रयोदश—तेरह ।

सोलह तत्त्वों की गणना करने पर पिछले सिद्धान्त से केवल इतना ही अन्तर होता है कि आत्मा की पहचान मन से कर ली जाती है। यदि हम पाँच भौतिक तत्त्वों, पाँच इन्द्रियों, मन, आत्मा तथा परमेश्वर की कल्पना करें, तो तत्त्वों की संख्या तेरह होती है।

तात्पर्य : तेरह तत्त्वों वाले सिद्धान्त में स्वाद, गंध, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि—इन इन्द्रिय-विषयों को इन्द्रियों तथा भौतिक पदार्थ की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल माना जाता है।

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ २४॥

शब्दार्थ

एकादशत्वे—ग्यारह के विचार में; आत्मा—आत्मा; असौ—यह; महा-भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—प्राकृतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार); च—भी; एव—निश्चय ही; पुरुषः—परमेश्वर; च—तथा; नव—नव; इति—इस प्रकार; अथ—और भी ।

ग्यारह की गणना में आत्मा, स्थूल तत्त्व तथा इन्द्रियाँ आती हैं। आठ स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के साथ परमेश्वर को मिलाने पर नौ की संख्या हो जाती है।

इति नानाप्रसङ्ख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इति—इसी तरह से; नाना—विविध; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; तत्त्वानाम्—तत्त्वों की; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कृतम्—किया गया; सर्वम्—यह सारा; न्याय्यम्—तार्किक; युक्ति-मत्त्वात्—युक्तियुक्त होने से; विदुषाम्—विद्वानों के; किम्—क्या; अशोभनम्—प्रखरता का अभाव ।

इस तरह दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण अनेक प्रकारों से किया है। उनके सारे प्रस्ताव युक्तियुक्त हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त तर्क के साथ प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह ऐसी तार्किक प्रखरता की आशा वास्तविक विद्वानों से ही की जाती है।

तात्पर्य : असंख्य प्रखर दार्शनिकों द्वारा इस भौतिक जगत की विवेचना असंख्य विधियों से की जा चुकी है, किन्तु निष्कर्ष एक—भगवान् वासुदेव—ही निकलता है। महत्त्वाकांक्षी दार्शनिकों को अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने में बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि अब विवेचना के लिए

कुछ भी शेष नहीं रह गया। मनुष्य को परब्रह्म परम तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए और अपनी नित्य ईश-चेतना का उद्घाटन करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ।
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; उभौ—दोनों; यदि अपि—यद्यपि; आत्म—स्वाभाविक रूप से; विलक्षणौ—सुस्पष्ट, भिन्न; अन्योन्य—पारस्परिक; अपाश्रयात्—आश्रय के कारण; कृष्ण—हे कृष्ण; दृश्यते न—दिखाई नहीं पड़ता; भिदा—कोई अन्तर; तयोः—उनके मध्य; प्रकृतौ—प्रकृति में; लक्ष्यते—आभास होता है; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतिः—प्रकृति; च—तथा; तथा—भी; आत्मनि—आत्मा में।

श्री उद्धव ने पूछा : हे कृष्ण, यद्यपि स्वभाव से प्रकृति तथा जीव भिन्न हैं, किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं दिखता क्योंकि वे एक-दूसरे के भीतर निवास करते पाये जाते हैं। इस तरह आत्मा प्रकृति के भीतर और प्रकृति आत्मा के भीतर प्रतीत होती है।

तात्पर्य : श्री उद्धव यहाँ पर उस संशय को व्यक्त कर रहे हैं, जो सामान्य बद्धजीव के हृदय में उठता है। यद्यपि वैदिक शास्त्र घोषित करते हैं कि भौतिक शरीर प्रकृति के गुणों का नश्वर ताना-बाना है, किन्तु शरीर के भीतर का जीव वस्तुतः शाश्वत आत्मा है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने घोषित किया है कि शरीर को निर्मित करने वाले भौतिक तत्त्व उनकी भिन्नाशक्ति हैं जबकि जीव परा चेतन शक्ति है। फिर भी बद्ध जीवन में शरीर तथा बद्ध आत्मा एक-दूसरे से विलग न होने वाले तथा अभिन्न प्रतीत होते हैं। चूँकि जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है और क्रमशः बढ़ते हुए विकसित शरीर के रूप में बाहर आता है, अतएव ऐसा लगता है कि आत्मा भौतिक प्रकृति में गहरा प्रविष्ट कर गया है। इसी तरह आत्मा की पहचान भौतिक शरीर के रूप में करने से, शरीर आत्मा की चेतना में गहरा प्रवेश करता प्रतीत होता है। इससे भी जो बड़ी बात है, वह यह कि शरीर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण शरीर तथा आत्मा का अन्तर धूमिल पड़ जाता है। इसीलिए श्री उद्धव इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भगवान् से प्रश्न पूछते हैं।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनयन भगवान्; महान्तम्—महान्; संशयम्—सन्देह को; हृदि—मेरे हृदय के भीतर; छेत्तुम्—काट देना; अर्हसि—आपको चाहिए कि; सर्व-ज्ञ—हे सर्वज्ञाता; वचोभिः—अपने शब्दों से; नय—तर्क में; नैपुणैः—अत्यन्त निपुण।

हे कमलनयन कृष्ण, हे सर्वज्ञ, कृपया आप अपने उन शब्दों से मेरे हृदय के इस महान् संशय को छिन्न-भिन्न कर दें जो आपकी परम तर्क-पटुता को दिखलाने वाले हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध कर रहे हैं कि वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट करें।

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—आपसे; ज्ञानम्—ज्ञान; हि—निस्सन्देह; जीवानाम्—सजीव प्राणियों का; प्रमोषः—चुराया जाना; ते—आपका; अत्र—इस ज्ञान में; शक्तितः—शक्ति से; त्वम्—आप; एव—एकमात्र; हि—निस्सन्देह; आत्म—आपकी; मायायाः—माया का; गतिम्—असली स्वभाव; वेत्थ—आप जानते हैं; न—नहीं; च—तथा; अपरः—कोई अन्य व्यक्ति।

आपसे ही जीवों का ज्ञान उदय होता है और आपकी शक्ति से वह ज्ञान चला जाता है। निस्सन्देह, आपके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति आपकी माया के असली स्वभाव को नहीं जान सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को भगवान् की अहैतुकी कृपा होने पर ज्ञान प्राप्त होता है और भगवान् की मायाशक्ति से वही ज्ञान जाता रहता है और वह मनुष्य अज्ञान में लीन हो जाता है। जो लोग माया द्वारा मोहित हैं, वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को नहीं समझ सकते। अतएव इस मायामय आवरण को हटाने के लिए उन्हें भगवान् से सुनना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; इति—इस प्रकार; विकल्पः—पूर्ण अन्तर; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; एषः—यह; वैकारिकः—रूपान्तरशील; सर्गः—सृष्टि; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकर—विक्षोभ पर; आत्मकः—आधारित।

भगवान् ने कहा : हे पुरुष-श्रेष्ठ, प्रकृति तथा इसका भोक्ता स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् हैं। यह व्यक्त सृष्टि प्रकृति के गुणों के विक्षोभ पर आधारित होने के कारण निरन्तर रूपान्तरित होती रहती है।

तात्पर्य : *पुरुष* शब्द जीव तथा सर्वोपरि व्यक्ति अर्थात् परमेश्वर का भी सूचक है। भौतिक प्रकृति परिवर्तनशील होने से द्वैत से पूर्ण है, जबकि भगवान् एक तथा सर्वोच्च हैं। भौतिक प्रकृति अपने स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता पर आश्रित है, किन्तु भगवान् पूर्णतया आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र हैं। इसी तरह प्रकृति अचेतन तथा जड़ है, जिसमें आत्म-चेतनता का अभाव है, किन्तु परमेश्वर आत्मनिर्भर एवं सर्वज्ञ हैं। जीव भगवान् की नित्यतता, आनन्द तथा ज्ञान में हाथ बँटाता है और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न भी है।

सर्ग शब्द यहाँ पर शरीर के भौतिक मिश्रण का सूचक है, जो जीव को आच्छादित करता है। शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अतएव वह जीव से सर्वथा भिन्न है, जो शाश्वत एक रहता आ रहा है। दिव्य भगवद्धाम में सृजन, पालन तथा संहार को लेकर कोई संघर्ष या विक्षोभ नहीं होता जैसाकि भौतिक जगत में देखा जाता है। वहाँ पर सारी विविधता कृष्णभावनामृत के दिव्य प्रेमपूर्ण अनुभव में विवेचित की जाती है, जो कि आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अङ्ग—हे उद्धव; माया—भौतिक शक्ति; गुण-मयी—तीन गुणों वाली; अनेकधा—कई प्रकार के; विकल्प—विभिन्न स्वरूप; बुद्धीः—तथा इन अन्तरों की अनुभूतियाँ; च—तथा; गुणैः—गुणों के द्वारा; विधत्ते—स्थापित करती हैं; वैकारिकः—विकारों (परिवर्तनों) की पूरी अभिव्यक्ति; त्रि-विधः—तीन पक्षों वाला; अध्यात्मम्—अध्यात्म कहलाने वाला; एकम्—एक; अथ—तथा; अधिदैवम्—अधिदैव; अधिभूतम्—अधिभूत; अन्यत्—दूसरा।

हे उद्धव, मेरी माया तीन गुणों वाली है और वह उन्हीं के माध्यम से कार्य करती है। सृष्टि की विविधताओं को उनकी अनुभूति करने के लिए वह चेतना की विविधताओं समेत प्रकट करती

है। भौतिक परिवर्तन का व्यक्त परिणाम तीन रूपों में समझा जाता है—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक।

तात्पर्य : *विकल्पबुद्धि:* शब्द सूचित करता है कि विभिन्न भौतिक शरीरों के भीतर की चेतना भगवान् की सृष्टि के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करती है। उदाहरणार्थ, समुद्री पक्षी समुद्र की हवा में तैरता हुआ वायु तथा ऊँचाई की भगवान् की दुनिया का अनुभव करता है। इसी तरह मछली जल के भीतर और अन्य जीव वृक्षों में या पृथ्वी के भीतर जीवन का अनुभव करते हैं। मानव समाज अपनी जागरूकता की झाँकी प्रस्तुत करता है। इसी तरह स्वर्ग तथा नरक में विभिन्न अनुभव प्राप्त हैं। भौतिक चेतना के ये सारे प्रकार भगवान् की माया के अंशरूप प्रकृति के तीन गुणों के ही रूपान्तर हैं।

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति य: स्वत: खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्य:
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धि: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृक्—दृष्टि का कार्य (यथा अध्यात्म); रूपम्—दृश्य रूप (यथा अधिभूत); आर्कम्—सूर्य का; वपु:—आंशिक बिम्ब (यथा अधिदैव); अत्र—इस; रन्ध्रे—(आँख की पुतली के) छिद्र में; परस्परम्—आपस में; सिध्यति—एक-दूसरेकी अभिव्यक्ति करता है; य:—जो; स्वत:—अपनी शक्ति से; खे—आकाश में; आत्मा—परमात्मा; यत्—जो; एषाम्—इन (तीन रूपों) का; अपर:—पृथक्; य:—जो; आद्य:—आदि कारण; स्वया—अपने से; अनुभूत्या—दिव्य अनुभव; अखिल—समस्त; सिद्ध—प्रकट घटना; सिद्धि:—अभिव्यक्ति का स्रोत।

दृष्टि, दृश्यरूप तथा आँख के छिद्र के भीतर सूर्य का बिम्ब—ये तीनों मिल कर एक दूसरे को प्रकट करने का कार्य करते हैं। किन्तु आकाश में स्थित आदि सूर्य स्वत: प्रकट है। इसी तरह समस्त जीवों का आदि कारण परमात्मा, जो सबों से पृथक् है, अपने ही दिव्य अनुभव के प्रकाश से, समस्त प्रकट होने वाली वस्तुओं के परम स्रोत के रूप में कार्य करता है।

तात्पर्य : स्वरूप को आँख के कार्य द्वारा पहचाना जाता है और आँख के कार्य को दृश्यरूप की उपस्थिति से जाना जाता है। दृष्टि तथा स्वरूप की यह अन्योन्य क्रिया देवताओं द्वारा प्रदत्त प्रकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है। इन देवताओं द्वारा विश्व-व्यवस्था की सेवा उनकी उपस्थिति से जानी जाती है जिनको सुव्यवस्थित करना होता है—अर्थात् अपनी आँखों से रूप का अनुभव करने वाले जीवों से। इस तरह तीन कारण अन्योन्याश्रयता के रूप से पाये जाते हैं—*अध्यात्म,* जो आँख जैसी

इन्द्रियों द्वारा प्रदर्शित होता है, *अधिभूत*—इन्द्रिय-विषय यथा रूप तथा *अधिदैव*—नियंत्रक विग्रहों का प्रभाव।

सूर्यमंडल स्वत:व्यक्त, स्वत:प्रकाशित तथा स्वत:अनुभवगम्य कहा जाता है। यह इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों की अन्योन्याश्रयता से सम्बन्ध नहीं रखता यद्यपि यह उनके कार्य को सरल बनाता है। इसी तरह भगवान् सारे जीवों की अन्योन्याश्रयता के अनुभव को सुगम बनाता है। उदाहरणार्थ, समाचार-पत्र, रेडिओ तथा टेलीविजन जनता के लिए विश्व-घटनाओं को सुलभ कराते हैं। माता-पिता अपनी सन्तान को, शिक्षक अपने शिष्यों को, मित्र अपने मित्रों को जीवन-तथ्यों का उद्घाटन कराते हैं। सरकार अपनी इच्छा जनता को और जनता अपनी इच्छा सरकार को बतलाती है। सूर्य तथा चन्द्रमा सारी वस्तुओं के दृश्यरूपों को प्रकट करते हैं तथा ध्वनि की अनुभूति श्रव्य रूप को प्रकट करती है। संगीत या काव्य की ध्वनि अन्य जीवों की आन्तरिक भावनाओं को उद्घाटित करती है और गंध, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अन्य ज्ञान भासित होते हैं। इस तरह इन्द्रियों तथा मन की असंख्य इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया द्वारा विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किन्तु ये सारी सूचनाप्रद अन्योन्य क्रियाएँ भगवान् की चरम प्रकाशक शक्ति पर निर्भर करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* में(५.५२) कहा गया है—*यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्*—सारे ग्रहों में से सूर्य को भगवान् की आँख माना जाता है। भगवान् अपनी दिव्य शक्ति से नित्य सर्वज्ञ हैं, इसलिए कोई भी व्यक्ति उन्हें किसी भी वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं बता सकता। फिर भी जब हम कृष्णभावनामृत में स्तुति करते हैं, तो वे उसे स्वीकार करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतला रहे हैं कि उनके दिव्य गुण व्यक्त जगत के गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार भगवान् समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त—परम दिव्य जीव हैं।

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह से; **त्वक्-आदि**—त्वचा, स्पर्श की अनुभूति तथा वायुदेव; **श्रवण-आदि**—कान, ध्वनि की अनुभूति तथा दिशाओं के देव; **चक्षुः**—आँखें (पिछले श्लोक में वर्णित); **जिह्वा-अदि**—जीभ स्वाद की अनुभूति तथा वरुण देव; **नास-आदि**—नाक घ्राण की अनुभूति तथा अश्विनी कुमार; **च**—भी; **चित्त-युक्तम्**—चेतना समेत (इसमें न केवल बद्ध चेतना तथा उसका विषय एवं अधिष्ठाता वासुदेव के साथ मन, चिंतन का विषय तथा चन्द्र देव, बुद्धि तथा ब्रह्मा, अहंकार तथा रुद्र देव सम्मिलित हैं)।

इसी तरह से त्वचा, कान, आँखें, जीभ तथा नाक जैसी इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म शरीर के

कार्यों—यथा बद्ध चेतना, मन, बुद्धि तथा अहंकार—की व्याख्या इन्द्रिय, अनुभूति के विषय तथा अधिष्ठाता देव के तेहरे अन्तर के रूप में की जा सकती है।

तात्पर्य : आत्मा का इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों तथा अधिष्ठाता देवों के अन्योन्याश्रित कार्यों से कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। जीव मूलत: शुद्ध आत्मा है और वैकुण्ठ-लोक में वह भगवान् पर आश्रित रहने के लिए है। इसलिए पदार्थ तथा आत्मा को एक ही कोटि में व्याख्यायित करने का प्रयास व्यर्थ होगा क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् की विभिन्न शक्तियों से होता है। इस तरह भगवान्, उनके धाम तथा अपने आप को देखने का कार्य शुद्ध कृष्णभावनामृत में अनुभव किये जाने वाली भौतिक विधि से सर्वथा विपरीत है।

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकार:
प्रधानमूलान्महत: प्रसूत: ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

य: असौ—यह; गुण—प्रकृति के गुणों के; क्षोभ—क्षुब्ध होने से; कृत:—उत्पन्न; विकार:—रूपान्तर; प्रधान-मूलात्—प्रधान से उत्पन्न; महत:—महत तत्त्व से; प्रसूत:—उत्पन्न; अहम्—अहंकार; त्रि-वृत्—तीन अवस्थाओं में; मोह—मोह का; विकल्प—भौतिक विविधता; हेतु:—कारण; वैकारिक:—सतोगुण में सात्विक; तामस:—तमोगुण में तामस; ऐन्द्रिय:—रजोगुणी राजस; च—तथा।

जब प्रकृति के तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं, तो जो विकार उत्पन्न होता है, वह अहंकार तत्त्व की तीन अवस्थाओं में प्रकट होता है—ये हैं सात्विक, तामस तथा राजस। यह अहंकार जो महत तत्त्व से उत्पन्न होता है और जो स्वयं भी अव्यक्त प्रधान से उत्पन्न है, समस्त भौतिक मोह तथा द्वैत का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : तीन गुणों के साथ पहचान के अपने अहंकार को छोड़ कर मनुष्य शुद्ध आदि अवस्था, कृष्णभावनामृत, प्राप्त कर सकता है। *मोहविकल्पहेतु:* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अहंकारवश अपने को प्रकृति का भोक्ता समझता है और इस तरह सुख-दुख के रूप में भौतिक द्वैत का मिथ्या भाव उत्पन्न कर लेता है। अहंकार तो तब हटता है जब मनुष्य अपने को पूर्ण कृष्णभावनामृत में भगवान् का नित्य दास समझता है।

आत्मापरिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आत्म—परमात्मा का; अपरिज्ञान-मयः—पूर्ण ज्ञान के अभाव पर आधारित; विवादः—काल्पनिक तर्क-वितर्क; हि—निस्सन्देह; अस्ति—(यह जगत) सत्य है; इति—ऐसा कहते हुए; न अस्ति—सत्य नहीं है; इति—ऐसा कहते हुए; भिदा—भौतिक अन्तर; अर्थ-निष्ठः—विवाद का केन्द्रबिन्दु मानते हुए; व्यर्थः—व्यर्थ; अपि—यद्यपि; न—नहीं; एव—निश्चय ही; उपरमेत—शान्त हो जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; मत्तः—मुझसे; परावृत्त—विमुख; धियाम्—ध्यान; स्व-लोकात्—जो उनसे अभिन्न हैं।

दार्शनिकों का यह काल्पनिक विवाद कि, ''यह जगत सत्य है, अथवा यह जगत सत्य नहीं है'' परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है और भौतिक द्वैत को समझने के लिए ही है। यद्यपि ऐसा विवाद व्यर्थ है किन्तु जिन व्यक्तियों ने अपने वास्तविक आत्म रूप मुझसे, अपना ध्यान हटा लिया है, वे इसे त्याग पाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् के अस्तित्व के बारे में सन्देह करता है, तो वह भगवान् की सृष्टि की सत्यता के बारे में अवश्य ही सन्देह करेगा। इस तरह भगवान् कृष्ण को समझे बिना मात्र भौतिक जगत की सत्यता तथा असत्यता के विषय में तर्क या वाद-विवाद करना व्यर्थ है। यह भौतिक जग इसलिए सत्य है क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उद्भूत है। भगवान् कृष्ण की सत्यता को समझे बिना कोई व्यक्ति उनकी सृष्टि की सत्यता का निश्चित रूप से पता नहीं लगा सकता। उसे सदैव आश्यर्च होता रहेगा कि मैं सचमुच किसी वस्तु को देख रहा हूँ या केवल यह सोच रहा हूँ कि मैं उसे देख रहा हूँ। ऐसी कल्पना को भगवान् की शरण में गये बिना सुलझाया नहीं जा सकता; अतएव यह व्यर्थ है। भगवान् के भक्तों को ऐसा विवाद पसन्द नहीं है क्योंकि वे वास्तव में आध्यात्मिक प्रबुद्धता की ओर अग्रसर हो रहे हैं और कृष्णभावनामृत के अति सुन्दर अनुभव से पूरी तरह सन्तुष्ट रहते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।
उच्चावचान्यथा देहान्गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥ ३५॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।
न ह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; त्वत्तः—आप से; परावृत्त—पराङ्मुख; धियः—जिनके मन; स्व-कृतैः—अपने द्वारा किये गये; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; प्रभो—हे प्रभु; उच्च-अवचान्—उच्चतर तथा निम्नतर; यथा—जिस तरह; देहान्—भौतिक शरीरों को; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विसृजन्ति—त्याग देते हैं; च—तथा; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्याहि—कृपा करके बतलाइये; गोविन्द—हे गोविन्द; दुर्विभाव्यम्—समझना असम्भव; अनात्मभिः—जो बुद्धिमान नहीं हैं उनके द्वारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतत्—इसके विषय में; प्रायशः—अधिकांशतः; लोके—इस जगत में; विद्वांसः—जानने योग्य; सन्ति—हैं; वञ्चिताः—ठगेहुए (माया द्वारा)।

श्री उद्धव ने कहा : हे परम स्वामी, सकाम कर्मियों की बुद्धि निश्चय ही आपसे विमुख होती है। अतः कृपा करके यह बतलायें कि ऐसे लोग किस तरह अपने भौतिकतावादी कार्यों से उच्च तथा निम्न शरीर ग्रहण करते हैं और फिर उनका त्याग करते हैं? हे गोविन्द, यह विषय मूर्खों की समझ में आने वाला नहीं है। वे इस जगत में माया से ठगे जाने पर भी इस तथ्य से अवगत नहीं हो पाते।

तात्पर्य : ईश-विज्ञान को जिसमें उन लोगों के निषेधात्मक परिणामों का वर्णन सम्मिलित है, जो भगवान् के साथ अपना शाश्वत सम्बन्ध भूल गए हैं, समझे बिना कोई बुद्धिमान नहीं माना जा सकता; ऐसे कई तथाकथित बुद्धिमान लोग हैं किन्तु वे अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझने पर भी भगवान् की परम बुद्धिमत्ता की शरण में नहीं जाते। इस तरह तीन गुणों के बीच अपने अपने पदों के अनुसार वे नाना प्रकार के दर्शन-सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। किन्तु उसी माया से उत्पन्न दर्शन-सिद्धान्त से प्रकृति के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। मोक्ष तो पूर्ण ज्ञान से प्राप्त किया जाता है, जो सीधे भगवद्धाम से आता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके अधिकार प्रदत्त प्रतिनिधियों से श्रवण करके मनुष्य आसानी से मोक्ष पा सकता है और भगवद्धाम जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच
मनः कर्ममयं णृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मनः—मन; कर्म-मयम्—कर्म द्वारा निर्मित; नृणाम्—मनुष्यों की; इन्द्रियैः—इन्द्रियों समेत; पञ्चभिः—पाँच; युतम्—संयुक्त; लोकात्—एक संसार से; लोकम्—दूसरे जगत को; प्रयाति—यात्रा करता है; अन्यः—पृथक्; आत्मा—आत्मा; तत्—वह मन; अनुवर्तते—अनुगमन करता है।

भगवान् कृष्ण ने कहा : मनुष्यों का भौतिक मन सकाम कर्मों के फल से निर्मित होता है। वह पाँच इन्द्रियों के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में विचरण करता है। यद्यपि आत्मा मन से भिन्न है, किन्तु वह उसका अनुगमन करता है।

**ध्यायन्मनोऽनु विषयान्दृष्टान्वानुश्रुतानथ ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

ध्यायत्—ध्यान करता; मनः—मन; अनु—नियमित रूप से; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों को; दृष्टान्—देखा हुआ; वा—अथवा; अनुश्रुतान्—वैदिक प्रमाण से सुना हुआ; अथ—फलस्वरूप; उद्यत्—उदय होता; सीदत्—विलीन करते; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्मों के फलों से बँधा; स्मृतिः—स्मृति; तत् अनु—उसके बाद; शाम्यति—नष्ट हो जाता है।

सकाम कर्मों के फलों से बँधा हुआ मन सदैव उन इन्द्रिय-विषयों का ध्यान करता है, जो इस जगत में दिखते हैं और उन विषयों का भी जो वैदिक विद्वानों से सुने जाते हैं। फलस्वरूप मन अपनी अनुभूति की वस्तुओं के साथ उत्पन्न और विनष्ट होता प्रतीत होता है। इस तरह भूत तथा भविष्य में अन्तर करने की इसकी क्षमता जाती रहती है।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर अथवा मन एक शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भौतिक शरीरों में इस तरह का प्रवेश तथा उनका परित्याग जन्म तथा मृत्यु कहलाते हैं। मनुष्य अपनी वर्तमान इन्द्रियों का उपयोग इस जगत की दृश्य वस्तुओं—सुन्दरियों, बड़े बड़े महलों इत्यादि—के बारे में ध्यान करने में करता है और इसी तरह वह वेदों में वर्णित स्वर्गलोक का दिवास्वप्न देखता है। मृत्यु होने पर मन ऐसी अनुभव की जाने वाली वस्तुओं से विलग होकर नवीन शरीर में प्रवेश करता है जहाँ उसे नये इन्द्रिय-विषयों का अनुभव होता है। जब मन पूरी तरह बदल जाता है, तो उसकी पूर्व मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है और जिस तरह नया मन बनता है उसे भी भूल जाता है यद्यपि मन वही होता है किन्तु भिन्न तरीके से अनुभव करता है।

बद्धजीव भौतिक अनुभवों के निरन्तर प्रवाह से जिसमें प्रत्यक्ष अनुभूति तथा इस जगत के विषयों का अमूर्त चिन्तन मिला रहता है, अभिभूत होता है। इस तरह वह ईश्वर से अपने सम्बन्ध की दिव्य स्मृति को भुला बैठता है। ज्योंही वह अपनी पहचान इस जगत से करने लगता है, त्योंही वह अपनी नित्य पहचान भूल जाता है और माया द्वारा उत्पन्न मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो जाता है।

**विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

विषय—नवीन अनुभूति के विषयों में; अभिनिवेशेन—तल्लीनता से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने पूर्व आत्मा को; यत्—जिस स्थिति में; स्मरेत्—स्मरण करता है; पुनः—और आगे; जन्तोः—जीव का; वै—निस्सन्देह; कस्यचित् हेतोः—किसी न किसी बहाने; मृत्युः—मृत्यु नामक; अत्यन्त—पूर्ण; विस्मृतिः—विस्मरण।

जब जीव वर्तमान शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, जो उसके अपने कर्म से उत्पन्न होता है, तो वह नये शरीर की आनन्दप्रद तथा पीड़ादायक अनुभूतियों में लीन हो जाता है और पहले वाले शरीर के अनुभव को पूरी तरह भूल जाता है। इस तरह से पूर्व भौतिक पहचान की पूर्ण विस्मृति, जो किसी न किसी बहाने उत्पन्न होती है, मृत्यु कहलाती है।

तात्पर्य : अपने कर्म के अनुसार मनुष्य सुन्दर, धनी या शक्तिशाली शरीर प्राप्त कर सकता है या फिर अत्यन्त गर्हित जीवन-दशा को प्राप्त हो सकता है। जीव स्वर्ग या नरक में जन्म लेकर अपने अहंकार की पहचान इस नये शरीर से पूरी तरह करने लगता है और नए शरीर के हर्ष, भय, ऐश्वर्य या कष्ट में लीन हो जाने से पहले वाले शरीर के अनुभवों को पूरी तरह भूल जाता है। मृत्यु तब होती है जब भौतिक शरीर का निर्धारित कर्म समाप्त हो जाता है। चूँकि शरीर विशेष का कर्म समाप्त हो जाता है, अतएव वह मन पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इस तरह मनुष्य अपने पहले के शरीर को भूल जाता है। नया शरीर प्रकृति द्वारा सृजित होता है ताकि मनुष्य अनुभव कर सके कि उसका कर्म अभी भी प्रभावशाली है। फलस्वरूप मनुष्य की सारी चेतना उसके वर्तमान शरीर में लीन हो जाती है, जिससे वह अपने विगत कर्मों के फलों का पूरी तरह अनुभव कर सके। चूँकि जीव अपनी मिथ्या पहचान शरीर से करता है, अतएव शारीरिक मृत्यु को आत्मा की मृत्यु मान लिया जाता है। किन्तु वास्तव में आत्मा शाश्वत है, जिसका न तो सृजन होता है, न संहार। आत्म-साक्षात्कार का यह विश्लेषणात्मक ज्ञान कृष्णभावनामृत में सहज ही ज्ञेय बन जाता है।

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; तु—तथा; आत्मतया—अपने साथ पहचान से; पुंसः—पुरुष की; सर्व-भावेन—पूरी तरह; भूरि-द—हे अत्यन्त दानी उद्धव; विषय—शरीर का; स्वी-कृतिम्—स्वीकृति; प्राहुः—कहलाती है; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपना; मनः-रथः—या मानसिक विलास।

हे परम दानी उद्धव, जिसे जन्म कहा जाता है, वह नवीन शरीर के साथ मनुष्य की पूर्ण पहचान ही है। मनुष्य नया शरीर उसी तरह स्वीकार करता है, जिस तरह कोई स्वप्न के अनुभव

या मनोविलास को सत्य मान लेता है।

तात्पर्य : अपने शरीर के साथ पहचान अपने मित्रों या सम्बन्धियों के लिए अनुभव किये जाने वाले स्नेह तथा आकर्षण को पार कर जाती है। *सर्वभावेन* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य भौतिक शरीर को पूरी तरह स्व मान लेता है, जिस तरह स्वप्न के अनुभव को सत्य मान लिया जाता है। व्यावहारिक कर्म के बिना कोरी कल्पना दिवास्वप्न कहलाती है और सोते समय जो मनोकल्पना उत्पन्न होती है, वह स्वप्न कहलाती है। अपने शरीर से अपनी पहचान तथा शारीरिक सम्बन्धों को आँख मूँद कर स्थायी मान बैठना एक लम्बा स्वप्न या मनोविलास है, जिसमें मनुष्य अपने को भगवान् से पृथक् मानता है। इसलिए जन्म किसी नये जीव की उत्पत्ति का सूचक नहीं होता अपितु आत्मा द्वारा नये भौतिक शरीर की आँख मूँद कर स्वीकृति है।

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वम्चानुपश्यति ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्नम्—स्वप्न; मनः-रथम्—दिवास्वप्न; च—तथा; इत्थम्—इस प्रकार; प्राक्तनम्—पूर्ववर्ती; न स्मरति—स्मरण नहीं करता; असौ—वह; तत्र—उस (वर्तमान शरीर) में; पूर्वम्—पूर्ववर्ती, पिछला; इव—मानो; आत्मानम्—स्वयं; अपूर्वम्—जिसका भूतकाल न हो; च—तथा; अनुपश्यति—देखता है।

जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न या दिवास्वप्न का अनुभव करते हुए अपने पहले के स्वप्नों या दिवास्वप्नों को स्मरण नहीं रख पाता, उसी तरह अपने वर्तमान शरीर में स्थित मनुष्य इसके पूर्व विद्यमान होने पर भी यही सोचता है कि वह अभी हाल ही में उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि कभी कभी स्वप्न का अनुभव करते हुए मनुष्य अपना पिछला स्वप्न याद रखता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका यह उत्तर देते हैं कि *जातिस्मर* की योगशक्ति से मनुष्य अपने पूर्व शरीर को याद रख सकता है। और जैसाकि सर्वविदति है ''अपवाद से नियम की पुष्टि होती है''। सामान्यतया बद्धजीवों को अपना विगत अस्तित्व स्मरण नहीं रहता। वे तो यही सोचते हैं ''मैं छह वर्ष का हो गया'' ''मैं तीस वर्ष का हूँ'' तथा ''मैं इसके पूर्व नहीं था''। ऐसे भौतिक अज्ञान में मनुष्य आत्मा की वास्तवकि स्थिति को समझ नहीं पाता।

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।

बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रिय-अयन—इन्द्रियों के वास (मन) द्वारा; सृष्ट्या—सृष्टि होने से (नये शरीर के साथ पहचान से); इदम्—यह; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार का (उच्च, मध्य तथा निम्न श्रेणी का); भाति—प्रकट होता है; वस्तुनि—वास्तविकता (आत्मा) में; बहिः—बाह्य; अन्तः—तथा आन्तरिक; भिदा—अन्तरों का; हेतुः—कारण; जनः—व्यक्ति; असत्-जन—बुरे व्यक्ति का; कृत्—जनक; यथा—जिस तरह।

चूँकि मन, जो कि इन्द्रियों का आश्रय है, नवीन शरीर के साथ अपनी पहचान कर लेता है अतएव उच्च, मध्यम तथा निम्न—ये तीन भौतिक श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होने लगती हैं मानो आत्मा की असलियत के भीतर उपस्थित हों। इस तरह आत्मा बाह्य तथा अन्तः द्वैत उत्पन्न करता है, जिस तरह मनुष्य कुपुत्र को जन्म दे।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों की सम्पत्ति, सौन्दर्य, बल, बुद्धि, यश तथा वैराग्य को भौतिक अवस्था के अनुसार उत्तम, सामान्य या निकृष्ट माना जाता है। आत्मा किसी शरीर को प्राप्त करता है और अपने को तथा अन्यों को उनकी भौतिक अवस्था के अनुसार उच्च, मध्यम या निम्न श्रेणी का मानता है। वस्तुतः शाश्वत आत्मा भौतिक द्वैत के परे होता है लेकिन वह भूलवश भौतिक अवस्था को अपना मान बैठता है। *असज्जन कृद् यथा* पद महत्त्वपूर्ण है। स्वभाव से पिता शान्त हो सकता है किन्तु यदि उसका पुत्र किसी विपत्ति में फँस जाता है, तो पिता को बाध्य होकर उसे छुड़ाना पड़ता है और अपने पुत्र के शत्रुओं को परिवार का शत्रु मानना पड़ता है। इस तरह कुपुत्र अपने पिता को झंझट में डाल देता है। इसी प्रकार से आत्मा के समक्ष कोई अपनी स्वाभाविक समस्या नहीं रहती, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान करने से आत्मा शरीर के सुख-दुख में फँस जाता है। इस श्लोक के साथ भगवान् शरीर तथा आत्मा विषयक अपनी व्याख्या का सार-समाहार करते हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नित्यदा—निरन्तर; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे उद्धव; भूतानि—सृजित शरीर; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; न भवन्ति—नहीं रहते; च—तथा; कालेन—समय द्वारा; अलक्ष्य—अदृश्य; वेगेन—वेग से; सूक्ष्मत्वात्—अत्यन्त सूक्ष्म होने से; तत्—वह; न दृश्यते—नहीं दिखलाई पड़ती।

हे उद्धव, भौतिक शरीर काल के अदृश्य तीव्र वेग से निरन्तर उत्पत्ति तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। सूक्ष्म प्रकृति होने से काल को कोई देख नहीं पाता।

यथार्चिषां स्त्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **अर्चिषाम्**—दीपक की लौ; **स्त्रोतसाम्**—नदी की धाराओं के; **च**—तथा; **फलानाम्**—फलों के; **वा**—अथवा; **वनस्पतेः**—वृक्ष के; **तथा**—इस तरह; **एव**—निश्चय ही; **सर्व-भूतानाम्**—सारे शरीरों के; **वयः**—विभिन्न आयु के; **अवस्था**—अवस्था; **आदयः**—इत्यादि; **कृताः**—उत्पन्न की जाती हैं।.

समस्त भौतिक शरीरों के रूपान्तर की विभिन्न अवस्थाएँ उसी तरह बदलती रहती हैं जिस तरह दीपक की लौ, नदी की धारा या वृक्ष के फल बदलते रहते हैं।

तात्पर्य : दीपक की लौ कभी तेज होती है, तो कभी मन्द होती है और अन्त में बुझ जाती है। बहती हुई नदी की लहरें कभी उठती और कभी गिरती हैं जिससे असंख्य आकार तथा नक्शे बनते हैं। वृक्ष में फल लगते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं, मीठे होते हैं और फिर सड़ कर नष्ट हो जाते हैं।इसी तह मनुष्य यह समझ सकता है कि उसके शरीर में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और शरीर निश्चय ही बुढ़ापे, रोग तथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जीवन के विभिन्न कालों में शरीर में संभोग शक्ति, शारीरिक शक्ति, इच्छा, ज्ञान इत्यादि प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों शरीर पुराना पड़ता है, शारीरिक शक्ति घटती है किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद भी ज्ञान में बढ़ोतरी हो सकती है।

भौतिक जन्म तथा मृत्यु एक निश्चित काल खण्ड में होते हैं। भौतिक वस्तु का जन्म, उत्पत्ति या उत्पादन तुरन्त ही भौतिक जगत में इस सूक्ष्म काल खण्ड से अपने को जोड़ लेता है। इस तरह इसका विनाश या मृत्यु अवश्यम्भावी है। काल का अप्रतिहत वेग इतनी सूक्ष्मता से आगे बढ़ता है कि केवल अत्यन्त बुद्धिमान ही इसे देख पाता है। जिस तरह दीपक की लौ धीरे धीरे मन्द पड़ती जाती है, जिस तरह गतिमान धाराएँ नदी के भीतर बहती हैं अथवा जिस तरह वृक्ष में फल धीरे धीरे पक जाता है, उसी तरह भौतिक शरीर अपरिहार्य मृत्यु के निकट पहुँचता रहता है। अतएव अपरिहार्य क्षणभंगुर शरीर और नित्य, अपरिवर्तनशील आत्मा में भ्रम नहीं होना चाहिए।

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्त्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—यह; अयम्—वही; दीपः—प्रकाश; अर्चिषाम्—दीपक की ज्योति; यद्वत्—जिस तरह; स्रोतसाम्—नदी के भीतर बहने वाली धाराओं के; तत्—वह; इदम्—वही; जलम्—जल; सः—यह; अयम्—वही; पुमान्—व्यक्ति; इति—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; मृषा—झूठा; गीः—कथन; धीः—विचार; मृषा-आयुषाम्—व्यर्थ जीवन बिताने वालों के।

यद्यपि दीपक-प्रकाश में प्रकाश की असंख्य किरणों का सृजन, रूपान्तर और क्षय होता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति जब क्षण-भर के लिए इस प्रकाश को देखता है, तो वह यह झूठी बात कहेगा, "यह दीपक का वही प्रकाश है।" जिस तरह प्रवाहित नदी के जल को जो निरन्तर बह कर आगे बढ़ता जाता है, किसी एक बिंदु को देख कर कोई यह मिथ्या कहे, "यह नदी का वही जल है।" इसी तरह यद्यपि मनुष्य का शरीर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, किन्तु जो लोग अपने जीवन को व्यर्थ गँवाते हैं, वे झूठे ही यह सोचते और कहते हैं कि शरीर की प्रत्येक विशेष अवस्था उस व्यक्ति की असली पहचान है।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य कह सकता है कि, "यह दीपक का वही प्रकाश है" किन्तु प्रतिक्षण असंख्य प्रकाश किरणें उत्पन्न होतीं, परिवर्तित होतीं और नष्ट होती रहती हैं। इसी तरह यद्यपि मनुष्य यह कह सकता है नदी का जल वही है किन्तु विभिन्न जल-अणु निरन्तर बहते जाते हैं। इसी तरह जब कोई किसी बालक से मिलता है, तो वह शरीर की इस क्षणिक अवस्था को उस व्यक्ति की असली पहचान उस बालक के रूप में मान लेता है। इसी तरह वृद्ध शरीर को वह वृद्ध पुरुष मान बैठता है। किन्तु तथ्य तो यह है कि मनुष्य का शरीर दीपक की लौ अथवा नदी के प्रवाह की तरह प्रकृति के जो भगवान् की शक्ति है, गुणों का रूपान्तर मात्र है। पुरुष की असली पहचान आत्मा है, जो कि कृष्ण का अंश है किन्तु इस श्लोक में भगवान् कृष्ण यह सिद्ध करते हैं कि बद्धजीव काल की सूक्ष्म गति को देखने या समझने में अक्षम है। मनुष्य भौतिक चेतना की स्थूल दृष्टि से कालरूपी भगवान् द्वारा प्रेरित जगत के सूक्ष्म खण्ड को निश्चित नहीं कर पाता। इस श्लोक का *मृषायुषाम्* शब्द उनको सूचित करता है, जो भगवान् के आदेशों को समझे बिना अपना समय अज्ञान में नष्ट करते हैं। ऐसे व्यक्ति शरीर की किसी भी अवस्था को शरीर के भीतर स्थित आत्मा की सही पहचान मान बैठते हैं। किन्तु क्योंकि आत्मा में भौतिक परिवर्तन नहीं होते, अतः जब वह आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति के नित्य विविध आनन्द में अपने को लगाता है, तो उसे अज्ञान तथा कष्ट का और अधिक सामना नहीं करना पड़ता।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।

म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; स्वस्य—अपने ही; कर्म-बीजेन—कर्म के बीज से; जायते—जन्म लेता है; सः—वह; अपि—निस्सन्देह; अयम्—यह; पुमान्—पुरुष; म्रियते—मरता है; वा—अथवा; अमरः—अमर; भ्रान्त्या—भ्रान्ति के कारण; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारु—काष्ठ से; संयुतः—जुड़ी हुई।

मनुष्य न तो पूर्वकर्म के बीज से जन्म लेता है न ही अमर होने के कारण मरता है। मोह के कारण जीव जन्म लेता तथा मरता प्रतीत होता है, जिस तरह काष्ठ के संसर्ग से अग्नि जलती और फिर बुझती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : यद्यपि इस संसार में अग्नि शाश्वत विद्यमान है किन्तु किसी लकड़ी के टुकड़े विशेष के संसर्ग में वह कभी दिखती है और कभी बुझती है। इसी तरह जीव शाश्वत है किन्तु विशिष्ट शरीर के सन्दर्भ में वह जन्म लेता और मरता है। इस तरह कर्मफल जीव पर भ्रामक कष्ट अथवा सुख लादते हैं किन्तु वे जीव के नित्य स्वभाव को अपने आप बदल लेने पर विवश नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कर्म मोह के चक्र को सूचित करता है, जिसमें एक भ्रामक कर्म से दूसरे का जन्म होता है। कृष्णभावनामृत जीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति के दिव्य कार्यों में लगाकर कर्म के इस चक्र को रोक देता है। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य कर्मफल की मोहमयी जंजीर से बच सकता है।

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥ ४७॥

शब्दार्थ

निषेक—गर्भस्थापन; गर्भ—गर्भवृद्धि; जन्मानि—तथा जन्म; बाल्य—बाल्यकाल, बचपन; कौमार—कुमार अवस्था; यौवनम्—तथा युवावस्था; वयः-मध्यम्—बीच की (अधेड़) आयु; जरा—बुढ़ापा; मृत्युः—मृत्यु; इति—इस प्रकार; अवस्थाः—अवस्थाएँ; तनोः—शरीर की; नव—नौ।

गर्भस्थापन, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, युवावस्था, अधेड़ आयु, बुढ़ापा तथा मृत्यु—ये शरीर की नौ अवस्थाएँ हैं।

एता मनोरथमयीर्हान्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; मनः-रथः-मयीः—मन के चिंतन द्वारा प्राप्त; ह—निश्चय ही; अन्यस्य—(आत्मा से पृथक्) शरीर का; उच्च—बड़ा; अवचाः—तथा छोटा; तनूः—शारीरिक अवस्था; गुण-सङ्गात्—प्रकृति के गुणों की संगति करने से; उपादत्ते—स्वीकार करता है; क्वचित्—कभी कभी; कश्चित्—कोई; जहाति—त्याग देता है; च—तथा।

यद्यपि भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है, किन्तु भौतिक संगति के कारण उत्पन्न अज्ञान से मनुष्य झूठे ही अपनी पहचान उच्च तथा निम्न शारीरिक अवस्थाओं से करता है। कभी कभी भाग्यशाली व्यक्ति ऐसी मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति को भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त होती है, वह शारीरिक पहचान की मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है। इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; पितृ—पिता या पूर्वजों; पुत्राभ्याम्—तथा पुत्र से; अनुमेयौ—यह अनुमान लगाया जा सकता है; भव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; न—नहीं है; भव-अप्यय-वस्तूनाम्—जन्म तथा मृत्यु के अधीन सारी वस्तुओं का; अभिज्ञः—भलीभाँति जानने वाला; द्वय—इन द्वैतों से; लक्षणः—लक्षित होता है।.

अपने पिता या पितामह की मृत्यु से मनुष्य अपनी मृत्यु का अनुमान लगा सकता है और अपने पुत्र के जन्म से वह अपने जन्म की अवस्था समझ सकता है। इस तरह जो व्यक्ति यथार्थरूप से भौतिक शरीरों की उत्पत्ति को समझ लेता है, वह इन द्वैतों में नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् ने भौतिक शरीर की गर्भाधान, गर्भवृद्धि तथा जन्म से लेकर नौ अवस्थाओं का वर्णन किया है। यह तर्क किया जा सकता है कि जीव को अपने माता के गर्भ में रहने, या अपने जन्म तथा शिशुपने का स्मरण नहीं रह सकता। इसीलिए भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि मनुष्य अपने पुत्र का अध्ययन करके शरीर की इन अवस्थाओं का अनुभव कर सकता है। इसी तरह अपने पिता, पितामह या प्रपितामह की मृत्यु के अनुभव से यह निश्चित प्रमाण मिलता है कि भौतिक शरीर मरता है यद्यपि मनुष्य सदा जीवित रहने की आशा कर सकता है। इसीलिए गम्भीर व्यक्ति आत्मा को शाश्वत मान कर और क्षणिक, अविश्वसनीय शरीर की झूठी पहचान त्याग कर भगवान् की भक्ति की शरण ग्रहण करता है। इस तरह वह जन्म-मृत्यु के नकली आरोप से बच सकता है।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तरोः—वृक्ष का; बीज—बीज; विपाकाभ्याम्—परिपक्वता; यः—जो; विद्वान्—ज्ञानी; जन्म—जन्म; संयमौ—तथा मृत्यु के; तरोः—वृक्ष से; विलक्षणः—स्पष्ट; द्रष्टा—साक्षी; एवम्—इसी तरह से; द्रष्टा—साक्षी; तनोः—भौतिक शरीर का; पृठक्—पृथक् है।.

जो व्यक्ति बीज से वृक्ष को जन्म लेते देखता है और परिपक्वता प्राप्त करने पर उस वृक्ष की मृत्यु को भी देखता है, वह निश्चित रूप से वृक्ष से पृथक् रह कर स्पष्ट साक्षी बन जाता है। इसी तरह भौतिक शरीर के जन्म तथा मृत्यु का साक्षी शरीर से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : वृक्षों के सन्दर्भ में *विपाक* अन्तिम परिवर्तन को सूचित करता है, जिसे मृत्यु कहते हैं। धान जैसे अन्य पौधों के प्रसंग में *विपाक्* परिपक्वता का सूचक है और उसमें भी मृत्यु होती है। इस तरह सामान्य अवलोकन द्वारा मनुष्य अपने शरीर की वास्तविक स्थिति तथा दिव्य द्रष्टा के रूप में अपनी स्थिति को समझ सकता है।

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—आत्मा; अविविच्य—भेद न कर पाने से; अबुधः—अज्ञानी; पुमान्—पुरुष; तत्त्वेन—(भौतिक वस्तुओं को) असली समझ कर; स्पर्श—स्पर्श से; सम्मूढः—पूर्णतया मोहित; संसारम्—भव-चक्र; प्रतिपद्यते—प्राप्त करता है।.

अज्ञानी व्यक्ति अपने को प्रकृति से अलग न समझ पाने से प्रकृति को सत्य समझता है। इसके सम्पर्क से वह पूर्णतया मोहित हो जाता है और संसार-चक्र में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : इसी तरह का श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.७.५) आ चुका है—

यया सम्मोहितो जीव आत्मानम् त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥

"यद्यपि जीव तीन गुणों से परे है, किन्तु इस महामाया के कारण वह अपने को भौतिक उपज मानता है और इसीलिए भौतिक कष्टों के फल भोगता है।"

सत्त्वसङ्गादृषीन्देवान्रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-सङ्गात्—सतोगुण के साथ से; ऋषीन्—ऋषियों को; देवान्—देवताओं को; रजसा—रजोगुण के द्वारा; असुर—असुरों को; मानुषान्—तथा मनुष्यों को; तमसा—तमोगुण द्वारा; भूत—भूतप्रेतों को; तिर्यक्त्वम्—पशु-जगत को; भ्रामितः—घुमाया गया; याति—जाता है; कर्मभिः—अपने सकाम कर्मों के कारण।

अपने सकाम कर्म के कारण घूमने के लिए बाध्य हुआ, बद्ध आत्मा सतोगुण के सम्पर्क से ऋषियों या देवताओं के बीच जन्म लेता है। रजोगुण के सम्पर्क से वह असुर या मनुष्य बनता है और तमोगुण की संगति से वह भूतप्रेत या पशु-जगत में जन्म लेता है।

तात्पर्य : *तिर्यक्त्वम्* का अर्थ है ''पशुत्व'' जिसमें सभी निम्न जीव योनियाँ जैसे जंगली जानवर, पक्षी, कीट, मछली, पौधे सम्मिलित हैं।

नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५३॥

शब्दार्थ

नृत्यतः—नाचते हुए पुरुष; गायतः—तथा गाते हुए; पश्यन्—देखते हुए; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; अनुकरोति—अनुकरण करता है; तान्—उनको; एवम्—इस तरह; बुद्धि—बुद्धि का; गुणान्—अर्जित गुणों को; पश्यन्—देखते हुए; अनीहः—स्वयं कार्य में रत न होकर; अपि—फिर भी; अनुकार्यते—अनुकरण कराया जाता है।

जिस तरह नाचते तथा गाते हुए व्यक्तियों को देख कर कोई व्यक्ति उनका अनुकरण करता है, उसी तरह आत्मा सकाम कर्मों का कर्ता न होते हुए भी, भौतिक बुद्धि द्वारा मोहित हो जाता है और उसके गुणों का अनुकरण करने के लिए बाध्य हो जाता है।

तात्पर्य : कभी कभी लोग पेशेवर गवैयों तथा नर्तकों पर मुग्ध होकर उनकी तान तथा लयों का उनकी रोमांचक, विनोदपूर्ण एवं शौर्ययुक्त भावनाओं के साथ अपने मनों में अनुकरण करते हैं। वे रेडिओं में सुनाई पड़ने वाले गीत गाते हैं और टेलीविजन या चित्रपटों या रंगमंचों पर देखे गयेनृत्यों तथा नाटकीय क्रियाकलापों का अनुकरण करते हैं और इस तरह वे कलाकार के भावों तथा कला तक पहुँचते हैं। इसी तरह बद्ध आत्मा भौतिक मन तथा बुद्धि के मनोरथों पर मुग्ध होता है और वे उसे आश्वस्त करते हैं कि वह भौतिक जगत का भोक्ता बन सकता है। इस तरह बद्ध आत्मा भौतिक शरीर से पृथक् होते हुए तथा कभी भी उसके कर्मों का कर्ता न होते हुए भी अपने शरीर को भौतिक कार्यों में लगाता है, जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक बुद्धि की अवैध योजनाओं को स्वीकार न करे प्रत्युत वह भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णतया लगाये।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुसा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५४॥
यथा मनोरथधियो विषय्यानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५५॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिवान्, चलायमान; तरवः—वृक्ष; अपि—निस्सन्देह; चलाः—चलते हुए, गतिवान्; इव—; चक्षुषा—; भ्राम्यमाणेन—; दृश्यते—; भ्रमती—; इव—; भूः—; यथा—; मनः-रथ—; धियः—; विषय—; अनुभवः—; मृषा—; स्वप्न-दृष्टः—; च—; दाशार्ह—; तथा—; संसारः—; आत्मनः—.

हे दशार्ह वंशज, आत्मा का भौतिक जीवन, इन्द्रियतृप्ति का उसका अनुभव वास्तव में उसी तरह झूठा होता है, जिस तरह क्षुब्ध जल में प्रतिबिम्बित वृक्षों का हिलना-डुलना या आँखों को चारों ओर घुमाने से पृथ्वी का घूमना या कल्पना अथवा स्वप्न का जगत होता है।

तात्पर्य : जब क्षुब्ध जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वे हिलते प्रतीत होते हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति चल रही नाव में बैठा होता है, तो किनारे के वृक्ष चलते हुए लगते हैं। जब हवा चलने से पानी में लहरें उत्पन्न होती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि जल गतिशील है, किन्तु वास्तव में वह हवा द्वारा गतिशील होता है। इस भौतिक जीवन में बद्ध आत्मा कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत भौतिक शरीर, मोहग्रस्त जीव की अनुमति से, प्रकृति के तीन गुणों द्वारा गतिशील होता है। मनुष्य इस बाह्य गति को अपने ऊपर आरोपित करके स्वयं को नाचता, गाता, दौड़ता, मरता, विजय करता मानता है यद्यपि ये कार्य प्रकृति के गुणों के साथ बाह्य शरीर की अन्योन्य क्रियाएँ होते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५६॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तव में; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न होते हुए; अपि—भी; संसृतिः—जगत; न निवर्तते—रुकता नहीं; ध्यायतः—ध्यान करता; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का; अस्य—उसका; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तु का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति पर अपना ध्यान जमाये रखता है, उसके लिए भौतिक जीवन वास्तविक न होते हुए भी उसी तरह हट नहीं पाता जिस तरह स्वप्न के अरुचिकर अनुभव हटाये नहीं हटते।

तात्पर्य : कोई यह आक्षेप कर सकता है कि जब भगवान् कृष्ण इस बात पर जोर दे रहे हैं कि जीवन मिथ्या है, तो फिर कोई इसे रोकने के लिए प्रयास क्यों करे? इसीलिए भगवान् बतलाते हैं कि

भौतिक जीवन यद्यपि यथार्थ नहीं है किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति में लीन रहता है उसके लिए वह हठपूर्वक चलता रहता है, जिस तरह निद्रा में मग्न रहने वाले का भयानक स्वप्न चलता रहता है। *अविद्यमान* शब्द का अर्थ यह है कि भौतिक जीवन ऐसी मनोकल्पना पर आधारित होता है, जिसमें मनुष्य सोचता है कि, ''मैं पुरुष हूँ'' ''मैं स्त्री हूँ'' ''मैं डाक्टर हूँ'' ''मैं सीनेटर हूँ'' ''मैं झाड़ू लगाने वाला हूँ'' आदि आदि। बद्ध आत्मा शरीर के साथ काल्पनिक पहचान के बल पर बड़े ही उत्साह के साथ कार्य करता जाता है। इस तरह यद्यपि आत्मा विद्यमान होता है तथा शरीर भी विद्यमान रहता है, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान का अस्तित्व नहीं रहता। मिथ्या विचार पर आधारित भौतिक जीवन का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता।

स्वप्न से जगने पर मनुष्य की स्मृति में स्वप्न की हल्की छाया बनी रह सकती है। इसी तरह भगवान् की भक्ति में लगने पर कभी कभी मनुष्य पापमय जीवन की हल्की छाया से क्षुब्ध हो सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि भगवान् द्वारा श्री उद्धव को दिये गये उपदेशों को सुन कर कृष्णभावनामृत में पुष्ट बने।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; **उद्धव**—हे उद्धव; **मा भुङ्क्ष्व**—मत भोग करो; **विषयान्**—इन्द्रिय-विषयों को; **असत्**—अशुद्ध; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों द्वारा; **आत्म**—आत्मा का; **अग्रहण**—अनुभव करने की अक्षमता; **निर्भातम्**—जिसमेंप्रकट है; **पश्य**—इसे देखो; **वैकल्पिकम्**—भौतिक द्वैत पर आधारित; **भ्रमम्**—मोह, भ्रम।.

इसलिए हे उद्धव, तुम भौतिक इन्द्रियों से इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास मत करो। यह देखो किस तरह भौतिक द्वैत पर आधारित भ्रम मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार से रोकता है।

तात्पर्य : हर वस्तु भगवान् की शक्ति तथा सम्पत्ति है और भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने के लिए है। भौतिक वस्तुओं को भगवान् से पृथक् देखना और उन्हें अपने अधिकार में करके भोगने के लिए समझना *वैकल्पिकं भ्रमम्* कहलाता है। अपने भोग की वस्तु यथा भोजन, वस्त्र, आवास या वाहन का चुनाव करते समय मनुष्य उस प्राप्तव्य वस्तु के गुणों पर विचार करता है। फलस्वरूप भौतिक जीवन में मनुष्य निरन्तर चिन्तामग्न रहता है और अपने निजी आनन्द के लिए सर्वोत्तम इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है। किन्तु यदि वह हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, तो उसे

लगेगा कि हर वस्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिए बनी है। उसे कोई निजी चिन्ता नहीं रहेगी क्योंकि तब वह भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र में लगे रहने में तुष्ट रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं कि भगवान् की सम्पत्ति का दुरुपयोग करने के साथ साथ आत्म-साक्षात्कार में प्रगति की जा सके।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथ वा ।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥ ५८ ॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिप्तः—अपमानित; अवमानितः—उपेक्षित; असद्भिः—बुरे व्यक्तियों द्वारा; प्रलब्धः—उपहास किया गया; असूयितः—ईर्ष्या किया गया; अथ वा—या फिर; ताडितः—ताड़ना दिया गया; सन्निरुद्धः—बाँधा गया; वा—अथवा; वृत्त्या—अपनी जीविका-साधन का; वा—अथवा; परिहापितः—वंचित किया गया; निष्ठ्युतः—ऊपर थूका गया; मूत्रितः—पेशाब द्वारा दूषित किया गया; वा—अथवा; अज्ञैः—मूर्खो द्वारा; बहुधा—बारम्बार; एवम्—इस प्रकार; प्रकम्पितः—विक्षुब्ध किया गया; श्रेयः-कामः—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य चाहने वाला; कृच्छ्र-गतः—कठिनाई का अनुभव करते हुए; आत्मना—अपनी बुद्धि से; आत्मानम्—अपने को; उद्धरेत्—बचाये।

जो व्यक्ति जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को पाना चाहता है उसे बुरे लोगों द्वारा उपेक्षित होने, अपमानित किये जाने, उपहास या ईर्ष्या किये जाने पर या फिर अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा बारम्बार मारे-पीटे जाने, बाँधे जाने या अपनी जीविका छीने जाने, अपने पर थूके जाने या अपने ऊपर पेशाब किए जाने जैसी कठिनाइयों के बावजूद, अपने आप को आध्यात्मिक पद पर सुरक्षित रखने के लिए, अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्तों को उपर्युक्त असुविधाओं का सारे इतिहास में सदा से अनुभव करना पड़ा है। किन्तु जो ईश-भावनामृत में आगे बढ़ा हुआ रहता है, वह ऐसी परिस्थितियों में भी भौतिक देह के प्रति शंका नहीं रखता, प्रत्युत अपनी सही बुद्धि से अपने मन को आध्यात्मिक पद पर स्थिर रखता है।

श्रीउद्धव उवाच ।
यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—कैसे; एवम्—इस प्रकार; अनुबुध्येयम्—मैं ठीक से समझूँ; वद—कृपा करके बतलायें; नः—हमसे; वदताम्—समस्त वक्ताओं में; वर—श्रेष्ठ।

श्री उद्धव ने कहा : हे श्रेष्ठ वक्ता, कृपा करके मुझे बतलायें कि मैं इसे किस तरह ठीक से

समझूँ?

सुदु:षहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ।
विदुषामपि विश्वात्मन्प्रकृतिर्हि बलीयसी ।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान्शान्तांस्ते चरणालयान् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

सु-दु:सहम्—अत्यन्त असह्य; इमम्—इसे; मन्ये—मैं मानता हूँ; आत्मनि—अपने ऊपर; असत्—अज्ञानी पुरुषों द्वारा; अतिक्रमम्—आक्रमणों को; विदुषाम्—विद्वानों के लिए; अपि—भी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्डके आत्मा; प्रकृति:—मनुष्य का बद्ध व्यक्तित्व; हि—निश्चय ही; बलीयसी—अत्यन्त प्रबल; ऋते—के अतिरिक्त; त्वत्-धर्म—आपकी भक्ति में; निरतान्—लगे हुए; शान्तान्—शान्त; ते—आपके; चरण-आलयान्—चरणकमलों पर निवास करने वाले।

हे विश्वात्मा, मनुष्य का भौतिक जीवन में बंधन अत्यन्त प्रबल है; अत: अज्ञानी पुरुषों द्वारा किये गये अपराधों को सह पाना बड़े बड़े विद्वानों के लिए भी अत्यन्त कठिन है। केवल आपके वे भक्त, जो आपकी प्रेमाभक्ति में निरत हैं और जिन्होंने आपके चरणकमलों में रहते हुए शान्ति प्राप्त कर ली है, वे ऐसे अपराधों को सह पाने में सक्षम हैं।

तात्पर्य : भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में अग्रसर हुए बिना कोरे ज्ञान से कोई सन्त नहीं बन सकता। दीर्घकालीन भौतिक संगति के फलस्वरूप मनुष्य के बद्ध व्यक्तित्व को जीत पाना कठिन है। इसलिए हमें दीन भाव से उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए जिन्होंने श्री उद्धव को बड़े अद्‌भुत तरीके से ज्ञान का असली अर्थ बतलाया है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना'' नामक बाईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

अवन्ती ब्राह्मण का गीत

इस अध्याय में अवन्ती देश के एक साधु संन्यासी की कथा ऐसे उदाहरण के रूप में दी गई है कि दुष्टों द्वारा उत्पन्न उत्पातों तथा अपराधों को कैसे सहन किया जाना चाहिये।

दुष्टजनों के कटु वचन तीर से भी अधिक भेदने वाले होते हैं। फिर भी अवन्ती नगरी का एक साधु ब्राह्मण दुष्ट पुरुषों द्वारा सताये जाने पर भी इस मुसीबत को अपने विगत कर्मों का फल मानते हुए बड़ी ही गम्भीरता से सहता रहा। पूर्वजन्म में वह ब्राह्मण एक किसान तथा व्यापारी था। वह अत्यन्त

लालची, कंजूस तथा क्रोधी था। फलस्वरूप उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, सारे सम्बन्धी एवं नौकर सभी तरह के भोगों से वंचित थे, इसलिए वे धीरे धीरे उसके प्रति बुरा व्यवहार करने लगे। समय की गति के साथ चोरों, परिवार वालों तथा भाग्य ने उसका सारा धन छीन लिया। अपने आप को सम्पत्ति से विहीन पाकर तथा हर व्यक्ति से परित्यक्त देख कर उस व्यक्ति में वैराग्य की तीव्र अनुभूति जगी।

उसने विचार किया कि धन जोड़ने और उसे सुरक्षित रखने में कितने प्रयास, भय, चिन्ता तथा घबराहट का सामना करना होता है। सम्पत्ति के कारण पंद्रह प्रकार की अवांछित वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, धोखा, काम, क्रोध, गर्व, ज्वर, असहमति, घृणा, अविश्वास, लड़ाई-झगड़ा, स्त्री-अनुरक्ति, जुआ और नशा। जब उसके हृदय में यह ध्यान आया तो उसे लगा कि भगवान् श्री हरि उससे प्रसन्न हो गए हैं। उसने अनुभव किया कि भगवान् के प्रसन्न होने से ही उसके जीवन में प्रतिकूल दिखने वाली यह घटना घटी है। वह कृतज्ञ था कि उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुई और उसने इसे अपनी आत्मा के उद्धार का यथार्थ साधन मान लिया। इस अवस्था में उसने अपना शेष जीवन भगवान् हरि की पूजा में लगाने का निश्चय किया और *त्रिदण्डी संन्यास* ग्रहण कर लिया। बाद में वह भीख माँगने के लिए गाँव गाँव जाता, किन्तु लोग उसे सताते रहते। वह पर्वत की भाँति अडिग रह कर सब कुछ सहता जाता। वह अपनी चुनी हुई योग-विधि में स्थिर रहते हुए एक गीत गाता था, जो *भिक्षुगीत* नाम से प्रसिद्ध है।

किसी के सुख-दुख के लिए न तो मर्त्य प्राणी, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्मफल, न ही काल कारणस्वरूप है। प्रत्युत मन ही उनका कारण है क्योंकि मन आत्मा को भौतिक जीवन के चक्र में घुमाता रहता है। सारे दान, धर्म इत्यादि का वास्तविक उद्देश्य मन को वश में करना है। जिसव्यक्ति ने ध्यान में अपने मन को वश में कर लिया है उसे इनमें से किसी अन्य विधि को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। जो व्यक्ति अपने मन को स्थिर नहीं कर सकता, उसके लिए ये व्यर्थ हैं। भौतिक अहंकार की मिथ्या भावना दिव्य आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों में बाँधती है। इसलिए अवन्ती ब्राह्मण ने भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की भूतपूर्व भगवद्भक्तों द्वारा दर्शायी पूर्ण श्रद्धा के साथ सेवा करके दुर्लंघ्य भवसागर को पार करने का दृढ़ संकल्प किया।

जब मनुष्य अपनी बुद्धि को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करता है, तभी मन को पूरी तरह

वश में किया जा सकता है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यही समस्त व्यावहारिक गुरों का सार है।

श्रीबादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन्भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—उसने; एवम्—इस प्रकार; आशंसितः—विनती किये जाने पर; उद्धवेन—उद्धव द्वारा; भागवत—भक्तों के; मुख्येन—प्रमुख; दाशार्ह—दाशार्ह वंश (यदुओं) के; मुख्यः—प्रमुख; सभाजयन्—प्रशंसा करते हुए; भृत्य—उनके सेवक के; वचः—शब्द; मुकुन्दः—मुकुन्द, कृष्ण; तम्—उससे; आबभाषे—कहने लगे; श्रवणीय—सुनने योग्य; वीर्यः—जिसकी सर्वशक्तिमत्ता।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्तों में श्रेष्ठ श्री उद्धव ने दाशार्ह प्रमुख भगवान् मुकुन्द से इस तरह सादर अनुरोध किया, तो पहले उन्होंने अपने सेवक के कथन की उपयुक्तता स्वीकार की। फिर वे भगवान्, जिनके यशस्वी कार्य सुनने के सर्वाधिक योग्य हैं, उन्हें बतलाने लगे।

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स नास्त्यत्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; सः—वह; न अस्ति—नहीं है; अत्र—इस जगत में; साधुः—साधु पुरुष; वै—निस्सन्देह; दुर्जन—असभ्य पुरुषों द्वारा; ईरितैः—प्रयोग में लाए गए; दुरुक्तैः—अपमानजनक शब्दों से; भिन्नम्—विचलित; आत्मानम्—अपना मन; यः—जो; समाधातुम्—वश में करने में; ईश्वरः—समर्थ हो।

श्रीकृष्ण ने कहा : हे बृहस्पति-शिष्य, इस जगत में कोई भी ऐसा साधु पुरुष नहीं है, जो असभ्य व्यक्तियों के अपमानजनक शब्दों से विचलित हुए अपने मन को फिर से स्थिर कर सके।

तात्पर्य : वर्तमान युग में आध्यात्मिक साक्षात्कार के मार्ग का मजाक उड़ाने के लिए चतुर्दिक् प्रचार है, जिससे साधु भक्त भी मानव समाज की प्रगति को रुकते देख कर विचलित हो उठते हैं। फिर भी भगवान् के भक्त को हर प्रकार का निजी अपमान सहना चाहिए, भले ही वह भगवान् या उनके भक्त के प्रति अपराध को सहन न कर सके।

न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैस्तु मर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह से; तप्यते—पीड़ा पहुँचाता है; विद्धः—बेधा गया; पुमान्—व्यक्ति; बाणैः—बाणों के द्वारा; तु—किन्तु; मर्म-गैः—हृदय तक जाने वाला, मर्मभेदी; यथा—जिस प्रकार; तुदन्ति—चुभते हैं; मर्म-स्थाः—हृदय तक पहुँचने वाले; हि—निस्सन्देह; असताम्—दुष्ट पुरुषों के; परुष—कठोर (वचन); इषवः—तीर।

छाती को बेध कर हृदय तक पहुँचने वाले पैने बाण उतना कष्ट नहीं देते जितने कि असभ्य पुरुषों द्वारा बोले जाने वाले कटु, अपमानजनक शब्दरूपी तीर जो हृदय के भीतर धँस जाते हैं।

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कथयन्ति—कहते हैं; महत्—महान्; पुण्यम्—पवित्र; इतिहासम्—कथा; इह—इस सम्बन्ध में; उद्धव—हे उद्धव; तम्—उसे; अहम्—मैं; वर्णयिष्यामि—कहूँगा; निबोध—सुनो; सु-समाहितः—ध्यानपूर्वक।

हे उद्धव, इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त पवित्र कथा कही जाती है, जिसे अब मैं तुमसे कहूँगा। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : अब भगवान् श्री उद्धव से एक ऐतिहासिक कथा कहेंगे जिससे यह शिक्षा मिलती है कि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान को कैसे सहन करना चाहिए।

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

केनचित्—किसी; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीतम्—गाया गया; परिभूतेन—अपमानित किया गया; दुर्जनैः—अपवित्र लोगों द्वारा; स्मरता—स्मरण करते हुए; धृति-युक्तेन—धैर्यपूर्वक; विपाकम्—परिणामों को; निज-कर्मणाम्—अपने विगत कर्मों के।

एक बार किसी संन्यासी को दुर्जनों द्वारा नाना प्रकार से अपमानित किया गया। किन्तु उसने धैर्यपूर्वक स्मरण किया कि वह अपने ही विगत कर्मों का फल भोग रहा है। मैं तुमसे यह इतिहास तथा उसने जो कुछ कहा था उसे सुनाऊँगा।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की टीका इस प्रकार है—

प्रायः जो लोग भौतिकतावादी पथ को त्याग कर वैराग्य में संलग्न होते हैं, उन पर दुर्जन आक्रमण करते हैं। किन्तु यह विवेचन सतही है क्योंकि जो दंड मिलता है, वह वास्तव में विगत कर्म का संचित फल होता है।

जब पिछले पापों के अवशेष प्रस्तुत किये जाते हैं, तो कुछ वैरागी सहनशीलता नहीं दिखलाते,

अतएव उन्हें पुन: अपवित्र जीवन में प्रवेश करना होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु उपदेश देते हैं कि मनुष्य को वृक्ष की तरह सहनशील बनना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोग भगवान् के भक्ति-मार्ग में नवदीक्षित पर आक्रमण करते हैं, तो उसे इसे अपने विगत कर्मों का फल मानना चाहिए। उसे बुद्धिमान बनना चाहिए और "जैसे को तैसा" सिद्धान्त का बहिष्कार करके उसे भावी दुख से बचना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोगों से शत्रु भाव न रखा जाय तो वे स्वयं उसे अकेला छोड़ देंगे।"

अवन्तिषु द्विज: कश्चिदासीदाढ्यतम: श्रिया ।
वार्तावृत्ति: कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपन: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अवन्तिषु—अवन्ती देश में; द्विज:—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; आसीत्—था; आढ्य-तम:—अत्यन्त धनाढ्य; श्रिया—ऐश्वर्य से; वार्ता—व्यापार से; वृत्ति:—अपनी जीविका चलाते हुए; कदर्य:—कंजूस; तु—लेकिन; कामी—विषयी; लुब्धक्—लालची; अति-कोपन:—अत्यन्त क्रोध करने वाला।

अवन्ती देश में किसी समय कोई ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त धनी था और समस्त ऐश्वर्यों से युक्त था तथा व्यापार-कार्य में लगा रहता था। किन्तु वह अत्यन्त कंजूस, कामी, लालची तथा क्रोधी था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवन्ती देश मालवा का जनपद है। यह ब्राह्मण अत्यन्त धनी था और कृषि का व्यापार, लेन-देन आदि करता था। कंजूस होने के कारण जब उसकी गाढ़ी कमाई जाती रही, तो उसे बहुत पीड़ा हुई, जैसाकि स्वयं भगवान् बतलायेंगे।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिता: ।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चित: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातय:—सम्बन्धीजन; अतिथय:—तथा अतिथिगण; तस्य—उसके; वाक्-मात्रेण अपि—शब्दों से भी; न अर्चिता:—आदरित नहीं होते थे; शून्य-अवसथे—धर्म तथा इन्द्रियतृप्ति से विहीन घर में; आत्मा—स्वयं; अपि—भी; काले—उपयुक्त समय में; कामै:—इन्द्रिय-सुख से; अनर्चित:—अतृप्त।

उसका घर धर्म तथा वैध इन्द्रियतृप्ति से विहीन था, उसमें पारिवारिक जनों तथा अतिथियों का ठीक से, यहाँ तक कि शब्दों से भी, आदर नहीं होता था। वह उपयुक्त अवसरों पर अपने शरीर की भी इन्द्रियतृप्ति नहीं होने देता था।

दुश्शीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन्प्रियम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुःशीलस्य—बुरे चरित्र वाला; कदर्यस्य—कंजूस का; द्रुह्यन्ते—दुश्मनी कर लिया; पुत्र—उसके पुत्रों ने; बान्धवाः—तथा सम्बन्धीजन; दाराः—उसकी पत्नी; दुहितरः—उसकी पुत्रियाँ; भृत्याः—उसके नौकर; विसण्णाः—ऊबे हुए; न आचरन्—आचरण नहीं करते थे; प्रियम्—स्नेहपूर्वक।

चूँकि वह कठोर हृदय तथा कंजूस था, इसलिए उसके पुत्र, उसके ससुराल वाले, उसकी पत्नी, उसकी पुत्रियाँ तथा नौकर उसके प्रति वैर-भाव रखने लगे। ऊब जाने के कारण वे उससे कभी भी स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं करते थे।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस पर; एवम्—इस प्रकार; यक्ष-वित्तस्य—जो यक्षों की तरह अपनी सम्पत्ति को बिना खर्चे रखता था (यक्ष कुवेर के कोष की रखवाली करते हैं); च्युतस्य—विहीन; उभय—दोनों के; लोकतः—लोक (यह जीवन तथा अगला); धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रियतृप्ति; विहीनस्य—विहीन; चक्रुधुः—क्रुद्ध हो गये; पञ्च-भागिनः—पाँच नियत गृहस्थ यज्ञों के देवता।

इस तरह पाँच पारिवारिक यज्ञों के अधिष्ठाता देव उस ब्राह्मण से क्रुद्ध हो उठे जो कंजूस होने के कारण अपनी सम्पत्ति की रखवाली यक्ष की तरह करता था और जिसका न इस जगत में, न ही उस लोक में कोई अच्छा गन्तव्य था और जो धर्म तथा विषय-भोग से पूरी तरह विहीन हो गया था।

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; अवध्यान—उसकी उपेक्षा से; विस्रस्त—विहीन; पुण्य—पुण्य का; स्कन्धस्य—जिसका अंश; भूरि-द—हे वदान्य उद्धव; अर्थः—सम्पत्ति; अपि—निस्सन्देह; अगच्छत् निधनम्—नष्ट हो गया; बहु—अधिक; आयास—प्रयास का; परिश्रमः—परिश्रम से युक्त।

हे वदान्य उद्धव, इन देवताओं की उपेक्षा करने से उसके पुण्य तथा उसकी सारी सम्पत्ति का भंडार खाली हो गया। उसके बारम्बार निश्शेष प्रयास द्वारा संचित भंडार पूरी तरह समाप्त हो गया।

तात्पर्य : ब्राह्मण के पुण्य का भण्डार उस सूखी डाल जैसा हो गया जिसमें फल अथवा फूल नहीं

लगते। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि ब्राह्मण में पुण्य का लेश बचा हुआ था, जो मोक्ष की आशा से भगवान् के प्रति निर्दिष्ट था। उस पुण्यरूपी शाखा का शुद्ध अंश, बिना मुरझाया रह गया जिससे अन्त में ज्ञान का फल प्राप्त हुआ।

ज्ञात्यो जगृहु: किञ्चित्किञ्चिद्दस्यव उद्धव ।
दैवत: कालत: किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातय:—सम्बन्धी; जगृहु:—हर लिया; किञ्चित्—कुछ; किञ्चित्—कुछ; दस्यव:—चोर; उद्धव—हे उद्धव; दैवत:—भाग्य से; कालत:—काल द्वारा; किञ्चित्—कुछ; ब्रह्म-बन्धो:—तथाकथित ब्राह्मण का; नृ—सामान्य लोगों द्वारा; पार्थिवात्—तथा उच्च सरकारी अधिकारियों द्वारा।

हे उद्धव, इस तथाकथित ब्राह्मण का कुछ धन उसके समबन्धियों ने, कुछ चोरों ने, कुछ भाग्य ने, कुछ काल के फेर ने, कुछ सामान्य जनों ने तथा कुछ सरकारी अधिकारियों ने ले लिया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वह तथाकथित ब्राह्मण अपना धन खर्च नहीं करना चाहता था, फिर भी उसकी पत्नी तथा अन्य सम्बन्धी उसके धन का कुछ अंश बलपूर्वक निकाल लेते थे। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *दैव* यहाँ पर घर में लगी आग तथा अन्य आकस्मिक विपत्ति का सूचक है। *कालत:* ऋतुओं की अनियमितताओं के कारण फसलों के विनाश तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं का सूचक है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि किसी को अपने आप को ब्राह्मण घोषित नहीं करना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् के सेवक के रूप में अपनी आदि पहचान को समझे। जो व्यक्ति अपने को ब्राह्मण घोषित करता है किन्तु भौतिकतावादी मनोवृत्ति रखता है, वह असली ब्राह्मण नहीं, अपितु ब्रह्म-बन्धु या तथाकथित ब्राह्मण है। वैदिक आदेशों का पालन करने वाले, भगवान् विष्णु के विनीत भक्त, अपने को अभागा तथा भगवद्धाम को समझ पाने में अक्षम कहते हैं। वे गर्वित होकर अपने को ब्राह्मण नहीं घोषित करते, किन्तु जो चतुर हैं, वे जानते हैं कि ऐसे विनीत भक्तगण ही वास्तविक ब्राह्मण हैं जिनके हृदय सतोगुण के द्वारा विमल होते रहते हैं।

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जित: ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस तरह; द्रविणे—जब उसकी सम्पत्ति; नष्टे—नष्ट हो गई; धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रिय-भोग; विवर्जितः—से रहित; उपेक्षितः—उपेक्षित; च—तथा; स्व-जनैः—अपने पारिवारिक जनों द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; आप—प्राप्त किया; दुरत्ययाम्—असह्य।

अन्त में जब उसकी सम्पत्ति पूरी तरह नष्ट हो गई, तो वह ब्राह्मण जिसने कभी भी धर्म या इन्द्रिय-भोग नहीं किया था, अपने पारिवारिक जनों से उपेक्षित रहने लगा। इस प्रकार वह असह्य चिन्ता का अनुभव करने लगा।

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; ध्यायतः—सोचते हुए; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; नष्ट-रायः—सम्पत्ति नष्ट होने पर; तपस्विनः—पीड़ा अनुभव करते हुए; खिद्यतः—शोक करते हुए; बाष्प-कण्ठस्य—अश्रु से रुद्ध कण्ठ; निर्वेदः—वैराग्य की भावना; सु-महान्—अत्यन्त महान्; अभूत्—उठी।

अपनी सारी सम्पत्ति खो जाने से उसे महान् पीड़ा तथा शोक हुआ। उसका गला आँसुओं से रुँध गया और वह दीर्घकाल तक अपनी सम्पत्ति के बारे में सोचता रहा। तब उसके मन में वैराग्य की प्रबल अनुभूति जाग्रत हुई।

तात्पर्य : ब्राह्मण को पुण्य जीवन का प्रशिक्षण मिला था किन्तु उसकी भूतपूर्व अच्छाई उसके अपराधमूलक आचरण से प्रच्छन्न हो चुकी थी। अन्त में उसकी पुरानी शुद्धता पुनः उसके भीतर जाग्रत हुई।

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; आह—बोला; इदम्—यह; अहो—ओह, हाय; कष्टम्—कष्टप्रद दुर्भाग्य; वृथा—व्यर्थ ही; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; अनुतापितः—सताया हुआ; न—नहीं; धर्माय—धर्म के लिए; न—नहीं; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; यस्य—जिसका; अर्थ—सम्पत्ति के लिए; आयासः—श्रम; ईदृशः—इस तरह का।

ब्राह्मण इस प्रकार बोला : हाय! क्या दुर्भाग्य है मेरा! मैंने उस धन के लिए इतना कठिन परिश्रम करते हुए व्यर्थ ही अपने को कष्ट पहुँचाया जो न तो धर्म के लिए था, न ही भौतिक भोग के लिए था।

प्रायेणाथा: कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—सामान्यतया; अर्था:—सम्पत्ति की वस्तुएँ; कदर्याणाम्—कंजूसों की; न—नहीं; सुखाय—सुख के लिए; कदाचन—किसी समय; इह—इस जीवन में; च—दोनों; आत्म—अपना; उपतापाय—कष्ट पहुँचाने के लिए; मृतस्य—तथा मरे हुए का; नरकाय—नरक की प्राप्ति में; च—तथा।

सामान्यतया कंजूसों की सम्पत्ति उन्हें कभी कोई सुख नहीं दे पाती। इस जीवन में उनका आत्म-पीड़न करती है और उनके मरने पर उन्हें नरक भेजती है।

तात्पर्य : कंजूस व्यक्ति करणीय धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भी अपना धन खर्च करने से डरता है। वह ईश्वर तथा लोगों को अप्रसन्न करके नरक जाता है।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणा: ।
लोभ: स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यश:—यश; यशस्विनाम्—सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का; शुद्धम्—शुद्ध; श्लाघ्या:—प्रशंसनीय; ये—जो; गुणिनाम्—गुणवानों के; गुणा:—गुण; लोभ:—लालच; सु-अल्प:—थोड़ा; अपि—भी; तान्—उनको; हन्ति—नष्ट करता है; श्वित्र:—श्वेत कुष्ठ; रूपम्—शारीरिक सौन्दर्य; इव—सदृश; ईप्सितम्—मोहक।

प्रसिद्ध व्यक्ति की जो भी शुद्ध प्रसिद्धि होती है और गुणवान् में जो भी प्रशंसनीय गुण रहते हैं, वे किञ्चित् मात्र लालच से उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह आकर्षक शारीरिक सौन्दर्य रंचमात्र श्वेत कुष्ठ से नष्ट हो जाता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अर्थस्य—सम्पत्ति के; साधने—कमाने में; सिद्धे—उपलब्धि में; उत्कर्षे—वृद्धि में; रक्षणे—रक्षा करने में; व्यये—खर्च में; नाश—हानि में; उपभोगे—तथा उपभोग में; आयास:—श्रम; त्रास:—भय; चिन्ता—चिन्ता; भ्रम:—भ्रम; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

सभी मनुष्यों को सम्पत्ति की कमाई, प्राप्ति, वृद्धि, रक्षा, व्यय, हानि तथा उपभोग में महान् श्रम, भय, चिन्ता तथा भ्रम का अनुभव होता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भ: काम: क्रोध: स्मयो मद: ।
भेदो वैरमविश्वास: संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्तेयम्—चोरी; हिंसा—हिंसा; अनृतम्—असत्य भाषण; दम्भः—दुहरा बर्ताव; कामः—काम, विषय-वासना; क्रोधः—क्रोध; स्मयः—चिन्ता; मदः—घमंड; भेदः—भेद-भाव; वैरम्—शत्रुता; अविश्वासः—विश्वास की कमी; संस्पर्धा—बराबरी, होड; व्यसनानि—खतरे (स्त्री, जुए तथा नशे से उत्पन्न); च—तथा; एते—ये; पञ्चदश—पन्द्रह; अनर्थाः—अवांछित वस्तुएँ; हि—निस्सन्देह; अर्थ-मूलाः—सम्पत्ति पर आधारित; मताः—विख्यात हैं; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा; तस्मात्—इसलिए; अनर्थम्—अवांछित; अर्थ-आख्यम्—वांछित कही जाने वाली सम्पत्ति; श्रेयः-अर्थी—जीवन का चरम लक्ष्य चाहने वाला; दूरतः—दूर से ही; त्यजेत्—छोड़ दे।

चोरी, हिंसा, असत्य भाषण, दुहरा बर्ताव, काम, क्रोध, चिन्ता, गर्व, झगड़ा-लड़ाई, शत्रुता, अविश्वास, ईर्ष्या, स्त्रियों के द्वारा उत्पन्न संकट, जुआ खेलना तथा नशा करना—ये पंद्रह दुर्गुण सम्पत्ति-लोभ के कारण मनुष्यों को दूषित बनाने वाले हैं। यद्यपि ये दुर्गुण हैं किन्तु लोग भ्रमवश इनको महत्त्व देते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति को जीवन का असली लाभ उठाना हो, वह अवांछित भौतिक सम्पत्ति से अपने को अलग रखे।

तात्पर्य : *अनर्थम् अर्थाख्यम्* शब्द अर्थात् अवांछित सम्पत्ति उस सम्पत्ति के सूचक हैं जिसे भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जा सकता। ऐसे फालतू धन या सम्पत्ति से मनुष्य में उपर्युक्त दुर्गुण आ जाते हैं, अतएव इसका परित्याग करना चाहिए।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भिद्यन्ते—विलग हो जाते हैं; भ्रातरः—भाई; दाराः—पत्नी; पितरः—माता-पिता; सुहृदः—मित्र; तथा—और; एक—मानो एक; आस्निग्धाः—अत्यन्त प्रिय; काकिणिना—छोटे-से सिक्के (कौड़ी) से; सद्यः—तुरन्त; सर्वे—सभी; अरयः—शत्रु; कृताः—किया गया।

यहाँ तक कि मनुष्य के सगे भाई, पत्नी, माता-पिता तथा मित्र जो उससे प्रेम से बद्ध थे, तुरन्त ही अपना स्नेह-सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और एक कौड़ी के कारण शत्रु बन जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अर्थेन—सम्पत्ति से; अल्पीयसा—तुच्छ, नगण्य; हि—भी; एते—वे; संरब्धाः—क्षुब्ध; दीप्त—क्रुद्ध; मन्यवः—उनका क्रोध; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; आशु—बहुत जल्दी; स्पृधः—झगड़ालू बन कर; घ्नन्ति—नष्ट कर देते हैं; सहसा—तुरन्त; उत्सृज्य—बहिष्कार करके; सौहृदम्—शुभकामना।

ये सम्बन्धी तथा मित्रगण थोड़े-से भी धन के लिए अत्यन्त क्षुब्ध हो उठते हैं और क्रोध से आग-बबूला बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी बन कर वे तुरन्त सारी शुभकामनाएँ छोड़ देते हैं और क्षण-भर में ही उसका त्याग करके उसकी हत्या तक कर देते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाछ्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; जन्म—जन्म; अमर—देवताओं द्वारा; प्रार्थ्यम्—कामना किया गया; मानुष्यम्—मनुष्य का; तत्—और उस; द्विज-आछ्यताम्—श्रेष्ठ द्विज होने के पद में; तत्—उसे; अनादृत्य—अनादर करके; ये—जो लोग; स्व-अर्थम्—निजी हित का; घ्नन्ति—नष्ट करते हैं; यान्ति—जाते हैं; अशुभाम्—अशुभ; गतिम्—गन्तव्य को।

जो लोग देवताओं द्वारा भी प्रार्थित मनुष्य जीवन प्राप्त करते हैं और उस मनुष्य जन्म में सर्वोत्तम ब्राह्मण पद को प्राप्त होते हैं, वे परम भाग्यशाली हैं। यदि वे इस महत्त्वपूर्ण अवसर का अनादर करते हैं, तो वे निश्चय ही अपने निजी हित का हनन करते हैं और परम दुखद अन्त को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका इस प्रकार है : मनुष्य का जन्म देवताओं, भूत-प्रेतों, पशुओं, वृक्षों, निर्जीव पत्थरों इत्यादि से उत्तम है क्योंकि देवताओं को केवल स्वर्गिक आनन्द मिलता है तथा अन्य जीव-योनियों में अत्यधिक कष्ट है। केवल मनुष्य जीवन ऐसा है, जिसमें वह अपने जीवन के चरम लाभ के विषय में गम्भीरता से विचार करता है। इसीलिए मनुष्य जीवन देवताओं के जीवन से भी अधिक काम्य है। मनुष्य जीवन के अन्तर्गत उच्च कोटि का ब्राह्मण-पद निश्चय ही, सर्वाधिक वांछनीय है। किन्तु यदि ब्राह्मण भगवद्भक्ति त्यागकर अपनी जाति की प्रतिष्ठा के लिए शूद्रवत् कठिन श्रम करता है, तो वह निश्चय ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति के पद पर होता है। ब्राह्मणों की विशिष्ट योग्यता तो उनका आध्यात्मिक ज्ञान है, जिसके द्वारा वे हर जीव को भगवान् के नित्य दास के रूप में पहचानते हैं। मिथ्या अहंकार से रहित ब्राह्मण अपने को तिनके से भी छोटा मान कर और सहनशील होकर सभी जीवों को सम्मान देता है। सारे मनुष्यों को और ब्राह्मणों को तो विशेष रूप से, कृष्णभावनामृत अर्थात् कृष्ण-भक्ति की उपेक्षा करके अपने ही हितों का हन्ता नहीं बनना चाहिए। ऐसी उपेक्षा से भावी कष्ट का मार्ग प्रशस्त होता है।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्ग; अपवर्गयो:—तथा मोक्ष का; द्वारम्—द्वार; प्राप्य—प्राप्त करके; लोकम्—मनुष्य जीवन को; इमम्—इस; पुमान्—मनुष्य; द्रविणे—सम्पत्ति के प्रति; क:—कौन; अनुषज्जेत—अनुरक्त होगा; मर्त्य:—मरणशील; अनर्थस्य—व्यर्थता के; धामनि—धाम में।

ऐसा मर्त्य व्यक्ति कौन होगा जो इस मनुष्य जीवन को जो कि स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार है, प्राप्त करके भौतिक सम्पत्ति रूपी व्यर्थ के धाम के प्रति अनुरक्त होगा?

तात्पर्य : जिस वस्तु को मनुष्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रयोग में लाना चाहता है, वह भौतिक सम्पत्ति कहलाती है, किन्तु भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने वाली साज-सामग्री आध्यात्मिक मानी जाती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की भक्ति में काम आने के लिए त्याग दे। जिस व्यक्ति के पास भव्य महल हो उसे भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु नियमित कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी तरह, सम्पत्ति का उपयोग भगवान् के मन्दिर बनवाने तथा भगवान् विषयक साहित्य के प्रकाशन में करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की सेवा में न लगाकर उसका अंधाधुंध परित्याग करता है, वह यह नहीं समझता कि हर वस्तु भगवान् की ही है। ऐसा अन्धाधुन्ध त्याग इस भौतिक भाव पर आधारित होता है कि यह सम्पत्ति मेरी बनी रह सकती थी लेकिन अब मुझे इसकी चाह नहीं है। वस्तुत: प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है—यह जानते हुए मनुष्य इस जगत की वस्तुओं का न तो भोग करने का प्रयास करता है और न ही उनका वहिष्कार करता है, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देता है।

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धूंश्च भागिन: ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्त: पतत्यध: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

देव—देवतागण; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; भूतानि—तथा सामान्य जीव; ज्ञातीन्—निकट के सगे-सम्बन्धियों; बन्धून्—विस्तारित परिवार; च—तथा; भागिन:—हिस्सा बटाने वाले; असंविभज्य—न बाँट कर; च—तथा; आत्मानम्—अपने को; यक्ष-वित्त:—जिसकी सम्पत्ति यक्ष की सम्पत्ति जैसी; पतति—गिरता है; अध:—नीचे।

जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को उचित भागीदारों—देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा सामान्य जीवों में तथा अपने निकट सम्बन्धियों, ससुराल वालों और स्वयं में वितरित नहीं कर देता, वह मात्र यक्ष की तरह अपनी सम्पत्ति को बनाये रखता है और अधोगति को प्राप्त होगा।

तात्पर्य : जो व्यक्ति उपर्युक्त अधिकृत भागीदारों को अपनी सम्पत्ति में हिस्सा नहीं देता और स्वयं भी उस सम्पत्ति का भोग नहीं करता, वह अवश्य ही जीवन की अनन्त समस्याओं से घिरता रहेगा।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

व्यर्थया—व्यर्थ; अर्थ—सम्पत्ति के; ईहया—प्रयास से; वित्तम्—धन; प्रमत्तस्य—उन्मत्त हुए; वयः—नौजवान; बलम्—बल; कुशलाः—विवेकवान्; येन—जिसके द्वारा; सिध्यन्ति—सिद्ध बनते हैं; जरठः—वृद्ध व्यक्ति; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; साधये—मैं प्राप्त कर सकता हूँ।

विवेकशील व्यक्ति अपने धन, यौवन तथा बल को सिद्धि प्राप्त करने में लगाने में सक्षम होते हैं। किन्तु मैंने उत्तेजित होकर अपनी सम्पत्ति के संवर्धन के व्यर्थ के प्रयास में ही इनको लुटा दिया है। अब वृद्ध हो चुकने पर मैं क्या प्राप्त कर सकता हूँ?

कस्मात्सङ्क्लिश्यते विद्वान्व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; सङ्क्लिश्यते—कष्ट भोगता है; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; व्यर्थया—व्यर्थ की; अर्थ-ईहया—सम्पत्ति की खोज में; असकृत्—निरन्तर; कस्यचित्—किसी का; मायया—मायाशक्ति से; नूनम्—निश्चय ही; लोकः—जगत; अयम्—यह; सु-विमोहितः—अत्यधिक मोहग्रस्त।

बुद्धिमान मनुष्य सम्पत्ति पाने के लिए व्यर्थ के सतत् प्रयासों से कष्ट क्यों भोगे? निस्सन्देह, यह सारा संसार किसी की मायाशक्ति से अत्यधिक मोहग्रस्त है।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

किम्—किस काम का; धनैः—विभिन्न प्रकारों के धन से; धन-दैः—धन देने वाले; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; कामैः—इन्द्रिय-विषयों से; वा—अथवा; काम-दैः—ऐसी इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वालों से; उत—अथवा; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; ग्रस्यमानस्य—पकड़े हुए व्यक्ति का; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; वा उत—अथवा; जन्म-दैः—अगला जन्म देने वाले।

जो व्यक्ति मृत्यु के चंगुल में जकड़ा हो, उसके लिए धन या उस धन को देने वाले, इन्द्रियतृप्ति अथवा इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले या किसी प्रकार का सकाम कर्म जो उसे इस भौतिक जगत में फिर से जन्म दिलाये, इन सबसे क्या लाभ है?

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; तुष्टः—तुष्ट; सर्व-देव-मयः—समस्त देवताओं से युक्त; हरिः—भगवान् विष्णु; येन—जिससे; नीतः—मैं लाया गया; दशाम्—स्थिति तक; एताम्—इस; निर्वेदः—विराग; च—तथा; आत्मनः—अपनी; प्लवः—नाव (भवसागर से पार ले जाने वाली)।

समस्त देवों से युक्त भगवान् हरि अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं। उन्होंने ही मुझे इस कष्टमय स्थिति तक पहुँचाया है और वैराग्य का अनुभव करने के लिए बाध्य कर दिया है, जो इस भवसागर को पार कराने की नाव है।

तात्पर्य : ब्राह्मण यह जान गया कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप विविध इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले देवतागण जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान नहीं कर सकते। जब ब्राह्मण की सारी सम्पत्ति जाती रही, तो उसकी समझ में आया कि सर्वदेवमय भगवान् ने उसे इन्द्रियतृप्ति प्रदान करके नहीं अपितु उसे भौतिक भोग के सागर से बचाकर सर्वोच्च सिद्धि प्रदान की है। इस तरह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुशीलन करने के अवसर से वंचित, वह ब्राह्मण विरक्त बन गया और उसके हृदय में दिव्य ज्ञान का उदय हुआ।

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; काल-अवशेषेण—बचे हुए समय से; शोषयिष्ये—कम से कम कर दूँगा; अङ्गम्—यह शरीर; आत्मनः—अपना; अप्रमत्तः—मोहित न होने वाला; अखिल—समस्त; स्व-अर्थे—आत्म-हित में; यदि—यदि; स्यात्—कोई (समय) बचता है, तो; सिद्धः—सन्तुष्ट; आत्मनि—अपने भीतर।

यदि मेरे जीवन का कोई समय शेष है, तो मैं तपस्या करूँगा और अपने शरीर की आवश्यकताओं को कम से कम कर दूँगा। अब मैं और अधिक भ्रम में न पड़ कर जीवन के समग्र आत्म-हित में लग कर अपने आप में तुष्ट रहूँगा।

तत्र मामनुमोदेरन्देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र—इस सम्बन्ध में; माम्—मुझसे; अनुमोदेरन्—प्रसन्न हों; देवाः—देवतागण; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; ईश्वराः—नियन्ता; मुहूर्तेन—क्षण-भर में; ब्रह्मलोकम्—वैकुण्ठ-लोक; खट्वाङ्ग—राजा खट्वांग ने; समसाधयत्—प्राप्त कर लिया।

इस तरह इन तीनों लोकों के अधिनायक देवता मुझ पर कृपा करें। निस्सन्देह, महाराज खट्वांग को क्षण-भर में वैकुण्ठ-लोक प्राप्त हो गया था।

तात्पर्य : अवन्ती के ब्राह्मण ने सोचा कि यद्यपि वह वृद्ध हो चुका है और किसी भी क्षण मर सकता है, किन्तु वह महाराज खट्वांग के आदर्श का अनुसरण कर सकता है जिन्हें क्षण-भर में भगवान् की कृपा प्राप्त हुई थी। महाराज खट्वांग का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में आ चुका है। वे देवताओं की ओर से वीरतापूर्वक लड़े थे और देवताओं ने उन्हें मुँहमाँगा वर माँगने को कहा था। महाराज ने अपनी शेष आयु जाननी चाही किन्तु दुर्भाग्य से एक क्षण ही आयु शेष थी। इसलिए राजा ने भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की और फिर वैकुण्ठ-लोक प्राप्त किया। अवन्ती का ब्राह्मण इसी आदर्श का अनुसरण करना चाह रहा था—उसने आशा की कि भगवान् के भक्त देवताओं के आशीर्वाद से वह इस शरीर को त्यागने के पूर्व पूरी तरह कृष्णभावनाभावित हो सकेगा।

श्रीभगवानुवाच
इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन्शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिप्रेत्य—निष्कर्ष पर पहुँच कर; मनसा—मन से; हि—निस्सन्देह; आवन्त्यः—अवन्ती जनपद का; द्विज-सत्-तमः—अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण; उन्मुच्य—खोल कर; हृदय—हृदय की; ग्रन्थीन्—(इच्छाओं की) गाँठों को; शान्तः—शान्त; भिक्षुः—भिक्षुक संन्यासी; अभूत्—हो गया; मुनिः—मौन।

भगवान् कृष्ण ने कहा : वह दृढ़ संकल्प वाला सर्वोत्तम अवन्ती ब्राह्मण अपने हृदय की इच्छारूपी ग्रंथियों को खोलने में समर्थ हो गया। तब उसने शान्त तथा मौन संन्यासी साधु की भूमिका ग्रहण कर ली।

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; चचार—घूमने वाला; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; संयत—नियंत्रित; आत्म—अपनी चेतना; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अनिलः—तथा प्राण-वायु; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; नगर—शहरों; ग्रामान्—तथा गाँवों में; असङ्गः—बिना किसी संगी के; अलक्षितः—अपने को न जनाते हुए; अविशत्—प्रविष्ट हुआ।

वह अपनी बुद्धि, इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को अपने वश में रखते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगा। भिक्षा माँगने के लिए वह विविध नगरों तथा ग्रामों में अकेले ही यात्रा करता। उसने

अपने उच्च आध्यात्मिक पद का प्रचार नहीं किया, इसलिए अन्य लोग उसे पहचान नहीं पाते थे।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *त्रिदंडी सन्यास* ग्रहण करना इस बात का मुख्य संकेत है कि उसने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है। वैष्णव संन्यासी के तीन दण्ड शरीर, मन तथा वाणी को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाकर उन्हें वश में करने के सूचक हैं। इस विधि से वह वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन जाता है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है। शरीर, मन तथा वाणी के कठोर संयम से सहिष्णुता का गुण प्रबल बनता है और तब मनुष्य अन्यों को क्षमा करने, अपना समय व्यर्थ न गँवाने, इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति, अपने कार्य में झूठे अहंकार का अभाव तथा मोक्ष की लालसा न रखना जैसे अन्य गुणों को प्रकट करता है। इस तरह वह उन भौतिकतावादी लोगों की मनोवृत्ति को त्यागता है, जो पारस्परिक चापलूसी रूपी तथाकथित स्नेहमय सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए एक-दूसरे का शोषण करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति महात्माओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत के कठिन मार्ग को अपनाता है, वह भगवान् की शरण प्राप्त कर सकता है।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; प्रवयसम्—वृद्ध; भिक्षुम्—भिखारी को; अवधूतम्—मलिन; असत्—निम्न श्रेणी के; जनाः—लोग; दृष्ट्वा—देख कर; पर्यभवन्—अनादर करते हुए; भद्र—हे दयालु उद्धव; बह्वीभिः—अनेक; परिभूतिभिः—अपमानों से।

हे दयालु उद्धव, उसे वृद्ध, मलिन भिखारी के रूप में देख कर ऊधमी व्यक्ति अनेक प्रकार से उसे अपमानित करने लगे।

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कुछ; त्रि-वेणुम्—त्रिदण्ड को; जगृहुः—छीन लिया; एके—कुछ; पात्रम्—उसके भिक्षापात्र को; कमण्डलुम्—जलपात्र को; पीठम्—आसन, पीढ़ा; च—तथा; एके—किसी ने; अक्ष-सूत्रम्—जपमाला; च—तथा; कन्थाम्—गुदड़ी; चीराणि—फटी, जीर्ण-शीर्ण; केचन—कुछेक ने; प्रदाय—वापस करके; च—तथा; पुनः—फिर से; तानि—वे; दर्शितानि—दिखने वाले; आददुः—छीन लिया; मुनेः—मुनि का।

इनमें से कुछ लोग तो उसका संन्यासी दण्ड छीन लेते और कुछ उस जलपात्र को, जिसे वह

भिक्षापात्र के रूप में काम में ला रहा था। कोई उसका मृगचर्म आसन, तो कोई उसकी जपमाला ले लेता और कोई उसकी फटी-पुरानी गुदड़ी चुरा लेता; वे इन वस्तुओं को उसे दिखा-दिखाकर वापस करने का बहाना करते किन्तु उन्हें पुनः छिपा देते।

अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ।
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; च—तथा; भैक्ष्य—भिक्षा माँग कर; सम्पन्नम्—प्राप्त; भुञ्जानस्य—भाग लेने वाले का; सरित्—नदी के; तटे—तट पर; मूत्रयन्ति—पेशाब करते हैं; च—तथा; पापिष्ठाः—अत्यन्त पापी व्यक्त; ष्ठीवन्ति—थूकते हैं; अस्य—उसके; च—तथा; मूर्धनि—सिर पर।

जब वह भिक्षा द्वारा एकत्र किये गये भोजन को खाने के लिए नदी के तट पर बैठता, तो ऐसे पापी धूर्त आकर उस पर पेशाब कर देते और उसके सिर पर थूकने का दुस्साहस करते।

यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ।
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति ॥ ३६॥

शब्दार्थ

यत-वाचम्—मौनव्रत धारण किये; वाचयन्ति—जबरन बोलवाते; ताडयन्ति—पीटते; न वक्ति—वह नहीं बोलता; चेत्—यदि; तर्जयन्ति—लाठी से मारते; अपरे—अन्य लोग; वाग्भिः—अपने शब्दों से; स्तेनः—चोर; अयम्—यह व्यक्ति; इति—इस प्रकार; वादिनः—कहते हुए; बध्नन्ति—उसे बाँध देते; रज्ज्वा—रस्सी से; तम्—उसको; केचित्—कुछ; बध्यताम् बध्यताम्—उसे बाँध लो, उसे बाँध लो; इति—ऐसा कह कर।

यद्यपि उसने मौनव्रत धारण कर रखा था, किन्तु वे उससे बोलवाने का प्रयास करते और यदि वह न बोलता तो उसे लाठियों से पीटते थे। अन्य लोग उसे यह कह कर प्रताड़ित करते कि यह आदमी चोर है। अन्य लोग उसे रस्सी से बाँध देते और चिल्लाते, ''उसे बाँध दो! उसे बाँध दो!''

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

क्षिपन्ति—आलोचना करते; एके—कुछ लोग; अवजानन्तः—अपमानित करते हुए; एषः—इस; धर्म-ध्वजः—धार्मिक ढोंग करने वाले; शठः—ठगने; क्षीण-वित्तः—अपना धन खोकर; इमाम्—इस; वृत्तिम्—पेशे को; अग्रहीत्—ग्रहण किया है; स्व-जन—अपने परिवार द्वारा; उज्झितः—बाहर निकाला गया।

वे यह कह कर उसकी आलोचना और अपमान करते ''यह व्यक्ति तो ढोंगी और ठग है। यह

व्यक्ति धर्म को इसलिए पेशा बनाये हुए है क्योंकि इसने अपनी सारी सम्पत्ति गँवा दी है और इसके परिवार वालों ने इसे बाहर निकाल दिया है।

अहो एष महासारो धृतिमान्गिरिराडिव ।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥ ३८ ॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एषः—यह व्यक्ति; महा-सारः—अत्यन्त शक्तिशाली; धृतिमान्—धैर्यवान; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; मौनेन—अपने मौनव्रत से; साधयति—प्रयास कर रहा है; अर्थम्—अपने लक्ष्य के लिए; बक-वत्—बगुले के समान; दृढ—स्थिर; निश्चयः—संकल्प; इति—इस प्रकार कहते हुए; एके—कुछ लोग; विहसन्ति—मजाक उड़ाते; एनम्—उसका; एके—कुछ लोग; दुर्वातयन्ति—अपानवायु निकालते; च—तथा; तम्—उसको; बबन्धुः—जंजीरों में बाँध दिया; निरुरुधुः—बन्दी बना रखा; यथा—जिस तरह; क्रीडनकम्—पालतू पशु; द्विजम्—उस ब्राह्मण को।

कुछ लोग यह कह कर उसका मजाक उड़ाते, "जरा देखो न इस अत्यन्त शक्तिशाली ऋषि को! यह हिमालय पर्वत की तरह धैर्यवान है। यह अपने मौनव्रत से महान् संकल्प करके अपना लक्ष्य पाने के लिए एक बगुले की भाँति प्रयत्नशील है।" अन्य लोग उसके ऊपर अपानवायु छोड़ते और कुछ लोग इस द्विज ब्राह्मण को जंजीरों में बाँध कर पालतू पशु की तरह बन्दी बनाकर रखते।

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; सः—वह; भौतिकम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—कष्ट; दैविकम्—देवताओं के कारण; दैहिकम्—अपने शरीर के कारण; च—तथा; यत्—जो भी; भोक्तव्यम्—कष्ट पाने के लिए सुनिश्चित; आत्मनः—अपना; दिष्टम्—विधाता द्वारा नियत; प्राप्तम् प्राप्तम्—जो कुछ भी मिल जाता; अबुध्यत—वह समझ गया।

वह ब्राह्मण समझ गया कि उसका सारा कष्ट—अन्य जीवों से, प्रकृति की उच्च शक्तियों से तथा अपने ही शरीर से जन्य—दुर्निवार है क्योंकि यह विधाता द्वारा निश्चित हुआ है।

तात्पर्य : उस ब्राह्मण को अनेक निर्दय व्यक्ति सताते और उसका शरीर ज्वर, भूख, प्यास, थकान आदि से पीड़ित भी रहता। दैवी शक्तियाँ वे हैं, जो अत्यधिक गर्मी, सर्दी, हवा तथा वर्षा उत्पन्न करती हैं। ब्राह्मण की समझ में आ चुका था कि उसका कष्ट भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण है, बाह्य घटना और उसके शरीर की अन्योन्य क्रिया से नहीं है। वह बाह्य स्थिति से तालमेल

बैठाने के प्रयास की बजाय, कृष्णभावनामृत से तालमेल बैठा रहा था और इस तरह नित्य आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को अनुभव करना चाह रहा था।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्व धर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

परिभूतः—अपमानित; इमाम्—यह; गाथाम्—गीत; अगायत—गाया; नर-अधमैः—निम्न जाति के लोगों द्वारा; पातयद्भिः—उसे पतित बनाने का प्रयत्न करने वाले; स्व-धर्म—अपने कर्तव्य में; स्थः—दृढ़ रहते हुए; धृतिम्—संकल्प; आस्थाय—स्थिर होकर; सात्त्विकीम्—सतोगुणी।.

इन निम्न कोटि के पुरुषों द्वारा, जो उसे पतित करने का प्रयास कर रहे थे, अपमानित होने पर भी, वह अपने आध्यात्मिक कर्म में अडिग बना रहा। सतोगुण में अपना संकल्प स्थिर करके, वह निम्नलिखित गीत गाने लगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में सतोगुणी (सात्विक) संकल्प का वर्णन हुआ है (१८.३३)—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

"हे पृथापुत्र! जो धारणा अदम्य है, जिसे योगाभ्यास द्वारा अचल रह कर धारण किया जाता है और जो इस प्रकार मन, प्राण तथा इन्द्रियों के कार्यकलापों को वश में रखती है, वह धृति सात्त्विक है।"

जो नास्तिकजन भगवद्भक्तों से द्वेष रखते हैं, वे *नराधम* अर्थात् मनुष्यों में सबसे निम्न कहलाते हैं और वे निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं। वे सभी उपायों से भगवान् की भक्ति में बाधा डालते हैं, कभी प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो कभी उपहास करके। किन्तु भक्तगण सहिष्णु बने रहते हैं और सात्विक संकल्प बनाये रखते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *श्री उपदेशामृत* (१) में कहा है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम् ।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥

"जो गम्भीर व्यक्ति बोलने की आन्तरिक इच्छा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा जीभ, पेट

और जननेन्द्रियों की माँगों को सह सकता है, वह विश्व-भर में शिष्य बनाने के लिए सुपात्र है।''

द्विज उवाच
नायं जनो मे सुखदु:खहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकाला: ।
मन: परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

द्विज: उवाच—ब्राह्मण ने कहा; न—नहीं; अयम्—ये; जन:—लोग; मे—मेरे; सुख—सुख; दु:ख—तथा दुख के; हेतु:—कारण; न—न तो; देवता—देवतागण; आत्मा—मेरा शरीर; ग्रह—अधीक्षक ग्रह; कर्म—मेरा विगत कर्म; काला:—अथवा समय; मन:—मन; परम्—प्रत्युत एकमात्र; कारणं—कारण; आमनन्ति—अधिकारी विद्वानों द्वारा कहा जाता है; संसार—भौतिक जीवन का; चक्रम्—चक्र; परिवर्तयेत्—घुमाता है; यत्—जो।.

ब्राह्मण ने कहा : न तो ये लोग मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, न ही देवता, मेरा शरीर, ग्रह, मेरे विगत कर्म या काल ही। प्रत्युत यह तो एकमात्र मन है, जो सुख तथा दुख का कारण है जो भौतिक जीवन को निरन्तर घुमाता रहता है।

मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्य: सवर्णा: सृतयो भवन्ति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मन:—मन; गुणान्—प्रकृति के गुणों के कार्य; वै—निस्सन्देह; सृजते—पक्रट करता है; बलीय:—अत्यन्त बलवान; तत:—उन गुणों से; च—तथा; कर्माणि—भौतिक कार्यकलाप; विलक्षणानि—विभिन्न प्रकारों के; शुक्लानि—श्वेत (सतोगुणी); कृष्णानि—काला (तमोगुणी); अथ—तथा; लोहितानि—लाल (रजोगुणी); तेभ्य:—उन कार्यों से; स-वर्णा:—वही वही रंग वाले; सृतय:—उत्पन्न दशाएँ; भवन्ति—उठ खड़ी होती हैं।.

शक्तिशाली मन भौतिक गुणों को कार्यशील बनाता है, जिससे सतो, तमो तथा रजोगुण से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्यकलाप विकसित होते हैं। इनमें से प्रत्येक गुण वाले कार्यों से संगत जीवन दशाएँ (गतियाँ) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : सतोगुण में मनुष्य अपने को सन्त या चतुर मानता है, रजोगुण में भौतिक सफलता के लिए संघर्षशील रहता है और तमोगुण में वह क्रूर, आलसी तथा पापी बन जाता है। भौतिक गुणों के संमेल से ही मनुष्य अपने को देवता, राजा, धनी, पंडित आदि मानता है। ये धारणाएँ भौतिक उपाधियाँ हैं, जो प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती हैं और ये क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के भोगार्थ शक्तिशाली मन की

प्रवृत्ति के अनुसार अपने को नियोजित करती हैं। इस श्लोक में *बलीयस्* शब्द सूचित करता है कि भौतिक मन अच्छी सलाह नहीं सुनता। यहाँ तक कि हमें यह बताये जाने पर भी कि धन कमाने के लिए हम अनेक पाप तथा अपराध करते हैं, हम यह सोचते हैं कि किसी भी कीमत पर धन तो कमाना ही है क्योंकि धन के बिना न तो कोई धार्मिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है न ही सुन्दर स्त्रियों, महलों तथा वाहनों से इन्द्रियों की तृप्ति की जासकती है। जैसे ही धन मिल जाता है, मनुष्य को और अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है किन्तु इस सम्बन्ध में जिद्दी मन कभी भी नेक सलाह पर ध्यान नहीं देता। अत: मनुष्य को मानसिक कल्पना त्याग कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में नियंत्रित करना चाहिए जैसाकि अवन्ती के ब्राह्मण के दृष्टान्त से प्रकट है।

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मन: स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अनीह:—निष्क्रिय; आत्मा—परमात्मा; मनसा—मन के साथ साथ; समीहता—संघर्षशील; हिरण्-मय:—दिव्य प्रकाश प्रकट करते हुए; मत्-सख:—मेरा मित्र; उद्विचष्टे—ऊपर से नीचे की ओर देखता है; मन:—मन; स्व-लिन्गम्—जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को अपने (आत्मा) ऊपर प्रक्षेपित करता है; परिगृह्य—स्वीकार करके; कामान्—इन्द्रिय-विषयों को; जुषन्—लगाकर; निबद्ध:—बँध जाता है; गुण-सङ्गत:—गुणों की संगति के कारण; असौ—वह सूक्ष्म आत्मा।

परमात्मा यद्यपि भौतिक शरीर के भीतर संघर्षशील मन के साथ उपस्थित रहता है, किन्तु वह प्रयास नहीं करता (निष्क्रिय रहता है) क्योंकि वह पहले से दिव्य प्रकाश से समन्वित होता है। वह मेरे मित्र की भाँति कार्य करते हुए अपने दिव्य पद से केवल साक्षी बनता है। दूसरी ओर अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा रूप में इस मन को अपना चुका हूँ जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को परावर्तित करने वाला दर्पण है। इस तरह मैं इन्द्रिय-विषयों का भोग करने में लगा हूँ और प्रकृति के गुणों के सम्पर्क के कारण बँधा हुआ हूँ।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता:
परो हि योगो मनस: समाधि: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

दानम्—दान देना; स्व-धर्मः—अपने नियत कर्तव्य करते रहना; नियमः—दैनिक जीवन के नियम; यमः—आध्यात्मिक अभ्यास के प्रमुख नियम; च—तथा; श्रुतम्—शास्त्रों को सुनना; च—तथा; कर्माणि—पुण्यकर्म; च—तथा; सत्—शुद्ध; व्रतानि—व्रत; सर्वे—सभी; मनः-निग्रहः—मन को वश में करना; लक्षण—से युक्त; अन्ताः—उनका लक्ष्य; परः—परम; हि—निस्सन्देह; योगः—दिव्य ज्ञान; मनसः—मन का; समाधिः—समाधि में ब्रह्म का ध्यान।

दान, धर्म, यम तथा नियम, शास्त्रों का श्रवण, पुण्यकर्म तथा शुद्ध बनाने वाले व्रत—इन सबका अन्तिम लक्ष्य मन का दमन है। निस्सन्देह, ब्रह्म में मन की एकाग्रता ही सर्वोच्च योग है।

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

समाहितम्—पूर्णतया स्थिर; यस्य—जिसका; मनः—मन; प्रशान्तम्—शान्त; दान-आदिभिः—दान तथा अन्य विधियों से; किम्—क्या; वद—कृपया कहें; तस्य—उन विधियों का; कृत्यम्—उपयोग; असंयतम्—अनियंत्रित; यस्य—जिसका; मनः—मन; विनश्यत्—विलीन करते हुए; दान-आदिभिः—दान इत्यादि विधियों से; चेत्—यदि; अपरम्—आगे; किम्—क्या लाभ; एभिः—इनका।

यदि किसी का मन पूर्णतया स्थिर तथा शान्त हो, तो आप मुझे यह बतलायें कि मनुष्य को कर्मकांडी दान तथा अन्य पुण्यकर्म करने की क्या आवश्यकता है? और यदि किसी का मन असंयत रहता है, अज्ञान में डूबा रहता है, तो फिर उसके लिए इन कार्यों से क्या लाभ?

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन के; वशे—वश में; अन्ये—अन्य; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; स्म—भूतकाल में; देवाः—इन्द्रियाँ (अपने अधिष्ठातृ देवों द्वारा प्रदर्शित); मनः—मन; च—तथा; न—कभी नहीं; अन्यस्य—दूसरे के; वशम्—वश में; समेति—आता है; भीष्मः—भयावह; हि—निस्सन्देह; देवः—देवता जैसी शक्ति; सहसः—सबसे बलवान की अपेक्षा; सहीयान्—बलवान; युञ्ज्यात्—स्थिर कर सकता है; वशे—वश में; तम्—उस मन को; सः—ऐसा व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; देव-देवः—समस्त इन्द्रियों का स्वामी।

सारी इन्द्रियाँ अनन्त काल से मन के वश में रही हैं और मन कभी भी किसी अन्य के प्रभाव में नहीं आता। वह बलवानों से भी बलवान है और उसकी देवतुल्य शक्ति भयावह है। इसलिए जो अपने मन को वश में कर सकता है, वह सभी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तम्दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; दुर्जयम्—न जीता जाने वाला; शत्रुम्—शत्रु को; असह्य—असहनीय; वेगम्—जिसका वेग; अरुम्-तुदम्—हृदय को पीड़ा पहुँचाने में सक्षम; तत्—इसलिए; न विजित्य—न जीत पाकर; केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; असत्—व्यर्थ; विग्रहम्—कलह; अत्र—इस जगत में; मर्त्यैः—मर्त्य जीवों से; मित्राणि—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपून्—तथा प्रतिद्वन्द्वी; विमूढाः—पूर्णतया विमोहित।

अनेक लोग इस दुर्जय शत्रुरूपी मन को, जिसके वेग असह्य हैं और जो हृदय को सताता है जीत न पाने पर, पूर्णतया विमोहित हो जाते हैं और अन्यों से व्यर्थ ही कलह ठान लेते हैं। इस तरह वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य लोग या तो उनके मित्र हैं अथवा उनके शत्रु हैं या फिर उनसे उदासीन रहने वाले हैं।

तात्पर्य : अपने को शरीर मान लेना और बच्चों तथा बच्चों के बच्चों रूपी शारीरिक अंशों को नित्य सम्पत्ति स्वीकार करते हुए मनुष्य भूल जाता है कि प्रत्येक जीव गुणात्मक रूप से ईश्वर जैसा है। एक जीव तथा दूसरे जीव में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे सारे ही परमेश्वर के अंश हैं। मन जब मिथ्या अहंकार में लीन होता है, तो भौतिक शरीर उत्पन्न होता है और शरीर से अपनी पहचान करने से बद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार तथा अज्ञान से अभिभूत हो जाता है जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है।

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर को; मनः-मात्रम्—मन से ही उत्पन्न; इमम्—इस; गृहीत्वा—ग्रहण करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; अन्ध—अन्धी; धियः—बुद्धि वाले; मनुष्याः—मनुष्य; एषः—यह; अहम्—मैं हूँ; अन्यः—दूसरा कोई; अयम्—यह है; इति—इस प्रकार; भ्रमेण—मोह के द्वारा; दुरन्त-पारे—दुर्लंघ्य; तमसि—अंधकार में; भ्रमन्ति—भटकते रहते हैं।

जो लोग अपनी पहचान इस शरीर से, जो कि भौतिक मन की उपज है, करते हैं उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे ''मैं'' तथा ''मेरा'' के रूप में सोचते हैं। अपने इस भ्रम के कारण कि, ''यह मैं हूँ किन्तु वह अन्य कोई है'' वे लोग अनन्त अंधकार में भटकते रहते हैं।

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्सन्दशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

जनः—ये लोग; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—मेरे सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—अपने लिए; च—तथा; अत्र—इस धारणा में; हि—निस्सन्देह; भौमयोः—भौतिक शरीर से सम्बन्धित; तत्—वह (कर्ता तथा भोक्ता का पद); जिह्वाम्—जीभ को; क्वचित्—कभी; सन्दशति—काट लेता है; स्व—अपने; दद्भिः—दाँतों से; तत्—उस; वेदनायाम्—पीड़ा का; कतमाय—किसके साथ; कुप्येत्—कोई क्रोध करे।

यदि आप यह कहते हैं कि ये लोग ही मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, तो फिर ऐसी धारणा होने पर आत्मा के लिए स्थान कहाँ रहता है? यह सुख तथा दुख आत्मा का नहीं होता अपितु भौतिक शरीरों की अन्योन्य क्रियाओं का है। यदि कोई व्यक्ति अपने ही दाँतों से अपनी जीभ काट लेता है, तो अपनी पीड़ा के लिए वह किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यद्यपि आत्मा शारीरिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है किन्तु मनुष्य को यह समझते हुए ऐसी द्वैतता को सह लेना चाहिए कि यह तो उसके भौतिक मन की सृष्टि है। यदि कोई अचानक अपनी ही जीभ या होंठ काट लेता है, तो वह क्रोध करके अपने दाँत तो निकाल नहीं सकता। इसी तरह सारे जीव ईश्वर के भिन्नांश है और इस तरह एक दूसरे से अभिन्न हैं। वे सभी आध्यात्मिक समभाव से भगवान् की सेवा करने के लिए हैं। यदि ये जीव अपने स्वामी की सेवा करना छोड़ दें और उसकी बजाय परस्पर लड़ने लगें तो उन्हें प्रकृति के नियमों द्वारा पीड़ित किया जायेगा। यदि बद्ध आत्माएँ भौतिक शरीर पर आधारित कृत्रिम स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करती हैं और ईश्वर से कोई सरोकार नहीं रखतीं, तो काल ऐसे सम्बन्धों को नष्ट कर देता है और उन्हें आगे भी कष्ट मिलता है। किन्तु यदि प्रत्येक जीव अपने को एक ही परिवार का सदस्य मानता है, जिन सबका सम्बन्ध परमेश्वर से हो, तो उनमें पारस्परिक मैत्री उत्पन्न होगी। इस तरह मनुष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह अपने लिए तथा अन्यों के लिए भी घातक होगा। यद्यपि उस ब्राह्मण को कुछ लोग भीख दे रहे थे और कुछ लोग तंग कर रहे थे और पीट भी रहे थे, किन्तु उसने इन लोगों को अपने सुख तथा दुख का परम कारण नहीं माना क्योंकि वह शरीर तथा मन से परे आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त था।

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५१॥

शब्दार्थ

दुःखस्य—दुख का; हेतुः—कारण; यदि—यदि; देवताः—देवतागण (शरीर के भीतर विविध इन्द्रियों के अधिष्ठाता); तु—लेकिन; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्र—उस सम्बन्ध में; विकारयोः—विकारों (इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठातृ देवों) से सम्बन्धित; तत्—वह (कर्म तथा उसका फल); यत्—जब; अङ्गम्—अंग; अङ्गेन—दूसरे अंग द्वारा; निहन्यते—चोट पहुँचाया जाता है; क्वचित्—कभी; क्रुध्येत—क्रुद्ध होना चाहिए; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; स्व-देहे—अपने शरीर के भीतर।

यदि आप यह कहें कि शारीरिक इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता दुख के देने वाले हैं, तो भी ऐसा दुख आत्मा पर कैसे लागू हो सकता है? यह कर्म करना तथा उसके द्वारा प्रभावित होना परिवर्तनशील इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों की अन्योन्य क्रिया मात्र है। यदि शरीर का कोई अंग दूसरे अंग पर आक्रमण करे तो उस शरीर का धारक व्यक्ति किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : वह ब्राह्मण आत्म-साक्षात्कार की उस स्थिति की विस्तृत व्याख्या कर रहा है, जिसमें मनुष्य अपने आप को शरीर तथा मन और उन पर नियंत्रण रखने वाले देवताओं से सर्वथा पृथक् मानता है। शारीरिक सुख का अनुशीलन करने से हमें शारीरिक कष्ट भी सहना पड़ता है। किन्तु मूर्ख बद्ध आत्माएँ दुख को हटाकर सुख भोगने का प्रयास करती हैं किन्तु भौतिक सुख तथा दुख एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। कोई व्यक्ति अपने को शरीर माने बिना शारीरिक सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। किन्तु ज्योंही ऐसी पहचान बनती है, उसी शरीर के भीतर उपस्थित असंख्य दुखों से वह सताया जाने लगता है। शारीरिक सुख-दुख देने वाले तो देवता हैं, जिन्हें हम कभी भी अपने वश में नहीं कर सकते। इस तरह मनुष्य विधाता की इच्छा के अधीन रहता है। किन्तु यदि वह आनन्दकंद भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह आध्यात्मिक पद तक पहुँच सकता है जहाँ पर मुक्त आत्मा को दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, जिसमें चिन्ता या दुख बाधक नहीं बनते।

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५२॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; यदि—यदि; स्यात्—हो; सुख-दुःख—सुख तथा दुख का; हेतुः—कारण; किम्—क्या; अन्यतः—अन्य; तत्र—उस मत में; निज—अपना; स्वभावः—स्वभाव, प्रकृति; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा की अपेक्षा; अन्यत्—अलग से कोई वस्तु; यदि—यदि; तत्—वह; मृषा—झूठी; स्यात्—होगी; क्रुध्येत—कोई क्रोध करे; कस्मात्—किस पर; न—नहीं है; सुखम्—सुख; न—न तो; दुःखम्—दुख।

यदि आत्मा ही सुख तथा दुख का कारण होता, तो हम अन्यों को दोष न दे पाते, क्योंकि तब सुख तथा दुख आत्मा के स्वभाव होते। इस मत के अनुसार आत्मा से भिन्न अन्य कुछ विद्यमान नहीं होता और यदि हमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव करना पड़ता तो वह मोह होता। इसलिए कोई अपने ऊपर या अन्यों पर क्रोध क्यों करे क्योंकि इस मत के अनुसार सुख तथा दुख का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि मृत शरीर को आनन्द या पीड़ा की अनुभूति नहीं होती अतः हमारा सुख तथा दुख हमारी ही चेतना के कारण होते हैं क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। किन्तु भौतिक सुख का भोग और कष्ट का भोग आत्मा के आदि कार्य नहीं हैं। ये तो मिथ्या अहंकार पर आधारित स्नेह तथा शत्रुता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने से हमारी चेतना भौतिक शरीर की ओर खिंच जाती है जहाँ इसे अपरिहार्य शारीरिक कष्टों तथा समस्याओं के आघात सहने पड़ते हैं।

आध्यात्मिक स्तर पर न तो भौतिक सुख है, न भौतिक दुख क्योंकि वहाँ पर सजीव चेतना, बिना किसी निजी इच्छा के, भगवान् की भक्ति में लगी रहती है। मिथ्या शारीरिक पहचान से अलग, सुख की यही वास्तविक स्थिति है। अपनी मूर्खता के लिए अन्यों पर क्रोध करने की बजाय मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार करके जीवन की समस्याएँ हल करनी चाहिए।

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५३॥

शब्दार्थ

ग्रहाः—अधिष्ठाता ग्रह; निमित्तम्—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख या दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; अजस्य—अजन्मा; जनस्य—जिससे जन्म हुआ है उसका; ते—वे ग्रह; वै—निस्सन्देह; ग्रहैः—अन्य ग्रहों के द्वारा; ग्रहस्य—ग्रह का; एव—एकमात्र; वदन्ति—(दक्ष ज्योतिषी) कहते हैं; पीडाम्—कष्ट; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; ततः—उस शरीर से; अन्यः—पृथक्।

और यदि हम इस संकल्पना की परीक्षा करें कि ग्रह ही सुख तथा दुख के तुरन्त कारणरूप हैं, तो भी नित्य आत्मा से उसका सम्बन्ध कहाँ हैं? आखिर, ग्रहों का प्रभाव केवल उन्हीं वस्तुओं

पर पड़ता है जिनका जन्म हो चुका है। इसके अतिरिक्त कुशल ज्योतिषियों ने बतलाया है कि किस तरह विभिन्न ग्रह एक-दूसरे को केवल पीड़ा पहुँचाते हैं। इसलिए, जीव जो कि इन ग्रहों तथा शरीर से पृथक् है, वह अपना क्रोध किस पर प्रकट करे?

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्म मूलम् ॥५४॥

शब्दार्थ

कर्म—अपने सकाम कर्म; अस्तु—मान लिया कि; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्—वह कर्म; हि—निश्चय ही; जड-अजडत्वे—भौतिक तथा अभौतिक दोनों में; देहः—शरीर; तु—दूसरी ओर; अचित्—निर्जीव; पुरुषः—पुरुष; अयम्—यह; सु-पर्णः—सजीव चेतना से युक्त; क्रुध्येत—क्रोध प्रकट करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं हैं; हि—निश्चय ही; कर्म—सकाम कर्म; मूलम्—मूल कारण।

यदि हम यह मान लें कि सकाम कर्म सुख तथा दुख का कारण है, तो भी हम आत्मा की बात नहीं करते। भौतिक कर्म का भाव तब उदय होता है जब कोई चेतनकर्ता और भौतिक शरीर होता है, जो ऐसे कर्म के फल के रूप में सुख तथा दुख के विकारों को प्राप्त होता है। चूँकि शरीर में जीवन नहीं होता, इसलिए यह न तो सुख-दुख का असली प्रापक हो सकता है न ही आत्मा जो अन्ततः पूर्णतया आध्यात्मिक है और शरीर से पृथक् रहता है। चूँकि कर्म का न तो शरीर पर, न ही आत्मा पर कोई परम आधार है, तो फिर कोई किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर ईंट, पत्थर तथा दूसरी वस्तुओं की तरह पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से बना हुआ है। हमारी चेतना, शरीर में झूठे ही लीन होने से, सुख-दुख का अनुभव करती है और जब हम गलती से अपने को भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठते हैं, तो सकाम कर्म सम्पन्न होता है। इस तरह मिथ्या अहंकार हमारे मनों के भीतर आत्मा तथा शरीर का, मोहमय संमिश्रण है, जबकि आत्मा तथा शरीर वास्तव में अलग अलग हैं। चूँकि कर्म मोहमयी चेतना पर आधारित होता है अतएव ये कर्म भी मोहमय होते हैं और उनका शरीर या आत्मा में कोई आधार नहीं होता। जब बद्धजीव अपने को मिथ्या ही शरीर और भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठता है, तो वह स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध करके आनन्द खोजने का प्रयास करता है। ऐसा पापमय कार्य अपने को शरीर मानने की मिथ्या कल्पना पर और फलस्वरूप स्त्रियों को तथा जगत का भोक्ता मान लेने पर आधारित है। चूँकि यह शरीर नहीं है

इसलिए उसके स्त्री-भोग के कार्य का अस्तित्व ही नहीं होता। यह तो दो यंत्रों अर्थात् दो शरीरों की और स्त्री तथा पुरुष की मोहमयी चेतना की पारस्परिक क्रिया है। अवैध यौन की अनुभूति शरीर के भीतर होती है और मिथ्या अहंकार इसे अपने अनुभव के रूप में आत्मसात् करता है। इस तरह कर्म के सुखमय या दुखमय फल अन्ततोगत्वा मिथ्या अहंकार पर प्रभाव दिखाते हैं, शरीर पर नहीं, जो जड़ पदार्थ से बना है या उस आत्मा पर नहीं जिसका पदार्थ से कोई नाता नहीं है। मिथ्या अहंकार तो मन की मोहमयी कल्पना है और यही मिथ्या अहंकार सुख तथा दुख पाता है। आत्मा अन्यों पर क्रुद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि वह न तो सुख भोग रहा है, न कष्ट, प्रत्युत मिथ्या अहंकार ही यह सब करता है।

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कालः—समय; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; तत्र—उस भाव में; तत्-आत्मकः—काल पर आधारित; असौ—आत्मा; न—नहीं; अग्नेः—अग्नि से; हि—निस्सन्देह; तापः—जलन; न—नहीं; हिमस्य—बर्फ का; तत्—वह; स्यात्—बनता है; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं है; परस्य—दिव्य आत्मा के लिए; द्वन्द्वम्—द्वैत भाव।

यदि हम काल को सुख तथा दुख का कारण मान लें, तो भी यह अनुभव आत्मा पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि काल भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है और जीव भी उसी शक्ति के अंश हैं, जो काल के माध्यम से प्रकट होती है। यह निश्चित है कि आग अपनी लौ या चिनगियों को नहीं जलाती, न ही शीत अपने ही रूप ओलों को हानि पहुँचाती है। वस्तुतः आत्मा दिव्य है और भौतिक सुख-दुख के अनुभव से परे है। इसलिए कोई किस पर क्रोध प्रकट करे?

तात्पर्य : भौतिक शरीर जड़ पदार्थ है और वह सुख, दुख या अन्य वस्तु का अनुभव नहीं करता। चूँकि आत्मा पूर्णतया दिव्य है, अतएव उसे उस दिव्य प्रभु पर अपनी चेतना स्थिर करनी चाहिए जो भौतिक सुख-दुख से परे है। जब दिव्य चेतना झूठे ही अपनी पहचान जड़ पदार्थ से करती है, तभी जीव यह कल्पना करता है कि वह भौतिक जगत में सुख तथा दुख भोग रहा है। पदार्थ के साथ चेतना

की यह मोहमयी पहचान मिथ्या अहंकार कहलाती है और संसार का कारण है।

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; केनचित्—किसी के द्वारा; क्व अपि—कहीं भी; कथञ्चन—किसी तरह से; अस्य—उस (आत्मा) का; द्वन्द्व—द्वैत (सुख तथा दुख) का; उपरागः—प्रभाव; परतः परस्य—भौतिक प्रकृति से परे रहने वाला; यथा—जसि तरह; अहमः—मिथ्या अहंकार के लिए; संसृति—जगत के प्रति; रूपिणः—रूप देने वाले; स्यात्—उदय होता है; एवम्—इस प्रकार; प्रबुद्धः—जिसकी बुद्धि जागृत हो चुकी हो; न बिभेति—डरता नहीं; भूतैः—भौतिक सृष्टि के आधार पर।

मिथ्या अहंकार मायामय जगत को स्वरूप प्रदान करता है और इस तरह वह भौतिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है। किन्तु आत्मा भौतिक प्रकृति से परे है। वह किसी भी स्थान, किसी भी दशा में या किसी भी व्यक्ति के माध्यम से भौतिक सुख तथा दुख द्वारा प्रभावित नहीं होता।जो व्यक्ति इसे समझ लेता है उसे भौतिक सृष्टि से डरने की कोई बात नहीं।

तात्पर्य : वह ब्राह्मण जीव के सुख तथा दुख की छः विशिष्ट व्याख्याओं का खंडन कर चुका था और अब वह अन्य किसी भी दी जाने वाली व्याख्या का खंडन करता है। मिथ्या अहंकार के आधार पर वस्तुतः शारीरिक आवरण आत्मा को ढक लेता है और इस तरह मनुष्य झूठे ही उसका सुख तथा दुख भोगता है, जिसका उससे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उद्धव से कहे गये ब्राह्मण के इस दिव्य उपदेश को समझ लेता है, वह इस जगत के भीतर भय की भीषण चिन्ता को फिर से कभी नहीं भोगेगा।

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

एताम्—यह; सः—ऐसा; आस्थाय—पूरी तरह स्थिर होकर; पर-आत्म-निष्ठाम्—परम पुरुष कृष्ण की भक्ति में; अध्यासिताम्—पूजा किया; पूर्व-तमैः—पिछले; महा-ऋषिभिः—आचार्यों द्वारा; अहम्—मैं; तरिष्यामि—पार करजाऊँगा; दुरन्त-पारम्—दुर्लंघ्य; तमः—अविद्या का सागर; मुकुन्द-अङ्घ्रि—मुकुन्द के चरणकमलों की; निषेवया—सेवा द्वारा; एव—निश्चय ही।

मैं कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में दृढ़ रह कर अविद्या के दुर्लंघ्य सागर को पार कर

जाऊँगा। इसकी पुष्टि पिछले आचार्यों द्वारा की गई है, जो परमात्मा की भक्ति में स्थिर थे।

तात्पर्य : कृष्णदास कविराज ने इस श्लोक को *चैतन्य-चरितामृत* (मध्यलीला ३.६) में उद्धृत किया है। श्रील प्रभुपाद की टीका है, "श्रीमद्भागवत के इस श्लोक (११.२३.५७) की टीका करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भक्ति करने में जिन ६४ बातों की आवश्यकता पड़ती है उनमें संन्यास के प्रतीकात्मक चिह्न धारण करने का वैधानिक सिद्धान्त है। यदि कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो उसका मुख्य कार्य अपने जीवन को पूर्णतया मुकुन्द की सेवा में लगाना है। यदि वह अपने तन तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में नहीं लगाता, तो वह वास्तविक संन्यासी नहीं है। इसमें केवल वस्त्र ही नहीं बदलना होता। *भगवद्गीता* में भी (६.१) कहा गया है *अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:/स संन्यासी च योगी च*—जो कृष्ण की तुष्टि के लिए भक्तिपूर्वक कर्म करता है, वही संन्यासी है। वस्त्र संन्यास नहीं हैं अपितु कृष्ण के प्रति उसकी मनोवृत्ति ही संन्यास है।

परात्म-निष्ठा शब्द का अर्थ है कृष्ण-भक्त होना। *परात्मा* या परम पुरुष तो कृष्ण हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:* जो लोग कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में पूर्णतया समर्पित होते हैं, वे ही वास्तव में संन्यासी हैं। भक्त औपचारिकता के लिए अपने पूर्व आचार्यों की देखादेखी ही संन्यास-वस्त्र धारण करता है। वह त्रिदण्ड भी ग्रहण करता है। बाद में विष्णु स्वामी ने यह माना है कि त्रिदण्डी का वेश धारण करना *परात्म निष्ठा* है। इसलिए निष्ठावान भक्त एक अन्य दण्ड, जीवदण्ड, को भी त्रिदण्ड के साथ मिला लेते हैं। वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी संन्यासी कहलाता है। मायावादी संन्यासी केवल एक दण्ड धारण करता है; वह त्रिदण्ड का अभिप्राय नहीं समझता। आगे चल कर शिव स्वामी की जाति वाले अनेक पुरुषों ने भगवान् की *आत्म निष्ठा* (भक्ति) छोड़ दी और शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण किया। शिव स्वामी सम्प्रदाय वाले १०८ नाम छोड़ कर शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं और संन्यास के दस नाम ग्रहण करते हैं। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने उस समय प्रचलित संन्यास (एकदण्ड) को स्वीकार किया था, किन्तु तिस पर भी वे अवन्तीपुर के ब्राह्मण द्वारा स्वीकार किये गये त्रिदण्ड संन्यास के विषय में *श्रीमद्भागवत* का एक श्लोक सुनाया करते थे। परोक्ष रूप से उन्होंने यह घोषित किया था कि एकदण्ड के भीतर चार दण्ड उपस्थित हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु को परात्म निष्ठा के बिना एकदण्ड संन्यास स्वीकार न था। साथ ही, विधि-विधानों के अनुसार त्रिदण्ड में जीवदण्ड को भी

सम्मिलित कर लेना चाहिए। एकसाथ बँधे हुए ये चारों दण्ड भगवान् की शुद्ध भक्ति के प्रतीक हैं। चूँकि मायावादी एकदण्डी संन्यासी कृष्ण की भक्ति नहीं करते, अतएव वे ब्रह्मतेज में लीन होने का प्रयास करते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत के बीच की सीमान्त स्थिति है। वे इस निर्विशेष स्थिति को मोक्ष मानते हैं। मायावादी संन्यासी यह नहीं जानते कि श्री चैतन्य महाप्रभु त्रिदण्डी थे; वे उन्हें एकदण्डी संन्यासी मानते हैं। यह उनके *विवर्त*—मोह—का फल है। *श्रीमद्भागवत* में एकदण्डी संन्यासी जैसी कोई वस्तु नहीं मिलती। हाँ, त्रिदण्डी संन्यासी को संन्यास आश्रम का प्रतीक मान लिया जाता है। इस श्लोक का संदर्भ देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीमद्भागवत द्वारा संस्तुत संन्यास को मानते थे। मायावादी संन्यासी तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति पर विमुग्ध रहते हैं। भला वे श्री चैतन्य महाप्रभु के मन को कैसे समझ सकते हैं।

आज भी श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उनके चरणचिह्नों पर चल कर संन्यास स्वीकार करते हैं और जनेऊ तथा शिखा धारण करते हैं। मायावादी मत के एकदण्डी संन्यासी जनेऊ पहनना छोड़ देते हैं और शिखा नहीं रखते। इसलिए वे त्रिदण्ड संन्यास का तात्पर्य नहीं समझ सकते; फलस्वरूप वे मुकुन्द की सेवा में अपना जीवन समर्पित करने में रुचि नहीं दिखाते। वे ब्रह्म में लीन होने के बारे में ही सोचते हैं क्योंकि वे इस जगत से ऊबे रहते हैं। वे आचार्य जो *दैव वर्णाश्रम* (भगवद्गीता में उल्लिखित *चातुर्वर्ण्य*) के पक्षचर हैं, वे *असुर वर्णाश्रम* की परिकल्पना नहीं मानते जिसमें वर्ण को जन्म से माना जाता है।

‘‘श्री चैतन्य महाप्रभु के सबसे घनिष्ठ भक्त गदाधर पंडित ने त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार किया था और माधव उपाध्याय को अपने त्रिदण्डी संन्यासी के शिष्य-रूप में स्वीकार किया था। कहा जाता है कि इन्हीं मध्वाचार्य से पश्चिमी भारत में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ। श्रील गोपाल भट्ट वसु ने, जो गौड़ीय सम्प्रदाय में *स्मृत्याचार्य* कहलाते हैं, बाद में त्रिदण्डिपाद प्रबोधानन्द सरस्वती से त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। यद्यपि गौड़ीय वैष्णव वाङ्मय में त्रिदण्ड संन्यास का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु श्रीरूप गोस्वामी कृत *उपदेशामृत* का प्रथम श्लोक इस पक्ष का समर्थन करता है कि मनुष्य को छह वेगों को वश में करते हुए त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार करना चाहिए।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगं उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

''जो व्यक्ति वाणी, मन, क्रोध, उदर, जीभ तथा जननेन्द्रिय के वेगों को वश में रख सकता है, वह गोस्वामी कहलाता है और पूरे विश्व में शिष्य बना सकता है।'' श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने कभी भी मायावादी संन्यास ग्रहण नहीं किया और उन्हें इसके लिए दोष नहीं देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी को मानते थे, जो त्रिदण्डी संन्यासी थे किन्तु मायावादी संन्यासी श्रीधर स्वामी को न समझ पाकर कभी कभी सोचते हैं कि श्रीधर स्वामी मायावादी एकदण्ड संन्यास समुदाय के थे। वस्तुतः, बात ऐसी न थी।''

श्रीभगवानुवाच
निर्विद्य नष्टद्रविणे गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमूं मुनिराह गाथाम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; निर्विद्य—विरक्त होकर; नष्ट-द्रविणे—सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर; गत-क्लमः—खिन्नता से मुक्त; प्रव्रज्य—गृह त्याग कर; गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटमानः—पर्यटन करते हुए; इत्थम्—इस प्रकार से; निराकृतः—अपमानित; असद्भिः—धूर्तों द्वारा; अपि—भी; स्व-धर्मात्—अपने नियत कार्यों से; अकम्पितः—विचलित हुए बिना; अमूम्—यह; मुनिः—साधु ने; आह—गाया; गाथाम्—गीत।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : अपनी सम्पत्ति नष्ट होने से इस तरह विरक्त हुए इस साधु ने अपनी खिन्नता त्याग दी। उसने संन्यास ग्रहण करके घर त्याग दिया और पृथ्वी पर विचरण करने लगा। वह मूर्ख धूर्तों द्वारा अपमानित किये जाने पर भी अपने कर्तव्य में अविचल रहा और उसने यह गीत गाया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन से छूट कर जिसमें धनार्जन के लिए घोर तपस्याएँ सम्मिलित हैं, वैष्णव संन्यासी के इस गीत को गाया जा सकता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इस संन्यासी के गीत को सुन नहीं सकता, तो वह निश्चय ही माया का आज्ञाकारी दास बना रहेगा।

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

सुख-दुःख-प्रदः—सुख तथा दुख देने वाला; न—नहीं है; अन्यः—कोई दूसरा; पुरुषस्य—आत्मा का; आत्म—मन का; विभ्रमः—मोह; मित्र—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपवः—तथा शत्रु; संसारः—भौतिक जीवन; तमसः—अज्ञानवश; कृतः—उत्पन्न।

मनुष्य का अपना ही मानसिक भ्रम आत्मा को सुख तथा दुख का अनुभव कराता है, अन्य कोई नहीं। मित्रों, निरपेक्ष लोगों तथा शत्रुओं के विषय में उसकी धारणा तथा इस धारणा के चारों ओर जिस भौतिक जीवन का वह निर्माण करता है, सभी मात्र अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : हर व्यक्ति अपने मित्रों को प्रसन्न करना, शत्रुओं को परास्त करना तथा तटस्थ लोगों से यथास्थिति बनाये रखना चाहता है। ये सारे सम्बन्ध भौतिक शरीर पर अवलम्बित होते हैं और शरीर की अनिवार्य मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व नहीं रह पाता। ये अविद्या या मोह कहलाते हैं।

तस्मात्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया ।
मय्यावेशितया युक्त एतावान्योगसङ्ग्रहः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सर्व-आत्मना—सभी तरह से; तात—हे उद्धव; निगृहाण—वश में करो; मनः—मन; धिया—बुद्धि से; मयि—मुझमें; आवेशितया—लीन हुआ; युक्तः—संयुक्त; एतावान्—इस प्रकार; योग-सङ्ग्रहः—आध्यात्मिक अभ्यास का सार।

हे उद्धव, तुम्हें चाहिए कि अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर करके अपने मन को पूरी तरह से वश में लाओ। योग के विज्ञान का सार यही है।

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः ।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई भी; एताम्—इस; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीताम्—गाया हुआ; ब्रह्म—ब्रह्म-ज्ञान; निष्ठाम्—पर आधारित; समाहितः—पूरे ध्यान से; धारयन्—ध्यान करते हुए; श्रावयन्—अन्यों को सुनाते हुए; शृण्वन्—स्वयं सुनते हुए; द्वन्द्वैः—द्वैतों से; न—कभी नहीं; एव—निस्सन्देह; अभिभूयते—अभिभूत हो जायेगा।

जो कोई भी संन्यासी के इस गीत को सुनता या अन्यों को सुनाता है, जिसमें ब्रह्म विषयक वैज्ञानिक ज्ञान प्रस्तुत हुआ है तथा इस तरह जो कोई पूरे मनोयोग से इसका ध्यान करता है, वह

फिर कभी भौतिक सुख-दुख के द्वैत से अभिभूत नहीं होगा।

तात्पर्य : उस वैष्णव संन्यासी ने भगवद्भक्ति की शरण ग्रहण की थी, इसलिए वह अपने आराध्य भगवान् की माया पर विजय पा सका। उसने स्वयं इस गीत का ध्यान किया और इसे सुना और अन्यों को भी इसकी शिक्षा दी। भगवत्कृपा प्राप्त करके उसने अन्य बद्धजीवों को दिव्य बुद्धि का प्रकाशदिया जिससे वे भगवद्भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण कर सकें। धर्म का वास्तविक अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बनना। जो लोग भौतिक जगत का भोग करना चाहते हैं या निजी असुविधाओं से बचने के लिए इसका त्याग करना चाहते हैं, वे वस्तुतः भगवत्प्रेम को समझ नहीं सकते जिसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की तुष्टि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''अवन्ती ब्राह्मण का गीत'' नामक तेईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

सांख्य दर्शन

इस अध्याय में कृष्ण यह उपदेश देते हैं कि किस तरह सांख्य विज्ञान से मन का मोह भगाया जा सकता है। यहाँ पर भगवान् पुनः उद्धव को प्रकृति विश्लेषण के विषय में उपदेश देते हैं। इस ज्ञान को आत्मसात् करके आत्मा मिथ्या द्वैतों पर आधारित अपने भ्रम को दूर कर सकता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में द्रष्टा तथा दृश्य एक तथा अभिन्न होते हैं। तब यह परब्रह्म, जो अद्वितीय है तथा शब्द और मन से जिस तक पहुँचा नहीं जा सकता, दो में विभक्त हो जाता है—द्रष्टा या दर्शक अर्थात् चेतना या पुरुष तथा दृश्य अर्थात् वस्तु या प्रकृति। प्रकृति, जो तीन गुणों से युक्त है, नियामक पुरुष द्वारा परिक्षुब्ध की जाती है। तब *महत् तत्त्व* चेतना तथा कर्म की शक्तियों के साथ साथ प्रकट होता है। इनसे मिथ्या अहंकार का तीन रूपों में—सतो, रजो तथा तमोगुणी रूपों में—जन्म होता है। तमोगुणी मिथ्या अहंकार से इन्द्रिय अनुभूति के पंद्रह सूक्ष्म रूप तथा उसके बाद पन्द्रह भौतिक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। रजोगुणी मिथ्या अहंकार से दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और सतोगुणी मिथ्या अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता ग्यारह देवता उत्पन्न होते हैं। इन सारे तत्त्वों के मेल से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती

है, जिसके भीतर भगवान् अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में अपना निवास बनाते हैं। इस परम स्रष्टा की नाभि से एक कमल निकलता है, जिस पर ब्रह्मा जन्म लेते हैं। रजोगुण से युक्त ब्रह्मा भगवत् कृपा से तपस्या करते हैं और इस तपस्या के बल पर वे ब्रह्माण्ड के सारे लोकों की सृष्टि करते हैं। स्वर्गलोक देवताओं के निमित्त है, बीच का आकाश भूतप्रेतों के लिए तथा पृथ्वी मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों के लिए है। इन तीन लोकों के ऊपर महर्षियों के स्थान हैं और निम्न लोक असुरों, नागों आदि के लिए हैं। तीन गुणों पर आधारित कार्यों के द्वारा प्राप्त होने वाले लक्ष्य तीन मर्त्य लोकों तक ही सीमित होते हैं। योग, कठिन तपस्या तथा संन्यास जीवन के लोक महर्, जनस्, तपस् तथा सत्य लोक कहलाते हैं। किन्तु भगवद्भक्ति का लक्ष्य भगवान् के ही धाम वैकुण्ठ में उनके चरणकमल हैं। भौतिक कार्य-कारण का यह ब्रह्माण्ड काल तथा तीनों गुणों के नियंत्रण में बना है। साथ ही, इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वह प्रकृति तथा उसके स्वामी के संयोग का फल है। जिस प्रकार एक सूक्ष्म से धीरे धीरे अत्यन्त स्थूल सृष्टि बनती है, उसी तरह संहार की विधि प्रकृति की स्थूलतम से सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति के रूप में अग्रसर होती है, जिससे अन्त में केवल शाश्वत आध्यात्मिक वस्तु बचती है। यह परम आत्मा अपने ही भीतर, एकाकी रूप में तथा बिना किसी अन्त के स्थित रहता है। जो व्यक्ति इन विचारों पर ध्यान धरता है, उसका मन भौतिक द्वन्द्वों से मोहित नहीं होता। यह सांख्य विज्ञान, जिसका वर्णन सृजन तथा संहार के एकान्तर अनुक्रम में किया गया है, सारे संशयों तथा बन्धन को छिन्न करने वाला है।

श्रीभगवानुवाच
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि साङ्ख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अथ—अब; ते—तुमसे; सम्प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; साङ्ख्यम्—सृष्टि के तत्त्वों के विकास का ज्ञान; पूर्वैः—पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा; विनिश्चितम्—सुनिश्चित किया गया; यत्—जिसे; विज्ञाय—जान कर; पुमान्—मनुष्य; सद्यः—तुरन्त; जह्यात्—त्याग सकता है; वैकल्पिकम्—मिथ्या द्वैत पर आधारित; भ्रमम्—भ्रम, मोह को।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : अब मैं तुमसे सांख्य विज्ञान का वर्णन करूँगा जिसे प्राचीन विद्वानों ने पूर्णतया स्थापित किया है। इस विज्ञान को समझ लेने से मनुष्य तुरन्त भौतिक द्वैत के भ्रम को त्याग सकता है।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में भगवान् बता चुके हैं कि मनुष्य मन को वश में करके तथा इसे

कृष्णभावनामृत में स्थिर करके भौतिक द्वैत को त्याग सकता है। इस अध्याय में सांख्य प्रणाली का वर्णन हुआ है, जिसमें पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को विस्तार से बतलाया गया है। इस ज्ञान को सुन कर मनुष्य अपने मन को आसानी से भौतिक कल्मष से हटाकर कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक पद पर स्थिर कर सकता है। यहाँ पर सांख्य दर्शन की जिस प्रणाली का उल्लेख हुआ है, वह *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल द्वारा प्रस्तुत की गई है, बाद के भौतिकतावादी तथा मायावादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये नास्तिक सांख्य द्वारा नहीं। भगवान् की शक्ति से उद्भूत होने वाले भौतिक तत्त्व प्रगतिशील अनुक्रम में विकसित होते हैं। किसी को मूर्खतावश यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् की सहायता के बिना ही आदि भौतिक तत्त्व से ऐसा विकास प्रारम्भ होता है। यह कल्पनामूलक सिद्धान्त बद्ध जीवन के मिथ्या अहंकार से उत्पन्न होता है और स्थूल अज्ञान को जन्म देता है, जो भगवान् तथा उनके अनुयायियों को मान्य नहीं है।

आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; ज्ञानम्—द्रष्टा; अथ उ—इस प्रकार; अर्थः—दृश्य; एकम्—एक; एव—केवल; अविकल्पितम्—अपृथक्; यदा—जब; विवेक—विवेक में; निपुणाः—दक्ष पुरुष; आदौ—प्रारम्भ में; कृत-युगे—सात्विक युग में; अयुगे—तथा इसके पूर्व संहार के समय।

प्रारम्भ में कृत युग के दौरान सारे लोग आध्यात्मिक विवेक में अत्यन्त निपुण होते थे और इससे भी पूर्व, संहार के समय एकमात्र द्रष्टा का अस्तित्व था, जो दृश्य पदार्थ से अभिन्न था।

तात्पर्य : कृत युग पहला युग है और सत्य युग भी कहलाता है, जिसमें ज्ञान पूर्ण होने के कारण अपने लक्ष्य से भिन्न नहीं है। आधुनिक समाज में ज्ञान नितान्त काल्पनिक तथा निरन्तर परिवर्तनशील है। प्राय: लोगों के सैद्धान्तिक विचारों तथा वास्तविकता में काफी अन्तर रहता है। किन्तु सत्य युग में लोग *विवेक निपुणा:* होते हैं; फलत: उनकी दृष्टि तथा वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता। सत्य युग में आम जनता स्वरूपसिद्ध होती है। हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में देखने के कारण वे अपने तथा अन्य जीवों के बीच कृत्रिम रूप से द्वैत उत्पन्न नहीं करते। सत्य युग की एकरूपता का यह अन्य पक्ष है। संहार के समय हर वस्तु भगवान् में लीन होकर शान्त हो जाती है और उस समय भी एकमात्र द्रष्टा भगवान् तथा भगवान् के भीतर स्थित ज्ञान की वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रहता। नित्य

आध्यात्मिक जगत में मुक्त हुए जीव कभी भी इस तरह लीन नहीं होते अपितु अपने अपने आध्यात्मिक स्वरूपों में सदा सदा बने रहते हैं। चूँकि वे स्वेच्छा से प्रेमवश भगवान् से एकाकार हैं, अतएव उनका धाम कभी भी विनष्ट नहीं होता।

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तत्—उस (परम); माया—प्रकृति का; फल—तथा इसकी अभिव्यक्तियों का भोक्ता; रूपेण—दो रूपों में; केवलम्—एक; निर्विकल्पितम्—अभिन्न; वाक्—वाणी; मनः—तथा मन तक; अगोचरम्—दुर्गम; सत्यम्—सच; द्विधा—दो; समभवत्—हो गया; बृहत्—परब्रह्म।

द्वैत से मुक्त रहते हुए तथा सामान्य वाणी एवं मन के लिए दुर्गम होने के कारण, उस एक परब्रह्म ने अपने को दो कोटियों में विभक्त कर लिया। ये हैं—भौतिक प्रकृति तथा जीव जो उस प्रकृति के स्वरूपों को भोगने का प्रयास करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति तथा जीव दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं।

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों से; एकतरः—एक; हि—निस्सन्देह; अर्थः—जीव; प्रकृतिः—प्रकृति; सा—वह; उभय-आत्मिका—सूक्ष्म कारणों तथा उनके प्रकट उत्पादों से युक्त; ज्ञानम्—चेतना (से युक्त हैं, जो); तु—तथा; अन्यतमः—दूसरा वाला; भावः—जीव; पुरुषः—जीवात्मा; सः—वह; अभिधीयते—कहलाता है।

इन दो प्रकार के स्वरूपों में से एक तो भौतिक प्रकृति है, जिसमें दोनों सूक्ष्म कारण विद्यमान हैं और जो पदार्थ को व्यक्त करती है। दूसरा है जीव की चेतना जिसे भोक्ता कहते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर *प्रकृति* सूक्ष्म *प्रधान* का द्योतक है, जो बाद में *महत-तत्त्व* के रूप में प्रकट होता है।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५॥

शब्दार्थ

तमः—तमो; रजः—रजो; सत्त्वम्—सतो; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—प्रकृति से; अभवन्—प्रकट हुए; गुणाः—गुण; मया—मेरे द्वारा; प्रक्षोभ्यमाणायाः—विक्षुब्ध किया गया; पुरुष—जीव की; अनुमतेन—इच्छापूर्ति के लिए; च—तथा।

जब भौतिक प्रकृति मेरी चितवन से विक्षुब्ध की गई, तो बद्धजीवों की शेष इच्छाओं की पूर्ति के लिए तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् भौतिक प्रकृति पर यह स्मरण दिलाने के लिए दृष्टिपात करते हैं कि बद्धजीवों ने अपना सकाम कर्म तथा मनोज्ञान का बन्धन खोलने का प्रयास नहीं किया, इसलिए पुन: सृष्टि करने की आवश्यकता है। भगवान् चाहते हैं कि बद्धजीव भगवान् से विहीन जीवन की व्यर्थता समझ कर, भगवत् प्रेम में कृष्णभावनाभावित होने का अवसर प्राप्त करें। भगवान् द्वारा दृष्टिपात करने के बाद प्रकृति के गुणों का उदय होता है और ये गुण एक-दूसरे पर विजय पाने की होड में शत्रुवत् बन जाते हैं। जन्म, पालन तथा संहार के बीच निरन्तर होड लगी रहती है। यद्यपि शिशु जन्म लेना चाहता है, किन्तु क्रूर माता गर्भपात द्वारा उसका वध कर देना चाहती है। यद्यपि हम खेतों के खरपतवार को नष्ट कर देना चाहें, किन्तु वे बारम्बार उग आते हैं। इसी तरह हम अपनी शारीरिक स्थिति यथावत् बनाये रखना चाहते हैं, फिर भी वह बिगड़ जाती है। इस तरह प्रकृति के गुणों के बीच निरन्तर होड लगी रहती है और जीव कृष्णभावनामृत के बिना ही इन गुणों के जोड़-तोड़ से असंख्य प्रकार से सुख भोगना चाहता है। *पुरुषानुमतेन* शब्द सूचित करता है कि भगवान् ऐसी भौतिक व्यर्थता के लिए मंच तैयार कर देते हैं ताकि बद्धजीवों को अन्त में भगवद्धाम वापस जाना पड़े।

तेभ्य: समभवत्सूत्रं महान्सूत्रेण संयुत: ।
ततो विकुर्वतो जातो योऽहङ्कारो विमोहन: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेभ्य:—उन गुणों से; **समभवत्**—उत्पन्न हुआ; **सूत्रम्**—पहला प्रकृति का रूपान्तर जिसमें कर्म की शक्ति थी; **महान्**—ज्ञान-शक्ति से युक्त आदि प्रकृति; **सूत्रेण**—इस सूत्र तत्त्व से; **संयुत:**—एकसाथ जुड़ा; **तत:**—महत् से; **विकुर्वत:**—रूपान्तरित करते हुए; **जात:**—उत्पन्न किया गया; **य:**—जो; **अहङ्कार:**—मिथ्या अहंकार; **विमोहन:**—मोह का कारण।

इन गुणों से महत् तत्त्व के साथ साथ आदि सूत्र उत्पन्न हुआ। महत तत्त्व के रूपान्तर से मिथ्या अहंकार उत्पन्न हुआ जो जीवों के मोह का कारण है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *सूत्र* प्रकृति का पहला रूपान्तर है, जो कर्म-शक्ति को प्रकट करता है और इसके साथ महत तत्त्व रहता है, जो ज्ञान-शक्ति से युक्त होता है। भौतिक जगत में मनुष्य का असली ज्ञान कर्म तथा मनोज्ञान से आवृत रहता है। ज्योंही ईश्वर के प्रति भक्ति में शिथिलता आती है ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वत: उत्पन्न होती है, जिस तरह प्रकाश के क्षीण होने से अँधेरा अपने आप

बढ़ जाता है।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७॥

शब्दार्थ

वैकारिकः—सतोगुण में; तैजसः—रजोगुण में; च—तथा; तामसः—तमोगुण में; च—भी; इति—इस प्रकार; अहम्—मिथ्या अहंकार; त्रि-वृत्—तीन श्रेणियों में; तत्-मात्र—इन्द्रिय-विषयों के सूक्ष्म रूपों के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; मनसाम्—तथा मन के; कारणम्—कारण; चित्-अचित्—आत्मा तथा पदार्थ दोनों; मयः—से युक्त।

मिथ्या अहंकार जो भौतिक अनुभूति (तन्मात्रा), इन्द्रियों तथा मन का कारण है आत्मा तथा पदार्थ दोनों को घेर लेता है और सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों को प्रकट होता है।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में *चिद्-अचिन्-मय* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मिथ्या अहंकार नित्य चेतन आत्मा तथा अनित्य अचेतन शरीर का भ्रामक संमेल है। चूँकि आत्मा ईश्वर की सृष्टि का अवैध दोहन करना चाहता है, अतः वह प्रकृति के तीन गुणों से मोहग्रस्त हो जाता है और भौतिक जगत में मोहमय पहचान बनाता है। भोग के प्रयास में वह मोह की जटिलताओं में उलझता जाता है और अपनी चिन्ता को ही बढ़ाता है। इस निराशाजनक स्थिति से पार पाने के लिए शुद्ध कृष्णभावनामृत अंगीकार करना चाहिए जिसमें भगवान् की प्रसन्नता ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाती है।

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८॥

शब्दार्थ

अर्थः—स्थूल तत्त्व; तत्-मात्रिकात्—तन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म अनुभूतियों से; जज्ञे—उत्पन्न हो गया; तामसात्—तमोगुणी अहंकार से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; देवताः—देवतागण; आसन्—उत्पन्न हुए; एकादश—ग्यारह; च—तथा; वैकृतात्—सतोगुणी अहंकार से।

तमोगुणी अहंकार से सूक्ष्म शारीरिक अनुभूतियाँ (तन्मात्राएँ) उत्पन्न हुईं जिनसे सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न हुए। रजोगुणी अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं तथा सतोगुणी अहंकार से ग्यारह देवता उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : तमोगुणी अहंकार से ध्वनि, उसे ग्रहण करने वाली श्रवेणेन्द्रिय तथा ध्वनि का माध्यम आकाश उत्पन्न होते हैं। इसके बाद स्पर्श, वायु तथा स्पर्शेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और इस तरह सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सारे तत्त्वों तथा उनकी अनुभूतियों का जन्म होता है। चूँकि इन्द्रियाँ अपने कर्म में

लगी रहती हैं, अतएव ये रजोगुणी अहंकार से उत्पन्न होती हैं। सतोगुणी अहंकार से ग्यारह देवता उत्पन्न होते हैं—दिशाओं के देवता, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र, ब्रह्मा तथा चन्द्र।

मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; सञ्चोदिताः—प्रेरित; भावाः—तत्त्व; सर्वे—सभी; संहत्य—संमेल से; कारिणः—कर्म करते हुए; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; उत्पादयाम् आसुः—उत्पन्न किया; मम—मेरा; आयतनम्—आवास; उत्तमम्—उत्तम।

मेरे द्वारा प्रेरित ये सारे तत्त्व सुसम्बद्ध रूप में काम करने के लिए परस्पर जुड़ गये तथा उन्होंने ब्रह्माण्ड को जन्म दिया जो मेरा सर्वोत्तम आवास है।

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १०॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; अहम्—मैं; समभवम्—प्रकट हुआ; अण्डे—ब्रह्माण्ड में; सलिल—कारणार्णव के जल में; संस्थितौ—स्थित; मम—मेरी; नाभ्याम्—नाभि से; अभूत्—उत्पन्न हुआ; पद्मम्—कमल; विश्व-आख्यम्—विश्व नामक; तत्र—वहाँ; च—तथा; आत्म-भूः—स्वयंभू ब्रह्मा।

मैं उस अंडे के भीतर प्रकट हुआ जो कारणार्णव जल में तैर रहा था और मेरी नाभि से विश्व-कमल निकला जो स्वयंभू ब्रह्मा का जन्मस्थान है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् श्री नारायण की दिव्य लीला के रूप में अपने प्राकट्य का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् नारायण ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश तो करते हैं किन्तु अपने आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य शरीर को त्यागते नहीं। किन्तु भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न ब्रह्मा का भौतिक शरीर होता है। यद्यपि ब्रह्मा सर्वाधिक शक्तिशाली योगी हैं, किन्तु उनका भौतिक संसार में सर्वव्यापी शरीर भौतिक है, जबकि भगवान् हरि अर्थात् नारायण का शरीर सदैव दिव्य होता है।

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥ ११॥

शब्दार्थ

सः—उसने, ब्रह्मा ने; असृजत्—उत्पन्न किया; तपसा—अपनी तपस्या से; युक्तः—युक्त; रजसा—रजोगुणी शक्ति से; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—कृपा से; लोकान्—विभिन्न लोकों को; स-पालान्—अधिष्ठाता देवताओं सहित; विश्व—विश्व का; आत्मा—आत्मा; भूः भुवः स्वः इति—भूर, भुवर तथा स्वर नामक; त्रिधा—तीन विभाग।

रजोगुण से युक्त ब्रह्माण्ड की आत्मा ब्रह्माजी ने मेरी दया से महान् तपस्या की और इस तरह भूर, भुवर तथा स्वर नामक तीन लोकों तथा उनके अधिष्ठाता देवताओं की रचना की।

देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं का; ओकः—घर; आसीत्—बना; स्वः—स्वर्ग; भूतानाम्—भूतप्रेतों का; च—तथा; भुवः—भुवर; पदम्—स्थान; मर्त्य-आदीनाम्—सामान्य मर्त्य लोगों तथा अन्य प्राणियों का; च—तथा; भूः लोकः—भूर नामक लोक; सिद्धानाम्—मुक्ति चाहने वालों का (स्थान); त्रितयात्—ये तीनों विभाग; परम्—परे।

स्वर्ग की स्थापना देवताओं के निवास रूप में, भुवर्लोक की भूतप्रेतों के निवास रूप में तथा पृथ्वी-लोक की स्थापना मनुष्यों तथा अन्य मर्त्य प्राणियों के स्थान के रूप में की गई। वे योगी जो मोक्ष के लिए उद्योगशील रहते हैं, इन तीनों विभागों से परे भेज दिये जाते हैं।

तात्पर्य : इन्द्र-लोक तथा चन्द्र-लोक जैसे लोक अत्यन्त पवित्र सकाम कर्मियों के स्वर्गिक भोग के लिए हैं। किन्तु सत्य-लोक, महर-लोक, जनो-लोक तथा तपो-लोक उन लोगों के लिए हैं, जो मोक्ष के लिए पूर्णतया उद्योगशील रहते हैं। चैतन्य महाप्रभु अचिन्त्य रूप से दयालु हैं कि वे कलियुग के अधम से अधम पापियों को इन चारों लोकों से ऊपर, यहाँ तक कि वैकुण्ठ से भी परे, गोलोक वृन्दावन नामक परव्योम-स्थित भगवान् कृष्ण के परम लोक को भेज देते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि स्वर्ग देवताओं का निवासस्थान है, पृथ्वी-लोक मनुष्यों का निवासस्थान है तथा इन दोनों के बीच दोनों ही श्रेणी के जीवों का अस्थायी निवास स्थान है।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अधः—नीचे; असुराणाम्—असुरों का; नागानाम्—स्वर्गिक सर्पों का; भूमेः—पृथ्वी से; ओकः—निवासस्थान; असृजत्—रचा; प्रभुः—ब्रह्मा ने; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों का; गतयः—गन्तव्य; सर्वाः—सारे; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; त्रि-गुण-आत्मनाम्—तीनों गुणों में सम्मिलित।

ब्रह्मा ने पृथ्वी के अधोभाग को असुरों तथा नागों के लिए बनाया। इस तरह प्रकृति के तीनों गुणों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मों के लिए संगत फलों के रूप में तीनों

लोकों के गन्तव्य व्यवस्थित किये गये।

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

योगस्य—योग का; तपसः—महान् तपस्या का; च—तथा; एव—निश्चय ही; न्यासस्य—संन्यास आश्रम का; गतयः—गन्तव्य; अमलाः—स्वच्छ; महः—महर्; जनः—जनस्; तपः—तपस; सत्यम्—सत्य; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; मत्—मेरा; गतिः—गन्तव्य।

योग, महान् तप तथा संन्यास जीवन से महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक के शुद्ध गन्तव्य प्राप्त किये जाते हैं। किन्तु भक्तियोग से मेरा दिव्य धाम प्राप्त होता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि इस श्लोक में आया शब्द *तपसः* ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों द्वारा सम्पन्न तपस्याओं का द्योतक है। वह ब्रह्मचारी जो अपने जीवन की किसी विशेष अवस्था में ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है, महर-लोक प्राप्त करता है और जो व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह जनो-लोक प्राप्त करता है। वानप्रस्थ आश्रम का ठीक से पालन करने पर मनुष्य तपो-लोक प्राप्त कर सकता है और संन्यासी सत्य-लोक को जाता है। ये विभिन्न गन्तव्य योग-पद्धति में उसकी गम्भीरता पर निर्भर करते हैं। *भागवत* के तृतीय स्कन्ध में ब्रह्माजी देवताओं से बतलाते हैं, ''वैकुण्ठ के निवासी नीलमणि, पन्ना तथा स्वर्ण से निर्मित अपने अपने विमानों में यात्रा करते हैं। यद्यपि वे बड़े बड़े नितम्बों तथा सुन्दर हास्ययुक्त मुखमण्डलों वाली अपनी प्रेयसिओं से घिरे रहते हैं, वे उनके रजोगुणी हर्ष तथा सुन्दर लावण्य से द्रवित नहीं हो सकते।'' (भागवत ३.१५.२०) इस तरह वैकुण्ठ-लोक में वहाँ के निवासियों को निजी तुष्टि की कोई इच्छा नहीं रहती क्योंकि वे भगवत्प्रेम से पूरी तरह तुष्ट रहते हैं। चूँकि वे केवल भगवान् के आनन्द के बारे में ही सोचते हैं, अतएव वहाँ धोखा, चिन्ता, काम, निराशा इत्यादि की कोई सम्भावना नहीं रहती। *भगवद्गीता* (१८.६२) में कहा गया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

''हे भारत! सब प्रकार से उसी की शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति को, परम तथा नित्य धाम को प्राप्त करोगे।''

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥ १५॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; काल-आत्मना—काल-शक्ति से युक्त; धात्रा—स्त्रष्टा; कर्म-युक्तम्—सकाम कर्म से पूर्ण; इदम्—यह; जगत्—संसार; गुण-प्रवाहे—गुणों की प्रबल धार में; एतस्मिन्—इस; उन्मज्जति—ऊपर उठता है; निमज्जति—डूबता है।

काल-शक्ति के रूप में कर्म करते हुए मुझ परम स्त्रष्टा द्वारा इस जगत में सकाम कर्म के सारे फलों को व्यवस्थित किया गया है। इस तरह प्राणी प्रकृति के गुणों के प्रबल प्रवाह की सतह पर कभी ऊपर उठता है, तो कभी फिर से डूब जाता है।

तात्पर्य : *उन्मज्जति* उच्चतर लोकों को जाने का सूचक है, जैसाकि पिछले श्लोकों में उल्लेख हुआ है और *निमज्जति* सूचक है अपवित्र कार्यों द्वारा कष्टप्रद जीवन में डूबने का। दोनों ही स्थितियों में मनुष्य संसाररूपी प्रबल नदी में डूबता रहता है, जो उसे अपने निजी घर भगवद्धाम से दूर ले जाती है।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १६॥

शब्दार्थ

अणुः—लघु; बृहत्—विशाल; कृशः—दुबला; स्थूलः—मोटा; यः यः—जो जो; भावः—अभिव्यक्ति; प्रसिध्यति—स्थापित की जाती है; सर्वः—सभी; अपि—निस्सन्देह; उभय—दोनों से; संयुक्तः—जुड़ा हुआ; प्रकृत्या—प्रकृति द्वारा; पुरुषेण—भोक्ता आत्मा द्वारा; च—तथा।

इस जगत में जो भी स्वरूप विद्यमान दिखते हैं—चाहे वे छोटे हों या बड़े, दुबले हों या मोटे—उनमें भौतिक प्रकृति तथा इसका भोक्ता आत्मा दोनों रहते हैं।

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो (कारण); तु—तथा; यस्य—जिस (फल) का; आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; च—तथा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; मध्यम्—बीच का; च—तथा; तस्य—उस वस्तु का; सन्—होने से (असली); विकारः—रूपान्तर; व्यवहार-अर्थः—सामान्य प्रयोजनों के लिए; यथा—जिस तरह; तैजस—स्वर्ण से बनी वस्तुएँ (जो स्वयं अग्नि से प्राप्त है); पार्थिवः—पृथ्वी से उत्पन्न वस्तुएँ।

स्वर्ण तथा मिट्टी मूलतः अवयव रूप में विद्यमान हैं। स्वर्ण से सोने के गहने यथा कंगन तथा बालियाँ और मिट्टी से बर्तन तथा तश्तरियाँ बनाई जा सकती हैं। स्वर्ण तथा मिट्टी जो कि मूल अवयव हैं, वे उनसे बनने वाले पदार्थों से पहले से विद्यमान रहते हैं और जब अन्त में इन पदार्थों

को नष्ट किया जाता है, तो वे मूल अवयव—स्वर्ण तथा मिट्टी—बने रहते हैं। इस तरह प्रारम्भ तथा अन्त में अवयव वर्तमान तो रहते ही हैं, वे बीच में भी कंगन, बाली, पात्र अथवा तश्तरी के रूप में उपस्थित रहते हैं, जिन्हें हम ये नाम सुविधा के लिए देते हैं। इसलिए हम यह समझ सकते हैं कि चूँकि अवयवरूपी कारण पदार्थ की सृष्टि के पूर्व तथा पदार्थ के विनाश के बाद विद्यमान रहता है, वही अवयवरूपी कारण व्यक्त अवस्था में भी उपस्थित रहेगा और इस पदार्थ को उसके असली रूप में पुष्ट करेगा।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर यह बतलाते हैं कि आदि कारण कार्य में उपस्थित रहता है। इसके लिए वे स्वर्ण तथा मिट्टी का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, जो सोने तथा मिट्टी की बनी हुई कई विविध वस्तुओं में कारणरूपी अवयवों का कार्य करते हैं। हम अपनी सुविधा के लिए इन क्षणभंगुर वस्तुओं के विविध नाम रख लेते हैं यद्यपि उनका मूल स्वभाव उसी अवयव का ही बना रहता है, क्षणिक वस्तु का नहीं होता।

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभिधीयते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (रूप); उपादाय—अवयव कारण को मान कर; पूर्वः—पहले वाला कारण (यथा महत् तत्त्व); तु—तथा; भावः—वस्तु; विकुरुते—विकार के रूप में उत्पन्न करता है; अपरम्—दूसरी वस्तु (यथा अहंकार); आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; यदा—जब; यस्य—जिसका (कार्य का); तत्—उस (कारण); सत्यम्—असली; अभिधीयते—कहा जाता है।

किसी आवश्यक अवयव से बनी हुई भौतिक वस्तु रूपान्तर द्वारा अन्य भौतिक वस्तु उत्पन्न करती है। इस तरह एक उत्पन्न वस्तु अन्य उत्पन्न वस्तु का कारण एवं आधार बनती है। इस तरह कोई विशेष वस्तु इस हेतु असली कहलाती है क्योंकि यह उस दूसरी वस्तु के मूल स्वभाव से युक्त होती है, जो इसकी आदि तथा अन्तिम अवस्था होती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के तात्पर्य को मिट्टी के बने पात्र का उदाहरण लेकर आसानी से समझा जा सकता है। मिट्टी का पात्र मिट्टी के लोंदे से बना होता है और यह मिट्टी पृथ्वी से प्राप्त होती है। इस प्रकार पृथ्वी आदि अवयव है, जिससे मिट्टी का लोंदा बना है और यह मिट्टी का लोंदा ही मिट्टी के पात्र का आदि कारण है। जब यह पात्र नष्ट हो जाता है, तो यह पुन: मिट्टी की उपाधि धारण कर लेता है और अन्त में अपने आदि कारण पृथ्वी में मिल जाता है। मिट्टी के पात्र के सन्दर्भ में मिट्टी आदि तथा

अन्तिम अवस्था है। इस प्रकार पात्र असली कहलाता है क्योंकि इसमें मिट्टी के आवश्यक गुण पाये जाते हैं, जो पात्र के आदि और अन्त तक विद्यमान रहती है। इसी तरह पृथ्वी मिट्टी के पहले और बाद में भी विद्यमान रहती है, अतः मिट्टी को असली माना जा सकता है क्योंकि इसमें पृथ्वी के मुख्य गुण पाये जाते हैं, जो मिट्टी के अस्तित्व के पूर्व तथा पश्चात् भी विद्यमान रहती है। इसी तरह पृथ्वी तथा अन्य तत्त्व *महत्-तत्त्व* से उत्पन्न होते हैं, जो तत्त्वों से पूर्व और पश्चात् विद्यमान रहते हैं। इन्हें असली माना जा सकता है क्योंकि इनमें महत् तत्त्व के मुख्य गुण पाये जाते हैं। महत तत्त्व ही अन्ततोगत्वा समस्त कारणों के कारण भगवान् की सृष्टि का कारण है, जो कि समस्त वस्तुओं के संहार के बाद भी विद्यमान रहते हैं। परब्रह्म साक्षात् भगवान् हैं, जो समस्त वस्तुओं को शनै शनै अर्थ तथा गुण प्रदान करते हैं।

प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; यस्य—जिसका (ब्रह्माण्ड का उत्पन्न स्वरूप); उपादानम्—अवयव कारण; आधारः—नींव; पुरुषः—भगवान्; परः—परम; सतः—असली (स्वभाव); अभिव्यञ्जकः—क्षुब्ध करने वाला; कालः—समय; ब्रह्म—परब्रह्म; तत्—यह; त्रितयम्—तीन का समूह; तु—लेकिन; अहम्—मैं।

भौतिक ब्रह्माण्ड को असली माना जा सकता है क्योंकि इसका आदि अवयव तथा इसकी अन्तिम अवस्था प्रकृति है। महाविष्णु प्रकृति के विश्राम स्थल हैं, जो काल की शक्ति से प्रकट होते हैं। इस तरह प्रकृति, सर्वशक्तिमान विष्णु तथा काल मुझ परब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्ति है, महाविष्णु स्वांश हैं और काल भगवान् की क्रिया को दर्शाता है। इस तरह काल तथा प्रकृति सदैव उस भगवान् के अधीन हैं, जो अपनी शक्तियों तथा स्वांशों द्वारा सारी वस्तुओं का सृजन, पालन और संहार करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण परब्रह्म हैं क्योंकि सारा जगत उन्हीं में समाया है।

सर्गः प्रवर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यशः ।
महान्गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सर्गः—सृष्टि; प्रवर्तते—विद्यमान रहती है; तावत्—तब तक; पौर्व-अपर्येण—माता-पिता तथा सन्तानों के रूप में; नित्यशः—निरन्तर; महान्—दानी; गुण-विसर्ग—गुणों के विविध रूप का; अर्थः—प्रयोजन; स्थिति-अन्तः—इसके अस्तित्व के अन्त तक; यावत्—जब तक; ईक्षणम्—भगवान् का दृष्टिपात।

जब तक भगवान् प्रकृति पर दृष्टिपात करते रहते हैं तब तक भौतिक जगत विद्यमान रहता जाता है और सृजन के महान् तथा विविध प्रवाह को प्रसव द्वारा सतत प्रकट करता रहता है।

तात्पर्य : यद्यपि काल-शक्ति से प्रेरित महत तत्त्व ही इस जगत का अवयव कारण है, किन्तु यहाँ स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवान् स्वयं ही इस जगत के एकमात्र परम कारण हैं। भगवान् के दृष्टिपात के बिना काल तथा प्रकृति शक्तिहीन रहते हैं। वे बद्धजीवों के लिए, जो विशेष माता-पिता की सन्तानों एवं विशेष सन्तानों के माता-पिता के रूप में चौरासी लाख जीव योनियों से होते हुए जीवन का भोग करना चाहते हैं, इन्द्रियतृप्ति हेतु असंख्य भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विराट्—विश्वरूप; मया—मेरे द्वारा; आसाद्यमानः—व्याप्त; लोक—लोकों का; कल्प—बारम्बार सृष्टि, पालन तथा संहार का; विकल्पकः—विविधता प्रकट करते हुए; पञ्चत्वाय—पाँच तत्त्वों की सृष्टि का तात्विक प्राकट्य; विशेषाय—किस्मों में; कल्पते—प्रदर्शित करने में सक्षम है; भुवनैः—विभिन्न लोकों के; सह—साथ।

मैं विश्वरूप का आधार हूँ जो लोकों के बारम्बार सृजन, पालन तथा संहार के माध्यम से अनन्त विविधता को प्रदर्शित करता है। मेरे विश्वरूप में सारे लोक अपनी सुप्त अवस्था में रहते हैं और मेरा यह विश्वरूप पाँच तत्त्वों के समन्वयकारी संयोग से नाना प्रकार के जगतों को प्रकट करता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *मया* शब्द भगवान् के कालरूप का द्योतन करता है।

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥ २२ ॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥ २३ ॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥ २४ ॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।

शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥ २५ ॥
स लीयते महान्स्वेषु गुणेसु गुणवत्तमः ।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥ २६ ॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अन्ने—भोजन में; प्रलीयते—लीन हो जाता है; मर्त्यम्—मर्त्य शरीर; अन्नम्—भोजन; धानासु—बीजों के भीतर; लीयते—लीन हो जाता है; धानाः—बीज; भूमौ—पृथ्वी में; प्रलीयन्ते—लीन हो जाते हैं; भूमिः—पृथ्वी; गन्धे—गन्ध में; प्रलीयते—लीन हो जाती है; अप्सु—जल में; प्रलीयते—लीन हो जाती है; गन्धः—गन्ध; आपः—जल; च—तथा; स्व-गुणे—अपने गुण में; रसे—स्वाद में; लीयते—लीन हो जाता है; ज्योतिषि—अग्नि में; रसः—स्वाद; ज्योतिः—अग्नि; रूपे—स्वरूप में; प्रलीयते—लीन हो जाती; रूपम्—स्वरूप; वायौ—वायु में; सः—वह; च—तथा; स्पर्शे—स्पर्श में; लीयते—लीन हो जाता है; सः—वह; अपि—भी; च—तथा; अम्बरे—आकाश में; अम्बरम्—आकाश; शब्द—ध्वनि में; तत्-मात्रे—संगत सूक्ष्म अनुभूति में; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; स्व-योनिषु—अपने स्रोतों, देवताओं में; योनिः—देवता; वैकारिके—सतोगुणी अहंकार में; सौम्य—हे उद्धव; लीयते—लीन हो जाता है; मनसि—मन में; ईश्वरे—नियन्ता रूप; शब्दः—शब्द; भूत-आदिम्—आदि अहंकार में; अप्येति—लीन हो जाता है; भूत-आदिः—मिथ्या अहंकार; महति—समग्र प्रकृति में; प्रभुः—शक्तिमान; सः—वह; लीयते—लीन हो जाता है; महान्—समग्र प्रकृति; स्वेषु—अपने ही; गुणेषु—तीन गुणों में; गुण-वत्-तमः—इन गुणों का परम धाम होने से; ते—वे; अव्यक्ते—प्रकृति के अव्यक्त रूप में; सम्प्रलीयन्ते—पूर्णतया लीन हो जाते हैं; तत्—उस; काले—समय में; लीयते—विलीन हो जाता है; अव्यये—अव्यय; कालः—समय; माया-मये—दिव्य ज्ञान से पूर्ण; जीवे—समस्त जीवों को गति देने वाले परमेश्वर में; जीवः—वह प्रभु; आत्मनि—परमात्मा में; मयि—मुझमें; अजे—अजन्मा; आत्मा—आत्मा; केवलः—अकेले; आत्म-स्थः—स्वयं में स्थित; विकल्प—सृष्टि; अपाय—तथा संहार द्वारा; लक्षणः—गुणों से युक्त।

संहार के समय जीव का मर्त्य शरीर भोजन में लीन हो जाता है। भोजन अन्न में लीन होता है और अन्न पुनः पृथ्वी में लीन हो जाते हैं। पृथ्वी अपने सूक्ष्म अनुभूति गंध में लीन हो जाती है। गंध जल में और जल अपने गुण स्वाद में लीन हो जाता है। स्वाद अग्नि में और अग्नि रूप में लीन हो जाती है। रूप स्पर्श में और स्पर्श आकाश में लीन हो जाता है। आकाश अन्ततः ध्वनि अनुभूति में लीन होता है। सारी इन्द्रियाँ अपने उद्‌गम रूप अधिष्ठाता देवों में लीन हो जाती हैं। हे सौम्य उद्धव, ये इन्द्रियाँ नियामक मन में लीन होती हैं, जो सात्विक अहंकार में लीन हो जाता है। शब्द तमोगुणी अहंकार में एकाकार हो जाते हैं और सर्वशक्तिमान तथा समस्त शारीरिक तत्त्वों में प्रथम जाना जाने वाला अहंकार समग्र प्रकृति में लीन हो जाता है। तीन गुणों की धात्री समग्र प्रकृति गुणों में लीन हो जाती है। तब ये गुण प्रकृति के अव्यक्त रूप में लीन होते हैं और यह अव्यक्त रूप काल में लीन हो जाता है। काल परमेश्वर में लीन हो जाता है, जो सर्वज्ञ महापुरुष के रूप में, समस्त जीवों के आदि प्रेरक के रूप में रहते हैं। समस्त जीवन का उद्‌गम मुझ अजन्मा परमात्मा में जो अपने भीतर स्थित रह कर अकेला रहता है, लीन हो जाता है। उन्हीं से समस्त सृजन तथा संहार प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत का संहार सृजन-क्रिया का विपर्यय है। हर वस्तु भगवान् के भीतर आश्रय पाने के लिए उनमें लीन हो जाती है, जो अपने परम पद में पूर्ण बने रहते हैं।

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः ।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; अन्वीक्षमाणस्य—ध्यान से देखने वाले का; कथम्—कैसे; वैकल्पिकः—द्वैत पर आधारित; भ्रमः—मोह; मनसः—उसके मन का; हृदि—हृदय में; तिष्ठेत—बना रह सकता है; व्योम्नि—आकाश में; इव—जिस तरह; अर्क—सूर्य के; उदये—उदय होने पर; तमः—अंधकार।

जिस तरह उदय होता सूर्य आकाश के अंधकार को हटा देता है, उसी तरह विश्व-संहार का यह विज्ञान गम्भीरजनों के मन से भ्रामक द्वैत को हटा देता है। यदि किसी तरह हृदय के भीतर भ्रम प्रवेश कर भी जाता है, तो वह वहाँ ठहर नहीं सकता।

तात्पर्य : जिस तरह चमकीला सूर्य आकाश से सारा अंधकार हटा देता है, उसी तरह उद्धव से कृष्ण द्वारा कहे गये इस ज्ञान को समझ लेने पर मन द्वारा कल्पित सारा अज्ञान मिट जाता है। तब कोई भी भौतिक शरीर को आत्मा नहीं स्वीकार करेगा। यदि किसी की चेतना के भीतर क्षण-भर के लिए ऐसा भ्रम उत्पन्न भी होता है, तो आध्यात्मिक ज्ञान के उदय होने से यह मिट जायेगा।

एष साङ्ख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृश मया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; साङ्ख्य-विधिः—सांख्य (वैश्लेषिक दर्शन) की विधि; प्रोक्तः—कहे गये; संशय—सन्देहों की; ग्रन्थि—गाँठ; भेदनः—तोड़ने वाला; प्रतिलोम-अनुलोमाभ्याम्—सीधे और उल्टे दोनों ही क्रमों में; पर—आध्यात्मिकजगत; अवर—तथा भौतिक जगत की निकृष्ट स्थिति; दृशा—देखने वाले के द्वारा; मया—मेरे द्वारा।

इस तरह हर भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तु के पूर्ण द्रष्टा मैंने यह सांख्य ज्ञान कहा है, जो सृष्टि तथा संहार के वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा संशय को नष्ट करता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि भौतिक मन जीवन की अनेक संकल्पनाओं को स्वीकार करता है और बहिष्कार करता है, जिससे सिद्धि की वास्तविक विधि के विषय में असंख्य झूठे तर्क उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, वह विमल बुद्धि के द्वारा सबकुछ देख सकता है। जो व्यक्ति यह समझ जाता है कि परमेश्वर किस तरह सृजन और

संहार करते हैं, वह भवबन्धन से मुक्त होकर भगवान् की नित्य सेवा में अपना समय बिता सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''सांख्य दर्शन'' नामक चौबीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

प्रकृति के तीन गुण तथा उनसे परे

इस अध्याय में मन में उठने वाले तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के विविध कार्यात्मक स्वरूपों का वर्णन हुआ है जिनसे भगवान् के दिव्य स्वभाव की स्थापना होती है।

मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, सहिष्णुता आदि शुद्ध सतोगुण की अभिव्यक्तियाँ हैं। इच्छा, प्रयास, मिथ्या गर्व आदि अमिश्रित रजोगुण की अभिव्यक्तियाँ हैं। तथा क्रोध, लोभ तथा मोह आदि अमिश्रित तमोगुण के कार्य हैं। तीनों गुणों के मिश्रण में हमें ''मैं'' और ''मेरा'' का भाव, शरीर, मन तथा वाणी द्वारा इस मनोवृत्ति के अनुसार आचरण, धर्म पर अटल रहना, आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति और भौतिक लाभ हेतु अपने वृत्तिपरक कार्य का दृढ़ अनुगमन मिलते हैं।

सतोगुणी चरित्र वाला व्यक्ति बिना किसी लाभ की इच्छा के भक्तिभाव से भगवान् हरि की पूजा करता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति भगवान् की पूजा से मिलने वाले फल के लिए लालायित रहता है, वह स्वभाव से रजोगुणी है। जो व्यक्ति हिंसा पसन्द करता है, वह तमोगुणी है। ये सतो, रजो तथा तमोगुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव में पाये जाते हैं किन्तु भगवान् भौतिक प्रकृति के इन तीनों गुणों से परे हैं।

वस्तु, स्थान तथा कर्मफल, काल के साथ, कर्म के भीतर निहित ज्ञान, कार्य, कर्ता, उसकी श्रद्धा, उसकी जागरूकता, उसकी आध्यात्मिक प्रगति तथा मृत्यु के बाद उसका गन्तव्य—ये सब तीनों गुणों में हाथ बँटाते हैं और ख्याति तथा कुलों के रूप में नाना प्रकार से प्रकट होते हैं। किन्तु भगवान् से सम्बन्धित वस्तुएँ, उनसे सम्बन्धित स्थान, उन पर आधारित सुख, उनकी पूजा में लगाया गया समय, उनसे सम्बन्धित ज्ञान, उनको अर्पित किया गया कर्म, उनकी शरण में कर्म करने वाला कर्ता, उनकी भक्ति में श्रद्धा, आध्यात्मिक लोक में जाने की ओर प्रगति तथा परमेश्वर का धाम—ये सभी भौतिक गुणों से परे हैं।

इस संसार-चक्र में आत्मा के लिए अनेक गन्तव्य तथा जीवन-स्थितियाँ हैं। ये सब प्रकृति के गुणों तथा उन पर निर्भर सकाम कर्म पर आधारित हैं। एकमात्र भगवान् के शुद्ध भक्तियोग से ही मूलत: मन में उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को जीता जा सकता है। मनुष्य-शरीर पाकर जिसमें ज्ञान तथा अनुभूति को विकसित करने की क्षमता है, बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि प्रकृति के इन तीन गुणों की संगति त्याग दे और तब भगवान् की पूजा करे। सर्वप्रथम सतोगुण में वृद्धि करके वह रजो तथा तमोगुणों को परास्त कर सकता है। तब वह आध्यात्मिक पद पर चेतना को विकसित करके भौतिक सत्त्व को जीत सकता है। उस समय वह भौतिक गुणों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, अपना सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि तथा अहंकार) छोड़ देता है और भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है। अपने सूक्ष्म आवरण को छिन्न-भिन्न करके, जीव परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और इस प्रकार उनकी दया से चरम सिद्धि को प्राप्त होता है।

श्रीभगवानुवाच
गुणानामसम्मिश्राणां पुमान्येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **गुणानाम्**—प्रकृति के गुणों के; **असम्मिश्राणाम्**—शुद्ध अवस्था वाले; **पुमान्**—व्यक्ति; **येन**—जिस गुण से; **यथा**—कैसे; **भवेत्**—बन जाता है; **तत्**—वह; **मे**—मुझसे; **पुरुष-वर्य**—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; **इदम्**—यह; **उपधारय**—समझने का प्रयत्न करो; **शंसतः**—मेरे द्वारा कहा हुआ।

भगवान् ने कहा : हे पुरुष-श्रेष्ठ, मैं तुमसे वर्णन करूँगा कि जीव किस तरह किसी भौतिक गुण की संगति से विशेष स्वभाव प्राप्त करता है। तुम उसे सुनो।

तात्पर्य : *असंमिश्र* शब्द उसे सूचित करता है, जिसमें अन्य कोई वस्तु मिली न हो। अब श्रीकृष्ण यह बतलाने जा रहे हैं कि तीनों गुण (सतो, रजो तथा तमो) किस तरह पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए बद्धजीव को कैसे विशेष अस्तित्व प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। जीव भगवान् कृष्ण का अंश होने के कारण अन्ततः प्रकृति के गुणों से परे होता है किन्तु बद्ध जीवन में वह भौतिक गुण प्रकट करता है। इसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।

तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३॥
क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीरनुद्यमः ॥ ४॥
सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५॥

शब्दार्थ

शमः—मन का संयम; दमः—इन्द्रिय संयम; तितिक्षा—सहिष्णुता; ईक्षा—संकल्प; तपः—अपने नियत कार्य का दृढ़तापूर्वक पालन; सत्यम्—सत्य; दया—दया; स्मृतिः—भूत तथा भविष्य का अवलोकन; तुष्टिः—सन्तोष; त्यागः—उदारता; अस्पृहा—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति; श्रद्धा—(गुरु तथा अन्य प्रामाणिक विद्वानों के प्रति) श्रद्धा; ह्रीः—लज्जा (अनुचित कार्य से); दया-आदिः—दान, सरलता, दीनता आदि; स्व-निर्वृतिः—भीतर से आनन्द मनाने; कामः—भौतिक इच्छा; ईहा—उद्योग, प्रयत्न; मदः—घमंड; तृष्ण—असंतोष; स्तम्भः—मिथ्या गर्व; आशीः—भौतिक लाभ के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना; भिदा—विलगाववादी प्रवृत्ति; सुखम्—इन्द्रियतृप्ति; मद-उत्साहः—नशे पर आधारित हिम्मत; यशः-प्रीतिः—प्रशंसा का भूखा; हास्यम्—हँसी उड़ाने में रत; वीर्यम्—अपनी शक्ति का प्रचार करने वाला; बल-उद्यमः—अपने बलबूते पर कार्य करने वाला; क्रोधः—असह्य क्रोध; लोभः—लालच; अनृतम्—असत्य भाषण (शास्त्र विरुद्ध बोलना); हिंसा—दुश्मनी; याच्ञा—याचना करना; दम्भः—दिखावा; क्लमः—थकान; कलिः—कलह; शोक-मोहौ—शोक तथा मोह; विषाद-आर्ती—दुख तथा झूठी दीनता; निद्रा—नींद, अँगडाई; आशा—झूठी आशा; भीः—भय; अनुद्यमः—प्रयास का अभाव; सत्त्वस्य—सतोगुण का; रजसः—रजोगुण का; च—तथा; एताः—ये; तमसः—तमोगुण का; च—तथा; आनुपूर्वशः—एक के बाद दूसरा; वृत्तयः—कार्य; वर्णित—कहे गये; प्रायाः—अधिकांशतः; सन्निपातम्—इन सबों का मेल; अथो—अब; शृणु—सुनो।

मन तथा इन्द्रिय संयम, सहिष्णुता, विवेक, नियत कर्म का पालन, सत्य, दया, भूत तथा भविष्य का सतर्क अध्ययन, किसी भी स्थिति में सन्तोष, उदारता, इन्द्रियतृप्ति का परित्याग, गुरु में श्रद्धा, अनुचित कर्म करने पर व्यग्रता, दान, सरलता, दीनता तथा अपने में संतोष—ये सतोगुण के लक्षण हैं। भौतिक इच्छा, महान् उद्योग, मद, लाभ में भी असन्तोष, मिथ्या अभिमान, भौतिक उन्नति के लिए प्रार्थना, अन्यों से अपने को विलग तथा अच्छा मानना, इन्द्रियतृप्ति, लड़ने की छटपटाहट, अपनी प्रशंसा सुनने की चाह, अन्यों का मजाक उड़ाने की प्रवृत्ति, अपने बल का विज्ञापन तथा अपने बल के द्वारा अपने कर्मों को सही बताना—ये रजोगुण के लक्षण हैं। असह्य क्रोध, कंजूसी, शास्त्रीय आधार के बिना बोलना, उग्र घृणा, परोपजीवन, दिखावा, अति थकान, कलह, शोक, मोह, दुख, उदासी, अत्यधिक निद्रा, झूठी आशा, भय तथा आलस्य—ये तमोगुणी लक्षण हैं। अब इन तीनों के मिश्रण के बारे में सुनो।

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६॥

शब्दार्थ

सन्निपातः—गुणों का मिश्रण; तु—तथा; अहम् इति—मैं; मम इति—''मेरा''; उद्धव—हे उद्धव; या—जो; मतिः—मनोवृत्ति; व्यवहारः—सामान्य कार्यकलाप; सन्निपातः—संयोग, मिश्रण; मनः—मन; मात्रा—अनुभूति के पदार्थो; इन्द्रिय—इन्द्रियों; असुभिः—तथा प्राण-वायुओं द्वारा।

हे उद्धव, ''मैं'' तथा ''मेरा'' मनोवृत्ति में तीनों गुणों का संमिश्रण रहता है। इस जगत के सामान्य व्यवहार, जो मन, अनुभूति के विषयों (तन्मात्राओं), इन्द्रियों तथा शरीर की प्राण-वायु द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, भी गुणों के सम्मिश्रण पर आधारित होते हैं।

तात्पर्य : ''मैं'' और ''मेरा'' की भ्रामक धारणा प्रकृति के गुणों के मिश्रण से बनती है। सतोगुणी मनुष्य अनुभव कर सकता है, ''मैं शान्त हूँ''। रजोगुणी व्यक्ति सोच सकता है, ''मैं कामी हूँ'' और तमोगुणी व्यक्ति सोच सकता है ''मैं क्रुद्ध हूँ''। इसी तरह कोई सोच सकता है, ''मेरी शान्ति,'' ''मेरा काम'' या ''मेरा क्रोध''। शान्त रहने की पूर्ण मनोवृत्ति वाला व्यक्ति भौतिक जगत में कार्य नहीं कर सकता, उसमें कार्य करने की प्रेरणा का अभाव होगा। इसी तरह विषय-वासना में लीन रहने वाला व्यक्ति लेशमात्र शान्ति या संयम के बिना मदान्ध बन जायेगा। क्रोध से अभिभूत व्यक्ति अन्य गुणों के मिश्रण के बिना भौतिक संसार में ठीक से कार्य नहीं कर पायेगा। अतः हम देखते हैं कि कोई गुण कभी शुद्ध अवस्था में तथा पृथक् रूप में नहीं मिलता प्रत्युत वह अन्य गुणों में मिश्रित रहता है, जिससे इस जगत में सामान्य रूप से कार्य चलते रहते हैं। अन्ततः मनुष्य को सोचना चाहिए, ''मैं कृष्ण का नित्य दास हूँ'' और ''मेरी एकमात्र सम्पत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति है।'' यही चेतना की शुद्ध अवस्था है, जो प्रकृति के गुणों से परे है।

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७॥

शब्दार्थ

धर्मे—धर्म में; च—तथा; अर्थे—आर्थिक विकास में; च—तथा; कामे—इन्द्रियतृप्ति में; च—तथा; यदा—जब; असौ—यह जीव; परिनिष्ठितः—स्थिर है; गुणानाम्—प्रकृति के गुणों के; सन्निकर्षः—मिश्रण में; अयम्—यह; श्रद्धा—श्रद्धा; रति—यौन भोग; धन—तथा धन; आवहः—जिसे हर एक लाता है।

जब मनुष्य धर्म, अर्थ तथा काम में अपने आप को लगाता है, तो उसके उद्योग से प्राप्त श्रद्धा, सम्पत्ति तथा यौन-सुख प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया को प्रदर्शित करते हैं।

तात्पर्य : धर्म, अर्थ तथा काम—ये प्रकृति के गुणों में स्थित होते हैं और उनसे प्राप्त श्रद्धा,

सम्पत्ति तथा भोग प्रकृति के गुणों के भीतर मनुष्य की विशिष्ट अवस्था को बताते हैं।

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानु तिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ति—भौतिक भोग के मार्ग के; लक्षणे—लक्षण वाले में; निष्ठा—समर्पण; पुमान्—मनुष्य; यर्हि—जब; गृह-आश्रमे—पारिवारिक जीवन में; स्व-धर्मे—नियत कार्यों में; च—तथा; अनु—बाद में; तिष्ठेत—खड़ा रहता है; गुणानाम्—गुणों की; समितिः—संयोग, मेल; हि—निस्सन्देह; सा—यह।

जब मनुष्य पारिवारिक जीवन में अनुरक्त होने से इन्द्रियतृप्ति चाहता है और इसके फलस्वरूप जब वह धार्मिक तथा वृत्तिपरक कार्यों में स्थित हो जाता है, तो प्रकृति के गुणों का मिश्रण प्रकट होता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, स्वर्ग जाने के लिए सम्पन्न किये जाने वाले धार्मिक कार्य रजोगुणी माने जाते हैं, सामान्य पारिवारिक जीवन का भोग करने के लिए सम्पन्न होने वाले कार्य तमोगुणी होते हैं तथा वर्णाश्रम प्रणाली में अपने वृत्तिपरक कार्य को पूरा करने के लिए निःस्वार्थ भाव से सम्पन्न कार्य सतोगुणी होते हैं। इस तरह भगवान् ने बतलाया है कि किस तरह प्रकृति के गुणों के भीतर सांसारिक धर्म प्रकट होता है।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुरुषम्—व्यक्ति; सत्त्व-संयुक्तम्—सतोगुण से युक्त; अनुमीयात्—निकाला जा सकता है; शम-आदिभिः—इन्द्रिय-संयम के गुणों आदि से; काम-आदिभिः—विषय-वासना आदि से; रजः-युक्तम्—रजोगुणी व्यक्ति; क्रोध-आद्यैः—क्रोध इत्यादि से; तमसा—तमोगुण से; युतम्—युक्त।

आत्मसंयम जैसे गुणों को प्रदर्शित करने वाला व्यक्ति मुख्यतया सतोगुणी माना जाता है। इसी तरह रजोगुणी व्यक्ति अपनी विषय-वासना से पहचाना जाता है तथा तमोगुणी व्यक्ति क्रोध जैसे गुण से पहचाना जाता है।

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; भजति—पूजा करता है; माम्—मेरी; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; निरपेक्षः—फल की परवाह न करने वाला; स्व-कर्मभिः—अपने नियत कार्यों से; तम्—उसको; सत्त्व-प्रकृतिम्—सतोगुणी स्वभाव वाला व्यक्ति; विद्यात्—समझे; पुरुषम्—पुरुष को; स्त्रियम्—स्त्री को; एव—भी; वा—अथवा।

कोई व्यक्ति, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, यदि अपने नियत कार्यों को बिना किसी आसक्ति के मुझे अर्पित करते हुए मेरी पूजा करता है, तो वह सतोगुणी समझा जाता है।

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्यात् हिंसामाशास्य तामसम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आशिषः—आशीर्वाद; आशास्य—की आशा से; माम्—मुझको; भजेत—पूजता है; स्व-कर्मभिः—अपने कार्यों से; तम्—उसको; रजः-प्रकृतिम्—रजोगुणी व्यक्ति; विद्यात्—समझे; हिंसाम्—हिंसा; आशास्य—की आशा करते हुए; तामसम्—तमोगुणी व्यक्ति।

जब कोई व्यक्ति भौतिक लाभ पाने की आशा से अपने नियत कर्मों द्वारा मेरी पूजा करता है, उसका स्वभाव रजोगुणी समझना चाहिए और जब कोई व्यक्ति अन्यों के साथ हिंसा करने की इच्छा से मेरी पूजा करता है, वह तमोगुण में स्थित होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; गुणाः—गुण; जीवस्य—आत्मा से सम्बन्धित; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; मे—मुझको; चित्त-जाः—मन के भीतर प्रकट; यैः—जिन गुणों से; तु—तथा; भूतानाम्—भौतिक प्राणियों का; सज्जमानः—अनुरक्त होकर; निबध्यते—बाँधा जाता है।

प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—जीव को तो प्रभावित करते हैं, मुझे नहीं। उसके मन में प्रकट होकर ये जीव को भौतिक शरीरों तथा अन्य उत्पन्न वस्तुओं से अनुरक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह जीव बँध जाता है।

तात्पर्य : जीव भगवान् की तटस्था शक्ति है और वह भगवान् की मोहमयी शक्ति द्वारा अभिभूत होने की संभावना रखता है। किन्तु भगवान् मोह के परम नियन्ता हैं। मोह कभी भी भगवान् को नियंत्रित नहीं कर सकता। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण सारे जीवों के लिए सेवा के नित्य लक्ष्य हैं और ये जीव भगवान् के नित्य दास हैं।

प्रकृति के तीनों गुण भौतिक शक्ति में प्रकट होते हैं। जब बद्धात्मा भौतिक मनोवृत्ति ग्रहण करता है, तो ये गुण उस मनोवृत्ति की सीमा के भीतर अपना प्रभाव दिखाते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने

मन को भगवद्भक्ति से शुद्ध बना लेता है, तो प्रकृति के गुण उस पर और अधिक प्रभाव नहीं डालते क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर उनका प्रभाव नहीं होता।

यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥ १३॥

शब्दार्थ

यदा—जब; इतरौ—अन्य दो; जयेत्—जीत लेता है; सत्त्वम्—सतोगुण; भास्वरम्—प्रकाशमान; विशदम्—शुद्ध; शिवम्—शुभ; तदा—तब; सुखेन—सुख से; युज्येत—से युक्त होता है; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; आदिभिः—आदि अन्य गुणों से; पुमान्—मनुष्य।

जब प्रदीप्त शुद्ध तथा शुभ सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण पर हावी होता है, तो मनुष्य सुख, प्रतिभा, ज्ञान तथा अन्य गुणों से युक्त हो जाता है।

तात्पर्य : सतोगुण में मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है।

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥ १४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जयेत्—जीत लेता है; तमः सत्त्वम्—तमो तथा सतोगुण; रजः—रजो; सङ्गम्—अनुरक्ति (का कारण); भिदा—विलगाव; चलम्—तथा परिवर्तन; तदा—तब; दुःखेन—दुख से; युज्येत—युक्त हो जाता है; कर्मणा—भौतिक कार्य से; यशसा—यश (की इच्छा) से; श्रिया—तथा ऐश्वर्य से।

जब अनुरक्ति, विलगाव तथा कर्मठता का कारणरूप रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण को जीत लेता है, तो मनुष्य प्रतिष्ठा तथा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कठिन श्रम करने लगता है। इस तरह रजोगुण में मनुष्य चिन्ता तथा संघर्ष का अनुभव करता है।

यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया ॥ १५॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जयेत्—जीत लेता है; रजः सत्त्वम्—रजोगुण तथा सतोगुण; तमः—तमोगुण; मूढम्—विवेक-शक्ति को खो चुका; लयम्—चेतना के ऊपर का आवरण; जडम्—उद्योग से विहीन; युज्येत—युक्त हो जाता है; शोक—शोक; मोहाभ्याम्—तथा मोह से; निद्रया—अत्यधिक सोने से; हिंसया—हिंसक गुणों से; आशया—तथा झूठी आशाओं से।

जब तमोगुण रजोगुण तथा सतोगुणों को जीत लेता है, तो वह मनुष्य की चेतना को ढक लेता है और उसे मूर्ख तथा जड़ बना देता है। तमोगुणी मनुष्य शोक तथा मोह में पड़ कर अत्यधिक सोता है, झूठी आशा करने लगता है और अन्यों के प्रति हिंसा प्रदर्शित करता है।

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; चित्तम्—चेतना; प्रसीदेत—स्वच्छ हो जाती है; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की; च—तथा; निर्वृतिः—संसारी कार्यों की समाप्ति; देहे—शरीर में; अभयम्—निर्भयता; मनः—मन की; असङ्गम्—विरक्ति; तत्—उसे; सत्त्वम्—सतोगुण; विद्धि—जानो; मत्—मेरा साक्षात्कार; पदम्—वह पद जिसमें इसे प्राप्त किया जा सके।

जब चेतना स्वच्छ हो जाती हैं और इन्द्रियाँ पदार्थ से विरक्त हो जाती हैं, तो मनुष्य भौतिक शरीर के भीतर निर्भीकता तथा भौतिक मन से विरक्ति का अनुभव करता है। इस स्थिति को सतोगुण की प्रधानता समझना चाहिए क्योंकि इसमें मनुष्य को मेरा साक्षात्कार करने का अवसर मलिता है।

विकुर्वन्क्रियया चाधीरनिवृत्तिश्च चेतसाम् ।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥ १७॥

शब्दार्थ

विकुर्वन्—विकृत होकर; क्रियया—कर्म से; च—तथा; आ—तक; धीः—बुद्धि; अनिवृत्तिः—रोक न पाना; च—एवं; चेतसाम्—बुद्धि तथा इन्द्रियों की चेतनता पर; गात्र—कर्मेन्द्रियों का; अस्वास्थ्यम्—अस्वस्थ स्थिति; मनः—मन; भ्रान्तम्—अस्थिर; रजः—रजोगुण; एतैः—इन लक्षणों से; निशामय—तुम्हें समझना चाहिए।

तुम्हें रजोगुण का पता उसके लक्षणों से—अत्यधिक कर्म के कारण बुद्धि की विकृति, अनुभव करने वाली इन्द्रियों की संसारी वस्तुओं से अपने को छुड़ाने की असमर्थता, कर्मेन्द्रियों की अस्वस्थ दशा तथा मन की अस्थिरता से—लगा लेना चाहिये।

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सीदत्—विफल हो जाती है; चित्तम्—चेतना की उच्चतर इन्द्रिय; विलीयेत—विलीन हो जाती है; चेतसः—जागरूकता; ग्रहणे—नियंत्रित करने में; अक्षमम्—अक्षम; मनः—मन; नष्टम्—विनष्ट; तमः—अज्ञान; ग्लानिः—विषाद; तमः—तमोगुण; तत्—वह; उपधारय—तुम समझो।

जब मनुष्य की उच्चतर जागरूकता काम न दे और अन्त में लुप्त हो जाय तथा इस तरह मनुष्य अपना ध्यान एकाग्र न कर सके, तो उसका मन नष्ट हो जाता है और अज्ञान तथा विषाद प्रकट करता है। तुम इस स्थिति को तमोगुण की प्रधानता समझो।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एधमाने—वृद्धि करता हुआ; गुणे—गुण में; सत्त्वे—सतो; देवानाम्—देवताओं की; बलम्—शक्ति; एधते—बढ़ती है; असुराणाम्—देवताओं के शत्रुओं की; च—तथा; रजसि—रजोगुण के बढ़ने पर; तमसि—तमोगुण के बढ़ने पर; उद्धव—हे उद्धव; रक्षसाम्—मानव भक्षियों को।

सतोगुण की वृद्धि होने के साथ साथ, देवताओं की शक्ति भी बढ़ती जाती है। जब रजोगुण बढ़ता है, तो असुरगण प्रबल हो उठते हैं और तमोगुण की वृद्धि से हे उद्धव! अत्यन्त दुष्ट लोगों की शक्ति बढ़ जाती है।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सत्त्वात्—सतोगुण से; जागरणम्—जागरूक चेतना; विद्यात्—समझे; रजसा—रजोगुण से; स्वप्नम्—नींद; आदिशेत्—सूचित होती है; प्रस्वापम्—गहरी नींद; तमसा—तमोगुण से; जन्तोः—जीव की; तुरीयम्—चतुर्थ दिव्य अवस्था; त्रिषु—तीनों में; सन्ततम्—व्याप्त।

यह जान लेना चाहिए कि जागरूक चैतन्यता सतोगुण से आती है, नींद रजोगुणी स्वप्न देखने से तथा गहरी स्वप्नरहित नींद तमोगुण से आती है। चेतना की चतुर्थ अवस्था इन तीनों में व्याप्त रहती है और दिव्य होती है।

तात्पर्य : हमारी आदि कृष्ण-चेतना आत्मा के भीतर शाश्वत विद्यमान रहती है और यह जागरूकता की तीनों अवस्थाओं—सामान्य जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—में भी रहती है। प्रकृति के गुणों से आच्छादित होने से हो सकता है कि यह आध्यात्मिक चेतना प्रकट न हो किन्तु यह असली स्वभाव के रूप में जीव में शाश्वत विद्यमान रहती है।

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उपरि उपरि—ऊँचे और ऊँचे; गच्छन्ति—जाते हैं; सत्त्वेन—सतोगुण से; ब्राह्मणाः—वैदिक सिद्धान्तों के प्रति समर्पित लोग; जनाः—ऐसे लोग; तमसा—तमोगुण द्वारा; अधः अधः—नीचे और नीचे; आ-मुख्यात्—सिर के बल; रजसा—रजोगुण द्वारा; अन्तर-चारिणः—मध्यवर्ती स्थितियों में रहते हुए।

वैदिक संस्कृति के प्रति समर्पित विद्वान पुरुष सतोगुण से उत्तरोत्तर उच्च पदों को प्राप्त होते हैं। किन्तु तमोगुण मनुष्य को सिर के बल निम्न से निम्नतर जन्मों में गिरने के लिए बाध्य करता

है। रजोगुण से मनुष्य मानव शरीरों में से होकर निरन्तर देहान्तरण करता रहता है।

तात्पर्य : शूद्र लोग अर्थात् तमोगुणी लोग जीवन के लक्ष्य के विषय में गहरे भ्रम में रहते हैं क्योंकि वे स्थूल शरीर को आत्मा मान बैठते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग वैश्य कहलाते हैं, जो धन के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं जबकि रजोगुणी क्षत्रिय प्रतिष्ठा तथा अधिकार के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु जो सतोगुणी होते हैं, वे पूर्ण ज्ञान के लिए लालायित रहते हैं; इसलिए वे ब्राह्मण कहलाते हैं। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मलोक के परम भौतिक पद को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति तमोगुणी होता है, वह धीरे धीरे जड़ योनियों को, यथा वृक्ष तथा पत्थर को, प्राप्त होता है, जबकि रजोगुणी व्यक्ति को, इच्छा से पूरित होते हुए किन्तु वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत उसे तुष्ट करते हुए, मानव समाज में रहने दिया जाता है।

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥ २२॥

शब्दार्थ

सत्त्वे—सतोगुण में; प्रलीनाः—मरने वाले; स्वः—स्वर्ग; यान्ति—जाते हैं; नर-लोकम्—मनुष्य लोक में; रजः-लयाः—रजोगुण में मरने वाले; तमः-लयाः—तमोगुण में मरने वाले; तु—तथा; निरयम्—नरक में; यान्ति—जाते हैं; माम्—मुझ तक; एव—किन्तु; निर्गुणाः—समस्त गुणों से रहित हैं, जो।.

जो लोग सतोगुण में रहते हुए इस जगत को छोड़ते हैं, वे स्वर्गलोक जाते हैं; जो रजोगुण में रहते हुए छोड़ते हैं, वे मनुष्य-लोक में रह जाते हैं और तमोगुण में मरने वाले नरक-लोक में जाते हैं। किन्तु जो प्रकृति के सारे गुणों से मुक्त हैं, वे मेरे पास आते हैं।

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

मत्-अर्पणम्—मुझे अर्पित; निष्फलम्—किसी फल-प्राप्ति की आशा के बिना सम्पन्न; वा—तथा; सात्त्विकम्—सतोगुण में; निज—अपना नियत कर्म मान कर; कर्म—कार्य; तत्—वह; राजसम्—रजोगुणी; फल-सङ्कल्पम्—किसीफल प्राप्ति की आशा से सम्पन्न; हिंसा-प्राय-आदि—हिंसा, ईर्ष्या आदि के बिना सम्पन्न; तामसम्—तमोगुण में।.

फल का विचार किये बिना जो कर्म मुझे अपिर्त किया जाता है, वह सतोगुणी माना जाता है। फल की भोगेच्छा से सम्पन्न कर्म रजोगुणी है और हिंसा तथा ईर्ष्या से प्रेरित कर्म तमोगुणी होता है।

तात्पर्य : निष्काम भाव से तथा ईश्वर को भेंटस्वरूप सम्पन्न सामान्य कार्य सात्त्विक माना जाता है, जबकि भक्ति के कार्य—यथा भगवद्-गुणों का श्रवण तथा कीर्तन—प्रकृति के गुणों से परे दिव्य कर्म होते हैं।

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

कैवल्यम्—केवल, परम; **सात्त्विकम्**—सतोगुणी; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **रजः**—रजोगुण; **वैकल्पिकम्**—कई; **च**—तथा; **यत्**—जो; **प्राकृतम्**—भौतिकतावादी; **तामसम्**—तमोगुणी; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **मत्-निष्ठम्**—मुझमें एकाग्र चित्त; **निर्गुणम्**—दिव्य; **स्मृतम्**—माना जाता है।.

परम ज्ञान सात्त्विक होता है; द्वैत पर आधारित ज्ञान राजसी होता है और मूर्खतापूर्ण भौतिकतावादी ज्ञान तामसिक है। किन्तु जो ज्ञान मुझ पर आधारित होता है, वह दिव्य माना जाता है।

तात्पर्य : परम पुरुष भगवान् विषयक दिव्य ज्ञान सामान्य सात्विक धार्मिक ज्ञान से परे है, यहाँ पर भगवान् इसकी व्याख्या करते हैं। सात्विक गुण में मनुष्य सारे जीवों के भीतर उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति की उपस्थिति को समझता है। रजोगुण में वही मनुष्य शरीर का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करता है और तमोगुण में उसका मन इन्द्रिय-विषयों में केन्द्रित होने के कारण, उसमें उच्चतर जागरूकता नहीं रह जाती और वह वस्तुओं को इस तरह देखता है जैसे छोटे बच्चे या बाधित व्यक्ति देखते हों।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की विस्तृत टीका की है। उनका कथन है कि सात्विक गुण परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं करता। वे *श्रीमद्भागवत* से (६.१४.२) कई उदाहरण देते हैं जिनमें अनेक देवता सात्विक होते हुए भी भगवान् कृष्ण के दिव्य व्यक्तित्व को नहीं समझ पाते। भौतिक सतोगुण में मनुष्य पवित्र या धार्मिक तथा उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति के प्रति भिज्ञ हो जाता है। किन्तु शुद्ध सतोगुण के आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य परब्रह्म से प्रत्यक्ष प्रेममय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और संसारी शुद्धता से मात्र जुड़े रहने की बजाये, भगवान् की सेवा में लग जाता है। रजोगुण में बद्धजीव अपने जीवन तथा अपने चारों ओर के जगत की वास्तविकता के बारे में कल्पना करता है और कल्पना से भगवद्धाम के अस्तित्व के विषय में भी सोचता है। तमोगुण में वह अपने मन को विविध प्रकार से खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने में लीन करके, इन्द्रियतृप्ति के विषय में ज्ञान

प्राप्त करता है। इस तरह प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत बद्धात्माएँ या तो अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने में या फिर अपने को इन्द्रियतृप्ति से मुक्त करने में लगी रहती हैं। किन्तु जब तक वे प्रकृति के गुणों से परे कृष्णभावनामृत के दिव्य पद को प्राप्त नहीं हो लेतीं, वे अपने को अपने स्वाभाविक मुक्त कार्यों में लगा नहीं पातीं।

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

वनम्—**जंगल**; **तु**—**जबकि**; **सात्त्विकः**—**सतोगुणी**; **वासः**—**आवास**; **ग्रामः**—**गाँव**; **राजसः**—**रजोगुणी**; **उच्यते**—**कहा जाता है**; **तामसम्**—**तमोगुणी**; **द्यूत-सदनम्**—**जुआ खेलने का स्थान**; **मत्-निकेतम्**—**मेरा निवास**; **तु**—**लेकिन**; **निर्गुणम्**—**दिव्य**।

जंगल का वास सतोगुणी, कस्बे का वास रजोगुणी, जुआ घर का वास तमोगुणी तथा मेरे धाम का वास दिव्य होता है।

तात्पर्य : जंगल के अनेक प्राणी, यथा वृक्ष, जंगली सुअर तथा कीड़े-मकोड़े, वस्तुतः रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं। किन्तु जंगल का वास इसलिए सतोगुणी (सात्विक) कहा गया है क्योंकि वहाँ पर पापमय कार्यों, भौतिक ऐश्वर्य तथा कामुक इच्छाओं से मुक्त एकान्त जीवन बिताया जा सकता है। भारत के इतिहास में सभी प्रकार के लाखों लोग वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम स्वीकार करके तपस्या करने तथा आत्म-साक्षात्कार पूरा करने के लिए जंगलों में जाते रहे हैं। यहाँ तक कि अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में थोरो जैसे व्यक्ति ने—अपनी भौतिक उलझनों को कम करने के लिए जंगल में जाकर वास करने के कारण ही ख्याति पाई।

यहाँ पर *ग्राम* शब्द अपने परिवार के रहने के स्थान का सूचक है। पारिवारिक जीवन निश्चय ही झूठे गर्व, झूठी आशा, झूठे स्नेह, शोक तथा मोह से पूर्ण है क्योंकि पारिवारिक सम्बन्ध पूरी तरह देहात्म बुद्धि पर आश्रित होता है, जो आत्म-साक्षात्कार के बिल्कुल विपरीत है। *द्यूत-सदनम्* शब्द घुड़दौ के स्थानों, शराबखानों आदि अन्य ऐसे पापपूर्ण स्थानों का द्योतक है, जिसमें तमोगुणी चेतना की नारकीय अवस्था पाई जाती है। *मन्-निकेतनम्* वैकुण्ठ में भगवान् के निजी धाम का तथा इस जगत में भगवान् के मन्दिरों का द्योतक है जिनमें भगवान् के अर्चाविग्रह की ठीक से पूजा की जाती है। जो व्यक्ति मन्दिर-जीवन के नियमों का पालन करते हुए कृष्ण-मन्दिर में रहता है, वह दिव्य पद पर

निवसित माना जाता है। इन श्लोकों में भगवान् यही स्पष्ट करते हैं कि सारी भौतिक घटनाओं को प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन कोटियों में रखा जा सकता है। अन्त में एक चौथी कोटि भी है, जो दिव्य कृष्णभावनामृत है और जो मानव संस्कृति के सभी पक्षों को मुक्त पद तक उठाने वाला है।

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकः—सतोगुणी; कारकः—कर्म करने वाला, कर्ता; असङ्गी—अनुरक्ति से रहित; राग-अन्धः—निजी इच्छा से अंधा हुआ; राजसः—रजोगुणी; स्मृतः—माना जाता है; तामसः—तमोगुणी; स्मृति—कौन क्या है इसकी स्मृति से; विभ्रष्टः—पतित; निर्गुणः—दिव्य; मत्-अपाश्रयः—जिसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है।

आसक्तिरहित कर्ता सात्विक होता है; निजी इच्छा से अंधा हुआ कर्ता राजसी तथा अच्छे-बुरे भेद को पूरी तरह भुला देने वाला कर्ता तामसिक है। किन्तु जिस कर्ता ने मेरी शरण ले रखी है, वह प्रकृति के गुणों से परे माना जाता है।

तात्पर्य : दिव्य कर्ता भगवान् कृष्ण तथा कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के निर्देशानुसार अपना कार्य करता है। ऐसा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से परे रहता माना जाता है।

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकी—सतोगुणी; आध्यात्मिकी—आध्यात्मिक; श्रद्धा—श्रद्धा; कर्म—कर्म में; श्रद्धा—श्रद्धा; तु—लेकिन; राजसी—रजोगुणी; तामसी—तमोगुणी; अधर्मे—अधर्म में; या—जो; श्रद्धा—श्रद्धा; मत्-सेवायाम्—मेरी भक्ति में; तु—लेकिन; निर्गुणा—दिव्य।

आध्यात्मिक जीवन की दिशा में लक्षित श्रद्धा सात्विक होती है; सकाम कर्म पर आधारित श्रद्धा राजसी होती है और अधार्मिक कृत्यों में वास करने वाली श्रद्धा तामसी होती है किन्तु मेरी भक्ति में जो श्रद्धा की जाती है, वह शुद्ध रूप से दिव्य होती है।

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् ।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

पथ्यम्—लाभप्रद; पूतम्—शुद्ध; अनायस्तम्—बिना कठिनाई के प्राप्त की गई; आहार्यम्—भोजन; सात्त्विकम्—सतोगुणी; स्मृतम्—माना जाता है; राजसम्—राजसी; च—तथा; इन्द्रिय-प्रेष्ठम्—इन्द्रियों को अत्यन्तप्रिय; तामसम्—तामसी; च—तथा; आर्ति-द—कष्टप्रद; अशुचि—अशुद्ध है।

जो भोजन लाभप्रद, शुद्ध तथा बिना कठिनाई के उपलब्ध हो सके, वह सात्विक होता है; जो भोजन इन्द्रियों को तुरन्त आनन्द प्रदान करता हो, वह राजसी है और जो भोजन गन्दा हो तथा कष्ट उत्पन्न करने वाला हो, वह तामसी है।

तात्पर्य : तामसी भोजन पीड़ाप्रद रोग उत्पन्न करता है और असामयिक मृत्यु लाता है।

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकम्—सतोगुणी; सुखम्—सुख; आत्म-उत्थम्—आत्मा से उत्पन्न; विषय-उत्थम्—इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न; तु—लेकिन; राजसम्—राजसी; तामसम्—तामसी; मोह—मोह; दैन्य—तथा दीनता से; उत्थम्—उत्पन्न; निर्गुणम्—दिव्य; मत्-अपाश्रयम्—मेरे भीतर।

आत्मा से प्राप्त सुख सात्विक है; इन्द्रियतृप्ति पर आधारित सुख राजसी है और मोह तथा दीनता पर आधारित सुख तामसी है। किन्तु मेरे भीतर पाया जाने वाला सुख दिव्य है।

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—वस्तु; देशः—स्थान; फलम्—परिणाम; कालः—समय; ज्ञानम्—ज्ञान; कर्म—कर्म; च—तथा; कारकः—कर्ता; श्रद्धा—श्रद्धा; अवस्था—चेतना की अवस्था; आकृतिः—किस्म; निष्ठा—गन्तव्य; त्रै-गुण्यः—तीन गुणों वाला; सर्वः—ये सारे; एव हि—निश्चय ही।

इसलिए भौतिक वस्तु, स्थान, कर्मफल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, चेतना की दशा, जीव योनि तथा मृत्यु के बाद गन्तव्य—ये सभी प्रकृति के तीन गुणों पर आश्रित हैं।

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः ।
दृष्टं श्रुतं अनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—समस्त; गुण-मयाः—प्रकृति के गुणों से बने; भावाः—जीवन की स्थितियाँ; पुरुष—भोग करने वाले आत्मा द्वारा; अव्यक्त—तथा सूक्ष्म प्रकृति; धिष्ठिताः—स्थापित तथा पालित; दृष्टम्—देखा हुआ; श्रुतम्—सुना हुआ; अनुध्यातम्—सोचा हुआ; बुद्ध्या—बुद्धि के द्वारा; वा—अथवा; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, भौतिकवादिता की सारी दशाएँ भोक्ता आत्मा तथा भौतिक प्रकृति की

अन्योन्य क्रिया से सम्बन्धित हैं। चाहे वे देखी हुई हों, सुनी हुई हों या मन के भीतर सोची-विचारी गई हों, वे किसी अपवाद के बिना प्रकृति के गुणों से बनी हुई होती हैं।

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; संसृतयः—जगत के उत्पन्न पक्ष; पुंसः—जीव का; गुण—भौतिक गुण; कर्म—तथा कर्म से; निबन्धनाः—सम्बद्ध; येन—जिससे; इमे—ये; निर्जिताः—जीते जाते हैं; सौम्य—हे भद्र उद्धव; गुणाः—प्रकृति के गुण; जीवेन—जीव द्वारा; चित्त-जाः—मन से प्रकट होने वाले; भक्ति-योगेन—भक्ति-विधि से; मत्-निष्ठः—मेरे प्रति समर्पित; मत्-भावाय—मेरे प्रति प्रेम का; प्रपद्यते—पाता है।

हे सौम्य उद्धव, बद्ध जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ प्रकृति के गुणों से पैदा हुए कर्म से उत्पन्न होती हैं। जो जीव इन गुणों को, जो मन से प्रकट होते हैं, जीत लेता है, वह भक्तियोग द्वारा अपने आपको मुझे अर्पित कर देता है और इस तरह मेरे प्रति शुद्ध प्रेम प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *मद्-भावाय प्रपद्यते* पद ईश्वर के प्रति अथवा ईश्वर जैसी ही अवस्था के प्रति प्रेम की प्राप्ति का सूचक है। वास्तविक मोक्ष तो शाश्वत भगवद्धाम में वास है जहाँ जीवन आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण होता है। बद्धजीव भ्रमवश अपने को प्रकृति के गुणों का भोक्ता मान बैठता है। इस तरह एक विशेष प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है, जिसका फल बद्धजीव को जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँध देता है। इस निष्फल विधि का सामना भगवान् की भक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, जैसाकि यहाँ वर्णन हुआ है।

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; देहम्—शरीर; इमम्—यह; लब्ध्वा—प्राप्त करके; ज्ञान—शुष्क ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूत ज्ञान का; सम्भवम्—उत्पत्ति-स्थान; गुण-सङ्गम्—गुणों का सान्निध्य; विनिर्धूय—पूरी तरह धो डालना; माम्—मुझको; भजन्तु—पूजते हैं; विचक्षणाः—अत्यन्त बुद्धिमान लोग।

इसलिए इस मनुष्य जीवन को, जो पूर्ण ज्ञान विकसित करने की छूट देता है, प्राप्त करके बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे अपने को प्रकृति के गुणों के सारे कल्मष से मुक्त कर लें और एकमात्र मेरी भक्ति में लग जायें।

निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निःसङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; माम्—मुझको; भजेत्—पूजा करें; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; अप्रमत्तः—जो मोहग्रस्त न हो; जित-इन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—तथा; अभिजयेत्—जीते; सत्त्व-संसेवया—सतोगुण ग्रहण करके; मुनिः—मुनि, साधु।

समस्त भौतिक संगति से मुक्त तथा मोह से मुक्त बुद्धिमान साधु को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों का दमन करे और मेरी पूजा करे। उसे चाहिए कि सतोगुणी वस्तुओं में ही अपने को लगाकर रजो तथा तमोगुणों को जीत ले।

सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; च—भी; अभिजयेत्—जीते; युक्तः—भक्ति में लगा हुआ; नैरपेक्ष्येण—गुणों से अन्यमनस्क रहते हुए; शान्त—शान्त; धीः—बुद्धि वाला; सम्पद्यते—प्राप्त करता है; गुणैः—गुणों से; मुक्तः—मुक्त; जीवः—जीव; जीवम्—अपने बन्धन का कारण; विहाय—त्याग कर; माम्—मुझको।

तब भक्ति में स्थिर होकर साधु को चाहिए कि गुणों के प्रति अन्यमनस्क रह कर सतोगुण को जीत ले। इस तरह अपने मन में शान्त एवं प्रकृति के गुणों से मुक्त आत्मा, अपने बद्ध जीवन के कारण का ही परित्याग कर देता है और मुझे पा लेता है।

तात्पर्य : *नैरपेक्ष्येण* शब्द प्रकृति के गुणों से पूर्ण विरक्ति का द्योतक है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होकर जो पूर्णतया आध्यात्मिक है, मनुष्य प्रकृति के गुणों में रुचि नहीं लेता।

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

जीवः—जीव; जीव-विनिर्मुक्तः—भौतिक जीवन की सूक्ष्म बद्धता से मुक्त हुआ; गुणैः—गुणों से; च—तथा; आशय-सम्भवैः—उसके मन में प्रकट हुए; मया—मेरे द्वारा; एव—निस्सन्देह; ब्रह्मणा—परब्रह्म द्वारा; पूर्णः—पूर्ण तथा सन्तुष्ट; न—नहीं; बहिः—बाहर (इन्द्रियतृप्ति); न—न तो; अन्तरः—भीतर (इन्द्रियतृप्ति की स्मृति); चरेत्—विचरण करे।

मन की सूक्ष्म बद्धता तथा भौतिक चेतना से उत्पन्न गुणों से मुक्त हुआ जीव मेरे दिव्य स्वरूप का अनुभव करने से पूर्णतया तुष्ट हो जाता है। वह न तो बहिरंगा शक्ति में भोग को ढूँढता है, न ही अपने मन में ऐसे भोग का चिन्तन या स्मरण करता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवन एक दुर्लभ अवसर है। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के तीनों गुणों के लक्षणों का तथा कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति का विस्तार से वर्णन किया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें आदेश दिया है कि कृष्ण–नाम की शरण लें जिससे हम प्रकृति के गुणों को पार करके, भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति का असली जीवन शुरू कर सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''प्रकृति के तीन गुण तथा उनसे परे'' नामक पच्चीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

ऐल–गीत

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि अनुपयुक्त संगति भक्ति–पद के लिए कितनी घातक है और सन्त पुरुषों की संगति किस तरह भक्ति के उच्च पद तक ले जाने वाली है।

जीव को मानव शरार मिला है, जो भगवान् को प्राप्त कराने में लाभप्रद है और जिसने इसे भगवान् के भक्ति–कार्यों में लगा दिया है, वह आध्यात्मिक आनन्दस्वरूप भगवान् की अनुभूति करने में समर्थ है। भगवान् के प्रति समर्पित ऐसा व्यक्ति माया के प्रभाव से छूट जाता है और मोह से उत्पन्न इस जगत में रहते हुए भी वह इससे पूरी तरह अछूता रहता है। किन्तु वे आत्माएँ, जो माया द्वारा बद्ध है, अपने उदर तथा जननांगों की पूर्ति में ही लगी रहती है। वे अशुद्ध होती है और जो कोई व्यक्ति इनकी संगति करता है, वह अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

सम्राट पुरूरवा, जो उर्वशी अप्सरा की संगति से मोहित हो चुका था, उससे विलग होने पर विरक्त बन गया। उसने नारी संगति के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त करते हुए एक गीत गाया। उसने बतलाया कि जो पुरुष स्त्री–शरीर से, जो कि चर्म, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि आदि से निर्मित एक ढेला है, लिप्त रहते है, वे कीड़ों से भिन्न नहीं है। जिस व्यक्ति का मन किसी स्त्री द्वारा हर लिया जाय, उसकी शिक्षा, तपस्या, त्याग, वेदानुभूति, एकान्तवास तथा मौन का क्या महत्त्व है? विद्वान व्यक्तियों को चाहिए कि

कामादि छः मानसिक शत्रुओं पर कभी विश्वास न करें और स्त्रियों अथवा स्त्रियों द्वारा नियंत्रित पुरुषों की संगति करने से बचें। इन तथ्यों को घोषित करने के बाद राजा पुरूरवा संसार के मोह से मुक्त हो गया और उसने अन्तर में निवास करने वाले परमात्मा का साक्षात्कार किया।

निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्ति को बुरी संगति त्याग देनी चाहिए और सन्त पुरुषों की संगति के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। ये सन्त भक्त अपने दिव्य उपदेशों से मनुष्य के मन के मिथ्या लगावों को तोड़ सकते है। असली सन्त तो सदैव मुक्त होते है और भगवान् की भक्ति करते है। उनकी संगति में भगवान् के विषय में निरन्तर चर्चाएँ चलती रहती है जिनकी सेवा करने से आत्मा के सारे भौतिक पाप दूर हो जाते है और शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। और जब उन भगवान् की भक्ति प्राप्त हो जाती है, जो असीम गुणों के आदि सागर है, तो फिर पाने के लिए रह ही क्या जाता है ?

श्रीभगवानुवाच
मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मत्-लक्षणम्—जिसमें मेरा साक्षात्कार हो सकता है; इमम्—यह; कायम्—मानव शरीर; लब्ध्वा—प्राप्त करके; मत्-धर्मे—मेरी भक्ति में; आस्थितः—स्थित; आनन्दम्—शुद्ध आनन्द रूप; परम-आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; समपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको ।.

भगवान् ने कहा : इस मनुष्य जीवन को, जो मनुष्य को मेरा साक्षात्कार करने का अवसर प्रदान करता है, पाकर और मेरी भक्ति में स्थित होकर, मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकता है, जो कि समस्त आनन्द का आगार तथा हर जीव के हृदय में वास करने वाला परमात्मा स्वरूप है।

तात्पर्य : बुरी संगति से मुक्त जीव भी आत्म-साक्षात्कार से नीचे गिर सकते है। भौतिक जगत में स्त्रियों की संगति विशेष रूप से घातक है; अतएव इस अध्याय में ऐसे पतन से रोकने के लिए ही ऐल-गीत कहा गया है। मनुष्य सन्त पुरुषों की संगति करके यौन-आकर्षण से बच सकता है क्योंकि वे असली आध्यात्मिक बुद्धि जगाने वाले है। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव से पुरूरवा का अद्‌भुत गीत कहेंगे जिसे *ऐल-गीत* भी कहा जाता है।

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।

गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ।
वर्तमानोऽपि न पुमान्युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गुण-मय्या—प्रकृति के गुणों पर आधारित; जीव-योन्या—भौतिक जीवन के कारण से, झूठी पहचान; विमुक्तः—पूर्णतया मुक्त व्यक्ति; ज्ञान—दिव्य ज्ञान में; निष्ठया—पूरी तरह स्थिर होने से; गुणेषु—गुणों के फलों में से; माया-मात्रेषु—जो केवल मोह है; दृश्यमानेषु—आँखों के सामने प्रकट; अवस्तुतः—यद्यपि सत्य नहीं है; वर्तमानः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पुमान्—वह व्यक्ति; युज्यते—फँस जाता है; अवस्तुभिः—असत्य; गुणैः—गुणों की अभिव्यक्ति से।

दिव्य ज्ञान में स्थिर व्यक्ति प्रकृति के गुणों के फलों से अपनी झूठी पहचान त्याग कर, बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है। इन फलों को मात्र मोह समझ कर उन्हीं के बीच निरन्तर रहते हुए वह प्रकृति के गुणों में फँसने से अपने को बचाता है। चूँकि गुण तथा उनके फल सत्य नहीं होते, अतएव वह उन्हें स्वीकार नहीं करता।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण भौतिक शरीरों, स्थानों, परिवारों, देशों, भोजनों, खेलों, युद्ध, शान्ति आदि के रूप में प्रकट होते है। दूसरे शब्दों में, इस जगत में दिखने वाली हर वस्तु प्रकृति के गुणों से बनी है। मुक्तात्मा भौतिक शक्ति के सागर में रहते हुए भी, हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, जिससे वह उनमें फँसता नहीं। यद्यपि माया ऐसे मुक्तात्मा को भी चोर बनने के लिए लालच देती है—इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् की सम्पत्ति की चोरी करने के लिए ललचाती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति माया के फेंके चारे को खाता नहीं। वह ईमानदार तथा कृष्णभावनामृत में शुद्ध बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह यह विश्वास नहीं करता कि ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु, विशेष रूप से स्त्री का मोहमय रूप, उसकी इन्द्रियतृप्ति की निजी सम्पत्ति बन सकती है।

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—साथ; न कुर्यात्—नहीं करे; असताम्—भौतिकतावादी लोगों का; शिश्न—जननांग; उदर—तथा पेट; तृपाम्—तृप्ति में लगे हुए; क्वचित्—किसी भी समय; तस्य—ऐसे व्यक्ति का; अनुगः—अनुयायी; तमसि अन्धे—अँधेरे गड्ढे में; पतति—गिर पड़ता है; अन्ध-अनुग—अंधे मनुष्य के पीछे चलने वाला; अन्ध-वत्—दूसरे अन्धे व्यक्ति की ही तरह।

मनुष्य को कभी ऐसे भौतिकतावादियों की संगति नहीं करनी चाहिए जो अपने जननांग तथा उदर की तृप्ति में लगे रहते हों। उनका अनुसरण करने पर मनुष्य अंधकार के गहरे गड्ढे में गिर जाता है, जिस तरह एक अंधे व्यक्ति द्वारा दूसरे अंधे व्यक्ति का अनुगमन करने पर होता है।

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः ।
उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोकसंयमे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ऐलः—राजा पुरूरवा; सम्राट्—महान् राजा; इमाम्—इस; गाथाम्—गीत को; अगायत—गाया; बृहत्—विस्तृत; श्रवाः—यश वाला; उर्वशी-विरहात्—उर्वशी से वियोग के कारण; मुह्यन्—मोहित होकर; निर्विण्णः—विरक्त-सा; शोक—शोक; संयमे—अन्ततः अपने वश में होकर।

निम्नलिखित गीत सुप्रसिद्ध सम्राट पुरूरवा द्वारा गाया गया था। अपनी पत्नी उर्वशी से विलग होने पर सर्वप्रथम वह संभ्रमित हुआ किन्तु अपने शोक को वश में करने से वह विरक्ति का अनुभव करने लगा।

तात्पर्य : यह कथा *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में भी वर्णित है। ऐल अर्थात् पुरूरवा महान् राजा था जिसका यश दूर-दूर तक फैला था। जब वह उर्वशी से विलग हुआ, तो सर्वप्रथम उसे महान् संभ्रान्ति हुई किन्तु कुरुक्षेत्र में थोड़ी देर के लिए उससे मिलने के बाद, उसने गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त यज्ञ-अग्नि से देवताओं की पूजा की। इससे वह उस लोक में प्रवेश कर सका जिसमें उर्वशी रहती थी।

त्यक्त्वात्मानं व्रयन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः ।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—छोड़ कर; आत्मानम्—उसे; व्रजन्तीम्—दूर जाती हुई; ताम्—उसको; नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल व्यक्ति की तरह; नृपः—राजा; विलपन्—विलाप करता; अन्वगात्—पीछे पीछे गया; जाये—हे मेरी पत्नी; घोरे—हे निष्ठुर स्त्री; तिष्ठ—रुको; इति—इस प्रकार कहते हुए; विक्लवः—दुख से अभिभूत।

जब वह उसको छोड़ रही थी, तो वह नंगा होते हुए भी, उसके पीछे पागल की तरह दौड़ने लगा और अत्यन्त दुख से चिल्लाने लगा, "मेरी पत्नी, अरे निष्ठुर नारी! जरा ठहर।"

तात्पर्य : जब राजा की प्रिय पत्नी उसे छोड़ रही थी, तो राजा आघात से चिल्ला रहा था, "ओ मेरी पत्नी! क्षण-भर सोचो तो। जरा रुको! अरे निष्ठुर नारी! क्या तुम रुक भी नहीं सकती? हम क्षण-भर बातें क्यों नहीं कर लेते? तुम मुझे क्यों मार रही हो?" इस तरह विलाप करता हुआ वह उसका पीछा कर रहा था।

कामानतृप्तोऽनुजुषन्क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः ।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कामान्—विषय-भोग की इच्छा; अतृप्तः—अपूर्ण; अनुजुषन्—तृप्त करते हुए; क्षुल्लकान्—क्षुद्र; वर्ष—अनेक वर्षों की; यामिनीः—रातें; न वेद—नहीं जाना; यान्तीः—जाते हुए; न—न तो; आयान्तीः—आतेहुए; उर्वशी—उर्वशी द्वारा; आकृष्ट—आकर्षित; चेतनः—मन।

यद्यपि पुरूरवा ने वर्षों तक सायंकाल की घड़ियों में यौन आनन्द भोगा था, फिर भी ऐसे तुच्छ भोग से वह तृप्त नहीं हुआ था। उसका मन उर्वशी के प्रति इतना आकृष्ट था कि वह यह भी देख नहीं पाया कि रातें किस तरह आती और चली जाती है।

तात्पर्य : यह श्लोक उर्वशी के साथ पुरूरवा के भौतिकतावादी अनुभव को बतलाने वाला है।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ऐलः उवाच—राजा पुरूरवा ने कहा; अहो—हाय; मे—मेरा; मोह—मोह का; विस्तारः—फैलाव; काम—काम द्वारा; कश्मल—दूषित; चेतसः—चेतना; देव्या—इस देवी द्वारा; गृहीत—पकड़ी गई; कण्ठस्य—जिसकी गर्दन; न—नहीं; आयुः—मेरी आयु के; खण्डाः—विभाग, टुकड़े; इमे—ये; स्मृताः—देखे गये।

राजा ऐल ने कहा : हाय! मेरे मोह के विस्तार को तो देखो! यह देवी मेरा आलिंगन करती थी और मेरी गर्दन अपनी मुट्ठी में किये रहती थी। मेरा हृदय काम-वासना से इतना दूषित था कि मुझे इसका ध्यान ही न रहा कि मेरा जीवन किस तरह बीत रहा है।

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।
मूषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मै; वेद—जानता हूँ; अभिनिर्मुक्तः—अस्त हुआ; सूर्यः—सूर्य; वा—अथवा; अभ्युदितः—उदय हुआ; अमुया—उसके द्वारा; मूषितः—धोखा दिया गया; वर्ष—वर्षों; पूगानाम्—अनेक; बत—हाय; अहानि—दिन; गतानि—बीते हुए; उत—निश्चय ही।

इस स्त्री ने मुझे इतना ठगा कि मै उदय होते अथवा अस्त होते सूर्य को भी देख नहीं सका। हाय! मै इतने वर्षों से व्यर्थ ही अपने दिन गँवाता रहा।

तात्पर्य : उस देवी के प्रति आसक्ति के कारण पुरूरवा अपनी भगवद्भक्ति भूल गया और उस सुन्दर तरुणी को प्रसन्न करने में ही लगा रहता था। इस तरह अपना अमूल्य समय व्यर्थ गँवाने के कारण, बाद में वह शोक करने लगा। जो लोग कृष्णभावनाभावित होते है वे अपना हर क्षण भगवान् की सेवा में लगाते है।

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः ।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; आत्म—मेरा; सम्मोहः—पूर्ण मोह; येन—जिससे; आत्मा—मेरा शरीर; योषिताम्—स्त्रियों के; कृतः—हो गया; क्रीडा-मृगः—खिलौना; चक्रवर्ती—शक्तिशाली सम्राट; नरदेव—राजाओं का; शिखा-मणिः—मुकुट का मणि।

हाय! यद्यपि मै शक्तिशाली सम्राट तथा इस पृथ्वी पर समस्त राजाओं का मुकुटमणि माना जाता हूँ, किन्तु देखो न! मोह ने मुझे स्त्रियों के हाथों का खिलौने जैसा पशु बना दिया है।

तात्पर्य : चूँकि राजा का शरीर स्त्रियों की ऊपरी इच्छाओं को तुष्ट करने में पूरी तरह लगा हुआ था, इसलिए उसका शरीर उन स्त्रियों के हाथों के खिलौने जैसा पशु था।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स-परिच्छदम्—मेरे राज्य तथा सारी साज-सामग्री सहित; आत्मानम्—अपने आप; हित्वा—त्याग कर; तृणम्—घास को; इव—मानो; ईश्वरम्—शक्तिमान प्रभु; यान्तीम्—जाते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अन्वगमन्—मै पीछा करने लगा; नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल जैसा; रुदन्—चिल्लाते हुए।

यद्यपि मै प्रचुर ऐश्वर्य से युक्त शक्तिशाली राजा था, किन्तु उस स्त्री ने मुझे त्याग दिया मानो मै कोई घास की तुच्छ पत्ती होऊँ। फिर भी मै, नग्न तथा लज्जारहित पागल व्यक्ति की तरह चिल्लाते हुए, उसका पीछा करता रहा।

कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कहाँ; तस्य—उस व्यक्ति का (मेरा); अनुभावः—प्रभाव; स्यात्—है; तेजः—बल; ईशत्वम्—स्वामित्व; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; यः—जो; अन्वगच्छम्—पीछे पीछे दौड़ा; स्त्रियम्—यह स्त्री; यान्तीम्—जाते हुए; खर-वत्—गधे की तरह; पाद—पाँव से; ताडितः—दण्डित।

कहाँ है मेरा तथाकथित अत्यधिक प्रभाव, बल तथा स्वामित्व? जिस स्त्री ने मुझे पहले ही छोड़ दिया था उसके पीछे मै उसी तरह भागा जा रहा हूँ जैसे कि कोई गधा जिसके मुँह पर उसकी गधी दुलत्ती झाड़ती है।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; विद्यया—ज्ञान का; किम्—क्या; तपसा—तपस्याएँ; किम्—क्या; त्यागेन—त्याग का; श्रुतेन—श्रुतियों का; वा—अथवा; किम्—क्या; विविक्तेन—एकान्त रहने से; मौनेन—मौन रहने से; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; यस्य—जिसका; मनः—मन; हृतम्—हर लिया गया हो।

ऊँची शिक्षा या तपस्या तथा त्याग से क्या लाभ? इसी तरह धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन करने, एकान्त तथा मौन होकर रहने और फिर स्त्री द्वारा किसी का मन चुराये जाने से क्या लाभ?

तात्पर्य : उपर्युक्त सारी विधियाँ व्यर्थ होती है यदि किसी मनुष्य का हृदय तथा मन क्षुद्र स्त्री द्वारा चुरा लिया जाय। जो व्यक्ति स्त्री की संगति के लिए लालायित रहता है, वह निश्चय ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रोक देता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते है कि यदि कोई वृन्दावन की मुक्त गोपियों की पूजा करता है जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपने जार रूप में स्वीकार किया था वह मन के कार्यकलापों को काम से दूषित होने से बचा सकता है।

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

स्व-अर्थस्य—अपना हित; अकोविदम्—न जानने वाला; धिक्—धिक्कार है; माम्—मुझसे; मूर्खम्—मूर्ख; पण्डित-मानिनम्—अपने को बड़ा भारी विद्वान मानते हुए; यः—जो; अहम्—मै; ईश्वरताम्—प्रभुता का पद; प्राप्य—पाकर; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; गो-खर-वत्—बैलों या गधे जैसा; जितः—जीता गया।

धिक्कार है मुझे! मै इतना बड़ा मूर्ख हूँ कि मैने यह भी नहीं जाना कि मेरे लिए क्या अच्छा है। मैने तो उद्धत भाव से यह सोचा था कि मै अत्यधिक बुद्धिमान हूँ। यद्यपि मुझे स्वामी का उच्च पद प्राप्त हो गया, किन्तु मै स्त्रियों से अपने को परास्त करवाता रहा मानो मै कोई बैल या गधा होऊँ।

तात्पर्य : इस जगत के सारे मूर्ख अपने को परम ज्ञानी पंडित मानते हैं, भले ही इन्द्रियतृप्ति से उन्मत्त और स्त्रियों की संगति के लिए पागल होकर वे बैलों और गधों जैसे हो जाते हैं। सन्त स्वभाव गुरु की कृपा से यह कामुक इच्छा धीरे धीरे हटाई जा सकती है और भयानक घृणित भौतिक इन्द्रियतृप्ति को समझा जा सकता है। इस श्लोक में राजा पुरूरवा कृष्णभावनामृत में अपनी चेतना

सँभाल रहा है।

सेवतो वर्षपूगान्मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

सेवतः—सेवा करता हुआ; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; मे—मेरा; उर्वश्याः—उर्वशी का; अधर—होठों का; आसवम्—अमृत; न तृप्यति—तृप्त नहीं होता; आत्म-भूः—मन से उत्पन्न; कामः—काम-वासना; वह्निः—आग; आहुतिभिः—आहुतियों से; यथा—तिस तरह।

यद्यपि मै उर्वशी के होठों के तथाकथित अमृत का सेवन वर्षों तक कर चुका था किन्तु मेरी काम-वासनाएँ मेरे हृदय में बारम्बार उठती रहीं और कभी तुष्ट नहीं हुईं जिस तरह घी की आहुति डालने पर, अग्नि कभी भी बुझाई नहीं जा सकती।

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

पुंश्चल्य—वेश्या द्वारा; अपहृतम्—चुराया गया; चित्तम्—मन; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अन्यः—अन्य व्यक्ति; मोचितुम्—मुक्त करने के लिए; प्रभुः—सक्षम; आत्म-आराम—आत्म-तुष्ट साधुओं का; ईश्वरम्—भगवान्; ऋते—के अतिरिक्त; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की परिधि से परे रहने वाला।

जो भौतिक अनुभूति के परे है और आत्माराम मुनियों के स्वामी है, उन भगवान् के अतिरिक्त मेरी इस चेतना को जो वेश्या के द्वारा चुराई जा चुकी है, भला और कौन बचा सकता है?

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥ १६॥

शब्दार्थ

बोधितस्य—सूचना-प्राप्त; अपि—भी; देव्या—देवी उर्वशी द्वारा; मे—मेरा; सु-उक्त—सुभाषित; वाक्येन—शब्दों द्वारा; दुर्मतेः—मन्द बुद्धि वाला; मनः-गतः—मन के भीतर; महा-मोहः—महान् संशय; न अपयाति—नहीं रुकता; अजित-आत्मनः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल।

चूँकि मैने अपनी बुद्धि को मन्द बनने दिया और चूँकि मै अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सका, इसलिए मेरे मन का महान् मोह मिटा नहीं यद्यपि उर्वशी ने सुन्दर वचनों द्वारा मुझे अच्छी सलाह दी थी।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में वर्णन आया है कि देवी उर्वशी ने पुरूरवा से यह स्पष्ट

कह दिया था कि वह न तो कभी स्त्रियों पर न ही उनके वादों पर विश्वास करे। इस स्पष्टोक्ति के बावजूद वह पूर्णतया आसक्त बन गया जिससे उसे महान् मानसिक क्लेश झेलना पड़ा।

किमेतया नोऽपकृतं रज्वा वा सर्पचेतसः ।
द्रष्टुः स्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥ १७॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतया—उसके द्वारा; नः—हमको; अपकृतम्—अपराध हुआ; रज्वा—रस्सी द्वारा; वा—अथवा; सर्प-चेतसः—सर्प मानते हुए; द्रष्टुः—ऐसे दर्शन का; स्वरूप—असली पहचान; अविदुषः—न समझने वाला; यः—जो; अहम्—मै; यत्—क्योंकि; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर वश न पा सकने वाला।.

भला मै अपने कष्ट के लिए उसे कैसे दोष दे सकता हूँ जबकि मै स्वयं अपने असली आध्यात्मिक स्वभाव से अपरिचित हूँ? मै अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाया, इसीलिए मै उस व्यक्ति की तरह हूँ जो निर्दोष रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ बैठता है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति रस्सी को सर्प समझ बैठता है, तो वह भयभीत तथा चिन्तित रहता है। निस्सन्देह, ऐसा भय तथा चिन्ता मोह है क्योंकि रस्सी कभी काट नहीं सकती। इसी तरह जो व्यक्ति भ्रमवश यह सोचता है कि भगवान् की भौतिक मोहमयी शक्ति उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए है, वह अपने सिर पर भौतिक मोहमय भय तथा चिन्ता की बला मोल लेगा। राजा पुरूरवा स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है कि तरुणी उर्वशी को दोष नहीं देना चाहिए। वह तो पुरूरवा था जिसने भ्रमवश उसे निजी भोग की वस्तु समझ रखा था, इसीलिए वह प्रकृति के नियमों के अनुसार कष्ट भोग रहा था। पुरूरवा स्वयं ही उर्वशी के बाह्य स्वरूप का लाभ उठाने का अपराधी था।

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अयम्—यह; मलीमसः—अत्यन्त गन्दा; कायः—शरीर; दौर्गन्ध्य—दुर्गन्ध; आदि—इत्यादि; आत्मकः—से युक्त; अशुचिः—अस्वच्छ; क्व—कहाँ; गुणाः—तथाकथित सद्गुण; सौमनस्य—फूलों की सुगन्धि तथा कोमलता; आद्याः—इत्यादि; हि—निश्चय ही; अध्यासः—ऊपर से थोपे गये; अविद्यया—अज्ञान से; कृतः—उत्पन्न।

आखिर यह दूषित शरीर है क्या—इतना गन्दा तथा दुर्गन्ध से भरा हुआ? मै एक स्त्री के शरीर की सुगन्धि तथा सुन्दरता से आकृष्ट हुआ था किन्तु आखिर वे आकर्षक स्वरूप है क्या? वे माया (मोह) द्वारा उत्पन्न छद्म आवरण ही तो है!

तात्पर्य : अब पुरूरवा की समझ में आया कि यद्यपि वह उर्वशी के सुगंधित सुन्दर शरीर के पीछे दीवाना था, किन्तु वह शरीर तो मल, वायु, कफ, रोम आदि अरुचिकर वस्तुओं का झोला था। दूसरे शब्दों में, पुरूरवा अब विवेकी बन रहा है।

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥ १९ ॥
तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पित्रोः—माता-पिता के; किम्—क्या; स्वम्—सम्पत्ति; नु—अथवा; भार्यायाः—पत्नी का; स्वामिनः—मालिक का; अग्नेः—अग्नि का; श्व-गृध्रयोः—कुत्तों तथा सियारों का; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; किम्—क्या; सुहृदम्—मित्रों का; इति—इस प्रकार; यः—जो; न अवसीयते—निश्चित नहीं कर सकता; तस्मिन्—उस; कलेवरे—शरीर में; अमेध्ये—गर्हित; तुच्छ-निष्ठे—अधम स्थान की ओर बढ़ते हुए; विषज्जते—अनुरक्त हो जाता है; अहो—ओह; सु-भद्रम्—अत्यन्त आकर्षक; सु-नसम्—सुन्दर नाक वाली; सु-स्मितम्—सुन्दर हँसी; च—तथा; मुखम्—मुख; स्त्रियः—स्त्री का।

कोई यह निश्चित नहीं कर सकता है कि शरीर वास्तव में किसकी सम्पत्ति है। क्या यह उस माता-पिता की है, जिसने उसे जन्म दिया है, अथवा इसे सुख देने वाली पत्नी की है या इसके मालिक की है, जो शरीर को हुक्म देता रहता है? अथवा यह चिता की अग्नि की अथवा उन कुत्ते तथा सियारों की है, जो अन्ततोगत्वा इसका भक्षण करेंगे? क्या यह उस अन्तस्थ आत्मा की सम्पत्ति है, जो इसके सुख-दुख में साथ देता है अथवा यह शरीर उन घनिष्ठ मित्रों का है, जो इसको प्रोत्साहित करते तथा इसकी सहायता करते है? यद्यपि मनुष्य कभी भी शरीर के स्वामी को निश्चित नहीं कर पाता, किन्तु वह इससे अनुरक्त रहता है। यह भौतिक शरीर उस दूषित पदार्थ के समान है, जो निम्न स्थान की ओर बढ़ रहा है; फिर भी जब मनुष्य किसी स्त्री के मुख की ओर टकटकी लगाता है, तो सोचता है, ''कितनी सुन्दर है यह स्त्री? कैसी सुघड़ नाक है इसकी और जरा इसकी सुन्दर हँसी को तो देखो।''

तात्पर्य : *तुच्छ-निष्ठे* शब्द सूचित करता है कि जमीन में दफनाने पर इस शरीर को कीड़े खा जायेंगे; यदि इसे जलाया गया तो यह राख हो जायगा और यदि किसी एकान्त स्थान में मरे, तो इसे कुत्ते तथा गीधें खा जायेंगी। माया की मोहमयी शक्ति स्त्रीरूप के भीतर प्रवेश करके मनुष्य के मस्तिष्क को मोहती है। मनुष्य स्त्रीरूप के अन्दर से प्रकट हो रही इस माया के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु जब

वह स्त्री के शरीर का आलिंगन करता है, तो उसे दो मुट्ठी-भर मल, रक्त, कफ, पित्त, चमड़ी, हड्डी, केश तथा मांस मिलते है। मनुष्यों को दैहिक चेतना के अज्ञान में कुत्तों-बिल्लियों जैसा नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध होकर भगवान् की शक्तियों का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किए बिना, भगवान् की सेवा करनी सीखनी चाहिए।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी से; मांस—मांस; रुधिर—खून; स्नायु—पेशी; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—तथा हड्डी; संहतौ—बना हुआ; विट्—मल; मूत्र—मूत्र; पूये—तथा पीब का; रमताम्—रमण करता हुआ; कृमीणाम्—कीड़े-मकोड़ों के तुल्य; कियत्—कितना; अन्तरम्—अन्तर।

सामान्य कीड़ों-मकोड़ों तथा उन व्यक्तियों में अन्तर ही क्या है, जो चमड़ी, मांस, रक्त, पेशी, चर्बी, मज्जा, हड्डी, मल, मूत्र तथा पीब से बने इस भौतिक शरीर का भोग करना चाहते है?

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; न उपसज्जेत—सम्पर्क रखे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त व्यक्तियों से; च—अथवा; अर्थ-वित्—अपना हित जानने वाला; विषय—भोग की वस्तु के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; संयोगात्—सम्बन्ध से; मनः—मन; क्षुभ्यति—क्षुब्ध होता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा।

सिद्धान्त रूप में शरीर की वास्तविक प्रकृति को जानने पर भी व्यक्ति को कभी भी स्त्रियों या स्त्रियों में लिप्त रहने वाले पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए। आखिर, इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्पर्क अनिवार्य रूप से मन को विचलित कर देता है।

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान्शाम्यति स्तिमितं मनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टात्—अनदेखा; अश्रुतात्—अनसुना; भावात्—वस्तु से; न—नहीं; भावः—मानसिक क्षोभ; उपजायते—उत्पन्न होते है; असम्प्रयुञ्जतः—उसके लिए जो प्रयोग में नहीं ला रहा; प्राणान्—इन्द्रियों को; शाम्यति—शान्त हो जाता है; स्तिमितम्—नियंत्रित; मनः—मन।

चूँकि मन ऐसी वस्तु से क्षुब्ध नहीं होता जो न तो देखी गई हो, न सुनी गई हो, इसलिए ऐसे

व्यक्ति का मन, जो अपनी इन्द्रियों को रोकता है, स्वतः अपने भौतिक कर्मों को करने से रोक दिया जायेगा और शान्त हो जायेगा।

तात्पर्य : ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि आँख मूँदने, स्वप्न देखने या एकान्त स्थान में रहने से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के विषय में स्मरण या चिन्तन कर सकता है। किन्तु ऐसा अनुभव विगत इन्द्रियतृप्ति के कारण होता है, जिसे वह बारम्बार देखता तथा सुनता था। जब मनुष्य इन विषयों से अपनी इन्द्रियों को रोकता है, विशेष रूप से स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क से, तो मन की भौतिक लालसा शिथिल पड़ जायेगी और अन्त में समाप्त हो जायेगी जिस तरह अग्नि बिना ईंधन के शान्त पड़ जाती है।

तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविस्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सङ्गः—संगति; न कर्तव्यः—नहीं करे; स्त्रीषु—स्त्रियों की; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त रहने वाले पुरुषों की; च—तथा; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; विदुषाम्—बुद्धिमान व्यक्तियों का; च अपि—भी; अविस्रब्धः—अविश्वसनीय; षट्-वर्गः—मन के छः शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, नशा तथा ईर्ष्या); किम् उ—क्या कहा जाय; मादृशाम्—मुझ जैसे व्यक्तियों का।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को स्त्रियों की या स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की खुल कर संगति न करने दे। यहाँ तक कि जो अत्यधिक विद्वान है वे मन के छह शत्रुओं पर विश्वास नहीं कर सकते, तो फिर मुझ जैसे मूर्ख व्यक्तियों के बारे में क्या कहा जाय?

श्रीभगवानुवाच
एवं प्रगायन्नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस तरह; प्रगायन्—गाते हुए; नृप—मनुष्यों; देव—तथा देवताओं में; देवः—जो प्रसिद्ध था; सः—वह, राजा पुरूरवा; उर्वशी-लोकम्—उर्वशी का लोक, गन्धर्व लोक; अथ उ—तब; विहाय—छोड़ कर; आत्मानम्—परमात्मा; आत्मनि—अपने हृदय में; अवगम्य—अनुभव करके; माम्—मुझको; वै—निस्सन्देह; उपारमत्—शान्त हो गया; ज्ञान—दिव्य ज्ञान से; विधूत—हटा दिया; मोहः—मोह।

भगवान् ने कहा : इस प्रकार यह गीत गाकर देवताओं तथा मनुष्यों में विख्यात महाराज पुरूरवा ने वह पद त्याग दिया जिसे उसने उर्वशी लोक में प्राप्त कर लिया था। दिव्य ज्ञान से

उसका मोह हट गया; उसने अपने हृदय में मुझे परमात्मा रूप में समझ लिया जिससे अन्त में उसे शान्ति मिल गई।

ततो दु:सङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसलिए; दु:सङ्गम्—बुरी संगति; उत्सृज्य—फेंक कर; सत्सु—सन्त भक्तों को; सज्जेत—लिप्त हो जाता है; बुद्धि-मन्—बुद्धिमान; सन्तः—सन्त पुरुष; एव—एकमात्र; अस्य—उसका; छिन्दन्ति—काट देते है; मनः—मन का; व्यासङ्गम्—अत्यधिक आसक्ति; उक्तिभिः—उनके शब्दों से।.

इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को सारी कुसंगति त्याग देनी चाहिए और सन्त भक्तों की संगति ग्रहण करनी चाहिए जिनके शब्दों से मन का अति-अनुराग समाप्त हो जाता है।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सन्तः—सन्त भक्त; अनपेक्षाः—किसी भौतिक वस्तु पर आश्रित न रह कर; मत्-चित्ताः—जिन्होंने मुझ पर अपना मन स्थिर कर रखा है; प्रशान्ताः—पूर्णतया शान्त; सम-दर्शिनः—समान दृष्टि से युक्त; निर्ममाः—ममत्व से रहित; निरहङ्काराः—मिथ्या अहंकार से मुक्त; निर्द्वन्द्वाः—समस्त द्वैतों से मुक्त; निष्परिग्रहाः—लोभ से मुक्त।.

मेरे भक्त अपने मनों को मुझ पर स्थिर करते हैं और किसी भी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं रहते। वे सदैव शान्त, समदृष्टि से युक्त तथा ममत्व, अहंकार, द्वन्द्व तथा लोभ से रहित होते हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें से; नित्यम्—निरन्तर; महा-भाग—हे भाग्यवान उद्धव; महा-भागेषु—भाग्यशाली भक्तों में से; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; सम्भवन्ति—उत्पन्न होती हैं; हि—निस्सन्देह; ताः—वे कथाएँ; नृणाम्—मनुष्योंकी; जुषताम्—उनमें भाग लेने वाले; प्रपुनन्ति—पूरी तरह शुद्ध करते हैं; अघम्—पापों को।.

हे महाभागा उद्धव, ऐसे सन्त भक्तों की संगति में सदा मेरी चर्चा चलती रहती है और जो लोग मेरी महिमा के इस कीर्तन तथा श्रवण में भाग लेते हैं, वे निश्चित रूप से सारे पापों से शुद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त से सीधे शिक्षाएँ ग्रहण नहीं कर पाता, तो भगवान् का महिमा-गान करते हुए उस मनुष्य से केवल सुनने से ही, वह मोह में पड़ने वाले पापों से शुद्ध हो जाता

है।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे कथाएँ; ये—जो व्यक्ति; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अनुमोदन्ति—आत्मसात करते हैं; च—तथा; आदृताः—आदरपूर्वक; मत्-पराः—मेरे परायण; श्रद्दधानाः—श्रद्धालु; च—तथा; भक्तिम्—भक्ति; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; ते—वे; मयि—मेरे लिए।

जो कोई मेरी इन कथाओं को सुनता है, कीर्तन करता है और आदरपूर्वक आत्मसात् करता है, वह श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हो जाता है और इस तरह मेरी भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के बढ़े-चढ़े भक्तों से श्रवण करता है, वह भवसागर से अपने को बचा सकता है। जब वह प्रामाणिक गुरु के आदेशों का पालन करता है, तो इससे मन की दूषित क्रियाओं पर रोक लगती है और वह वस्तुओं को नवीन आध्यात्मिक प्रकाश में देखता है। तब भगवान् की निस्वार्थ प्रेमाभक्ति की लालसा जगती है, जिससे भगवद्प्रेम का फल प्राप्त होता है।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भगवान् की भक्ति; लब्धवतः—प्राप्त कर लेने वाले; साधोः—भक्त के लिए; किम्—क्या; अन्यत्—अन्य कुछ; अवशिष्यते—शेष रह जाता है; मयि—मुझमें; अनन्त-गुणे—अनन्त गुणों वाला; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; आनन्द—आनन्द का; अनुभव—अनुभव; आत्मनि—से युक्त।

पूर्ण भक्त के लिए मुझ परब्रह्म की भक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, करने के लिए बचता ही क्या है? परब्रह्म के गुण असंख्य हैं और मैं साक्षात् आनन्दमय अनुभव हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्ति इतनी मनोहारी है कि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में भगवान् कृष्ण ने गोपियों से कहा है कि उन्हें अपनी सेवा को ही उनकी भक्ति का फल स्वीकार करना होगा क्योंकि और किसी वस्तु से उतना सुख तथा ज्ञान प्राप्त नहीं होता जितना कि भक्ति से। जब कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के नामों का कीर्तन एवं श्रवण श्रद्धा से करता है, तो उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और वह भगवान् कृष्ण की भक्ति, कृष्णभावनामृत के आनन्दमय स्वभाव, को धीरे धीरे समझ सकता है।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; उपश्रयमाणस्य—पास आने वाले का; भगवन्तम्—शक्तिमान; विभावसुम्—अग्नि; शीतम्—शीत; भयम्—डर; तमः—अंधकार; अप्येति—हट जाते हैं; साधून्—साधु भक्त; संसेवतः—सेवा में लगे रहने वाले के लिए; तथा—उसी प्रकार।

जो व्यक्ति यज्ञ-अग्नि के पास पहुँच चुका हो, उसके लिए जिस तरह शीत, भय तथा अंधकार दूर हो जाते हैं, उसी तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों की सेवा में लगा रहता है उसका आलस्य, भय तथा अज्ञान दूर हो जाता है।

तात्पर्य : सकाम कर्मों में लगे रहने वाले लोग मन्द हैं; उन्हें भगवान् तथा आत्मा के विषय में उच्चतर जागरूकता का अभाव रहता है। भौतिकतावादी लोग मानो यंत्रवत् अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तृप्ति में लगे रहते हैं, इसलिए उन्हें मन्द अथवा लगभग अचेत माना जाता है। जब वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है, तो ऐसा सारा आलस्य, भय तथा अज्ञान जाता रहता है, जिस तरह अग्नि के पास जाने पर शीत, भय तथा अँधेरा दूर हो जाता है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—डूबने वालों का; उन्मज्जताम्—तथा फिर से ऊपर उठने वालों का; घोरे—घोर, कठिन; भव—सांसारिक जीवन के; अब्धौ—सागर में; परम—परम; अयनम्—शरण; सन्तः—सन्त भक्तगण; ब्रह्म-विदः—परब्रह्म को समझने वाले; शान्ताः—शान्त; नौः—नाव; दृढा—मजबूत; इव—जिस तरह; अप्सु—जल में; मज्जताम्—डूबने वालों को।

भगवान् के भक्त, जो कि परम ज्ञान को शान्त भाव से प्राप्त हैं, उन लोगों के लिए चरम शरण हैं, जो भौतिक जीवन के भयावने सागर में बारम्बार डूबते तथा उठते हैं। ऐसे भक्त उस मजबूत नाव के सदृश होते हैं, तो डूब रहे व्यक्तियों की रक्षा करती है।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; हि—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—जीवों का; प्राणः—प्राण; आर्तानाम्—दुखियों का; शरणम्—आश्रय; तु—तथा; अहम्—मैं; धर्मः—धर्म; वित्तम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों का; प्रेत्य—मरने के बाद; सन्तः—भक्तगण; अर्वाक्—नीचे जाने वालों का; बिभ्यतः—डरने वालों के लिए; अरणम्—शरण।

जिस तरह समस्त प्राणियों के लिए भोजन ही जीवन है, जिस तरह मैं दुखियारों का परम आश्रय हूँ तथा जिस तरह इस लोक से मर कर जाने वालों के लिए धर्म ही सम्पत्ति है, उसी तरह मेरे भक्त उन लोगों के एकमात्र आश्रय हैं, जो जीवन की दुखमय अवस्था में पड़ने से डरते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिक विषय-वासना तथा क्रोध के चंगुल में आने से डरते हैं, उन्हें भगवद्भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ये भक्त मनुष्यों को आराम से भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा सकते हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंसि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सन्तः—भक्तगण; दिशन्ति—प्रदान करते हैं; चक्षूंषि—आँखें; बहिः—बाहरी; अर्कः—सूर्य; समुत्थितः—पूरी तरह उदय हुआ; देवताः—पूज्य देव; बान्धवाः—सम्बन्धीजन; सन्तः—भक्तगण; सन्तः—भक्तगण; आत्मा—आत्मा; अहम्—मैं; एव च—भी।

मेरे भक्तगण दैवी आँखें प्रदान करते हैं जबकि सूर्य केवल बाह्य दृष्टि प्रदान करता है और वह भी तब जब वह आकाश में उदय हुआ रहता है। मेरे भक्तगण ही मनुष्य के पूज्य देव तथा असली परिवार हैं; वे स्वयं ही आत्मा हैं और वे मुझसे अभिन्न हैं।

तात्पर्य : मूर्खता उन अपवित्र लोगों की सम्पत्ति होती है, जो अपने धन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और अज्ञान के अंधकार में रहने के लिए दृढ़-संकल्प रहते हैं। भगवान् के सन्त भक्तगण सूर्य के समान हैं। उनके शब्दों के प्रकाश से जीवों के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। इस तरह सन्त भक्त मनुष्यों के असली मित्र तथा सम्बन्धी होते हैं। वे ही सेवा के असली पात्र हैं, स्थूल शरीर नहीं जो एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए मचलता रहता है।

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिष्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वैतसेनः—राजा पुरूरवा; ततः अपि—इसी कारण से; एवम्—इस प्रकार; उर्वश्याः—उर्वशी का; लोक—उसी लोक में होने; निष्पृहः—इच्छा से रहित; मुक्त—मुक्त; सङ्गः—सारी भौतिक संगति से; महीम्—पृथ्वी; एताम्—इस; आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; चचार—विचरण करने लगा; ह—निस्सन्देह।

इस तरह उर्वशी के लोक में रहने की अपनी इच्छा त्याग कर महाराज पुरूरवा समस्त भौतिक संगति से मुक्त होकर तथा अपने भीतर पूरी तरह तुष्ट होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत 'ऐल-गीत' नामक छब्बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्ताईस

देवपूजा विषयक श्रीकृष्ण के आदेश

इस अध्याय में भगवान् ने *क्रिया-योग* अर्थात् देवपूजा की विधि के विषय में व्याख्या दी है।

भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करने से मन में स्वतः शुद्धता तथा संतोष आता है। इस तरह यह समस्त वांछित लाभों का स्रोत है। यदि मनुष्य देवपूजा में नहीं लगता, तो वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होता रहता है और उसकी बुरी संगति छूटने की कोई आशा नहीं रहेगी। भगवान् ने सात्वत शास्त्रों के नियमों में प्रामाणिक अर्चाविग्रह रूप अपनी पूजा की विधि के विषय में आदेश दिये हैं। ब्रह्मा, शिव, नारद, व्यास तथा अन्य मुनियों ने भगवान् द्वारा बतलाई गई इसी विधि की संस्तुति की है, जो सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों को, जिनमें स्त्रियाँ तथा शूद्र भी सम्मिलित हैं, सर्वाधिक उपयोगी है।

देवपूजा अर्थात् *अर्चन* की तीन विधियाँ हैं, जो या तो मूल वेदों, गौण तंत्रों या इन दोनों के संमेल पर आधारित हैं। देव की मूर्ति, भूमि, अग्नि, सूर्य, जल तथा पूजक का हृदय—ये सभी देव की उपस्थिति के असली स्थान हैं। जिस देव को पूजना हो, उसका निर्माण जिन आठ में से किसी एक वस्तु से किया जा सकता है वे हैं—पत्थर, काष्ठ, धातु, मिट्टी, रंग, बालू (भूमि पर बिछाई हुई), मन या रत्न। इन श्रेणियों का उपविभाजन अस्थायी तथा स्थायी में किया गया है।

पूजा-विधि का विस्तार इस प्रकार है : भक्त को शरीर से तथा मंत्रों के उच्चारण द्वारा स्नान करना चाहिए और तब दिन की नियत सन्धियों पर गायत्री का उच्चारण करना चाहिए। उसे पूर्व या उत्तर

अभिमुख होकर आसन ग्रहण करना चाहिए या फिर अर्चाविग्रह के समक्ष ही बैठना चाहिए और साफ करना चाहिये। तब उसे अर्चाविग्रह को स्नान कराना चाहिए। फिर वस्त्र तथा आभूषण भेंट करके पूजा के पात्रों तथा अन्य सामग्रियों पर जल छिड़कना चाहिए। तब अर्चाविग्रह के चरणों को धोने के लिए जल (अर्घ्य) चढ़ाना चाहिए, मुख धोने के लिए जल, सुगन्धित तेल, अगुरु, दीपक, फूल तथा विविध पकवान भेंट करने चाहिए। इसके बाद भगवान् के सेवकों, अंगरक्षकों, उनकी प्रिया-शक्तियों तथा गुरुओं की तत्सम्बन्धी मूल मंत्रों का उच्चारण करके पूजा करनी चाहिए। पूजक को चाहिए कि पुराणों आदि से स्तुतियाँ करे, साष्टांग प्रणाम करे, वर माँगे और भगवान् पर चढ़ाई गई माला के बचे अंश धारण करे।

इस देव अर्चन-विधि में सुन्दर मन्दिर बनवाकर अर्चाविग्रह की उचित स्थापना सम्मिलित है। साथ ही जुलूस (यात्रा) तथा अन्य उत्सव भी मनाये जाँय। इस तरह अहैतुकी भक्ति द्वारा श्री हरि की पूजा करने से मनुष्य को उनके चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। किन्तु जो व्यक्ति अपने द्वारा या अन्यों द्वारा अर्चाविग्रह पर या ब्राह्मण को दान में दी गई सम्पत्ति को चुराता है उसे अगले जन्म में मलभक्षी कीट के रूप में जन्म लेना होगा।

श्रीउद्धव उवाच
क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; क्रिया-योगम्—संस्तुत क्रिया-विधि; समाचक्ष्व—बतलाइये; भवत्—आपकी; आराधनम्—अर्चाविग्रह पूजा; प्रभो—हे प्रभु; यस्मात्—किस रूप पर आधारित; त्वाम्—तुमको; ये—जो; यथा—जिस भाँति से; अर्चन्ति—पूजते हैं; सात्वताः—भक्तगण; सात्वत-ऋषभ—हे भक्तों के स्वामी।.

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे भक्तों के स्वामी, आप कृपा करके मुझे अपने अर्चाविग्रह रूप में अपनी पूजा की नियत विधि बतलायें। अर्चाविग्रह की पूजा करने वाले भक्तों की क्या क्षमताएँ होती हैं? ऐसी पूजा किस आधार पर स्थापित है? तथा पूजा की विशिष्ट विधि क्या है?

तात्पर्य : भगवद्भक्त अपने नियत कर्मों के अतिरिक्त मन्दिर में अर्चाविग्रह रूप में भगवान् की नियमित पूजा करते हैं। ऐसी पूजा शरीर को भोगने की काम-वासना तथा इस काम-वासना से उत्पन्न भौतिक पारिवारिक आसक्ति दोनों से हृदय विमल करने के लिए प्रबल शक्ति से कार्य करती है। किन्तु

अर्चाविग्रह पूजा की विधि प्रभावशाली हो इसके लिए प्रामाणिक विधि अपनानी होती है। इसलिए अब उद्धवजी भगवान् से इस विषय में पूछ रहे हैं।

एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।
नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वदन्ति—कहते हैं; मुनयः—मुनिजन; मुहुः—बारम्बार; निःश्रेयसम्—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; नारदः—नारद मुनि; भगवान् व्यासः—श्रील व्यासदेव; आचार्यः—मेरे गुरु; अङ्गिरसः—अंगिरा का; सुतः—पुत्र।

सारे मुनि बारम्बार घोषित करते हैं कि ऐसी पूजा से मनुष्य जीवन में बड़े-से-बड़ा सम्भव लाभ मिलता है। नारद मुनि, महान् व्यासदेव तथा मेरे अपने गुरु बृहस्पति का यही मत है।

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः ।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान्भवः ॥ ३॥
एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४॥

शब्दार्थ

निःसृतम्—निकला; ते—आपके; मुख-अम्भोजात्—कमल-मुख से; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—महान् स्वामी; अजः—स्वतःजन्मे ब्रह्म; पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों द्वारा; भृगु-मुख्येभ्यः—भृगु आदि; देव्यै—देवी पार्वती से; च—तथा; भगवान् भवः—शिवजी ने; एतत्—यह (पूजा-विधि); वै—निस्सन्देह; सर्व-वर्णानाम्—सारे वर्णों; आश्रमाणाम्—तथा आश्रमों द्वारा; च—भी; सम्मतम्—स्वीकृत; श्रेयसाम्—जीवन में विभिन्न लाभों का; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; मन्ये—मैं मानता हूँ; स्त्री—स्त्रियों के लिए; शूद्राणाम्—तथा निम्न श्रेणी के श्रमिकों के लिए; च—भी; मान-द—हे वदान्य प्रभु।

हे वदान्य प्रभु, अर्चाविग्रह की इस पूजा-विधि के आदेश सर्वप्रथम आपने अपने कमलमुख से दिये। तब ब्रह्माजी ने इन्हें भृगु इत्यादि अपने पुत्रों को दिया और शिवजी ने अपनी पत्नी पार्वती को दिया। यह विधि सभी वर्णों तथा आश्रमों द्वारा स्वीकार की जाती है और उनके उपयुक्त है। इसलिए मैं अर्चाविग्रह के रूप में आपकी पूजा को, स्त्रियों तथा शूद्रों तक के लिए समस्त आध्यात्मिक अभ्यासों में अत्यन्त लाभप्रद मानता हूँ।

एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; कमल-पत्र-अक्ष—हे कमलनयन प्रभु; कर्म-बन्ध—भौतिक कार्य के बन्धन से; विमोचनम्—मोक्ष का साधन; भक्ताय—आपके भक्तों से; अनुरक्ताय—अत्यन्त अनुरक्त; ब्रूहि—कृपया कहें; विश्व-ईश्वर—ब्रह्माण्ड के सारे प्रभुओं के; ईश्वर—हे परमेश्वर।

हे कमलनयन, हे ब्रह्माण्ड के सारे ईश्वरों के ईश्वर, कृपया अपने इस भक्त-दास को कर्म-बन्धन से मोक्ष का साधन बतलायें।

श्रीभगवानुवाच
न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
सङ्क्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अन्तः—छोर; अनन्त-पारस्य—असीम का; कर्म-काण्डस्य—पूजा करने की वैदिक संस्तुतियाँ; च—तथा; उद्धव—हे उद्धव; सङ्क्षिप्तम्—संक्षेप में; वर्णयिष्यामि—बतलाऊँगा; यथा-वत्—उपयुक्त ढंग से; अनुपूर्वशः—उपयुक्त क्रम से।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, अर्चाविग्रह पूजा करने के लिए इतने वैदिक उपाय हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है; इसलिए मैं यह विषय तुम्हें संक्षेप में एक-एक करके बतलाऊँगा।

तात्पर्य : *कर्म-काण्ड* पूजा की विविध वैदिक विधियों का द्योतक है जिनका अन्त भगवान् की अर्चाविग्रह पूजा में होता है। जिस तरह इन्द्रियतृप्ति तथा भौतिक वैराग्य के साधन असंख्य हैं, उसी तरह वैकुण्ठ में भगवान् द्वारा भोगी जाने वाली दिव्य लीलाएँ तथा गुण भी असंख्य हैं। भौतिक जगत में पुण्य की धारणाएँ तथा शुद्धि की जो विधियाँ हैं, वे परब्रह्म को स्वीकार किये बिना, परस्पर मेल नहीं खातीं क्योंकि उनको जाने बिना मनुष्य के लिए जानने लायक जरूरी बातों को जान पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि प्रायः सारे लोग पूजा की विविध विधियों में लगे रहते हैं, किन्तु अब भगवान् इस विषय का संक्षेप में वर्णन करेंगे कि उनके अर्चाविग्रह रूप की पूजा कैसे की जाय।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चरेत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

वैदिकः—चारों वेदों के अनुसार; तान्त्रिकः—व्यावहारिक व्याख्यात्मक ग्रंथों के अनुसार; मिश्रः—मिश्रित; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; त्रि-विधः—तीन प्रकार के; मखः—यज्ञ; त्रयाणाम्—तीनों के; ईप्सितेन—जो सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़े, उससे; एव—निश्चय ही; विधिना—विधि से; माम्—मुझको; समर्चरेत्—ठीक से पूजे।

मनुष्य को चाहिए कि वैदिक, तांत्रिक अथवा मिश्रित, इन तीन विधियों में से, जिनसे मैं यज्ञ प्राप्त करता हूँ, किसी एक को चुन कर सावधानीपूर्वक मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : *वैदिक* चारों वेदों तथा उपवेदों से मंत्रों द्वारा सम्पन्न यज्ञ का द्योतक है। *तान्त्रिक पञ्चरात्र* तथा *गौतमीय तन्त्र* जैसे ग्रंथों का द्योतन करता है। *मिश्र:* इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के उपयोग का द्योतक है। स्मरण रहे कि विशद वैदकि यज्ञों की ऊपरी नकल से जीवन की वास्तविक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य को भगवान् द्वारा बतलाई विधि से यज्ञ करना चाहिए—जो विधि इस युग के लिए संस्तुत की गई है, वह है उनके पवित्र नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; स्व—अपनी योग्यता के अनुसार; निगमेन—वेदों के द्वारा; उक्तम्—आदेश दिया गया; द्विजत्वम्—द्विज बनने का पद; प्राप्य—प्राप्त करके; पूरुषः—व्यक्ति; यथा—जिस तरह; यजेत—पूजा करे; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; श्रद्धया—श्रद्धा से; तत्—वह; निबोध—कृपया सुनें; मे—मुझसे।

अब तुम श्रद्धापूर्वक सुनो क्योंकि मैं बतला रहा हूँ कि किस तरह द्विज पद को प्राप्त व्यक्ति संबद्ध वैदिक संस्तुतियों द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : *स्व-निगमेन* शब्द सूचक है विशेष वैदिक आदेशों का जो वर्ण तथा आश्रम से संगत हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के सदस्य गायत्री मंत्र की दीक्षा लेकर *द्विजत्वम्* प्राप्त करते हैं। प्रथा के अनुसार पूर्ण योग्य ब्राह्मण-बालकों को आठ वर्षों में, क्षत्रियों को ग्यारह वर्षों में तथा वैश्यों को बारह वर्षों में दीक्षा दी जा सकती है बशर्ते कि उचित शर्तें पूरी होती हों। द्विजत्व प्राप्त करने के बाद मनुष्य को अर्चाविग्रह रूप में भगवान् की पूजा करनी चाहिए जैसाकि स्वयं भगवान् बतलायेंगे।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजः ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत्स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अर्चायाम्—अर्चाविग्रह के रूप में भीतर; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; अग्नौ—अग्नि में; वा—अथवा; सूर्ये—सूर्य में; वा—अथवा; अप्सु—जल में; हृदि—हृदय में; द्विजः—ब्राह्मण; द्रव्येण—विविध साज-सामग्री से; भक्ति-युक्तः—भक्ति से युक्त; अर्चेत्—पूजा करे; स्व-गुरुम्—अपने आराध्य स्वामी की; माम्—मुझको; अमायया—किसी संशय से रहित होकर।

द्विज को चाहिए कि वह अपने आराध्य देव मुझको बिना द्वैत के मेरे अर्चाविग्रह पर प्रेममयी भक्ति के साथ उपयुक्त साज-सामग्री प्रदान करके पूजे अथवा पृथ्वी पर, अग्नि में, सूर्य में, जल

में या पूजक के ही हृदय में प्रकट होने वाले मेरे रूप को पूजे।

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—पहले; स्नानम्—स्नान; प्रकुर्वीत—सम्पन्न करे; धौत—धोकर; दन्तः—दाँत; अङ्ग—शरीर की; शुद्धये—शुद्धि के लिए; उभयैः—दोनों प्रकार की; अपि च—भी; स्नानम्—स्नान; मन्त्रैः—मंत्रों से; मृत्-ग्रहण-आदिना—मिट्टी इत्यादि पोत कर।

मनुष्य को चाहिए कि पहले वह अपने दाँत साफ करके तथा स्नान करके अपना शरीर शुद्ध बनाये। तत्पश्चात् वह शरीर को मिट्टी से मल कर तथा वैदिक एवं तांत्रिक मंत्रों के उच्चारण द्वारा दुबारा शुद्ध करे।

सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सन्ध्या—दिन की तीन सन्धियों (प्रातः, दोपहर तथा सूर्यास्त) पर; उपास्ति—पूजा करे (गायत्री मंत्र का उच्चारण करके); आदि—इत्यादि; कर्माणि—नियत कार्य; वेदेन—वेदों द्वारा; आचोदितानि—संस्तुत; मे—मेरी; पूजाम्—पूजा; तैः—इन कार्यों से; कल्पयेत्—सम्पन्न करे; सम्यक्-सङ्कल्पः—दृढ़ संकल्प वाला; कर्म—कर्मफल; पावनीम्—समूल नष्ट कर देने वाला।

मनुष्य को चाहिए कि वह मन को मुझ पर स्थिर करके, अपने विविध नियत कार्यों द्वारा, यथा दिन में तीन संधियों पर गायत्री मंत्र का उच्चारण करके, मेरी पूजा करे। वेदों द्वारा ऐसे कार्यों का आदेश है और इनसे पूजा करने वाला अपने कर्मफलों से शुद्ध हो जाता है।

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शैली—पत्थर की बनी; दारु-मयी—काष्ठ की बनी; लौही—धातु की बनी; लेप्या—मिट्टी, चन्दन आदि से बना; लेख्या—चित्रित; च—तथा; सैकती—बालू की बनी; मनः-मयी—मन में विचारी गई; मणि-मयी—मणियों से बनी; प्रतिमा—अर्चाविग्रह; अष्ट-विधा—आठ प्रकार की; स्मृता—ऐसा स्मरण किया जाता है।

भगवान् के अर्चाविग्रह रूप का आठ प्रकारों में—पत्थर, काष्ठ, धातु, मिट्टी, चित्र, बालू, मन या रत्न में—प्रकट होना बतलाया जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि कतिपय अर्चाविग्रह रूप, यथा बालू से बने रूप, अल्पकाल के लिए पूजा करने वाले की निजी इच्छा की पूर्ति करने के लिए होते हैं। फिर भी जो लोग

शुद्ध भगवत्प्रेम पाना चाहते हैं, उन्हें अर्चाविग्रह के स्थायी रूप (उदाहरण के लिए, संगमरमर, स्वर्ण या पीतल से बने रूप) की पूजा करनी चाहिए और उन्हें यह पूजा करते रहना चाहिए। कृष्णभावनामृत में भगवान् की पूजा की उपेक्षा करने के लिए कोई गुंजाईश ही नहीं मिलती।

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥ १३॥

शब्दार्थ

चला—चल; अचला—अचल; इति—इस प्रकार; द्वि-विधा—दो प्रकार की; प्रतिष्ठा—स्थापना; जीव-मन्दिरम्—समस्त जीवों के आश्रय अर्चाविग्रह का; उद्वास—विसर्जन; आवाहने—तथा आवाहन; न स्तः—नहीं हैं; स्थिरायाम्—स्थायी रूप से स्थापित अर्चाविग्रह के लिए; उद्धव—हे उद्धव; अर्चने—पूजा में।

समस्त जीवों के शरण रूप भगवान् का अर्चाविग्रह दो प्रकारों से स्थापित किया जा सकता है—अस्थायी रूप से अथवा स्थायी रूप से। किन्तु हे उद्धव, स्थायी अर्चाविग्रह का आवाहन हो चुकने पर उसका विसर्जन नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त अपने को भगवान् का नित्य दास मानते हैं। वे अर्चाविग्रह को साक्षात् भगवान् मान कर अर्चाविग्रह की स्थायी स्थापना करते हैं और निरन्तर पूजा करते हैं। किन्तु निर्विशेषवादीजन भगवान् के नित्य रूप को क्षणिक मोह की अभिव्यक्ति मानते हैं। वस्तुत: वे अर्चाविग्रह रूप को ईश्वर बनने की दिशा में साधन मात्र मानते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् को अपना बैरी समझते हैं इसलिए धार्मिक उत्सवों के लिए अस्थायी व्यवस्था करते हैं। पूजा की यह क्षणिक पूजा-विधि उन लोगों को भाती है, जो अपने स्वार्थों के लिए भगवान् का दुरुपयोग करना चाहते हैं किन्तु जो कृष्ण-भक्त हैं, वे भगवान् की पूजा में लगे रहते हैं। वे निरन्तर पूजने के लिए स्थायी अर्चाविग्रह स्थापित करते हैं।

अस्थिरायां विकल्पः स्यात्स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अस्थिरायाम्—अस्थायी अर्चाविग्रह के प्रसंग में; विकल्पः—विकल्प (कि अर्चाविग्रह का आवाहन करना तथा विसर्जन करना है); स्यात्—है; स्थण्डिले—भूमि पर बने अर्चाविग्रह के प्रसंग में; तु—लेकिन; भवेत्—होते हैं; द्वयम्—ये दो अनुष्ठान; स्नपनम्—स्नान; तु—लेकिन; अविलेप्यायाम्—जब अर्चाविग्रह मिट्टी (चित्र या काष्ठ) से नहीं बनाया जाता; अन्यत्र—अन्य दशाओं में; परिमार्जनम्—पूर्ण सफाई किन्तु जल के बिना।

जो अर्चाविग्रह अस्थायी रूप से स्थापित किया जाता है उसका आवाहन और विसर्जन

विकल्प रूप में किया जा सकता है किन्तु ये दोनों अनुष्ठान तब अवश्य करने चाहिए जब अर्चाविग्रह को भूमि पर अंकित किया गया हो। अर्चाविग्रह को जल से स्नान कराना चाहिए यदि वह मिट्टी, रंजक या काष्ठ से न बनाया गया हो। ऐसा होने पर जल के बिना ही ठीक से सफाई करनी चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न श्रेणियों के भक्तगण अपनी अपनी श्रद्धा की विभिन्न स्थितियों के अनुसार भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं। भगवान् कृष्ण का प्रगत भक्त भगवान् से अपने नित्य प्रेमपूर्ण सम्बन्ध को समझता है; वह अर्चाविग्रह को साक्षात् भगवान् मानता है और प्रेममयी सेवकाई के अनुसार अर्चाविग्रह से शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करता है। भगवान् कृष्ण को सच्चिदानन्द रूप समझते हुए श्रद्धालु भक्त उदाहरण के तौर पर, पत्थर, काष्ठ या संगमरमर से बनी भगवान् की मूर्ति स्थापित करके, अर्चाविग्रह की पूजा का स्थायी प्रबन्ध करता है।

शालग्राम शिला को बिना किसी औपचारिक उत्सव के स्वत: प्रतिष्ठापित मान लिया जाता है, इसलिए अर्चाविग्रह को मंत्रों द्वारा आवाहन या विसर्जन करने की मनाही है। किन्तु यदि कोई अर्चाविग्रह को पवित्र भूमि पर रंजित करता है या बालू की प्रतिमा के रूप में बनाता है, तो अर्चाविग्रह का आवाहन मंत्रों द्वारा किया जाता है। फिर अर्चाविग्रह से बाह्य रूप त्यागने के लिए अनुरोध किया जाता है क्योंकि यह बाह्य रूप शीघ्र ही प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा विनष्ट हो जायेगा।

सामान्य सिद्धान्त यह है कि शुद्ध भक्त अर्चाविग्रह के साथ अपने सम्बन्ध को शाश्वत मानता है। जो व्यक्ति प्रेमाभक्ति में जितना ही अर्चाविग्रह के शरणागत होता है, वह भगवान् को उतना ही समझ सकता है। भगवान् कृष्ण एक पुरुष हैं किन्तु वे परम पुरुष हैं जिनकी भावनाएँ अद्वितीय होती हैं। भगवान् के अर्चाविग्रह रूप की भक्ति करके भगवान् को आसानी से प्रसन्न किया जा सकता है और भगवान् को प्रसन्न करने से मनुष्य जीवन के मिशन में क्रमश: उन्नति कर सकता है और अन्त में भगवान् के पास वापस जा सकता है जहाँ अर्चाविग्रह भक्त के सम्मुख प्रकट होता है और अपने निजी आवास में भक्त का स्वागत करता है, जो सारे संसार में भगवद्धाम के नाम से जाना जाता है।

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।

भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥ १५॥

शब्दार्थ

द्रव्यैः—साज-सामग्री से; प्रसिद्धैः—सर्वोत्तम; मत्-यागः—मेरी पूजा; प्रतिमा-आदिषु—विभिन्न अर्चाविग्रह रूपों में; अमायिनः—इच्छारहित; भक्तस्य—भक्त का; च—तथा; यथा-लब्धैः—जो भी साज-सामग्री सरलता से प्राप्त की जा सकती है; हृदि—हृदय में; भावेन—मानसिक संकल्पना द्वारा; च—तथा; एव हि—निश्चय ही।

मनुष्य को चाहिए कि उत्तम से उत्तम साज-सामग्री भेंट करके मेरे अर्चाविग्रह रूप में मेरी पूजा करे। किन्तु भौतिक इच्छा से पूर्णतया मुक्त भक्त मेरी पूजा, जो भी वस्तु मिल सके उसी से करे, यहाँ तक कि वह अपने हृदय के भीतर मानसिक साज-सामग्री से भी मेरी पूजा कर सकता है।

तात्पर्य : आज भी जो भक्त भौतिक इच्छा द्वारा सताया हुआ होता है, वह जगत को इन्द्रियतृप्ति की वस्तु के रूप में देखता है। ऐसा नवदीक्षित भक्त भगवान् के परम पद को गलत समझ सकता है, यहाँ तक कि वह भगवान् को ही अपने भोग की वस्तु मान सकता है। इसलिए नवदीक्षित को चाहिए कि देवता को ऐश्वर्यपूर्ण साज-सामग्री भेंट करे जिससे वह निरन्तर स्मरण रख सके कि अर्चाविग्रह परम भोक्ता है और नवदीक्षित तो मात्र पूजक होता है और अर्चाविग्रह के आनन्द के लिए है। इसके विपरीत कृष्णभावनामृत में स्थिर हुआ प्रगत भक्त यह कभी नहीं भूलता कि परमेश्वर हर वस्तु का वास्तविक भोक्ता तथा नियन्ता है। शुद्ध भक्त जो भी साज-सामग्री आसानी से मिल सकती है, उसी के साथ भगवान् को अपने शुद्ध प्रेम की भेंट चढ़ाता है। कृष्णभावनाभावित भक्त कभी भी कृष्ण-भक्ति में विचलित नहीं होता और वह सादी से सादी भेंट द्वारा भी भगवान् को पूरी तरह तुष्ट करता है।

स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥ १६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥ १७॥

शब्दार्थ

स्नान—स्नान; अलङ्करणम्—तथा वस्त्रों एवं गहनों से सजाना; प्रेष्ठम्—पसन्द किया जाता है; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह रूप के लिए; एव—निश्चय ही; तु—तथा; उद्धव—हे उद्धव; स्थण्डिले—भूमि पर अंकित अर्चाविग्रह केलिए; तत्त्व-विन्यासः—मंत्रोच्चार द्वारा अर्चाविग्रह के विविध अंगों के भीतर भगवान् के अंशों तथा शक्तियों की स्थापना; वह्नौ—यज्ञ की अग्नि के लिए; आज्य—घी में; प्लुतम्—डूबा; हविः—तिल, जौ, गुड़ आदि की आहुति; सूर्ये—सूर्य के लिए; च—तथा; अभ्यर्हणम्—बारह आसनों का योग-ध्यान तथा अर्घ्य दान; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; सलिले—जल के लिए; सलिल-आदिभिः—जल इत्यादि की भेंटों से; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; उपाहृतम्—भेंट किया; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; भक्तेन—भक्त द्वारा; मम—मेरा; वारि—जल; अपि—भी।

हे उद्धव, मन्दिर के अर्चाविग्रह की पूजा में स्नान कराना तथा सजाना सर्वाधिक मनोहारी भेटें हैं। पवित्र भूमि पर अंकित अर्चाविग्रह के लिए *तत्त्वविन्यास* ही सर्वाधिक रुचिकर विधि है। तिल तथा जौ को घी में सिक्त करके जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें यज्ञ की अग्नि भेंट से अधिक अच्छा माना जाता है, जबकि उपस्थान तथा अर्घ्य से युक्त पूजा सूर्य के लिए अच्छी मानी जाती है। मनुष्य को चाहिए कि जल को ही अर्पित करके जल के रूप में मेरी पूजा करे। वस्तुतः मेरे भक्त द्वारा श्रद्धापूर्वक मुझे जो कुछ अर्पित किया जाता है—भले ही वह थोड़ा-सा जल ही क्यों न हो—मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : भगवान् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं तथा वैदिक संस्कृति में भगवान् के विविध रूपों में पूजा करने के लिए विविध कर्मकाण्ड हैं। मुख्य बात तो पूजा करने वाले की श्रद्धा तथा भक्ति है, जिसके बिना सब व्यर्थ है जैसाकि अगले श्लोक में भगवान् द्वारा बतलाया गया है।

भूर्यप्यभक्तोपाहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भूरि—ऐश्वर्यवान; अपि—भी; अभक्त—अभक्त द्वारा; उपाहृतम्—भेंट किया; न—नहीं; मे—मेरा; तोषाय—सन्तोष; कल्पते—उत्पन्न करते हैं; गन्धः—सुगन्धि; धूपः—धूप; सुमनसः—फूल; दीपः—दीपक; अन्न-आद्यम्—भोजन सामग्री; च—तथा; किम् पुनः—क्या कहा जाय।

बड़ी से बड़ी ऐश्वर्यपूर्ण भेंट भी मुझे तुष्ट नहीं कर पाती यदि वे अभक्तों द्वारा प्रदान की जायँ। किन्तु मैं अपने प्रेमी भक्तों द्वारा प्रदत्त तुच्छ से तुच्छ भेंट से भी प्रसन्न हो जाता हूँ और जब सुगंधित तेल, अगुरु, फूल तथा स्वादिष्ट भोजन की उत्तम भेंट प्रेमपूर्वक चढ़ाई जाती हैं, तो मैं निश्चय ही सर्वाधिक प्रसन्न होता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कह चुके हैं कि प्रेम तथा भक्तिपूर्वक चढ़ाया गया थोड़ा-सा जल भी उन्हें परम आनन्द प्रदान करने वाला है। इसलिए *किं पुनः* शब्द भगवान् के पूर्ण आनन्द के सूचक हैं जब प्रेम तथा भक्ति के साथ बड़ी-से-बड़ी उपयुक्त भेंट चढ़ाई जाती है। किन्तु अभक्त द्वारा चढ़ाई गई बड़ी-से-बड़ी भेंट भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाती। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि अर्चाविग्रह के पूजा विषयक विधि-विधान तथा अर्चाविग्रह के प्रति किये गये अपराधों की सूची लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए है ताकि वे भगवान् के अर्चाविग्रह रूप के प्रति अनादर या उपेक्षा

भाव दिखलाने से बच सकें। वस्तुत: सारे अपराध भगवान् को स्वामी के रूप में न मानने पर और इस तरह उनके आदेशों का अनादर तथा उल्लंघन करने पर आधारित हैं। चूँकि अर्चाविग्रह की आदरपूर्वक पूजा करनी चाहिए, इसलिए अर्चाविग्रह को प्रेमपूर्वक ऐश्वर्यपूर्ण भेंटें चढ़ानी चाहिए क्योंकि ऐसी भेंटों से पूजा करने वाले की आदरणीयता बढ़ती है तथा उसकी पूजा में अपराधों से बचने में सहायता मिलती है।

शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायां त्वथ सम्मुखः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शुचि:—पवित्र; सम्भृत—एकत्र करके; सम्भार:—साज-सामग्री; प्राक्—उनके सिरे पूर्व की ओर निर्देशित; दर्भै:—कुश द्वारा; कल्पित—व्यवस्थित करके; आसन:—अपने आसन पर; आसीन:—बैठा हुआ; प्राक्—पूर्वाभिमुख; उदक्—उत्तराभिमुख; वा—अथवा; अर्चेत्—पूजा करे; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह का; तु—लेकिन; अथ—अथवा; सम्मुख:—सामने।

अपने को स्वच्छ करके तथा सारी सामग्री एकत्र करके पूजक को चाहिए कि अपना आसन पूर्वाभिमुख कुश से बनाये। तब वह पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठे अन्यथा यदि अर्चाविग्रह किसी स्थान पर स्थिर है, तो अर्चाविग्रह के समक्ष बैठे।

तात्पर्य : *संभृतसम्भार* शब्द का अर्थ है कि अर्चाविग्रह की पूजा शुरू करने के पूर्व सारी आवश्यक पूजा-सामग्री निकट ही रख ले। इस तरह विभिन्न वस्तुओं को ढूँढने के लिए उसे बारम्बार उठना नहीं पड़ेगा। यदि अर्चाविग्रह को स्थायी रूप से स्थापित कर दिया गया हो, तो उसे चाहिए कि अर्चाविग्रह की ओर मुँह करके बैठे।

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनामृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कृत-न्यास:—अपने शरीर को पवित्र कर चुकने पर (विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा उपयुक्त मंत्रों का उच्चारण करके भगवान् के संगत स्वरूप का ध्यान करते हुए); कृत-न्यासाम्—जिस अर्चाविग्रह पर यही विधि अपनाई गई हो; मत्-अर्चाम्—मेरा अर्चाविग्रह रूप; पाणिना—हाथ से; आमृजेत्—साफ करे (पुरानी भेंट के जूठन को हटाकर); कलशम्—शुभ वस्तुओं से भरे पात्र को; प्रोक्षणीयम्—छिड़कने के लिए जल से भरा पात्र; च—तथा; यथा-वत्—उपयुक्त रीति से; उपसाधयेत्—तैयार करे।

भक्त को चाहिए कि अपने शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा मंत्रोच्चारण करते हुए उन्हें पवित्र बनाये। उसे मेरे अर्चाविग्रह रूप के साथ भी ऐसा ही करना चाहिए और तब उसे

अपने हाथों से अर्चाविग्रह पर चढ़े पुराने फूलों तथा अन्य भेटों को हटाना चाहिए। उसे पवित्र कलश (पात्र) तथा छिड़कने के लिए जल से भरा पात्र भी उचित ढंग से तैयार करना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित पूजा-विधि को शुरू करने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु, अर्चाविग्रह तथा अन्य पूज्य पुरुषों को नमस्कार करे।

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—छिड़कने के उस पात्र के; अद्भिः—जल से; देव-यजनम्—स्थान जहाँ देवता की पूजा की जाती है; द्रव्याणि—साज-सामग्री; आत्मानम्—अपना शरीर; एव—निस्सन्देह; च—भी; प्रोक्ष्य—छिड़क कर; पात्राणि—पात्र, बर्तन; त्रीणि—तीन; अद्भिः—जल से; तैः तैः—जो उपलब्ध हों उन उनसे; द्रव्यैः—शुभ वस्तुओं से; च—तथा; साधयेत्—व्यवस्था करे।

तब उस प्रोक्षणीय पात्र से वह उस स्थान पर पानी छिड़के जहाँ अर्चाविग्रह की पूजा की जा रही हो, जहाँ भेंटे चढ़ाई जानी हों तथा साथ ही अपने शरीर पर भी पानी छिड़के। तत्पश्चात् वह जल से भरे तीन पात्रों को विविध शुभ वस्तुओं से सजाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी वैदिक साहित्य का सन्दर्भ देते हुए कहते हैं कि चरण पखारने के निमित्त जल में साँवा के दाने, दूर्वादल, विष्णुक्रान्त फूल तथा अन्य वस्तुएँ मिला लेनी चाहिए। अर्घ्य के लिए प्रयुक्त होने वाले जल में निम्नलिखित आठ चीजें होनी चाहिए—सुगन्धित तेल, फूल, जौ, अक्षत, कुश के अग्रभाग, तिल, सरसों तथा दूर्वादल। आचमन के लिए प्रयुक्त होने वाले जल में चमेली के फूल, पिसी लौंग तथा कक्कोल की गिरियाँ होनी चाहिए।

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि देशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पाद्य—भगवान् के चरणों को पखारने के लिए जल; अर्घ्य—आदर-भाव से सत्कार हेतु भगवान् को अर्पित होने वाला जल; आचमनीय—तथा भगवान् का मुख धोने के लिए अर्पित किया गया जल; अर्थम्—के लिए रखा गया; त्रीणि—तीन; पात्राणि—पात्र; देशिकः—पूजा करने वाला; हृदा—हृदय मंत्र से; शीर्ष्णा—''सिर'' मंत्र से; अथ—तथा; शिखया—शिखा मंत्र से; गायत्र्या—तथा गायत्री मंत्र से; च—भी; अभिमन्त्रयेत्—उच्चारण करते हुए शुद्ध करे।

तब पूजा करने वाला इन तीनों पात्रों को शुद्ध करे। उसे चाहिए कि भगवान् के चरण पखारने के लिए जल वाले पात्र को *हृदयाय नमः* मंत्र से पवित्र करे; अर्घ्य के लिए जल-पात्र को *शिरसे स्वाहा* मंत्र से तथा भगवान् का मुख धोने वाले जल के पात्र को *शिखायै वषट्* मंत्र का

उच्चारण करके पवित्र बनाये। साथ ही, इन तीनों पात्रों के लिए गायत्री मंत्र का भी उच्चारण करे।

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पिण्डे—शरीर के भीतर; वायु—वायु; अग्नि—तथा अग्नि द्वारा; संशुद्धे—पूर्णतया शुद्ध हुआ; हृत्—हृदय के; पद्म—कमल पर; स्थाम्—स्थित; पराम्—दिव्य रूप; मम—मेरा; अण्वीम्—अत्यन्त सूक्ष्म; जीव-कलाम्—भगवान् जिनसे सारे जीव विस्तार पाते हैं; ध्यायेत्—ध्यान करे; नाद-अन्ते—ॐ की ध्वनि के अन्त में; सिद्ध—सिद्ध मुनि; भाविताम्—अनुभवी।

पूजा करने वाले को चाहिए कि वह मेरे सूक्ष्म रूप को, जो अब वायु तथा अग्नि से पवित्र हुए पूजा करने वाले के शरीर के भीतर स्थित होता है, समस्त जीवों के स्रोत रूप में ध्यान करे। भगवान् का यह रूप पवित्र अक्षर ॐ की ध्वनि के अन्त में स्वरूपसिद्ध मुनियों द्वारा अनुभव किया जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार प्रणव या ॐकार के पाँच भाग हैं—अ, उ, म, अनुस्वार विन्दु तथा प्रतिध्वनि (नाद)। मुक्तात्माएँ इस नाद के अन्त में भगवान् का ध्यान करती हैं।

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः ।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तया—ध्यान किये गये स्वरूप द्वारा; आत्म-भूतया—अपनी अनुभूति के अनुसार सोचा गया; पिण्डे—भौतिक शरीर में; व्याप्ते—व्याप्त; सम्पूज्य—उस रूप की भलीभाँति पूजा करके; तत्-मयः—उसकी उपस्थिति से युक्त; आवाह्य—आवाहन करके; अर्चा-आदिषु—पूजा किये जाने वाले विभिन्न अर्चाविग्रहों के भीतर; स्थाप्य—स्थापित करके; न्यस्त-अङ्गम्—उपयुक्त मंत्रों का उच्चारण करते हुए अर्चाविग्रह के विविध अंगों को छूकर; माम्—मुझको; प्रपूजयेत्—पूजा करे।

भक्त परमात्मा का ध्यान करता है, जिसकी उपस्थिति भक्त के शरीर को उसकी अनुभूति के अनुसार अधिक भर देती है। इस तरह भक्त अपनी सामर्थ्य-भर भगवान् की पूजा करता है और उन्हीं में लीन हो जाता है। अर्चाविग्रह के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा उपयुक्त मंत्रोच्चार करके भक्त को चाहिए कि वह परमात्मा को अर्चाविग्रह रूप में आने के लिए आमंत्रित करे और तब वह मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : भक्त का शरीर परमेश्वर से उसी तरह व्याप्त रहता है, जिस तरह कोई घर दीपक के प्रकाश से व्याप्त रहता है। जिस तरह अतिथि को गृह में प्रवेश करने के लिए मैत्रीपूर्वक संकेत किया

जाता है, उसी तरह मनुष्य अर्चाविग्रह के शरीर का स्पर्श करता है, उपयुक्त मंत्रोच्चार करता है तथा अर्चाविग्रह के स्वरूप में प्रवेश करने के लिए परमात्मा को आमंत्रित करता है। चूँकि अर्चाविग्रह तथा परमात्मा दोनों ही भगवान् हैं, अतएव वे अभिन्न हैं। भगवान् का एक रूप दूसरे में तत्काल प्रकट हो सकता है।

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम ॥ २५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥ २६॥

शब्दार्थ

पाद्य—भगवान् के चरण पखारने के लिए जल; उपस्पर्श—भगवान् का मुख धोने के लिए जल; अर्हण—अर्घ्य के रूप में भेंट किया गया जल; आदीन्—तथा अन्य वस्तुएँ; उपचारान्—भेंटें; प्रकल्पयेत्—चढ़ाये; धर्म-आदिभिः—धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य के साकार रूपों के सहित; च—तथा; नवभिः—नौ (भगवान् की शक्तियों); कल्पयित्वा—कल्पना करके; आसनम्—आसन; मम—मेरा; पद्मम्—कमल; अष्ट-दलम्—आठ पंखड़ियों वाला; तत्र—उसमें; कर्णिका—कोश में; केसर—केसर से; उज्ज्वलम्—तेजवान; उभाभ्याम्—दोनों साधनों से; वेद-तन्त्राभ्याम्—वेदों तथा तंत्रों से; मह्यम्—मुझको; तु—तथा; उभय—दोनों (भोग तथा मोक्ष) की; सिद्धये—प्राप्ति हेतु।

पूजा करने वाले को चाहिए कि सर्वप्रथम मेरे आसन को धर्म, ज्ञान, त्याग तथा ऐश्वर्य के साक्षात् देवों से तथा मेरी नौ आध्यात्मिक शक्तियों से अलंकृत होने की कल्पना करे। वह भगवान् के आसन को आठ पंखड़ियों वाले कमल के रूप में मान ले जो अपने कोश के भीतर केसर तन्तुओं से तेजवान है। तब वेदों तथा तंत्रों के नियमानुसार वह पाँव धोने का जल, मुख साफ करने का जल, अर्घ्य तथा पूजा की अन्य वस्तुएँ मुझे अर्पित करे। इस विधि से उसे भौतिक भोग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—ये भगवान् के आसन के चार पैर हैं और दक्षिण-पूर्व आदि चार कोनों में स्थित हैं। अधर्म, अज्ञान, अनुरक्ति तथा कंजूसी—ये चार बीच के पाँव हैं, जो पूर्व आदि दिशाओं में स्थित हैं। भगवान् की नौ शक्तियों के नाम हैं—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना तथा अनुग्रहा।

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुषलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सुदर्शनम्—भगवान् का चक्र; पाञ्चजन्यम्—भगवान् का शंख; गदा—उनकी गदा; असि—तलवार; इषु—तीर; धनुः—धनुष; हलान्—तथा हल; मुषलम्—मुषल हथियार; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; मालाम्—उनकी माला; श्रीवत्सम्—उनके वक्षस्थल पर सुशोभित श्रीवत्स; च—तथा; अनुपूजयेत्—एक के बाद एक पूजे।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के सुदर्शन चक्र, उनके पाञ्चजन्य शंख, उनकी गदा, तलवार, धनुष, बाण तथा हल, उनके मूसल, उनकी कौस्तुभ मणि, उनकी फूलमाला तथा उनके वक्षस्थल के केश-गुच्छ श्रीवत्स की पूजा इसी क्रम से करे।

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डं एव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कमुदेक्षणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नन्दम् सुनन्दम् गरुडम्—नन्द, सुनन्द तथा गरुड़ नामक; प्रचण्डम् चण्डम्—प्रचण्ड तथा चण्ड; एव—निस्सन्देह; च—भी; महा-बलम् बलम्—महाबल तथा बल; च—तथा; एव—निस्सन्देह; कुमुदम् कुमुद-ईक्षणम्—कुमुद तथा कुमुदेक्षण।

मनुष्य को चाहिए कि नन्द, सुनन्द, गरुड़, प्रचण्ड तथा चण्ड, महाबल तथा बल एवं कुमुद तथा कुमुदेक्षण नामक भगवान् के संगियों की पूजा करे।

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्षेनं गुरून्सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान्पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दुर्गाम्—भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति; विनायकम्—आदि गणेश; व्यासम्—वेद के संग्राहक; विष्वक्सेनम्—विष्वक्सेन; गुरून्—अपने गुरुओं; सुरान्—देवताओं; स्वे स्वे—अपने अपने; स्थाने—स्थान पर; तु—तथा; अभिमुखान्—अर्चाविग्रह की ओर मुख करके; पूजयेत्—पूजा करे; प्रोक्षण-आदिभिः—शुद्धि के लिए जल छिड़कने आदि की विविध क्रियाओं द्वारा।

मनुष्य को चाहिए कि वह प्रोक्षण इत्यादि भेंटों से दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुओं तथा विविध देवताओं की पूजा करे। इन सारे व्यक्तियों को भगवान् के अर्चाविग्रह की ओर मुख किए हुए अपने अपने स्थानों में होना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में जिन गणेश तथा दुर्गा का उल्लेख हुआ है, वे इस भौतिक जगत में उपस्थित व्यक्ति नहीं, प्रत्युत वैकुण्ठ में भगवान् के नित्य संगी हैं। इस जगत में शिव-पुत्र गणेश धन देने के लिए विख्यात हैं और शिव-पत्नी दुर्गा देवी भगवान् की बहिरंगा मायाशक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु इस श्लोक में वर्णित सारे व्यक्ति भगवान् के नित्यमुक्त संगी हैं, जो वैकुण्ठ में वास करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी यह सिद्ध करने के लिए विविध वैदिक ग्रंथों से उद्धरण देते हैं कि दुर्गा नाम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति को भी सूचित कर सकता है, जो भगवान् से

अभिन्न है। भगवान् की बहिरंगा या आच्छादक शक्ति इसी आदि दुर्गा से विस्तार पाती है। भौतिक जगत की दुर्गा *महामाया* कहलाती हैं और जीवों को मोहने का कार्य करती हैं। इसलिए भक्त को यहाँ पर वर्णित दुर्गा जिसका नाम माया भी है, की पूजा करने से दूषित हो जाने से डरना नहीं चाहिए, प्रत्युत भक्त को वैकुण्ठ में भगवान् के इन नित्य सेवकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए।

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥ ३० ॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

चन्दन—चन्दन का लेप; उशीर—उशीर या खस; कर्पूर—कपूर; कुङ्कुम—सिंदुर; अगुरु—अगुरु से; वासितैः—सुगन्धित बनाया गया; सलिलैः—विभिन्न प्रकार के जल से; स्नापयेत्—अर्चाविग्रह को नहलाये; मन्त्रैः—मंत्रों से; नित्यदा—प्रतिदिन; विभवे—पूँजी; सति—हैं; स्वर्ण-घर्म-अनुवाकेन—स्वर्ण-धर्म नामक वेदों के अध्याय से; महा-पुरुष-विद्यया—महापुरुष नामक मंत्र द्वारा; पौरुषेण—पुरुष सूक्त द्वारा; अपि—भी; सूक्तेन—वैदिक स्तुति; सामभिः—सामवेद से गीतों द्वारा; राजन-आदिभिः—राजन नामक तथा अन्य।

पूजा करने वाले को चाहिए कि अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन अर्चाविग्रह को स्नान कराने के लिए चन्दन-लेप, उशीर, कपूर, कुंकुम तथा अगुरु से सुगंधित किए गए जल का प्रयोग करे। उसे विविध वैदिक स्तुतियों का भी, यथा अनुवाक जो कि स्वर्ण-घर्म कहलाती है, महापुरुष विद्या, पुरुष सूक्त तथा सामवेद के विविध गीतों यथा राजन तथा रोहिण्य का भी उच्चारण करना चाहिए।

तात्पर्य : *पुरुष सूक्त* प्रार्थना ऋग्वेद में आई है और *ॐ सहस्रशिरसा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्* से शुरू होती है।

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वस्त्र—कपड़े; उपवीत—ब्राह्मण का जनेऊ; आभरण—गहने; पत्र—तिलक से शरीर के विविध अंगों को सजाना; स्रक्—माला; गन्ध-लेपनैः—तथा सुगन्धित तेलों का लेपन; अलङ्कुर्वीत—अलंकृत करे; स-प्रेम—प्रेमपूर्वक; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; माम्—मुझको; यथा उचितम्—जैसा आदेश हो।

तब मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे वस्त्रों, जनेऊ, विविध आभूषनों, तिलक के चिन्ह तथा मालाओं से अच्छी तरह अलंकृत करे और मेरे शरीर पर सुगन्धित तेल का नियत विधि से

लेप करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी *विष्णु धर्म उपपुराण* से महाराज अम्बरीष को दिये गये श्री विष्णु के उपदेश उद्‌धृत करते हैं, ''अपने मन को पूरी तरह अर्चाविग्रह में लीन करते हुए, तुम अन्य सारा आश्रय छोड़ दो तथा अर्चाविग्रह को ही अपना घनिष्ठ हितैषी मानो। तुम्हें चाहिए कि मानसिक रूप से उनकी पूजा करो और चलते, खड़े होते, सोते तथा खाते समय भी उनका ध्यान करो। तुम्हें चाहिए कि अर्चाविग्रह को अपने सामने, पीछे, ऊपर, नीचे तथा दोनों ओर देखो। इस तरह तुम्हें मेरे अर्चाविग्रह रूप का निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिए।'' *गौतमीय तन्त्र* में यह आदेश है कि भगवान् के अर्चाविग्रह को जनेऊ दिया जाय और यदि सम्भव हो, तो वह सोने का हो। *नृसिंह पुराण* में कहा गया है, ''यदि कोई व्यक्ति भगवान् गोविन्द को पीला जनेऊ प्रदान करता है, जिसमें रेशम के तीन धागे होते हैं, तो वह वेदान्तमें पटु बन जाएगा।''

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पाद्यम्—पाँव धोने का जल; आचमनीयम्—मुँह धोने का जल; च—तथा; गन्धम्—सुगन्धि; सुमनसः—फूल; अक्षतान्—अखण्डित बीज (चावल); धूप—अगुरु; दीप—दीपक; उपहार्याणि—साज-सामग्री की वस्तुएँ; दद्यात्—प्रदान करे; मे—मुझको; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अर्चकः—पूजा करने वाला।

पूजक को चाहिए कि वह मेरे पाँव तथा मुँह धोने के लिए जल, सुगन्धित तेल, फूल, अक्षत तथा इसी के साथ अगुरु, दीपक तथा अन्य भेंटें भी दे।

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

गुड—गुड़; पायस—खीर; सर्पींषि—तथा घी; शष्कुली—चावल के आटे, चीनी तथा तिल से बनी और घी में तली गई पूड़ी; आपूप—मीठा व्यंजन; मोदकान्—लड्डू; संयाव—आटा, घी तथा दूध से बनी आयताकार रोटी जिस पर चीनी तथा मसाला चुपड़ा हो; दधि—दही; सूपान्—तरकारी का शोरवा; च—तथा; नैवेद्यम्—भोजन की भेंट; सति—यदि उसके पास पर्याप्त साधन हों; कल्पयेत्—भक्त व्यवस्था करे।

अपने साधनों के ही अन्तर्गत भक्त को चाहिए कि मुझे भेंट करने के लिए गुड़, खीर, घी, शष्कुली (पूड़ी), आपूप, मोदक, *संयाव*—दही, शोरबा तथा अन्य स्वादिष्ट भोजन भेंट करने के लिए व्यवस्था करे।

तात्पर्य : *श्री हरिभक्ति विलास* (आठवाँ विलास श्लोक १५२-१६४) को देख कर अर्चाविग्रह पूजा में उचित तथा अनुचित भोजन की भेंट चढ़ाने की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यानि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अभ्यङ्ग—उबटन से; उन्मर्दन—मालिश; आदर्श—दर्पण दिखाना; दन्त-धाव—दाँत साफ करना; अभिषेचनम्—स्नान; अन्न—बिना चबाये खाया जाने वाला भोजन; आद्य—चबाकर खाया जाने वाला भोजन; गीता—गाना; नृत्यानि—तथा नाच; पर्वणि—विशेष उत्सवों पर; स्युः—करे; उत—या फिर (यदि सम्भव हो तो); अनु-अहम्—प्रतिदिन।

विशेष अवसरों पर और यदि सम्भव हो तो नित्यप्रति अर्चाविग्रह को उबटन लगाया जाय, दर्पण दिखाया जाय, दाँत साफ करने के लिए नीम की दातून दी जाय, पाँच प्रकार के अमृत (पंचामृत) से नहलाया जाय, विविध उच्च कोटि के व्यंजन भेंट किये जायँ तथा उनका गायन और नृत्य से मनोरंजन किया जाय।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अर्चापूजन की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है : ''सर्वप्रथम अर्चाविग्रह के दाँत साफ किये जाँय और उसके शरीर पर सुगंधित तेल की मालिश की जाय तथा सिन्दूर, कपूर आदि मला जाय। तत्पश्चात् सुगन्धित जल तथा पञ्चामृत से स्नान कराया जाय। इसके बाद बहुमूल्य रेशमी वस्त्र तथा रत्नजटित आभूषण पहनाये जाँय; शरीर पर चन्दन का लेप किया जाय और तब माला तथा अन्य उपहार भेंट किये जाँय। इसके बाद अर्चाविग्रह के समक्ष दर्पण रखा जाय और तब सुगन्धित तेल, फूल, अगुरु, दीपक तथा मुँह को स्वच्छ करने के लिए सुगन्धित जल प्रदान किया जाय। इसके बाद स्वादिष्ट भोजन, सुगन्धित जल, पान, माला, आरती दीप, शय्या इत्यादि प्रदान किये जाँय। अर्चाविग्रह पर पंखा भी झला जाय और वाद्य-संगीत, नृत्य तथा गाना-बजाना भी हो। यह अर्चापूजन विशेष अवसरों पर, यथा धार्मिक अवकाशों पर किया जाय और यदि हो सके तो नित्य किया जाय।'' श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार विशेष अर्चापूजन के लिए एकादशी की तिथि सर्वोपयुक्त है।

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत्पाणिनोदितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विधिना—शास्त्रोक्त विधि से; विहिते—निर्मित; कुण्डे—यज्ञशाला में; मेखला—कमर की पेटी; गर्त—यज्ञ का गड्ढा; वेदिभिः—तथा वेदी; अग्निम्—अग्नि; आधाय—स्थापित करके; परितः—चारों ओर; समूहेत्—बनाये; पाणिना—हाथों से; उदितम्—प्रज्वलित।

भक्त को चाहिए कि शास्त्रोक्ति विधि से तैयार की गई यज्ञशाला में अग्नि-यज्ञ करे जिसमें वह पवित्र पेटी (मेखला), यज्ञ-कुण्ड तथा वेदी का प्रयोग करे। यज्ञ-अग्नि जलाते समय भक्त को चाहिए कि अपने हाथों से चिनी गई लकड़ियों को प्रज्ज्वलित करे।

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

परिस्तीर्य—(कुश) फैलाकर; अथ—तब; पर्युक्षेत्—जल का छिड़काव करे; अन्वाधाय—अन्वाधान (ओउम् भूर्भुवः स्वः का उच्चारण करते हुए अग्नि में लकड़ी रखे) करते हुए; यथा-विधि—मानक संस्तुति के अनुसार; प्रोक्षण्या—आचमन पात्र में से जल द्वारा; आसाद्य—सजाकर के; द्रव्याणि—आहुति में डाले जाने वाले पदार्थ; प्रोक्ष्य—उन पर छिड़क कर; अग्नौ—अग्नि में; भावयेत—ध्यान करे; माम्—मेरा।

जमीन पर कुश फैलाकर तथा उस पर जल छिड़कने के बाद, नियत विधियों के अनुसार *अन्वाधान* किया जाय। तत्पश्चात् आहुति में डाले जाने वाली वस्तुओं को व्यवस्थित करे और उन्हें पात्र में से जल छिड़क कर पवित्र बनाये। इसके बाद पूजा करने वाला अग्नि के भीतर मेरा ध्यान करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यज्ञ-अग्नि के भीतर परमात्मा रूप भगवान् का स्मरण किया जाय।

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥ ३८॥
स्फुरत्किरीटकटक कटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः ॥ ४०॥
जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टिकृतं बुधः ॥ ४१॥

शब्दार्थ

तप्त—पिघला; जाम्बू-नद—स्वर्ण का; प्रख्यम्—रंग; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; अम्बुजैः—तथा कमल के फूल से युक्त; लसत्—तेजवान; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाले; शान्तम्—शान्त; पद्म—कमल के; किञ्जल्क—तन्तुओं के रंग

वाला; वाससम्—वस्त्र; स्फुरत्—चमकता हुआ; किरीट—मुकुट; कटक—कंगन; कति-सूत्र—पेटी, करधनी; वर-अङ्गदम्—बाँह का सुन्दर आभूषण, बाजूबन्द; श्री-वत्स—लक्ष्मीजी का प्रतीक; वक्षसम्—अपनी छाती पर; भ्राजत्—तेजवान; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; वन-मालिनम्—फूल की माला पहने; ध्यायन्—उनका ध्यान करते हुए; अभ्यर्च्य—उनकी पूजा करे; दारूणि—सूखी लकड़ी के खण्ड; हविषा—शुद्ध घृत से; अभिघृतानि—सिक्त; च—तथा; प्रास्य—अग्नि में डाल कर; आज्य—घी का; भागौ—दो भाग; आघारौ—आधार अनुष्ठान करते समय; दत्त्वा—प्रदान करके; च—तथा; आज्य—घी से; प्लुतम्—सिक्त; हविः—आहुति, सामग्री; जुहुयात्—अग्नि में डाले; मूल-मन्त्रेण—हर एक अर्चाविग्रह का नाम लेकर मूल मंत्र से; षोडश-ऋचा—पुरुष सूत्र के सोलह पंक्ति वाले श्लोक की स्तुति से; अवदानतः—हर पंक्ति के बाद आहुति डालते हुए; धर्म-आदिभ्यः—यमराज इत्यादि देवताओं को; यथा-न्यायम्—उचित क्रम से; मन्त्रैः—प्रत्येक देवता का नाम लेकर विशिष्ट मंत्र से; स्विष्टि-कृतम्—स्विष्टि नामक अनुष्ठान; बुधः—बुद्धिमान भक्त।

बुद्धिमान भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के उस रूप का ध्यान करे जिसका रंग पिघले सोने जैसा, जिसकी चारों भुजाएँ शंख-चक्र-गदा तथा कमल-फूल से शोभायमान हैं तथा जो सदैव शान्त रहता है और कमल के फूल के भीतर के तन्तुओं जैसा रंगीन वस्त्र पहने रहता है। उनका मुकुट, कंगन, करधनी तथा बाजूबन्द खूब चमकते रहते हैं। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह, चमकीली कौस्तुभ मणि तथा जंगली फूलों की माला रहती है। तत्पश्चात् भक्त को घी में डूबी लकड़ियों को लेकर उन्हें अग्नि में डालते हुए भगवान् की पूजा करनी चाहिए। उसे आघार अनुष्ठान करना चाहिए जिसमें घी में सिक्त सारी आहुति-सामग्री अग्नि को अर्पित की जाती है। तत्पश्चात् उसे यमराज इत्यादि सोलह देवताओं को स्विष्टि कृत नामक आहुति देनी चाहिए जिसमें प्रत्येक देवता के मूल मंत्रों का तथा पुरुष सूक्त की सोलह पंक्तियों का उच्चारण किया जाता है। पुरुष सूक्त की प्रत्येक पंक्ति के बाद एक आहुति डाल कर, उसे प्रत्येक देवता का नाम लेकर विशेष मंत्र का उच्चारण करना चाहिए।

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अभ्यर्च्य—पूजा करके; अथ—तब; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; पार्षदेभ्यः—भगवान् के निजी संगियों को; बलिम्—भेंट; हरेत्—भेंट करे; मूल-मन्त्रम्—मूल मंत्र; जपेत्—चुपके से उच्चारण करे; ब्रह्म—परब्रह्म का; स्मरन्—स्मरण करते हुए; नारायण-आत्मकम्—भगवान् नारायण के रूप में।

इस तरह यज्ञ-अग्नि में भगवान् की पूजा करके भक्त को चाहिए कि भगवान् के निजी संगियों को झुक कर नमस्कार करे और तब उन्हें उपहार भेंट करे। तब वह भगवान् के अर्चाविग्रह का मूल मंत्र मन ही मन जपे और भगवान् नारायण के रूप में परब्रह्म का स्मरण करे।

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्षेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

दत्त्वा—प्रदान करके; आचमनम्—भगवान् का मुँह धोने का जल; उच्छेषम्—भोजन का जूठन; विष्वक्सेनाय—भगवान् विष्णु के निजी संगी विष्वक्सेन को; कल्पयेत्—दे; मुख-वासम्—मुख शुद्धि; सुरभि-मत्—सुगन्धित; ताम्बूल-आद्यम्—पान इत्यादि; अथ—तब; अर्हयेत्—भेंट करे।

वह एक बार फिर अर्चाविग्रह को मुख धोने के लिए जल दे और जो भोजन बचा हो उसे विष्वक्सेन को दे दे। तत्पश्चात् वह अर्चाविग्रह को सुगंधित मुख शुद्धि एवं लगा हुआ पान का बीड़ा दे।

उपगायन्गृणन्नृत्यन्कर्माण्यभिनयन्मम ।
मत्कथाः श्रावयन्शृण्वन्मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उपगायन्—गाते हुए; गृणन्—तेजी से उच्चारण करते हुए; नृत्यन्—नाचते हुए; कर्माणि—दिव्य कार्य; अभिनयन्—नाटक द्वारा अनुकरण करते हुए; मम—मेरा; मत्-कथाः—मेरे सम्बन्ध में कथाएँ; श्रावयन्—सुनाते हुए; शृण्वन्—स्वयं सुनते हुए; मुहूर्तम्—कुछ समय के लिए; क्षणिकः—उत्सव में लीन; भवेत्—हो जाय।

अन्यों के साथ गाते, जोर से कीर्तन करते तथा नाचते, मेरी दिव्य लीलाओं का अभिनय करते तथा मेरे विषय में कथाएँ सुनते तथा सुनाते हुए भक्त को चाहिए कि कुछ समय के लिए ऐसे उत्सव में लीन हो जाय।

तात्पर्य : भगवान् की नियमित पूजा में लगे भक्त को चाहिए कि कभी कभी भगवान् की लीलाओं के कीर्तन, श्रवण, नर्तन इत्यादि में आनन्दमग्न हो जाय। *मुहूर्तम्* शब्द सूचित करता है कि वह तथाकथित आनन्द के नाम पर अपने नैत्यिक कार्यों तथा भगवत्सेवा की उपेक्षा न करे। यद्यपि वह कीर्तन करने, सुनने तथा नाचने में आनन्दमग्न हो जाए, किन्तु वह भगवान् की नियमित सेवा की औपचारिकता को नहीं छोड़ सकता।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्तवैः—शास्त्रों से स्तुतियों द्वारा; उच्च-अवचैः—बड़ी तथा छोटी किस्मों के; स्तोत्रैः—मनुष्यों द्वारा रचित प्रार्थनाओं से; पौराणैः—पुराणों से; प्राकृतैः—सामान्य स्रोतों से; अपि—भी; स्तुत्वा—भगवान् की स्तुति करके; प्रसीद—कृपया अपनी दया दिखायें; भगवन्—हे प्रभु; इति—ऐसा कहते हुए; वन्देत—वन्दना करे; दण्ड-वत्—भूमि पर डंडे की तरह गिर कर।

भक्त को चाहिए कि पुराणों तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों तथा सामान्य परम्परा के अनुसार सभी प्रकार की स्तुतियों तथा प्रार्थनाओं से भगवान् का सत्कार करे। उसे चाहिए कि, ''हे प्रभु, मुझ पर दयालु हों'' ऐसी प्रार्थना करते हुए पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर कर नमस्कार करे।

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

शिरः—अपना सिर; मत्-पादयोः—मेरे दोनों चरणों पर; कृत्वा—रख कर; बाहुभ्याम्—हाथों से; च—तथा; परस्परम्—एकसाथ (अर्चाविग्रह के दोनों पाँव पकड़ कर); प्रपन्नम्—शरणागत; पाहि—रक्षा करें; माम्—मुझको; ईश—हे प्रभु; भीतम्—डरा हुआ; मृत्यु—मृत्यु का; ग्रह—मुख; अर्णवात्—भौतिक सागर के।

अर्चाविग्रह के चरणों पर अपना सिर रख कर और तब भगवान् के समक्ष हाथ जोड़े खड़े होकर, उसे प्रार्थना करनी चाहिए ''हे प्रभु, मैं आपकी शरण में हूँ। कृपा करके मेरी रक्षा करें। मैं इस भवसागर से अत्यन्त भयभीत हूँ क्योंकि मैं मृत्यु के मुख पर खड़ा हूँ।''

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार प्रार्थना करते हुए; शेषाम्—जूठन; मया—मेरे द्वारा; दत्ताम्—दिया हुआ; शिरसि—सिर पर; आधाय—रख कर; स-आदरम्—आदरपूर्वक; उद्वासयेत्—अर्चाविग्रह को विदा करे; चेत्—यदि; उद्वास्यम्—ऐसा करना ही हो; ज्योतिः—प्रकाश; ज्योतिषि—प्रकाश के भीतर; तत्—वह; पुनः—एक बार फिर।

इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ भक्त अपने सिर पर मेरे द्वारा प्रदत्त उच्छिष्ठ को आदर-सहित रखे। और यदि उस अर्चाविग्रह का पूजा के अन्त में विसर्जन करना हो, तो भक्त को अपने हृदय के भीतर के कमल के प्रकाश के अन्दर अर्चाविग्रह की उपस्थिति के प्रकाश को एक बार पुनः धारण करना चाहिए।

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदिषु—अर्चाविग्रह में तथा भगवान् के अन्य स्वरूपों में; यदा—जब भी; यत्र—जिस भी रूप में; श्रद्धा—श्रद्धा उत्पन्न होती है; माम्—मुझको; तत्र—वहाँ; च—तथा; अर्चयेत्—पूजा करे; सर्व-भूतेषु—सारे उत्पन्न हुए जीवों के भीतर; आत्मनि—पृथक् रूप से, मेरे आदि रूप में; च—भी; सर्व-आत्मा—सबों की मूल आत्मा; अहम्—मैं; अवस्थितः—इस प्रकार स्थित।

जब भी कोई व्यक्ति मुझमें, चाहे मेरे अर्चाविग्रह रूप में या अन्य प्रामाणिक अभिव्यक्तियों के रूप में, श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, तो उसे उसी रूप में मेरी पूजा करनी चाहिए। मैं निश्चय ही, समस्त उत्पन्न जीवों के भीतर तथा पृथक् रूप से अपने आदि रूप में भी विद्यमान रहता हूँ, क्योंकि मैं सबों का परमात्मा हूँ।

तात्पर्य : श्री भगवान् की पूजा पूजक विशेष की श्रद्धा के अनुसार होती है। यहाँ पर *अर्चा* का विशेष उल्लेख हुआ है क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए अर्चाविग्रह की पूजा अनिवार्य है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि अनुभवहीन व्यक्ति यह सोच सकते हैं कि अर्चाविग्रह पूजक की इन्द्रियतृप्ति के निमित्त है क्योंकि अर्चाविग्रह संगमरमर अथवा पीतल जैसी बाह्य वस्तुओं से बना होता है। किन्तु प्रामाणिक मंत्रों के उच्चारण द्वारा अर्चाविग्रह की स्थापना करके मनुष्य भगवान् को अर्चारूप में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित करता है। नियमित तथा श्रद्धायुक्त पूजा द्वारा मनुष्य धीरे धीरे समझने लगता है कि अर्चाविग्रह भगवान् से सर्वथा अभिन्न है। उस अवस्था में अर्चापूजन के बल पर मनुष्य द्वितीय श्रेणी की भक्ति प्राप्त करता है। इस अधिक विकसित अवस्था में मनुष्य अन्य भक्तों से संगति बढ़ाना चाहता है और ज्योंही वह वैष्णव समुदाय में ठीक से स्थापित हो जाता है, वह भौतिक जीवन का पूर्णतया त्याग कर देता है और क्रमशः कृष्णभावनामृत में पूर्ण बन जाता है।

एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; क्रिया-योग—नियमित अर्चापूजन की; पथैः—विधियों द्वारा; पुमान्—पुरुष; वैदिक-तान्त्रिकैः—वेदों तथा तंत्रों में प्रस्तुत किया गया; अर्चन्—पूजना; उभयतः—इस जीवन तथा अगले जीवन में; सिद्धिम्—सिद्धि; मत्तः—मुझसे; विन्दति—प्राप्त करता है; अभीप्सिताम्—इच्छित।

वेदों तथा तंत्रों में संस्तुत विविध विधियों से मेरी पूजा करते हुए मनुष्य इस जीवन में तथा अगले जीवन में मुझसे इच्छित सिद्धि प्राप्त करेगा।

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद्दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मत्-अर्चाम्—मेरा अर्चाविग्रह रूप; सम्प्रतिष्ठाप्य—ठीक से स्थापित करके; मन्दिरम्—मन्दिर; कारयेत्—बनवाये; दृढम्—प्रबल; पुष्प-उद्यानानि—फूल के बगीचे; रम्याणि—सुन्दर; पूजा—नियमित नैत्यिक पूजा के लिए; यात्रा—विशेष उत्सव; उत्सव—तथा वार्षिक उत्सव; आश्रितान्—एक ओर करके।

भक्त को चाहिए कि मजबूत मन्दिर बनवाकर उसी के साथ सुन्दर बगीचों से मेरे अर्चाविग्रह को अधिक पुष्टता से स्थापित करे। इन बगीचों को नित्यप्रति पूजा के लिए फूल प्रदान करने, विशेष अर्चाविग्रह जुलूसों और शुभ पर्वों के मनाने के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

तात्पर्य : धनी पुण्यात्मा व्यक्तियों को मन्दिर बनवाने तथा अर्चाविग्रह के मनोरंजन के लिए बगीचे बनवाने में लगना चाहिए। *दृढम्* शब्द सूचित करता है कि निर्माण-कार्य के लिए ठोस सामग्री इस्तेमाल करनी चाहिए।

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान्दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

पूजा-आदीनाम्—नियमित पूजा तथा विशेष त्यौहारों का; प्रवाह-अर्थम्—निरंतरता जारी रखने के लिए; महा-पर्वसु—शुभ अवसरों पर; अथ—तथा; अनु-अहम्—प्रतिदिन; क्षेत्र—भूमि; आपण—दूकानें; पुर—शहर; ग्रामान्—तथा गाँवों को; दत्त्वा—अर्चाविग्रह को भेंट रूप में देकर; मत्-सार्ष्टिताम्—मेरे तुल्य ऐश्वर्य; इयात्—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति अर्चाविग्रह पर भूमि, बाजार, शहर तथा गाँव की भेंट चढ़ाता है, जिससे कि अर्चाविग्रह की दैनिक पूजा तथा विशिष्ट उत्सव निरंतर चलते रहें, वह मेरे ही तुल्य ऐश्वर्य प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह के नाम भूमिखंड दान में देने से ऐश्वर्यपूर्ण अर्चापूजन के लिए किराये से तथा कृषि उत्पादन से नियमित आय होती रहेगी। जो पूजक ऐसा करता है, वह निश्चय ही भगवान् जैसा ऐश्वर्य प्राप्त करेगा।

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

प्रतिष्ठया—अर्चा की स्थापना कर लेने पर; सार्व-भौमम्—पूरी धरती पर सर्वोपरिता, एकछत्र राज्य; सद्मना—भगवान् के लिए मन्दिर बनवाकर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों के ऊपर स्वामित्व; पूजा-आदिना—पूजा तथा अन्य सेवाओं द्वारा; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्माजी का लोक; त्रिभिः—तीन; मत्-साम्यताम्—मेरी बराबरी; इयात्—प्राप्त करता है।

भगवान् के अर्चाविग्रह की स्थापना करने से मनुष्य सारी पृथ्वी का राजा बन जाता है; भगवान् के लिए मन्दिर बनवाने से तीनों जगतों का शासक बन जाता है; अर्चाविग्रह की पूजा तथा सेवा करने से वह ब्रह्मलोक को जाता है और इन तीनों कार्यों को करने से वह मुझ जैसा ही दिव्य स्वरूप प्राप्त करता है।

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; नैरपेक्ष्येण—निरपेक्ष भाव से; भक्ति-योगेन—भक्ति करने से; विन्दति—प्राप्त करता है; भक्ति-योगम्—भक्ति; सः—वह; लभते—प्राप्त करता है; एवम्—इस प्रकार; यः—जिसको; पूजयेत—पूजा करता है; माम्—मुझको।

किन्तु जो व्यक्ति कर्मफल पर विचार किये बिना, भक्ति में लगा रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है। इस तरह जो कोई भी मेरे द्वारा वर्णित विधि के अनुसार मेरी पूजा करता है, वह अन्ततः मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : पिछले दो श्लोक भगवान् द्वारा इसलिए कहे गये थे ताकि सकाम फलों में रुचि रखने वाले लोग आकृष्ट हों और अब भगवान् की पूजा करने का चरम प्रयोजन बतलाया जा रहा है। जीवन का चरम लक्ष्य साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं। ईश्वर के प्रति प्रेम ही सर्वोच्च आनन्द है यद्यपि सामान्य लोग इसे समझ नहीं पाते।

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; स्व-दत्ताम्—अपने द्वारा दिया गया; परैः—अन्यों द्वारा; दत्ताम्—दिया हुआ; हरेत—ले लेता है; सुर-विप्रयोः—देवताओं या ब्राह्मणों से सम्बन्धित; वृत्तिम्—सम्पत्ति; सः—वह; जायते—उत्पन्न होता है; विट्-भुक्—मल खाने वाला कीट; वर्षाणाम्—वर्षों तक; अयुत—दस हजार; अयुतम्—गुणित दस हजार।

जो व्यक्ति देवताओं या ब्राह्मणों की सम्पत्ति चुराता है, चाहे वह उन्हें पहले उस व्यक्ति द्वारा दी गई हो या अन्य किसी के द्वारा, उसे एक करोड़ वर्षों तक मल के कीट के रूप में रहना पड़ता है।

**कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥ ५५ ॥**

शब्दार्थ

कर्तुः—कर्ता का; च—तथा; सारथेः—सहायक का; हेतोः—प्रेरक का; अनुमोदितुः—अनुमोदन करने वाले का; एव च—भी; कर्मणाम्—कर्मों का; भागिनः—हिस्सेदार का; प्रेत्य—अगले जन्म में; भूयः—अधिक शोक के साथ; भूयसि—इस हद तक कि कर्म शोकमय हो; तत्—उसका (भोग करे); फलम्—परिणाम।

न केवल चोरी करने वाला व्यक्ति अपितु उसकी सहायता करने वाला या जो अपराध के लिए प्रेरित करता है या मात्र अनुमोदन करता है, वह भी अगले जीवन में पापफल में भागी बनेगा। भागीदारी की कोटि के अनुसार ही, उन्हें उसी अनुपात में फल भोगना होगा।

भगवान् के या उनके अधिकारी प्रतिनिधियों की पूजा की वस्तु को किसी भी दशा में नहीं चुराना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''देवपूजा विषयक श्रीकृष्ण के आदेश'' नामक सत्ताइसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

ज्ञान-योग

पिछले अध्यायों में जिस ज्ञानयोग का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है उसका सार-संक्षेप इस अध्याय में दिया गया है।

इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक उत्पन्न वस्तु प्रकृति के तीन गुणों की भौतिक उपज है। वह ऐन्द्रिय बोध के अधीन है और अनिवार्यतः असत्य है। वस्तुतः हम इस जगत की विविध वस्तुओं तथा कार्यों को जो ''अच्छी'' तथा ''बुरी'' उपाधियाँ देते हैं, वे सतही हैं। इस जगत की किसी वस्तु की प्रशंसा करने या तिरस्कार करने से बचना अच्छा है क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य पदार्थ में फँसता है और आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर लक्ष्यों से वंचित रह जाता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड की हर वस्तु के भीतर आत्मा छिपा हुआ है, जो व्यक्त जगत के कार्य-कारण दोनों का आधार है। हर व्यक्ति को इसी प्रकाश में वस्तुओं को देखना चाहिए और इस तरह विरक्त भाव से जगत में विचरण करना चाहिए।

जब तक पदार्थ से निर्मित शारीरिक इन्द्रियों तथा सत्य रूप आत्मा के बीच सम्बन्ध बना रहता है,

तब तक मनुष्य झूठी चेतना में बना रहता है। यद्यपि यह संसार मिथ्या है, किन्तु विवेकहीन व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में लीन रहते हैं। भौतिक जीवन की सारी अवस्थाएँ—यथा जन्म, मृत्यु, दुख तथा सुख—आत्मा से सम्बन्धित नहीं होतीं, अपितु भौतिकतावादी मिथ्या अहंकार से सम्बद्ध होती हैं। आत्मा तथा इसके विपरीत पदार्थ में अन्तर करना सीख कर मनुष्य इस मिथ्या पहचान को नष्ट कर सकता है।

इस जगत के आदि में तथा अन्त में एक ही परब्रह्म वर्तमान रहता है। अपनी अन्तरिम अर्थात् पालन की अवस्था में विराट जगत भी उसी परब्रह्म पर आधारित होता है। यह ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है—अपने प्राकट्य से विध्यात्मक रूप में और अपने अलगाव से निषेधात्मक रूप में—आत्माराम होने से ब्रह्म अद्वितीय है, जबकि यह जगत रजोगुण के माध्यम से उत्पन्न ब्रह्म का अंश है।

किन्तु प्रामाणिक गुरु की कृपा से मनुष्य परब्रह्म को समझ सकता है और भौतिक शरीर तथा इसके अंशों के भौतिक स्वभाव को पहचान सकता है। इन्द्रिय-भोग से विलग रह कर वह आत्मानन्द में तुष्ट हो जाता है। जिस तरह सूर्य आने-जाने वाले बादलों से अछूता रहता है, उसी तरह विवेकवान मुक्त पुरुष अपनी इन्द्रियों के कार्यों से अप्रभावित रहता जाता है। इतने पर भी भक्तियोग में पूरी तरह स्थिर न होने तक, इन्द्रिय-विषयों के साथ सम्पर्क रखने से बचना चाहिए। महत्त्वाकांक्षी भक्त को तमाम अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है और वह च्युत हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में उसकी यह भक्ति, इस जन्म में प्राप्त उपलब्धि के कारण, चलती रहेगी। तब वह फिर कभी कर्म के नियमों से बँधता नहीं। जो व्यक्ति मुक्त है और विवेकवान है, वह इन्द्रियतृप्ति में आसक्त होकर कभी भी मिथ्या भोग की खोज नहीं करेगा। वह जानता है कि आत्मा अपरिवर्तनशील है और शुद्ध आत्मा पर किसी तरह का विरोधी भाव आरोपित करना निरी मूर्खता होगी।

यदि आध्यात्मिक अभ्यास की अपरिपक्व अस्था में कोई शारीरिक रोग हो जाता है या कोई अन्य उत्पात आ खड़ा होता है, तो वेदों का आदेश है कि उसको समूल नष्ट करने के लिए उचित कार्यवाही की जाय। काम तथा मन के अन्य शत्रुओं का नियत इलाज परमेश्वर का ध्यान तथा उनके नामों का जोर-जोर से उच्चारण या *सङ्कीर्तन* है। मिथ्या अहंकार के रोग की दवा है भगवान् के सन्त भक्तों की सेवा।

योगाभ्यास द्वारा कुछ अभक्तगण अपने शरीरों को तरुण तथा स्वस्थ रखते हैं और योग-सिद्धियाँ या दीर्घायु भी पा लेते हैं। किन्तु ये उपलब्धियाँ दो कौी की नहीं होतीं क्योंकि ये मात्र भौतिक शरीर की सिद्धियाँ होती हैं। इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति इस तरह की विधि में अरुचि दिखाता है। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की सच्चे मन से शरण ग्रहण करने से महत्त्वाकांक्षी भक्त समस्त उत्पातों से अपने को बचा लेता है और सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण आनन्द प्राप्त करने के लिए शक्तिमय हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच
परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकामकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पर—पराये का; स्वभाव—स्वभाव; कर्माणि—तथा कर्म; न प्रशंसेत्—प्रशंसा न करे; न गर्हयेत्—आलोचना न करे; विश्वम्—संसार; एक-आत्मकम्—सत्य पर आश्रित; पश्यन्—देखते हुए; प्रकृत्या—प्रकृति के साथ साथ; पुरुषेण—भोक्ता के साथ; च—भी।

भगवान् ने कहा : मनुष्य को चाहिए कि किसी अन्य व्यक्ति के बद्ध स्वभाव तथा कर्मों की न तो प्रशंसा करे, न ही आलोचना। प्रत्युत उसे इस जगत को प्रकृति तथा भोक्ता आत्माओं का संमेल ही मानना चाहिए क्योंकि वे सभी एक परम सत्य पर आश्रित हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के अनुसार भौतिक परिस्थितियाँ तथा कर्म सात्विक, राजस तथा तामसिक प्रतीत होते हैं। ये गुण भगवान् की मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और यह माया अपने स्वामी भगवान् से भिन्न नहीं है। इसलिए भगवद्भक्त भौतिक प्रकृति की मायावी, क्षणिक अभिव्यक्तियों से अलग रहता है। साथ ही वह भौतिक प्रकृति को भगवान् की शक्ति मान कर उसे मूलतः सत्य मानता है। यहाँ पर बच्चे द्वारा मिट्टी को विभिन्न खिलौनों—यथा बाघ, मनुष्य, घर इत्यादि का स्वरूप देने का दृष्टान्त दिया जा सकता है। खिलौने की मिट्टी सत्य है, जबकि मिट्टी द्वारा धारण किये जाने वाले क्षणिक स्वरूप मायावी हैं; वे असली बाघ, पुरुष या घर नहीं होते। इसी तरह सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् के हाथों में मिट्टी के लोंदे के समान है, जो माया के द्वारा माया के सुस्पष्ट क्षणिक स्वरूप बनाता है। जो भगवान् के भक्त नहीं हैं उनका मन इन्हीं में लीन रहता है।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पर—दूसरे का; स्वभाव—स्वभाव, व्यक्तित्व; कर्माणि—तथा कार्य; यः—जो; प्रशंसति—प्रशंसा करता है; निन्दति—आलोचना करता है; सः—वह; आशु—तुरन्त; भ्रश्यते—गिरता है; स्व-अर्थात्—अपने हित से; असति—असत्य में; अभिनिवेशतः—पूरी तरह बँध जाने के कारण।

जो भी व्यक्ति दूसरों के गुणों तथा आचरण की प्रशंसा करता है या आलोचना करता है, वह मायामय द्वैतों में फँसने के कारण अपने उत्तमोत्तम हित से शीघ्र विपथ हो जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है और इस तरह अन्य बद्धजीव की, जिसे वह अपने से घटिया समझता है, आलोचना करता है। इसी तरह वह एक उच्च भौतिकतावादी की प्रशंसा करता है क्योंकि वह उस उच्च पद का इच्छुक रहता है, जिससे वह अन्यों पर प्रभुत्व दिखा सके। अन्य भौतिकतावादी लोगों की प्रशंसा करना तथा आलोचना करना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जीवों की ईर्ष्या पर आधारित हैं और ये मनुष्य को *स्व-अर्थ*—असली आत्महित अर्थात् कृष्णभावनामृत—से नीचे गिराने वाले हैं।

असत्यभिनिवेशत: का अर्थ है "क्षणिक या असत्य में लीन रहने से"। यह शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को न तो भौतिक द्वन्द्व का सहारा लेना चाहिए, न ही भौतिकतावादी व्यक्तियों की प्रशंसा या आलोचना करनी चाहिए। प्रत्युत उसे चाहिए कि वह भगवान् के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा करे और भगवान् के विरुद्ध विद्रोह की मनोवृत्ति की आलोचना करे जिससे मनुष्य अभक्त बनता है। किसी को निम्न वर्गीय भौतिकतावादी की आलोचना यह सोच कर नहीं करनी चाहिए कि उच्च वर्गीय भौतिकतावादी अच्छा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को चाहिए कि भौतिक तथा आध्यात्मिक का अन्तर समझे और भौतिक स्तर पर अच्छे तथा बुरे के फेर में न पड़े। उदाहरणार्थ, ईमानदार नागरिक नागरिक स्वतंत्रता तथा बन्दी जीवन के अन्तर को समझता है, जबकि मूर्ख कैदी सुविधाजनक तथा असुविधाजनक जेल की कोठरियों का अन्तर जानता है। जिस तरह मुक्त नागरिक के लिए बन्दीगृह की कोई भी अवस्था स्वीकार्य नहीं, उसी तरह मुक्त कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए कोई भी भौतिक पद स्वीकार्य नहीं है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि बद्धजीवों को उनकी भौतिकतावादी प्रतिष्ठाओं के आधार पर विभेदित करने की बजाय उन्हें भगवन्नाम कीर्तन करने के लिए एक दूसरे के

निकट लाना चाहिए और चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कोई अभक्त या निम्न कोटि का ईर्ष्यालु भक्त कभी भी लोगों को भगवत्प्रेम के स्तर पर एक करने में रुचि नहीं रखता, अपितु वह साम्यवादी, पूँजीवादी, श्वेत, श्याम, धनी, निर्धन, उदार तथा कट्टर जैसी भौतिक उपाधियों पर बल देकर उन्हें व्यर्थ ही विलग करता रहता है। भौतिक जीवन सदा ही अपूर्ण, अज्ञान से युक्त तथा अन्ततः निराशाजनक होता है। इसलिए अज्ञान के उच्च तथा निम्न स्वरूपों की प्रशंसा तथा आलोचना न करके मनुष्य को चाहिए कि दिव्य सच्चिदानन्द स्तर पर कृष्णभावनामृत में लीन रहे।

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तैजसे—जब इन्द्रियाँ, जो कि रजोगुण में मिथ्या अहंकार से उत्पन्न हैं; **निद्रया**—नींद से; **आपन्ने**—परास्त हो जाती हैं; **पिण्ड**—भौतिक शरीर का कवच; **स्थः**—स्थित (आत्मा); **नष्ट-चेतनः**—अपनी चेतना खोकर; **मायाम्**—स्वप्न देखने का भ्रम; **प्राप्नोति**—अनुभव करता है; **मृत्युम्**—मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था; **वा**—अथवा; **तद्वत्**—उसी प्रकार से; **नाना-अर्थ**—भौतिक विविधताओं के रूप में; **दृक्**—देखने वाला; **पुमान्**—मनुष्य।

जिस तरह देहधारी आत्मा की इन्द्रियाँ स्वप्न देखने के भ्रम या मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था के द्वारा परास्त हो जाती हैं, उसी तरह भौतिक द्वन्द्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति को मोह तथा मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों को *तैजस* कहा गया है क्योंकि वे रजोगुण में मिथ्या अहंकार द्वारा उत्पन्न होती हैं। मिथ्या अहंकारवश मनुष्य भगवान् से विहीन भौतिक जगत का स्वप्न देखता है और प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने एवं उसके संसाधनों का दोहन करने के लिए योजनाएँ बनाता है। आधुनिक नास्तिक विज्ञानियों ने इस मिथ्या अहंकार को ललित कला का स्वरूप दे दिया है और वे अपने को बहुत बड़े वीर पुरुष मानते हैं क्योंकि उन्होंने प्रकृति के अवरोधों पर विजय पा ली है और वे अपरिहार्य सर्वज्ञता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे स्वप्नदर्शी भौतिकतावादी प्रकृति के नियमों की विखंडनकारी प्रतिक्रियाओं से बारम्बार स्तम्भित होते हैं और उनकी उद्धत, नास्तिक सभ्यताएँ, विश्व-युद्ध, प्राकृतिक आपदाओं तथा ब्रह्माण्ड में उग्र परिवर्तनों के द्वारा बारम्बार ध्वस्त होती रहती हैं।

सामान्य स्तर पर सारे बद्धजीव यौन आकर्षण से विमोहित होते हैं और इस तरह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के मोह से बँधे रहते हैं। वे अपने को उस भौतिक प्रकृति का अनन्य भोक्ता मानते हैं, जो

सहसा उनके विपरीत बन जाती है और उन्हें उसी तरह मार डालती है, जिस तरह कि पालतू पशु जब अकस्मात् अपने स्वामी पर झपटता है, तो उसे मार डालता है।

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; भद्रम्—अच्छा; किम्—क्या; अभद्रम्—बुरा; वा—अथवा; द्वैतस्य—द्वैत की; अवस्तुनः—वस्तु नहीं है; कियत्—कितना; वाचा—वाणी से; उदितम्—उत्पन्न; तत्—वह; अनृतम्—असत्य; मनसा—मन से; ध्यातम्—ध्यान किया गया; एव—निस्सन्देह; च—तथा।

जो कुछ भौतिक शब्दों से व्यक्त किया जाता है या मन के द्वारा ध्यान किया जाता है, वह परम सत्य नहीं है। अतएव द्वैत के इस असार जगत में, वस्तुतः क्या अच्छा या क्या बुरा है और ऐसे अच्छे तथा बुरे की मात्रा को कैसे मापा जा सकता है?

तात्पर्य : वास्तविक सत्य तो भगवान् हैं जिनसे हर वस्तु उद्भूत है, जिनसे हर वस्तु पालित है और जिनमें हर वस्तु लीन होती है। भौतिक प्रकृति तो परब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रियाओं से पदार्थ के नाना रूप पृथक् और स्वतंत्र सत्य प्रतीत होते हैं। माया बद्ध आत्मा को परब्रह्म से दूर ले जाती है और उसके मन को पदार्थ के ज्वलन्त स्वरूप में लीन कर देती है, जो अंततः परब्रह्म से अभिन्न है क्योंकि वह उन्हीं से उद्भूत है। भगवान् से पृथक् अच्छे तथा बुरे का भाव अच्छे तथा बुरे स्वप्नों के समान है, जो सोते हुए व्यक्ति को अनुभव होते हैं। अच्छे तथा बुरे स्वप्न समान रूप से असत्य हैं। इसी तरह अच्छे तथा बुरे का भगवान् से पृथक् कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है।

भगवान् हर जीव के हितैषी हैं इसलिए उनके आदेश का पालन अच्छा और उनके आदेश का उल्लंघन बुरा है। भगवान् कृष्ण ने पूर्ण *वर्णाश्रम धर्म* बनाया है और *भगवद्गीता* तथा अन्य ग्रंथों में पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण का आदेश पूरा करने से मानव समाज को पूर्ण सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक सफलता प्राप्त होगी। हमें भगवान् के आदेशों के बाहर मूर्खतावश तथाकथित किसी अच्छाई की खोज नहीं करनी चाहिए। ऐसे आदेश ईश्वर के नियम कहलाते हैं और वे धर्म के सार होते हैं।

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।

एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

छाया—छायाएँ; प्रत्याह्वय—प्रतिध्वनि; आभासा:—तथा मिथ्या प्राकट्य; हि—निस्सन्देह; असन्त:—अविद्यमान; अपि—यद्यपि; अर्थ—विचार; कारिण:—उत्पन्न करने वाले; एवम्—उसी तरह से; देह-आदय:—देह इत्यादि; भावा:—भौतिक संकल्पनाएँ; यच्छन्ति—देते हैं; आ-मृत्युत:—मृत्युपर्यन्त; भयम्—भय।

यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के भ्रामक प्रतिबिम्ब ही होती हैं, किन्तु ये प्रतिबिम्ब अर्थपूर्ण या ज्ञेय भाव का सादृश्य उत्पन्न करते हैं। इसी तरह यद्यपि शरीर, मन तथा अहंकार के साथ बद्धजीव की पहचान भ्रामक है, किन्तु यह पहचान मृत्यु पर्यन्त उसके भीतर भय उत्पन्न करती रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं, किन्तु जो व्यक्ति इन्हें झूठे ही सत्य मानते हैं, वे उन व्यक्तियों में प्रबल उद्वेगों को जन्म देती हैं। उसी तरह बद्धजीव भय, काम, क्रोध तथा आशा जैसे उद्वेगों की पकड़ में आ जाता है क्योंकि वह अपने को भ्रान्त अनुभव के कारण शरीर, मन तथा अहंकार से युक्त मानता है। इस तरह इस व्यावहारिक उदाहरण से यह दिखलाया जाता है कि भ्रामक वस्तुएँ भी अत्यन्त संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं। अन्ततोगत्वा हमारे संवेगों को भगवान् में, जो कि नित्य सत्य हैं, लीन हो जाना चाहिए। जब कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो उसका भय सदा सदा के लिए मिट जाता है। तब वह मुक्त जीवन के शुद्ध भावों को भोग सकता है।

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ॥ ६ ॥
निरूपितेऽयं त्रिविधा निर्मूल भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—परमात्मा; एव—एकमात्र; तत् इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृज्यते—उत्पन्न किया जाता है; सृजति—तथा उत्पन्न करता है; प्रभु:—परमेश्वर; त्रायते—रक्षा किया जाता है; त्राति—रक्षा करता है; विश्व-आत्मा—सारे जगत का आत्मा; ह्रियते—खींच लिया जाता है; हरति—खींच लेता है; ईश्वर:—परम नियन्ता; तस्मात्—उसकी अपेक्षा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मन:—आत्मा की तुलना में; अन्यस्मात्—जो स्पष्ट है; अन्य:—अन्य; भाव:—जीव; निरूपित:—निश्चित किया जाता है; निरूपिते—इस प्रकार स्थापित हुआ; अयम्—यह; त्रि-विधा—तीन प्रकार का; निर्मूला—आधाररहित; भाति:—स्वरूप; आत्मनि—परमात्मा के भीतर; इदम्—यह; गुण-मयम्—प्रकृति के गुणों से युक्त; विद्धि—जानो; त्रि-विधम्—तीन प्रकार का; मायया—माया द्वारा; कृतम्—उत्पन्न।

एकमात्र परमात्मा ही इस जगत के परम नियन्ता तथा स्त्रष्टा हैं, अतः अकेले वे भी उत्पन्न

किये हुए हैं। इसी प्रकार जो समस्त जगत का आत्मास्वरूप है, वह पालन भी करता है और पालित भी होता है; हरता है और हरा भी जाता है। यद्यपि परमात्मा हर वस्तु से तथा अन्य हर किसी से पृथक् हैं, किन्तु कोई अन्य जीव उनसे पृथक् रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। तीन प्रकार की प्रकृति के जो उनके भीतर देखी जाती है, प्राकट्य का कोई वास्तविक आधार नहीं है। प्रत्युत तुम यह समझ लो कि तीन गुणों वाली यह प्रकृति उनकी मायाशक्ति का ही प्रतिफल है।

तात्पर्य : परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करके इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। सूर्य-मण्डल तथा उसके विस्ताररूप किरणों की ही तरह भगवान् तथा उनकी विस्तीर्ण शक्ति एक ही समय एक तथा भिन्न है (अचिन्त्य भेदाभेद)। यद्यपि बद्ध आत्माओं को भौतिक द्वैत प्रकृति के गुणों पर टिका जान पड़ता है, किन्तु समग्र भौतिक अभिव्यक्ति वास्तव में भगवान् से अभिन्न है और अन्ततः एक ही आध्यात्मिक स्वभाव वाली है। प्रकृति के गुण इन्द्रिय-विषयों, देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, मित्रों, शत्रुओं इत्यादि को जन्म देते हैं। किन्तु सच्चाई तो यह है कि हर वस्तु भगवान् की शक्ति का ही विस्तार है।

बद्धजीव मूर्खतावश प्रकृति पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, किन्तु भगवान् स्वयं ही एकमात्र असली स्वामी हैं क्योंकि वे प्रकृति से अभिन्न हैं। *श्रीमद्भागवत* में कई स्थलों पर मकड़ी द्वारा अपने मुख से जाल फैलाने का वर्णन आया है। इसी तरह भगवान् अपनी शक्ति से भौतिक जगत को उत्पन्न करते हैं, उसका पालन करते हैं और अन्त में अपने में ही उसे लीन कर लेते हैं। यद्यपि भगवान् हर वस्तु और हर व्यक्ति से ऊपर हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे साथ ही हर वस्तु से अभिन्न हैं, जिस बात का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतएव जब भगवान् सृजन करते हैं, तो वे स्वयं प्रकट होते हैं; जब वे पालन करते हैं, तो स्वयं उन्हीं का पालन होता है और संहार के समय भगवान् ही लीन होते हैं।

यद्यपि भगवान् अपने आध्यात्मिक धाम तथा अपनी भौतिक सृष्टि इन दोनों से अभिन्न हैं, तो भी उनका आध्यात्मिक धाम वैकुण्ठ सदैव भौतिक जगत से श्रेष्ठ बना रहता है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, तो भी आध्यात्मिक शक्ति आनन्द तथा ज्ञान के नित्य रूपों में ढल जाती है, जबकि पदार्थ के क्षणिक रूप बद्धजीव के लिए अज्ञान तथा हताशा के प्रतीक होते हैं, जो उसे

ललचाते रहते हैं। भगवान् स्वयं ही समस्त आनन्द के आगार हैं अतएव अपने भक्तों के प्रिय हैं। हमारी यह कल्पना कि भगवान् हमें पूर्ण आनन्द नहीं दे सकते इस बात पर आधारित है कि हम उनकी प्रकृति के गुणों की उपज के रूप में गलत पहचान करते हैं। फलस्वरूप हम माया के घातक आलिंगन में मिथ्या सुख के पीछे भागते हैं और इस तरह हम कृष्ण के साथ अपने प्रेममय शाश्वत सम्बन्ध से विपथ हो जाते हैं।

एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानने वाला; मत्—मेरे द्वारा; उदितम्—वर्णित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूति में; नैपुणम्—स्थिर हुआ; न निन्दति—आलोचना नहीं करता; न च—न तो; स्तौति—प्रशंसा करता है; लोके—जगत में; चरति—विचरण करता है; सूर्य-वत्—सूर्य की तरह।

जिसने मेरे द्वारा यहाँ पर वर्णित सैद्धान्तिक तथा अनुभूत ज्ञान में स्थिर होने की विधि को भलीभाँति समझ लिया है, वह भौतिक निन्दा या स्तुति में रत नहीं होता। वह इस जगत में सूर्य की तरह सर्वत्र स्वतंत्र होकर विचरण करता है।

तात्पर्य : हर जीव भगवान् से उद्भूत है, अतएव वह स्वभावत: अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) से पूर्ण होता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक अच्छाई तथा बुराई की प्रशंसा या निन्दा करने लगता है, तो उसका भगवद्ज्ञान प्रच्छन्न हो जाता है। शुद्ध भक्त को चाहिए कि भौतिक माया के किसी भी पक्ष से न तो प्रेम दिखाये न घृणा व्यक्त करे, प्रत्युत गुरु के निर्देशन में कृष्ण की सेवा के लिए जो अनुकूल हो उसे स्वीकारे और जो प्रतिकूल हो, उसका त्याग करे।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा नि:सङ्गो विचरेदिह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यक्षेण—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा; अनुमानेन—तार्किक आगम द्वारा; निगमेन—शास्त्र के कथनों द्वारा; आत्म-संविदा—अपनी स्वयं की अनुभूति से; आदि-अन्त-वत्—आदि तथा अन्त से युक्त; असत्—असत्य; ज्ञात्वा—जान कर; नि:सङ्गः—आसक्ति से रहित; विचरेत्—इधर-उधर आये-जाये; इह—इस संसार में।

प्रत्यक्ष अनुभूति, तर्कसंगत निगमन, शास्त्रोक्त प्रमाण तथा आत्म अनुभूति द्वारा मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इस जगत का आदि तथा अन्त है, अतएव यह परम सत्य नहीं है। इस

तरह मनुष्य को निर्लिप्त होकर इस जगत में रहना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार दो मुख्य भौतिक द्वैत हैं। पहला द्वैत है कि मनुष्य भौतिक अच्छा तथा बुरा, सुन्दर तथा कुरूप, धनी तथा निर्धन आदि देखता है। दूसरा है कि मनुष्य सम्पूर्ण जगत को भगवान् से पृथक् अथवा स्वतंत्र देखता है। पहला द्वैत विपर्ययों का है, जो समय के प्रभाव से विलय को प्राप्त होता है और दूसरा द्वैत विलगाव का है, जो केवल सम्मोहन है। जो व्यक्ति इस जगत के क्षणिक मायामय स्वभाव के प्रति पूर्णरूपेण आश्वस्त होता है, वह निर्लिप्त होकर मुक्तभाव से विचरण करता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की सभी प्रकार की भक्तियों में प्रवृत्त होते हुए भी, कभी फँसता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में सदैव उत्फुल्ल तथा प्रसन्न रहता है।

श्रीउद्धव उवाच
नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा का; न—न तो; देहस्य—शरीर का; संसृतिः—संसार; द्रष्टृ-दृश्ययोः—देखने वाले अथवा देखे गये का; अनात्म—जो आत्मा नहीं है; स्व-दृशोः—या उसका जिसको अन्तर्ज्ञान है; ईश—हे भगवान्; कस्य—किसका; स्यात्—हो सकता है; उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है।

श्री उद्धव ने कहा : हे भगवन्, इस भौतिक जगत के लिए यह सम्भव नहीं कि वह द्रष्टारूपी आत्मा का अनुभव हो या दृश्यरूपी शरीर का अनुभव हो। एक ओर जहाँ आत्मा स्वाभाविक तौर पर, पूर्ण ज्ञान से समन्वित होता है, वहीं दूसरी ओर भौतिक शरीर चेतन जीव नहीं है। तो फिर जगत का यह अनुभव किससे सम्बद्ध है?

तात्पर्य : चूँकि जीव शुद्ध आत्मा है, जो स्वभाव से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से पूरित है और चूँकि भौतिक शरीर जैव रासायनिक मशीन (यंत्र) है, जो ज्ञान या निजी चेतना से विहीन है, तो फिर इस जगत के अज्ञान तथा चिन्ता को कौन अनुभव कर रहा होता है? भौतिक जीवन के चेतन अनुभव से इनकार नहीं किया जा सकता, इसलिए उद्धवजी भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न उस विधि को अच्छी तरह से समझने के लिए कर रहे हैं जिससे मोह उत्पन्न होता है।

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।

अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; अगुणः—गुणों से परे; शुद्धः—शुद्ध; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अनावृतः—खुला; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह; दारु-वत्—काष्ठ की तरह; अचित्—अचेतन; देहः—शरीर; कस्य—किसका; इह—इस जगत में; संसृतिः—भौतिक जीवन का अनुभव।

आत्मा अव्यय, दिव्य, शुद्ध, आत्म-प्रकाशित तथा किसी भौतिक वस्तु से कभी न ढका जाने वाला है। यह अग्नि के समान है। किन्तु अचेतन शरीर, काष्ठ की तरह मन्द है और अनभिज्ञ है। अतएव इस जगत में वह कौन है, जो वास्तव में भौतिक जीवन का अनुभव करता है?

तात्पर्य : यहाँ पर *अनावृत:* तथा *दारुवत्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। अग्नि कभी अंधकार से आवृत नहीं हो सकती क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही प्रकाश करना है। इसी तरह आत्मा *स्वयंज्योति:* अर्थात् आत्म-प्रकाशित है। इस तरह आत्मा दिव्य है—इसे भौतिक जीवनरूपी अंधकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता। दूसरी ओर, भौतिक शरीर, जो कि काष्ठ की तरह है, स्वभाव से मन्द तथा प्रकाश रहित होता है। इसे अपने आप में जीवन की कोई भिज्ञता नहीं रहती। यदि आत्मा भौतिक जीवन से परे है और भौतिक शरीर को अपना चेत भी नहीं है, तो प्रश्न उठता है :भौतिक जगत विषयक हमारा अनुभव वस्तुत: किस तरह होता है?

श्रीभगवानुवाच

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यावत्—जब तक; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राणैः—तथा प्राण के द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; सन्निकर्षणम्—आकर्षण; संसारः—भौतिक जगत; फल-वान्—फल से युक्त; तावत्—उस अवधि तक; अपार्थः—अर्थहीन; अपि—यद्यपि; अविवेकिनः—विवेकहीन व्यक्ति के लिए।

भगवान् ने कहा : जब तक मूर्ख आत्मा भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा प्राण के प्रति आकृष्ट रहता है, तब तक उसका भौतिक अस्तित्व विकसित होता रहता है यद्यपि अन्ततोगत्वा यह अर्थहीन होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *सन्निकर्षण* शब्द सूचित करता है कि शुद्ध आत्मा स्वेच्छा से अपने को भौतिक शरीर से यह सोचते हुए जोड़ लेता है कि यह सबसे फलप्रद व्यवस्था है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह स्थिति *अपार्थ* अर्थात् व्यर्थ होती है जब तक मनुष्य अपने देहधारी पद को भगवान् की

प्रेमाभक्ति में नहीं लगाता। उस समय मनुष्य का सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से होता है, शरीर से नहीं, जो मनुष्य के उच्चतर उद्देश्य को पूरा करने का यंत्र मात्र बन जाता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थित; अपि—यद्यपि; संसृतिः—भौतिक जगत; न—नहीं; निवर्तते—मिट जाता है; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों का; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वस्तुतः जीव भौतिक जगत से परे है। किन्तु भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने की मनोवृत्ति के कारण, उसका भौतिक अस्तित्व मिटता नहीं और वह सभी प्रकार की हानियों से प्रभावित होता है, जिस तरह स्वप्न में घटित होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक तथा अन्य ऐसे ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र आये हैं—यथा ३.२७.४, ४.२९.३५, ७३ तथा ११.२२.५६। वास्तव में, यह श्लोक माया के सार को पूरी तरह बतलाने वाला है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—जो नहीं जगा हुआ है उसके लिए; प्रस्वापः—नींद; बहु—अनेक; अनर्थ—अवांछित अनुभव; भृत्—प्रस्तुत करते हुए; सः—वही स्वप्न; एव—निस्सन्देह; प्रतिबुद्धस्य—जगे हुए के लिए; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—संशय; कल्पते—उत्पन्न करता है।

यद्यपि स्वप्न देखते समय मनुष्य को अनेक अवांछित वस्तुओं का अनुभव होता है, किन्तु जग जाने पर वह स्वप्न के अनुभवों से तनिक भी उद्विग्न नहीं होता।

तात्पर्य : मुक्त आत्मा को भी इस जगत में रहते हुए भौतिक वस्तुओं का अवलोकन करना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने के कारण, वह समझता है कि इन्द्रिय-सुख तथा दुख स्वप्न की तरह अर्थहीन होते हैं। इस तरह मुक्तात्मा मोह से कभी ग्रस्त नहीं होता।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; हर्ष—हर्ष; भय—डर; क्रोध—क्रोध; लोभ—लालच; मोह—संशय; स्पृहा—लालसा; आदय:—इत्यादि; अहङ्कारस्य—मिथ्या अहंकार के; दृश्यन्ते—वे प्रतीत होते हैं; जन्म—जन्म; मृत्यु:—मृत्यु; च—तथा; न—नहीं; आत्मन:—आत्मा का।

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, लालसा, जन्म तथा मृत्यु मिथ्या अहंकार के अनुभव हैं, शुद्ध आत्मा के नहीं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार सूक्ष्म भौतिक मन तथा स्थूल भौतिक शरीर के साथ शुद्ध आत्मा की मोहमयी पहचान है। इस मोहमयी पहचान के फलस्वरूप, बद्धात्मा खोई वस्तुओं के लिए शोक, प्राप्त हुई वस्तुओं पर हर्ष, अशुभ वस्तुओं पर भय, अपनी इच्छाओं की विफलता पर क्रोध और इन्द्रियतृप्ति के लिए लोभ का अनुभव करता है। इसलिए ऐसे झूठे आकर्षणों तथा विकर्षणों से मोहग्रस्त बद्धजीव को अन्य शरीर स्वीकार करने पड़ते हैं जिसका अर्थ है उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु में से निकलना पड़ता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि ऐसी संसारी भावनाओं का शुद्ध आत्मा से काई सरोकार नहीं होता क्योंकि शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने को लगाना है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—जीवन-वायु; मन:—तथा मन से; अभिमान:—जो झूठे ही अपनी पहचान बनाता है; जीव:—जीव; अन्त:—भीतर स्थित; आत्मा—आत्मा; गुण—अपने भौतिक गुण; कर्म—तथा कर्म के अनुसार; मूर्ति:—उसके स्वरूप की कल्पना करते हुए; सूत्रम्—सूत्र तत्त्व; महान्—प्रकृति का आदि रूप; इति—इस प्रकार; उरुधा—भिन्न भिन्न तरीकों से; इव—निस्सन्देह; गीत:—वर्णित; संसारे—भौतिक जीवन में; आधावति—इधर-उधर दौड़ता है; काल—समय के; तन्त्र:—कठोर नियंत्रण में।

जो जीव अपनी पहचान गलती से अपने शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन से करता है और जो इन आवरणों के भीतर रहता है, वह अपने ही बद्ध भौतिक गुणों तथा कर्म का रूप धारण करता है। वह समग्र भौतिक भक्ति के सापेक्ष विविध उपाधियाँ ग्रहण करता है और इस तरह, परम काल के कठोर नियंत्रण में, संसार के भीतर इधर-उधर दौने के लिए बाध्य होता है।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार जो जीव को संसार का कष्ट भोगने के लिए बाध्य करता है, यहाँ पर भौतिक शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन के साथ मोहमयी पहचान के रूप में विस्तार से वर्णित हुआ है। *काल* शब्द प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का द्योतक है, जो बद्धात्माओं पर सीमित कालखंडों को आरोपित

करता है और उन्हें प्रकृति के नियमों में कस कर बाँध रखता है। मोक्ष कोई निर्विशेष अनुभव नहीं है; मोक्ष तो मनुष्य के नित्य शरीर, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की भगवान् से संगति है। हम अपने नित्यमुक्त व्यक्तित्व को मिथ्या अहंकार के कल्मष से मुक्त, कृष्णभावनामृत में भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित करके पुन: जागृत कर सकते हैं। जब शुद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार को स्वीकार करता है, तो उसे भौतिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत में अपने आपको भगवान् कृष्ण का नित्य दास स्वीकार करने पर, मिथ्या अहंकार को स्वत: जीता जा सकता है।

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवच:प्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्ण: ॥ १७॥

शब्दार्थ

अमूलम्—नींवरहित; एतत्—यह (मिथ्या अहंकार); बहु-रूप—नाना रूपों में; रूपितम्—सुनिश्चित; मनः—मन; वचः—वाणी; प्राण—जीवन-वायु; शरीर—तथा स्थूल शरीर का; कर्म—कार्य; ज्ञान—दिव्य ज्ञान की; असिना—तलवार से; उपासनया—(गुरु की) उपासना से; शितेन—तीक्ष्ण की हुई; छित्त्वा—काट कर; मुनिः—गम्भीर साधु; गाम्—इस पृथ्वी पर; विचरति—विचरण करता है; अतृष्णः—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

यद्यपि मिथ्या अहंकार का कोई यथार्थ आधार नहीं है, किन्तु यह अनेक रूपों में देखा जाता है—यथा मन, वाणी, प्राण तथा शरीर के कार्यों के रूप में। किन्तु प्रामाणिक गुरु की उपासना के द्वारा तेज की हुई दिव्य ज्ञानरूपी तलवार से, गम्भीर साधु इस मिथ्या पहचान को काट देता है और इस जगत में समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निवास करता है।

तात्पर्य : *बहु-रूप-रूपितम्* ''अनेक रूपों में लक्षित'' से यह भी सूचित होता है कि मिथ्या अहंकार इस विश्वास में भी प्रकट होता है कि कोई व्यक्ति देवता, महापुरुष, सुन्दर महिला, दुखियारा श्रमिक, बाघ, पक्षी, कीड़ा इत्यादि है। मिथ्या अहंकारवश, शुद्ध आत्मा किसी भौतिक आवरण को अपना चरम आत्मा मान लेता है किन्तु ऐसी अज्ञानता को इस श्लोक में वर्णित विधि द्वारा दूर किया जा सकता है।

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं

कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; विवेकः—विवेक; निगमः—शास्त्र; तपः—तपस्या; च—तथा; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष अनुभूति; ऐतिह्यम्—पुराणों का ऐतिहासिक विवरण; अथ—तथा; अनुमानम्—तर्क; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; अस्य—इस सृष्टि के; यत्—जो; एव—निस्सन्देह; केवलम्—अकेला; कालः—काल का नियामक कारक; च—तथा; हेतुः—चरम कारण; च—तथा; तत्—वह; एव—अकेला; मध्ये—बीचमें।

असली आध्यात्मिक ज्ञान तो आत्मा और पदार्थ के विवेक पर आधारित है और इसका अनुशीलन शास्त्रों के प्रमाण, तपस्या, प्रत्यक्ष अनुभूति, पुराणों के ऐतिहासिक वृत्तान्तों के संग्रहण तथा तार्किक निष्कर्षों द्वारा किया जाता है। परब्रह्म जो अकेला इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व विद्यमान था और जो इसके संहार के बाद भी बचा रहेगा, वही काल तथा परम कारण भी है। इस सृष्टि के मध्य में भी एकमात्र परब्रह्म वास्तविक सत्य है।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानी तथा दार्शनिक उस चरम भौतिक कारण या सिद्धान्त की खोज में बुरी तरह से लगे हुए हैं जिसे यहाँ पर *काल* कहा गया है। कार्य-कारण की भौतिक विधि कालक्रम में घटित होती है। दूसरे शब्दों में, काल भौतिक कार्य-कारण के लिए प्रेरक होता है। यह काल परमात्मा की अभिव्यक्ति है, जो विराट जगत में व्याप्त है और उसे सहारा देता है। यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधि का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन हुआ है और जो गम्भीर विद्वान हैं, वे यहाँ पर भगवान् द्वारा उद्घाटित दिव्य ज्ञान-शास्त्र का लाभ उठायेंगे।

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हिरण्यम्—स्वर्ण; सु-अकृतम्—बनी वस्तु के रूप में अप्रकट; पुरस्तात्—इसके पूर्व; पश्चात्—बाद में; च—तथा; सर्वस्य—हर वस्तु का; हिरण्-मयस्य—सोने से बनी; तत्—वह सोना; एव—एकमात्र; मध्ये—बीच में; व्यवहार्यमाणम्—उपयोग में लाने पर; नाना—विविध; अपदेशैः—उपाधियों के रूप में; अहम्—मैं; अस्य—इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड का; तद्वत्—उसी तरह से।

जिस तरह सोने की वस्तुएँ तैयार होने के पूर्व, एकमात्र सोना रहता है और जब ये वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, तो भी एकमात्र सोना बचा रहता है और जब विविध नामों से व्यवहार में लाये जाने पर भी एकमात्र सोना ही अनिवार्य सत्य होता है, उसी तरह इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व, इसके

संहार के बाद और इसके अस्तित्व के समय केवल मैं विद्यमान रहता हूँ।

तात्पर्य : सोने से अनेक तरह के आभूषण, सिक्के तथा अन्य विलासपूर्ण वस्तुएँ बनाई जाती हैं। किन्तु प्रत्येक अवस्था पर—बनाने के पूर्व, बनाते समय, व्यवहार के समय तथा उसके बाद—अनिवार्य सत्य सोना ही होता है। इसी तरह से भगवान् अनिवार्य सत्य हैं—वे हर वस्तु के गतिमान तथा घटक कारण के रूप में हैं। भौतिक सृष्टि के समय भगवान् अपनी शक्ति को केवल गति प्रदान करते हैं, जो उनसे भिन्न नहीं है।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकर्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विज्ञानम्—(मन जिसका लक्षण है) पूर्ण ज्ञान; एतत्—यह; त्रि-अवस्थम्—तीन अवस्थाओं (जाग्रत, सुप्ति, सुषुप्ति) में विद्यमान; अङ्ग—हे प्रिय उद्धव; गुण-त्रयम्—तीन गुणों के माध्यम से प्रकट; कारण—सूक्ष्म कारण के रूप में (अध्यात्म); कार्य—स्थूल उत्पाद (अधिभूत); कर्तृ—तथा करने वाला (आधिदैव); समन्वयेन—एक के बाद एक-एक में; व्यतिरेकतः—पृथक् रूप में; च—तथा; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; तुर्येण—चौथा कारण; तत्—वह; एव—ही; सत्यम्—परब्रह्म है।

भौतिक मन चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, सुप्ति तथा सुषुप्ति—में प्रकट होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न हैं। फिर मन तीन भिन्न भिन्न भूमिकाओं में—द्रष्टा, दृश्य तथा अनुभूति के नियामक रूप में—प्रकट होता है। इस तरह मन तीनों उपाधियों में लगातार विविध प्रकारों से प्रकट होता है। किन्तु इन सबों से भिन्न एक चौथा तत्त्व भी विद्यमान रहता है और वही परब्रह्म होता है।

तात्पर्य : *कठ उपनिषद* (२.२.१५) में कहा गया है—*तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति*—उनकी मूल ज्योति के बल पर हर वस्तु अपना प्रकाश फैलाती है और उनका प्रकाश इस ब्रह्माण्ड की हर वस्तु को प्रकाशित करता है। इस तरह अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता की पूरी परिधि भगवान् की अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता का तुच्छ विस्तार है।

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्

तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥ २१॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यत्—जो; पुरस्तात्—इससे पहिले; उत—न तो; यत्—जो; न—नहीं; पश्चात्—बाद में; मध्ये—बीच में; च—तथा; तत्—वह; न—नहीं विद्यमान रहता; व्यपदेश-मात्रम्—उपाधि मात्र; भूतम्—उत्पन्न; प्रसिद्धम्—विख्यात बनाया गया; च—तथा; परेण—दूसरे के द्वारा; यत् यत्—जो जो; तत्—वह; एव—केवल; तत्—वह अन्य; स्यात्—वास्तव में है; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मनीषा—विचार, मत।

जो भूतकाल में विद्यमान नहीं था और भविष्य में भी विद्यमान नहीं रहेगा, उसका उसकी पूरी अवधि में कोई अस्तित्व नहीं होता; वह केवल ऊपरी उपाधि होता है। मेरे मत में जो कुछ उत्पन्न किया जाता है तथा किसी अन्य वस्तु से उद्घाटित किया जाता है, वही अन्ततः एकमात्र अन्य वस्तु होता है।

तात्पर्य : यद्यपि सारी भौतिक वस्तुएँ, यथा हमारे शरीर, नश्वर हैं और इस तरह मिथ्या हैं, किन्तु यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति की असली अभिव्यक्ति होता है। इस जगत की मूल वस्तु या यथार्थता तो स्वयं भगवान् हैं जबकि बद्धजीवों द्वारा आरोपित नश्वर उपाधियाँ मोह (माया) हैं। इस तरह हम अपने आपको अमरीकी, रूसी, अंग्रेज, जर्मन, भारतीय, श्याम, श्वेत, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि मानते हैं। वस्तुतः हम भगवान् की तटस्था शक्ति हैं किन्तु भगवान् की अपरा भौतिक शक्ति का विदोहन करने के प्रयास के फलस्वरूप, माया में फँस गये हैं। हर वस्तु को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जाना चाहिए क्योंकि वे ही इस तथा अन्य सारे जगतों के अनिवार्य सत्य हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एसः ।
ब्रह्म स्वयं ज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अविद्यमानः—वास्तव में विद्यमान न होते हुए; अपि—यद्यपि; अवभासते—प्रतीत होता है; यः—जो; वैकारिकः—विकारों की अभिव्यक्ति; राजस—रजोगुण का; सर्गः—सृजन; एषः—यह; ब्रह्म—परब्रह्म; स्वयम्—अपने में स्थित; ज्योतिः—प्रकाशवान्; अतः—इसलिए; विभाति—प्रकट होता है; ब्रह्म—परब्रह्म; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; अर्थ—विषय; आत्म—मन; विकार—तथा पाँच तत्त्वों के रूपान्तरों का; चित्रम्—विविधता के रूप में।

वास्तव में विद्यमान न होते हुए भी, रजोगुण से उत्पन्न रूपान्तरों की यह अभिव्यक्ति सत्य प्रतीत होती है क्योंकि स्वयं-व्यक्त, स्वयं-प्रकाशित परब्रह्म अपने को नाना प्रकार की इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों, मन तथा शरीर के तत्त्वों के रूप में प्रकट करता है।

तात्पर्य : समग्र भौतिक प्रकृति अर्थात् *प्रधान* मूलतः अभिन्न तथा जड़ है किन्तु बाद में इसमें विकार आ जाते हैं जब भगवान् अपने काल अभिकर्ता के माध्यम से इस पर दृष्टिपात करते हैं और रजोगुण को जागृत करते हैं। इस तरह भौतिक रूपान्तर होता है और भगवान् की अपरा शक्ति के रूप में प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् के निजी धाम में नित्य वैविध्य रहता है, जो परब्रह्म का आत्म-प्रकाशित आन्तरिक ऐश्वर्य है और भौतिक सृजन, रूपान्तर या संहार के अधीन नहीं है। इस तरह भौतिक जगत एक ही समय परब्रह्म से अभेद तथा पृथक् है।

एवं स्फुतं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्फुटम्—स्पष्टतः; ब्रह्म—परब्रह्म का; विवेक-हेतुभिः—विवेक तथा तर्कों द्वारा; पर—अन्य धारणाओं से गलत पहचान का; अपवादेन—निषेध द्वारा; विशारदेन—पटु; छित्त्वा—काट कर; आत्म—आत्मा की पहचान के बारे में; सन्देहम्—सन्देह को; उपारमेत—बचे; स्व-आनन्द—अपने दिव्य आनन्द में; तुष्टः—सन्तुष्ट; अखिल—समस्त; कामुकेभ्यः—काम-वासना वाली वस्तुओं से।

इस तरह विवेकशील तर्क द्वारा परब्रह्म की अनन्य स्थिति को अच्छी तरह समझ करके मनुष्य को चाहिए कि पदार्थ से अपनी गलत पहचान का कुशलतापूर्वक निषेध करे और आत्मा की पहचान विषयक सारे संशयों को छिन्न-भिन्न कर डाले। आत्मा के स्वाभाविक आनन्द से तुष्ट होते हुए मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों के काम-वासनामय कार्यों से दूर रहना चाहिए।

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुर्जलम्हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्मा—आत्मा; वपुः—शरीर; पार्थिवम्—पृथ्वी से बना; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; देवाः—अधिष्ठाता देवता; हि—निस्सन्देह; असुः—प्राण-वायु; वायुः—बाह्य वायु; जलम्—पानी; हुत-आशः—अग्नि; मनः—मन; अन्न-मात्रम्—केवल पदार्थ होने से; धिषणा—बुद्धि; च—तथा; सत्त्वम्—भौतिक चेतना; अहङ्कृतिः—मिथ्या अहंकार; खम्—आकाश; क्षितिः—पृथ्वी; अर्थ—इन्द्रिय अनुभूति के विषय; साम्यम्—प्रकृति की आदि अभिन्नित अवस्था।

पृथ्वी से बना भौतिक शरीर असली आत्मा नहीं है, न ही इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृ देवता या प्राण-वायु; न बाह्य वायु, जल, अथवा अग्नि या मन ही हैं। ये सब पदार्थ हैं। इसी तरह न तो

मनुष्य की बुद्धि, न भौतिक चेतना, न अहंकार, न ही आकाश या पृथ्वी के तत्त्व, न ही इन्द्रिय अनुभूति के विषय, न भौतिक साम्य की आदि अवस्था ही को आत्मा की वास्तविक पहचान माना जा सकता है।

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

समाहितैः—ध्यान में पूरी तरह एकाग्र; कः—क्या; करणैः—इन्द्रियों द्वारा; गुण-आत्मभिः—जो गुणों की अभिव्यक्तियाँ हैं; गुणः—गुण; भवेत्—होगा; मत्—मेरा; सु-विविक्त—जिसने अच्छी तरह निश्चित कर लिया है; धाम्नः—पहचान; विक्षिप्यमाणैः—जिन्हें विक्षुब्ध किया जा रहा है; उत—दूसरी ओर; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; दूषणम्—कलंक; घनैः—बादलों द्वारा; उपेतैः—आये हुए; विगतैः—अथवा जो जा चुके हैं; रवेः—सूर्य का; किम्—क्या।

जिसने मेरी पहचान भगवान् के रूप में कर ली है, उसके लिए इसमें क्या श्रेय रखा है यदि उसकी इन्द्रियाँ, जो गुणों से उत्पन्न हैं, ध्यान में पूरी तरह एकाग्र हों? दूसरी ओर, इसमें कौन-सा कलंक लगता है यदि उसकी इन्द्रियाँ चलायमान होती हैं? निस्सन्देह, इससे सूर्य का क्या बनता-बिगड़ता है यदि बादल आते और जाते हैं?

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त नित्य ही मुक्त होता है क्योंकि वह भगवान् के दिव्य पुरुषत्व एवं धाम को भलीभाँति समझे रहता है और इस जगत में भगवान् के मिशन की सेवा में सदैव लगा रहता है। यद्यपि भगवान् के मिशन में लगे रहते हुए, वह भौतिक जगत की घटनाओं से चलायमान प्रतीत होता है किन्तु इससे उसके भगवान् के नित्य सेवक होने पर कोई आँच नहीं आती जिस तरह सूर्य के उच्च पद में कोई परिवर्तन नहीं आता चाहे वह बाह्य रूप में बादलों द्वारा ढका हो।

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; वायु—वायु; अनल—अग्नि; अम्बु—जल; भू—तथा पृथ्वी के; गुणैः—गुणों से; गत-आगतैः—आने-जाने वाले; वा—अथवा; ऋतु-गुणैः—ऋतुओं (यथा शीत, ग्रीष्म इत्यादि) के गुणों द्वारा; न सज्जते—नहीं

बँधता; तथा—उसी तरह; अक्षरम्—परब्रह्म; सत्त्व-रजः-तमः—सतो, रजो तथा तमोगुणों के; मलैः—दूषण द्वारा; अहम्-मतेः—मिथ्या अहंकार की भावना का; संसृति-हेतुभिः—जगत के कारणों द्वारा; परम्—परम।

आकाश अपने में से होकर गुजरने वाली वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के विविध गुणों को और उसी के साथ उष्मा तथा शीत के गुणों को भी प्रदर्शित कर सकता है, जो ऋतुओं के अनुसार निरन्तर आते-जाते रहते हैं। फिर भी, आकाश कभी भी इन गुणों से बँधता नहीं। इसी प्रकार परब्रह्म सतो, रजो तथा तमोगुणों के दूषणों से कभी बँधता नहीं क्योंकि ये मिथ्या अहंकार का भौतिक विकार उत्पन्न करने वाले हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अहं-मतेः* शब्द उस बद्धजीव का द्योतन करता है, जो किसी विशेष शरीर के मिथ्या अहंकार के साथ प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहते हैं और इस तरह वे न तो भौतिक शरीर से कभी आवृत होते हैं और न ही मिथ्या अहंकार के वशीभूत होते हैं। जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है, भगवान् नित्य अच्युत तथा शुद्ध हैं।

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; सङ्गः—संगति; परिवर्जनीयः—बहिष्कार कर देनी चाहिए; गुणेषु—गुणों से; माया-रचितेषु—मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न; तावत्—तब तक; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति द्वारा; दृढेन—दृढ़; यावत्—जब तक; रजः—वासनामय आकर्षण; निरस्येत—दूर हो जाय; मनः—मन की; कषायः—गर्द, धूल।

तिस पर भी मनुष्य जब तक दृढ़तापूर्वक मेरी भक्ति का अभ्यास करके अपने मन से भौतिक काम-वासना के कल्मष को पूरी तरह निकाल नहीं फेंकता है, तब तक उसे इन भौतिक गुणों की संगति करने में सावधानी बरतनी चाहिए जो मेरी मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तथापि* शब्द यह सूचित करता है कि यद्यपि प्रकृति भगवान् से अभिन्न है (जैसाकि इस अध्याय में विस्तार से वर्णित है), किन्तु जिसे अब भी भौतिक इच्छा पर विजय पानी है उसे भौतिक वस्तुओं को भगवान् से अभिन्न घोषित करते हुए कृत्रिम रूप से उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। इस तरह कृष्णभावनाभावित होने के इच्छुक व्यक्ति को स्त्रियों की बिना रोक-टोक संगति, यह दावा करते हुए कि वे भगवान् से अभिन्न हैं, नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस तरह उच्चतम भक्त की

नकल करने से वह इन्द्रिय भोक्ता बन जायेगा। जो नवदीक्षित भक्त अपने को मुक्त समझ लेता है, वह रजोगुण से प्रेरित होकर अपने पद पर गर्व करने लगता है और इस तरह वह भगवान् की असली भक्ति की प्रक्रिया की उपेक्षा करने लगता है। मनुष्य को उच्च अधिकारियों के निर्देशन में भगवान् की भक्ति में दृढ़ तथा स्थायी होना चाहिए। तभी कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना आसान तथा सफल होगा।

यथामयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः सन्तुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आमयः—रोग; असाधु—अपूर्ण रूप से; चिकित्सितः—उपचार किया गया; नृणाम्—मनुष्यों के; पुनः पुनः—बारम्बार; सन्तुदति—दुख देता है; प्ररोहन्—ऊपर उठते हुए; एवम्—उसी तरह; मनः—मन; अपक्व—अशुद्ध; कषाय—दूषण का; कर्म—कर्मों से; कु-योगिनम्—अपूर्ण योगी; विध्यति—तंग करता है; सर्व-सङ्गम्—जो सभी तरह की भौतिक आसक्तियों से पूर्ण है।.

जिस तरह ठीक से उपचार न होने पर रोग फिर से लौट आता है और रोगी को बारम्बार कष्ट देता है, उसी तरह यदि मन को विकृत प्रवृत्तियों से पूरी तरह शुद्ध नहीं कर लिया जाता, तो वह भौतिक वस्तुओं में लिप्त रहने लगता है और अपूर्ण योगी को बारम्बार तंग करता रहता है।

तात्पर्य : *सर्व-संगम्* मनुष्य के तथाकथित भोग की वस्तुओं से यथा सन्तान, स्त्री, धन, राष्ट्र तथा मित्रों के साथ बुरी तरह आसक्ति होने का द्योतक है। जो व्यक्ति सन्तान, स्त्री इत्यादि के साथ अपनी आसक्ति बढ़ा लेता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति करते हुए भी या तो *कुयोगी* समझा जाता है जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है या मोहग्रस्त नौसिखिया होता है, जो अपने हृदय के रोग का, जिसे भौतिक आसक्ति कहते हैं, ठीक से उपचार करने में असफल रहा है। यदि वह बारम्बार भौतिक आसक्ति में गिरता रहता है, तो वह अपने हृदय से अज्ञान के अंधकार को दूर करने में असफल रहा है।

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कु-योगिनः—योगाभ्यासी जिसका ज्ञान अपूर्ण है; **ये**—जो; **विहित**—आरोपित; **अन्तरायैः**—बाधाओं द्वारा; **मनुष्य-भूतैः**—मनुष्यों (उनके सम्बन्धियों, शिष्यों इत्यादि) के रूप में; **त्रिदश**—देवताओं द्वारा; **उपसृष्टैः**—भेजे गये; **ते**—वे; **प्राक्तन**—पूर्वजन्म का; **अभ्यास**—संचित अभ्यास के; **बलेन**—बल पर; **भूयः**—एक बार फिर; **युञ्जन्ति**—प्रवृत्त होते हैं; **योगम्**—योग में; **न**—कभी नहीं; **तु**—किन्तु; **कर्म-तन्त्रम्**—सकाम कर्म का पाश।

कभी कभी अपूर्ण योगी की उन्नति पारिवारिक सदस्यों, शिष्यों अथवा अन्यों के प्रति आसक्ति के कारण रुक जाती है क्योंकि ऐसे लोग इसी प्रयोजन से ईर्ष्यालु देवताओं द्वारा भेजे जाते हैं। किन्तु अपनी संचित उन्नति के बल पर ऐसे अपूर्ण योगी अगले जन्म में अपना योगाभ्यास फिर चालू कर देते हैं। वे फिर कभी सकाम कर्म के जाल में नहीं फँसते।

तात्पर्य : कभी कभी संन्यासी तथा अन्य आध्यात्मिक गुरुजन उन चापलूस अनुयायियों तथा शिष्यों द्वारा विमोहित कर लिए जाते हैं, जिन्हें देवतागण अपूर्ण ज्ञान वाले आध्यात्मिक नेताओं को दुचित्ता बनाने के लिए भेजते हैं। इसी तरह कभी कभी अपने ही पारिवारिक सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति से आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। भले ही अपूर्ण योगी इस जीवन में अपने योगाभ्यास से च्युत हो जाय, किन्तु वह अपने संचित गुण के बल पर अगले जीवन में उस पद को पुनः प्राप्त कर लेगा जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है। *न तु कर्म-तन्त्रम्* शब्द यह इंगित करते हैं कि च्युत योगी को सकाम कर्म की निम्न अवस्थाओं से होकर नहीं गुजरना होता और क्रमशः योगाभ्यास में नहीं लगना पड़ता। प्रत्युत वह जहाँ पर अपने योगाभ्यास को छोड़े रहता है, वहीं से पुनः उसे चालू कर देता है। निस्सन्देह, यहाँ पर दी गई सुविधा के बल पर च्युत होने की कल्पना नहीं करनी चाहिए, अपितु इसी जीवन में पूर्ण बनने का प्रयास करना चाहिए। विशेष रूप से संन्यासियों को अपने हृदय से विषय-वासना की हृदय-ग्रंथि दूर करनी चाहिए और चापलूस अनुयायियों या शिष्याओं के चंगुल से बचना चाहिए क्योंकि ये लोग देवताओं द्वारा उस तथाकथित आध्यात्मिक नेता का पर्दाफाश करने के लिए भेजे जाते हैं, जो कृष्णभावनाभावित ज्ञान में अधूरा होता है।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपतात् ।
न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्म—भौतिक कार्य; क्रियते—कराया जाता है; च—भी; जन्तुः—जीव; केन अपि—किसी न किसी शक्ति के द्वारा; असौ—वह; चोदितः—प्रेरित; आ-निपातात्—मृत्युपर्यन्त; न—नहीं; तत्र—वहाँ; विद्वान्—चतुर व्यक्ति; प्रकृतौ—प्रकृति में; स्थितः—स्थित; अपि—भी; निवृत्त—त्यागने के बाद; तृष्णः—भौतिक इच्छा से; स्व—अपनी; सुख—सुख का; अनुभूत्या—अनुभव।

सामान्य जीव भौतिक कर्म करता है और ऐसे कर्म के फल से रूपान्तरित हो जाता है। इस तरह वह विविध इच्छाओं से प्रेरित होकर अपनी मृत्यु तक सकाम कर्म करता रहता है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अपने स्वाभाविक आनन्द का अनुभव किये रहने से, सारी भौतिक इच्छाओं को त्याग देता है और सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

तात्पर्य : स्त्री के साथ यौन संसर्ग के कारण मनुष्य बारम्बार स्त्री का भोग करना चाहता है और मृत्यु के समय तक वह कामुक बना रहता है। इसी तरह, परिवार तथा मित्रों की संगति से भौतिक आसक्ति की गाँठ अत्यन्त कड़ी पड़ जाती है। इस तरह सकाम कर्म के फल मनुष्य को भौतिक पराजय के चक्र में अधिकाधिक बाँधते जाते हैं। किन्तु अपने हृदय के भीतर भगवान् से सम्पर्क बनाये रखने वाला विद्वान व्यक्ति भौतिक कर्म की चरम निराशा तथा अपने पापकर्मों के कारण अगले जीवन में सुअरी या कुतिया के गर्भ में प्रवेश करने के खतरे से परिचित रहता है। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त है, वह अपने को जगत का भोक्ता नहीं मानता, प्रत्युत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की शक्ति का नगण्य विस्तार मात्र और अपने को तो भगवान् का विनीत सेवक मानता है।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत्किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तिष्ठन्तम्—खड़े खड़े; आसीनम्—बैठे हुए; उत—अथवा; व्रजन्तम्—विचरण करते हुए; शयानम्—लेटे हुए; उक्षन्तम्—मूत्र त्याग करते हुए; अदन्तम्—खाते हुए; अन्नम्—भोजन; स्व-भावम्—उसके बद्ध स्वभाव से प्रकट; अन्यत्—दूसरा; किम् अपि—जो भी; ईहमानम्—सम्पन्न करते हुए; आत्मानम्—अपने शरीर को; आत्म-स्थ—सच्चे आत्मा में स्थित; मतिः—चेतना; न वेद—नहीं पहचानता।

बुद्धिमान व्यक्ति, जिसकी चेतना आत्मा में स्थित है, अपनी शारीरिक क्रियाओं पर भी ध्यान नहीं दे पाता। खड़े, बैठे, चलते, लेटे, मूत्र त्याग करते, भोजन करते या अन्य शारीरिक कार्य करते हुए भी, वह समझता है कि शरीर अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; स्म—कभी; पश्यति—देखता है; असत्—अशुद्ध; इन्द्रिय-अर्थम्—इन्द्रिय-विषयों को; नाना—द्वैत पर आधारित होने से; अनुमानेन—तर्क द्वारा; विरुद्धम्—विरोध किया हुआ; अन्यत्—वास्तविकता से भिन्न; न मन्यते—नहीं मानता; वस्तुतया—असली के रूप में; मनीषी—बुद्धिमान मनुष्य; स्वाप्नम्—स्वप्न का; यथा—जिस तरह, मानो; उत्थाय—जग कर; तिरोदधानम्—जो तिरोधान होने की विधि है।

यद्यपि स्वरूपसिद्ध आत्मा कभी कभी अशुद्ध वस्तु या कर्म को देख सकता है, किन्तु वह इसे सत्य नहीं मानता। अशुद्ध इन्द्रिय-विषयों को तर्क द्वारा मायावी भौतिक द्वैत पर आधारित समझ कर, बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें सत्य से सर्वथा विपरीत और पृथक् मानता है, जिस तरह निद्रा से जगा हुआ मनुष्य अपने अस्पष्ट स्वप्न को देखता है।

तात्पर्य : विज्ञ पुरुष स्वप्न के अनुभव तथा अपने असली जीवन में स्पष्ट भेद कर सकता है। इसी तरह *मनीषी* या विद्वान व्यक्ति दूषित इन्द्रिय-विषयों को भगवान् की मायाशक्ति की सृष्टियों के स्पष्ट रूप में देखता है, वास्तविक सत्य के रूप में नहीं। स्वरूपसिद्ध बुद्धि की यह व्यावहारिक परीक्षा है।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—इसके पहले; गृहीतम्—स्वीकृत; गुण—गुणों के; कर्म—कर्मों के द्वारा; चित्रम्—विविधतापूर्ण; अज्ञानम्—अज्ञान; आत्मनि—आत्मा पर; अविविक्तम्—अभिन्न रूप में आरोपित; अङ्ग—हे उद्धव; निवर्तते—बन्द कर देता है; तत्—वह; पुनः—फिर; ईक्षया—ज्ञान द्वारा; एव—ही; न गृह्यते—स्वीकार नहीं किया जाता; न—नहीं; अपि—निस्सन्देह; विसृज्य—तिरस्कार करके; आत्मा—आत्मा।

भौतिक अविद्या को, जो प्राकृतिक गुणों के कार्यों द्वारा नाना रूपों में विस्तार पाती है, बद्धजीव गलती से आत्मा मान बैठता है। किन्तु हे उद्धव, आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन से यही अविद्या मोक्ष के समय समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर, नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जा सकता है और न ही त्यागा जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जाता है या भौतिक उपाधि की तरह आरोपित होता है, न ही इसे कभी त्यागा जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता*

में कहा गया है, आत्मा शाश्वत रूप से वही रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। किन्तु प्रकृति के गुण मनुष्य के पूर्वकर्म के अनुसार स्थूल भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म मन की रचना करते हैं और ये स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर आत्मा पर लाद दिये जाते हैं। इस तरह जीव न तो आत्मा का ग्रहण करता है न बहिष्कार कर सकता है, जो शाश्वत तथ्य है। उसे तो चाहिए कि, यहाँ इंगित किए अनुसार, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करते हुए, भौतिक चेतना की स्थूल अज्ञानता को त्याग दे।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; भानोः—सूर्य का; उदयः—उदय होना; नृ—मनुष्य की; चक्षुषाम्—आँखों के; तमः—अंधकार; निहन्यात्—नष्ट कर देता है; न—नहीं; तु—लेकिन; सत्—विद्यमान वस्तुएँ; विधत्ते—उत्पन्न करता है; एवम्—उसी तरह; समीक्षा—पूर्ण अनुभूति; निपुणा—निपुण; सती—असली; मे—मेरा; हन्यात्—नष्ट करता है; तमिस्रम्—अंधकार को; पुरुषस्य—मनुष्य के; बुद्धेः—बुद्धि में।

जब सूर्य उदय होता है, तो वह मनुष्यों की आँखों को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देता है, किन्तु वह उन वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करता जिन्हें मनुष्य अपने समक्ष देखते हैं क्योंकि वे तो पहले से वहीं पर थीं। इसी तरह मेरी शक्तिशाली तथा यथार्थ अनुभूति मनुष्य की असली चेतना को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देगी।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ ३५॥

शब्दार्थ

एषः—यह (परमात्मा); स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अजः—अजन्मा; अप्रमेयः—माप पाना असम्भव; महा-अनुभूतिः—दिव्य चेतना से पूरित; सकल-अनुभूतिः—हर वस्तु से ज्ञात; एकः—एक; अद्वितीयः—अद्वितीय; वचसाम् विरामे—जब वाणी विराम ले लेती (तभी अनुभूति होती है); येन—जिसके द्वारा; ईषिताः—प्रेरित; वाक्—वाणी; असवः—तथा प्राण; चरन्ति—गति करते हैं।

परमेश्वर स्वतः प्रकाशित, अजन्मा तथा अप्रमेय हैं। वे शुद्ध दिव्य चेतना हैं और हर वस्तु का अनुभव करते हैं। वे अद्वितीय हैं और जब सामान्य शब्द काम करना बन्द कर देते हैं, तभी उनकी अनुभूति होती है। उनके द्वारा वाक्शक्ति तथा प्राणों को गति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : परमेश्वर आत्म-प्रकाशित, आत्म अभिव्यक्त हैं जबकि व्यष्टि जीव उन्हीं के द्वारा प्रकट होता है। भगवान् अजन्मा हैं किन्तु जीव भौतिक उपाधियों के आवरणों के कारण बद्ध जीवन में जन्म लेता है। सर्वव्याप्त होने के कारण भगवान् अप्रमेय हैं जबकि जीव एक ही स्थान तक सीमित है। भगवान् *महानुभूति* हैं जबकि जीव चेतना की क्षुद्र स्फुलिंग होता है। भगवान् *सकलानुभूति* अर्थात् सर्वज्ञ हैं, किन्तु जीव के पास उसका सीमित अनुभव होता है। भगवान् एक हैं जबकि जीव असंख्य हैं। भगवान् तथा अपने में इन असमानताओं पर विचार करते हुए हमें उन मूर्ख विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की तरह अपना समय व्यर्थ में नहीं गँवाना चाहिए जो अपनी तुच्छ मानसिक कल्पना एवं शब्दों की जादूगरी के द्वारा विश्व के उद्‌गम को ढूँढने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। यद्यपि भौतिक शोध-कार्य द्वारा भौतिक प्रकृति के कुछ स्थूल नियमों का पता लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसे तुच्छ प्रयासों से परब्रह्म प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले ।
आत्मनृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—जो भी; आत्म—आत्मा का; सम्मोहः—संशय; यत्—जो; विकल्पः—द्वैतभाव; तु—लेकिन; केवले—अद्वितीय; आत्मन्—आत्मा में; तें—रहित; स्वम्—वही; आत्मानम्—आत्मा; अवलम्बः—सहारा; न—नहीं है; यस्य—जिस (द्वैत) का; हि—निस्सन्देह।

आत्मा में जो भी ऊपरी द्वैत अनुभव किया जाता है, वह केवल मन का संशय होता है। निस्सन्देह, अपने ही आत्मा से पृथक् ऐसे कल्पित द्वैत के ठहर पाने का कोई आधार नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३३ में बतलाया जा चुका है, शाश्वत आत्मा न तो ग्रहण किया जाता है, न लुप्त होता है क्योंकि हर जीव एक नित्य सत्य है। *विकल्प* या द्वैत इस झूठे विचार का द्योतन करता है कि आत्मा अंशतः स्थूल शरीर या सूक्ष्म मन के रूप में पदार्थ से निर्मित है। इसीलिए मूर्ख व्यक्ति भौतिक शरीर या मन को आत्मा का मूलभूत घटक मानते हैं। वस्तुतः जीव शुद्ध आत्मा है, जिसमें पदार्थ का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप मिथ्या अहंकार जो कि पदार्थ के साथ झूठी पहचान से उत्पन्न होता है, भ्रामक पहचान है, जो शुद्ध आत्मा पर आरोपित की जाती है। अहं का भाव, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत पहचान का भाव आत्मा से आता है क्योंकि ऐसी आत्म-जागरूकता के लिए अन्य कोई सम्भव आधार नहीं है। मनुष्य अपने अहंकार के झूठे भाव का अध्ययन करके, यह समझ सकता

है कि शुद्ध अहंकार भी है, जिसे *अहं ब्रह्मास्मि* शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी तरह यह भी समझा जा सकता है कि परम आत्मा अर्थात् भगवान् है, जो हर वस्तु का सर्वज्ञ नियन्ता है। कृष्णभावनामृत में ऐसी समझ पूर्ण ज्ञान को जन्म देती है जैसाकि यहाँ भगवान् द्वारा बतलाया गया है।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नाम—नामों; आकृतिभिः—तथा स्वरूपों द्वारा; ग्राह्यम्—अनुभूत; पञ्च-वर्णम्—पाँच भौतिक तत्त्वों वाला; अबाधितम्—जिससे इंकार नहीं किया जा सके; व्यर्थेन—व्यर्थ; अपि—निस्सन्देह; अर्थ-वादः—काल्पनिक व्याख्या; अयम्—यह; द्वयम्—द्वैत; पण्डित-मानिनाम्—तथाकथित पण्डितों का।

पाँच भौतिक तत्त्वों का द्वैत केवल नामों और रूपों में ही देखा जाता है। जो लोग कहते हैं कि यह द्वैत असली है, वे छद्म पण्डित हैं और वस्तुतः बिना आधार के व्यर्थ ही तरह-तरह के सिद्धान्त प्रस्तावित करते रहते हैं।

तात्पर्य : भौतिक नामों तथा रूपों का सृजन और विनाश होता रहता है। इनका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता; अतएव वे सत्य के अनिवार्य मूलभूत सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करते। भौतिक जगत ईश्वर की शक्ति के विविध रूपान्तरों से बना हुआ है। यद्यपि ईश्वर सत्य है और उनकी शक्ति सत्य है, किन्तु ऐसे रूपों तथा नामों की जो क्षणिक रूप से अथवा संयोगवश प्रकट होते हैं, कोई वास्तविकता नहीं होती। निपट अज्ञानता तो तब उत्पन्न होती है जब बद्धजीव अपने को भौतिक या पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण मान बैठता है। कुछ दार्शनिक तर्क करते हैं कि नित्य आत्मा पदार्थ के सम्पर्क में स्थायी रीति से रूपान्तरित हो जाता है और मिथ्या अहंकार आत्मा की नवीन तथा स्थायी वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है। श्रील जीव गोस्वामी उत्तर देते हैं कि आत्मा भगवान् की चेतन पराशक्ति है, जबकि पदार्थ भगवान् की निकृष्ट अचेतन शक्ति है। इस तरह इन दोनों शक्तियों में विपरीत गुण पाये जाते हैं जिस तरह प्रकाश तथा अंधकार में होते हैं। इसलिए श्रेष्ठ जीव तथा निम्न पदार्थ संभवतः एक ही जगत में लीन नहीं हो सकते क्योंकि उनमें नित्य विपरीत तथा बेमेल गुण पाये जाते हैं। पदार्थ तथा आत्मा के मिश्रण का व्यामोह मोह कहलाता है। यह मिथ्या अहंकार के रूप में विशेषकर प्रकट होता है, जो माया द्वारा निर्मित विशेष भौतिक शरीर या मन के साथ अपनी पहचान बनाता है। स्पष्ट है कि जो विज्ञानी या दार्शनिक निपट अज्ञान में डूबे हुए हैं, वे असली विज्ञानी तथा

दार्शनिक नहीं हो सकते। आध्यात्मिक आत्म-जागरूकता की सरल कसौटी पर कसने से दुर्भाग्यवश आधुनिक तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों का बहुत बड़ा प्रतिशत छँट जाता है, जो व्यर्थ ही भगवान् में किसी प्रकार के ज्ञान अथवा रुचि के बिना, उनकी भौतिक शक्ति में अपनी टाँग अड़ाते हैं।

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योगिनः—योगी का; अपक्व-योगस्य—योगाभ्यास में कच्चा; युञ्जतः—जुड़ने के लिए प्रयत्नशील; कायः—शरीर; उत्थितैः—उठे हुए; उपसर्गैः—उत्पातों से; विहन्येत—विचलित हो सकता है; तत्र—उस सम्बन्ध में; अयम्—यह; विहितः—संस्तुत; विधिः—विधि।

अपने अभ्यास में अभी तक परिपक्व न होने वाले प्रयत्नशील योगी का शरीर कभी कभी विविध उत्पातों की चपेट में आ सकता है। अतएव निम्नलिखित विधि संस्तुत की जाती है।

तात्पर्य : ज्ञान के अनुशीलन की विधि का वर्णन कर चुकने के बाद, अब भगवान् उस योगी को आदेश दे रहे हैं जिसका शरीर रोग या अन्य व्यवधानों के कारण विचलित हो जाता है। जो कनिष्ठ योगी शरीर तथा शारीरिक आसनों के प्रति आसक्त रहते हैं, प्रायः अपने साक्षात्कार में अधूरे होते हैं, अतः भगवान् उनकी कुछ सहायता करना चाहते हैं।

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान्विनिर्दहेत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

योग-धारणया—योग के ध्यान से; कांश्चित्—कुछ उत्पात; आसनैः—नियत आसनों से; धारणा-अन्वितैः—नियंत्रित प्राणायाम पर ध्यान के समेत; तपः—विशेष तपस्या; मन्त्र—जादुई उच्चार; औषधैः—तथा जड़ी-बूटियों द्वारा; कांश्चित्—कुछ; उपसर्गान्—व्यवधान; विनिर्दहेत्—समूल नष्ट किये जा सकते हैं।

इनमें से कुछ व्यवधानों को योगिक ध्यान द्वारा या शारीरिक आसनों के द्वारा, जिनका अभ्यास प्राणायाम में एकाग्रता के साथ साथ किया जाता है, दूर किया जा सकता है और अन्य व्यवधानों को विशेष तपस्या, मंत्रों या जड़ी-बूटियों से बनी ओषधियों द्वारा दूर किया जा सकता है।

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान्शनैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कांश्चित्—कुछ; मम—मेरा; अनुध्यानेन—निरन्तर ध्यान से; नाम—पवित्र नामों का; सङ्कीर्तन—जोर से उच्चारण करके; आदिभिः—इत्यादि से; योग-ईश्वर—योग के महान् स्वामियों का; अनुवृत्त्या—अनुसरण करके; वा—अथवा; हन्यात्—नष्ट कर दिया जा सकता है; अशुभ-दान्—अशुभ परिस्थिति उत्पन्न करने वाले (व्यवधान); शनैः—धीरे धीरे।

इन अशुभ उत्पातों को मेरा स्मरण करके, मेरे नामों का सामूहिक श्रवण और कीर्तन करके या योग के महान् स्वामियों के पदचिन्हों पर चल कर धीरे धीरे दूर किया जा सकता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार परमेश्वर का ध्यान करने से काम तथा अन्य मानसिक विक्षोभों से छुटकारा पाया जा सकता है। महान् योगियों के पदचिह्नों पर चल कर दिखावे, झूठा गर्व तथा अन्य मानसिक असन्तुलन पर विजय पाई जा सकती है।

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ; देहम्—शरीर को; इमम्—इस; धीराः—आत्मसंयमी; सु-कल्पम्—उपयुक्त; वयसि—युवावस्था में; स्थिरम्—स्थिर; विधाय—बनाकर; विविध—विविध; उपायैः—उपायों से; अथ—इस प्रकार; युञ्जन्ति—लगाते हैं; सिद्धये—भौतिक सिद्धि पाने के लिए।

कुछ योगीजन विविध उपायों से शरीर को रोग तथा वृद्धावस्था से मुक्त कर लेते हैं और उसे शाश्वत तरुण बनाये रखते हैं। इस तरह वे भौतिक योग-सिद्धियाँ पाने के उद्देश्य से योग में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित विधि मनुष्य की भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त है, उसे दिव्य ज्ञान के पद तक ले जाने के लिए नहीं है। इसलिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस विधि को भगवान् की भक्ति नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी समस्त योग-सिद्धियों के बावजूद भौतिक शरीर अन्ततः मरता है। वास्तविक शाश्वत तारुण्य तथा सुख तो केवल कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक पद पर ही उपलब्ध हैं।

न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्—वह; कुशल—दिव्य ज्ञान में जो कुशल हैं उनके द्वारा; आदृत्यम्—आदरित होने को; तत्—उसका; आयासः—प्रयास; हि—निश्चय ही; अपार्थकः—व्यर्थ; अन्त-वत्त्वात्—विनष्ट होने के कारण; शरीरस्य—जहाँ तक भौतिक शरीर की बात है; फलस्य—फल का; इव—सदृश; वनस्पतेः—वृक्ष के।

जो लोग दिव्य ज्ञान में पटु हैं, वे इस योग की शारीरिक सिद्धि को अत्यधिक महत्त्व नहीं देते। निस्सन्देह, वे ऐसी सिद्धि के लिए किये गये प्रयास को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि आत्मा तो वृक्ष के सदृश स्थायी है किन्तु शरीर वृक्ष के फल की तरह विनाशशील है।

तात्पर्य : यहाँ पर एक वृक्ष का उदाहरण दिया गया है, जिसमें ऋतु आने पर फल लगते हैं। फल अल्पकाल तक रहते हैं किन्तु वृक्ष हजारों साल तक रह सकता है। इसी तरह आत्मा शाश्वत है, जबकि भौतिक शरीर, यहाँ तक कि सुरक्षित किये जाने पर भी, तेजी से विनष्ट हो जाता है। शरीर की तुलना कभी भी नित्य विद्यमान आत्मा से नहीं करनी चाहिए। जो लोग सचमुच बुद्धिमान हैं और जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान है, वे भौतिक योग-सिद्धियों में रुचि नहीं लेते।

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

योगम्—योगाभ्यास; निषेवतः—सम्पन्न करने वाले का; नित्यम्—नियमित रूप से; कायः—भौतिक शरीर; चेत्—कदाचित; कल्पताम्—स्वस्थता; इयात्—प्राप्त करता है; तत्—उसमें; श्रद्दध्यात्—श्रद्धा करता है; न—नहीं; मति-मान्—बुद्धिमान; योगम्—योग-प्रणाली; उत्सृज्य—त्याग कर; मत्-परः—मुझको समर्पित भक्त।

यद्यपि योग की विभिन्न विधियों से शरीर सुधर सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जिसने अपना जीवन मुझे समर्पित कर दिया है योग के द्वारा शरीर को पूर्ण बनाने पर अपनी श्रद्धा नहीं दिखलाता और वास्तव में वह ऐसी विधियों को त्याग देता है।

तात्पर्य : कृष्ण-भक्त पोषणयुक्त कृष्ण-प्रसादम् खाकर, शुद्ध और नियमित जीवन बिताकर, व्यर्थ की चिन्ता से मुक्त रह कर तथा भगवान् के अर्चाविग्रह के समक्ष कीर्तन और नृत्य करके, अपने शरीर को स्वस्थ रखता है। बीमार होने पर भक्त सामान्य विधियों से ओषधीय उपचार करता है किन्तु इसके आगे, तथाकथित योगाभ्यास के नाम पर शरीर में अपने मन को लगाये रखने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्ततः मनुष्य को भगवान् द्वारा निर्धारित भाग्य को स्वीकार करना चाहिए।

योगचर्यामिमां योगी विचरन्मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

योग-चर्याम्—योग की संस्तुत विधि; इमाम्—यह; योगी—अभ्यास करने वाला; विचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्-अपाश्रयः—मेरी शरण ग्रहण करके; न—नहीं; अन्तरायैः—व्यवधानों से; विहन्येत—रोका जाता है; निःस्पृहः—लालसा से मुक्त; स्व—आत्मा का; सुख—सुख; अनुभूः—भीतर ही भीतर अनुभव करते हुए।

जिस योगी ने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वह लालसा से मुक्त रहता है क्योंकि वह भीतर ही भीतर आत्मा के सुख का अनुभव करता है। इस तरह इस योग-विधि को सम्पन्न करते हुए वह कभी विघ्न-बाधाओं से पराजित नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को सारे उपनिषदों का आवश्यक ज्ञान संक्षेप में कह सुनाया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् की शुद्ध भक्ति ही चरम मोक्ष का असली साधन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बल देकर कहते हैं कि यद्यपि *हठयोगी* तथा *राजयोगी* अपने नियत मार्गों पर उन्नति करने का प्रयास करते हैं किन्तु उन्हें विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है और वे प्रायः मनवांछित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह भगवद्धाम जाने के आध्यात्मिक पथ पर निश्चय ही विजयी होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''ज्ञान-योग'' नामक अट्ठाइसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्तीस

भक्ति-योग

यह सोच कर कि इसके पूर्व वर्णित की गई वैराग्य पर आधारित आध्यात्मिक विधि अत्यन्त कठिन है, उद्धव ने कुछ सरल विधि के विषय में जिज्ञासा की। उत्तर में, भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति के विषय में संक्षिप्त आदेश दिये।

सकाम कर्मी तथा योगीजन भगवान् की माया से विमोहित होने के कारण तथा अपनी झूठी पहचानों से गर्वित होने के कारण, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से इनकार करते हैं। किन्तु सार तथा असार में भेद जानने वाले हंसवत् व्यक्ति सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं। भगवान् *चैत्यगुरु* के रूप में जीव के भीतर से और उदाहरणों के द्वारा शिक्षा देने वाले गुरु के रूप में बाहर से, आत्मा के सारे दुर्भाग्य को दूर करता है और अपने साकार रूप को प्रकट करता है।

मनुष्य को चाहिए कि अपने मन को भगवान् में लीन करके सारे कर्म भगवान् के लिए ही करे।

उसे भगवान् के पवित्र धाम का, जहाँ उनके भक्तगण निवास करते हैं, लाभ उठाना चाहिए और भगवान् की सेवा करनी चाहिए तथा उनके सम्मान में उत्सवों-पर्वों का आयोजन करना चाहिए। सारे जीवों को कृष्ण का आवास स्थान समझते हुए मनुष्य को चाहिए कि सर्वत्र समभाव से देखने की सामर्थ्य प्राप्त करे। इस तरह ईर्ष्या, मिथ्या अहंकार जैसे दुर्गुण दूर हो जायेंगे। इसे मन में रखते हुए भक्त को चाहिए कि वह अपने घमंडी सम्बन्धियों, अपने विलगाववादी दृष्टिकोण तथा सांसारिक उलझनों को त्याग दे और सबों को, यहाँ तक कि कुत्तों तथा चांडालों को भी, दण्ड-प्रणाम करे। जब तक वह सारे प्राणियों में भगवान् की उपस्थिति देखने का अभ्यास नहीं कर लेता, तब तक उसे चाहिए कि वह अपने शरीर, मन तथा वाणी का उपयोग भगवान् की पूजा करने में करे और सबों को नमस्कार करे।

चूँकि भगवान् की भक्ति की यह शाश्वत विधि दिव्य है और स्वयं भगवान् द्वारा स्थापित की गई है, इसलिए यह लेशमात्र भी न तो कभी परास्त हो सकती है न ही निष्फल सिद्ध होगी। जब मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा अपने को भगवान् को अर्पित कर देता है, तो भगवान् विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं और इस तरह भक्त अमरता प्राप्त करता है और भगवान् के ही समान ऐश्वर्य पाने का अधिकारी बन जाता है।

इन आदेशों को पाकर श्री उद्धव, भगवान् के निर्देश का पालन करने के लिए बदरिकाश्रम गये और भगवान् के आदेशों को पूरी तरह सम्पन्न करने के फलस्वरूप उन्होंने भगवान् का दिव्य धाम प्राप्त किया। भगवान् द्वारा महानतम् भक्त उद्धव से कहे गये इन आदेशों का श्रद्धापूर्वक पालन करने से सम्पूर्ण जगत मुक्त हो सकता है।

श्रीउद्धव उवाच
सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः ।
यथाञ्जसा पुमान्सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; **सु-दुस्तराम्**—पूरा कर पाना अत्यन्त कठिन; **इमाम्**—यह; **मन्ये**—मैं सोचता हूँ; **योग-चर्याम्**—योग-विधि; **अनात्मनः**—जिसने अपने मन को वश में नहीं किया, उसके लिए; **यथा**—कैसे; **अञ्जसा**—आसानी से; **पुमान्**—पुरुष; **सिद्ध्येत्**—पूरा करे; **तत्**—वह; **मे**—मुझसे; **ब्रूहि**—कृपया कहें; **अञ्जसा**—सरल ढंग से; **अच्युत**—हे अच्युत भगवान्।

श्री उद्धव ने कहा : हे भगवान् अच्युत, मुझे भय है कि आपके द्वारा वर्णित योग-विधि उस व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन है, जो अपने मन को वश में नहीं रख सकता। इसलिए आप सरल शब्दों में यह बतलायें कि कोई व्यक्ति किस तरह इसे अधिक आसानी से सम्पन्न कर सकता है।

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्यन्तो योगिनो मनः ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २॥

शब्दार्थ

प्रायशः—**अधिकांशतः**; पुण्डरीक-अक्ष—**हे कमलनेत्र भगवान्**; युञ्जन्तः—**प्रवृत्त होने वाले**; योगिनः—**योगीजन**; मनः—**मन**; विषीदन्ति—**हताश हो जाते हैं**; असमाधानात्—**समाधि प्राप्त करने में अक्षमता के कारण**; मनः-निग्रह—**मन को दमन करने के प्रयास द्वारा**; कर्शिताः—**थके हुए**।

हे कमलनयन भगवान्, सामान्यतया जो योगीजन मन को स्थिर करने का प्रयास करते हैं, उन्हें समाधि की दशा पूर्ण कर पाने की अपनी अक्षमता के कारण, निराशा का अनुभव करना पड़ता है। इस तरह वे मन को अपने वश में लाने के प्रयास में उकता जाते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की शरण के बिना, योगी ब्रह्म में अपना मन स्थिर करने के कठिन कार्य से शीघ्र ही निरुत्साहित हो जाता है।

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ—**अब**; अतः—**इसलिए**; आनन्द-दुघम्—**सारे आनन्द का स्रोत**; पद-अम्बुजम्—**आपके चरणकमल**; हंसाः—**हंस जैसे व्यक्ति**; श्रयेरन्—**शरण लेते हैं**; अरविन्द-लोचन—**हे कमलनेत्र**; सुखम्—**सुखपूर्वक**; नु—**निस्सन्देह**; विश्व-ईश्वर—**ब्रह्माण्ड के स्वामी**; योग-कर्मभिः—**योग तथा सकाम कर्म करने से**; त्वत्-मायया—**आपकी भौतिक शक्ति से**; अमी—**ये**; विहताः—**पराजित**; न—**नहीं (शरण लेते)**; मानिनः—**झूठे ही गर्व करने वाले**।

इसलिए हे कमलनयन ब्रह्माण्ड के स्वामी, हंस सदृश व्यक्ति खुशी-खुशी आपके उन चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो समस्त दिव्य आनन्द के स्रोत हैं। किन्तु जिन्हें अपने योग तथा कर्म की उपलब्धियों पर गर्व है, वे आपकी शरण में नहीं आ पाते और आपकी मायाशक्ति द्वारा परास्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्री उद्धव बलपूर्वक कहते हैं कि मात्र भगवान् की शरण ग्रहण करने से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। जो ऐसा करते हैं, वे *हंस* कहलाते हैं। वे मनुष्यों में सर्वाधिक विवेकवान् होते हैं क्योंकि वे आध्यात्मिक सुख के असली स्रोत, भगवान् के चरणकमलों को, खोज लेने में समर्थ होते हैं। *योग-कर्मभि:* शब्द सूचित करता है कि जो लोग योग या सामान्य

भौतिक उद्योग के क्षेत्र में की गई उपलब्धि पर गर्व करते हैं या उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, वे भगवान् की आज्ञापूर्वक शरणागति से होने वाले महान् लाभ को नहीं समझ पाते। सामान्यतया सकाम कर्मी तथा योगी अपनी अपनी तथाकथित उपलब्धियों पर गर्वित रहते हैं और वे भगवान् की अपेक्षा अपने प्रयास की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। भगवान् कृष्ण की दीनतापूर्वक शरण ग्रहण करके कृष्णभावनामृत के मार्ग पर आसानी से और तेजी से अग्रसर हुआ जा सकता है और भगवद्धाम जाया जा सकता है।

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेसु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; चित्रम्—आश्चर्य; अच्युत—हे अच्युत प्रभु; तव—तुम्हारा; एतत्—यह; अशेष-बन्धो—हे सबों के मित्र; दासेषु—सेवकों के लिए; अनन्य-शरणेषु—जिन्होंने अन्य शरण नहीं ग्रहण की; यत्—जो; आत्म-सात्त्वम्—आपसे घनिष्ठता; यः—जिसने; अरोचयत्—स्नेहपूर्वक कार्य किया; सह—साथ; मृगैः—पशुओं (बन्दरों) के; स्वयम्—स्वयं; ईश्वराणाम्—महान् देवताओं के; श्रीमत्—ऐश्वर्यशाली; किरीट—मुकुटों के; तट—किनारों से; पीडित—हिलाया; पाद-पीठः—पीढ़ा।

हे अच्युत प्रभु, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आप अपने उन सेवकों के पास घनिष्ठतापूर्वक जाते हैं जिन्होंने एकमात्र आपकी शरण ले रखी है। जब आप भगवान् रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए थे, उस अवधि में ब्रह्मा जैसे महान् देवता आपके पादपीठ पर अपने मुकुट के ऐश्वर्यशाली सिरे रखने के लिए लालायित रहते थे; तब आपने हनुमान जैसे बन्दरों पर विशेष स्नेह प्रदर्शित किया क्योंकि उन्होंने एकमात्र आपकी शरण ले रखी थी।

तात्पर्य : भगवद्भक्त भगवान् की अहैतुकी कृपा से पूर्ण सफल होते हैं। कभी कभी भगवान् कृष्ण अपने महान् भक्तों, यथा नन्द महाराज, गोपियों, बलि महाराज आदि, के अधीन पद को स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्मा जैसे देवता अपने अपने मुकुटों को भगवान् के पादपीठ पर छुआने के लिए पंक्तिबद्ध खड़े हुए थे, फिर भी भगवान् रामचन्द्र ने अपनी घनिष्ठ मित्रता हनुमान जैसे बन्दरों को प्रदान की थी। इसी तरह भगवान् कृष्ण का हिरनों तथा गौवों से, यहाँ तक कि वृन्दावन के वृक्षों से, स्नेह सुविख्यात है। अपरंच, भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुन का रथ हाँका और राजा युधिष्ठिर के दूत और आज्ञाकारी कर्मचारी का कार्य किया। ऐसे भक्तों को योग-शक्तियाँ पाने के लिए ज्ञानयोग की विस्तृत विधि की आवश्यकता नहीं रह जाती। यहाँ पर इन सारे भक्तों के प्रतिनिधि श्री उद्धव हैं, जो भगवान् से साफ

साफ कह देते हैं कि दार्शनिक चिन्तन तथा योग जैसी जटिल विधियाँ उस व्यक्ति को आकर्षक नहीं प्रतीत होतीं जिसे भगवान् की प्रत्यक्ष प्रेमाभक्ति का आस्वाद प्राप्त हो चुका है।

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु ।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वा—तुम; अखिल—समस्त; आत्म—परमात्मा का; दयित—अत्यन्त प्रिय; ईश्वरम्—तथा परम नियन्ता; आश्रितानाम्—आपकी शरण ग्रहण करने वालों के; सर्व-अर्थ—सारी सिद्धियों के; दम्—दाता; स्व-कृत—आपके द्वारा प्रदत्त लाभ; वित्—कौन जानता है; विसृजेत—तिरष्कृत कर सकता है; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; कः—कौन; वा—अथवा; भजेत्—स्वीकार कर सकता है; किम् अपि—कुछ भी; विस्मृतये—विस्मृति के लिए; अनु—फलस्वरूप; भूत्यै—इन्द्रियतृप्ति के लिए; किम्—क्या; वा—अथवा; भवेत्—है; न—नहीं; तव—तुम्हारे; पाद—चरणकमलों की; रजः—धूल; जुषाम्—सेवकों के लिए; नः—हम सभी।

तो भला किसमें साहस है, जो आत्मारूप, पूजा के सर्वप्रिय लक्ष्य तथा सबों के परम ईश्वर आपका—जो अपनी शरण लेने वाले भक्तों को सभी सम्भव सिद्धियाँ प्रदान करने वाले हैं, तिरस्कार कर सके? आपके द्वारा प्रदत्त लाभों को जानते हुए भला इतना कृतघ्न कौन हो सकता है? ऐसा कौन है, जो आपका तिरस्कार करके ऐसी वस्तु को भौतिक सुख के लिए स्वीकार करेगा जिससे आपकी विस्मृति हो? और आपके चरणकमलों की धूलि की सेवा में निरत हम लोगों को किस चीज का अभाव है?

तात्पर्य : श्री महाभारत में मोक्ष धर्म के *नारायणीय* में कहा गया है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।

तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥

"विभिन्न आध्यात्मिक विधियों से मनुष्य जीवन के चार लक्ष्यों में से जो भी प्राप्त किया जा सकता है, उसे वह व्यक्ति ऐसे प्रयासों के बिना प्राप्त कर लेता है, जिसने समस्त व्यक्तियों के आश्रय भगवान् नारायण की शरण ले ली है।" इस प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तिजानता है कि वह भगवान् कृष्ण की भक्ति की शरण लेने से ही जीवन की सारी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। यह योग की सर्वोच्च अवस्था है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न एव—बिल्कुल नहीं; उपयन्ति—व्यक्त करने में सक्षम हैं; अपचितिम्—अपनी कृतज्ञता; कवयः—विद्वान भक्तजन; तव—तुम्हारा; ईश—हे ईश्वर; ब्रह्म-आयुषा—ब्रह्मा जितनी आयु से; अपि—के होते हुए; कृतम्—वदान्य कार्य; ऋद्ध—बढ़ा हुआ; मुदः—प्रसन्नता; स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; यः—जो; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; तनु-भृताम्—देहधारियों का; अशुभम्—दुर्भाग्य; विधुन्वन्—दूर करते हुए; आचार्य—गुरु का; चैत्त्य—परमात्मा का; वपुषा—रूपों से; स्व—अपना; गतिम्—पथ; व्यनक्ति—दिखलाता है।

हे प्रभु, योगी कवि तथा आध्यात्मिक विज्ञान में पटु लोग आपके प्रति अपनी कृतज्ञता पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सके यद्यपि उन्हें ब्रह्माजी जितनी दीर्घायु प्राप्त थी क्योंकि आप दो रूपों में—बाह्यतः आचार्य रूप में और आन्तरिक रूप में परमात्मा की तरह देहधारी जीव को अपने पास आने का निर्देश करते हुए उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भक्त को भगवान् कृष्ण उसके जीवन की अपेक्षा एक करोड गुना अधिक प्रिय हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार एक हजार बार ब्रह्माण्ड की सृष्टि होने तक भक्ति करते रहने पर भी भक्त भगवान् के उस ऋण को चुका नहीं पाता जो उन्होंने अपने चरणकमलों की भक्ति प्रदान करके दिया था। भगवान् हृदय के भीतर परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं और बाहर से वे गुरु तथा कवि अवतार के रूप में— *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के वैदिक ज्ञान के रूप में।

श्रीशुक उवाच
इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उद्धवेन—उद्धव द्वारा; अति-अनुरक्त—अत्यधिक आसक्त; चेतसा—हृदय से; पृष्टः—पूछे गये; जगत्—ब्रह्माण्ड; क्रीडनकः—जिसका खिलौना; स्व-शक्तिभिः—अपनी ही शक्तियों द्वारा; गृहीत—धारण किये हुए; मूर्ति—साकार रूप; त्रयः—तीन; ईश्वर—समस्त नियन्ताओं में से; ईश्वरः—परम नियन्ता; जगाद—बोला; स-प्रेम—प्रेमी; मनः-हर—आकर्षक; स्मितः—मुसकान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह अत्यन्त स्नेहिल उद्धव द्वारा पूछे जाने पर समस्त ईश्वरों के परम नियन्ता भगवान् कृष्ण जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने खिलौने के रूप में मानते हैं और

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के तीन रूप ग्रहण करते हैं, प्रेमपूर्वक अपनी सर्व-आकर्षक मुसकान दिखलाते हुए उत्तर देने लगे।

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान् ।
यान्श्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; हन्त—हाँ; ते—तुमसे; कथयिष्यामि—कहूँगा; मम—अपने से सम्बन्धित; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्त; सु-मङ्गलान्—अत्यन्त शुभ; यान्—जो; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; आचरन्—सम्पन्न करते हुए; मर्त्यः—मर्त्य मानव; मृत्युम्—मृत्यु को; जयति—जीत लेता है; दुर्जयम्—न जीते जाने योग्य।

भगवान् ने कहा : हाँ, मैं तुमसे अपनी भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा जिनको सम्पन्न करने से मर्त्य प्राणी दुर्जय मृत्यु पर विजय पा लेगा।

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कुर्यात्—करे; सर्वाणि—सभी; कर्माणि—नियत कार्यकलाप; मत्-अर्थम्—मेरे लिए; शनकैः—जल्दबाजी किये बिना; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मयि—मुझको; अर्पित—चढ़ाया गया; मनः-चित्तः—मन तथा बुद्धि; मत्-धर्म—मेरी भक्ति; आत्म-मनः—अपने मन का; रतिः—आकर्षण।

मनुष्य को चाहिए कि सैदव मेरा स्मरण करते हुए बिना जल्दबाजी के मेरे प्रति अपने सारे कर्तव्य पूरा करे। उसे चाहिए कि वह मुझे मन तथा बुद्धि अर्पित करके मेरी भक्ति के आकर्षण में अपना मन स्थिर करे।

तात्पर्य : *मद्धर्मात्ममनोरतिः* का अर्थ होता है कि मनुष्य का सारा प्रेम और स्नेह भगवान् को प्रसन्न करने में लगाया जाय। यहाँ इसका संकेत नहीं किया गया कि भक्ति में आत्म-तुष्टि के आस्वादन का प्रयास किया जाय प्रत्युत उसे भगवान् की प्रसन्नता के प्रति आकृष्ट होना चाहिए जिसे भगवान् कृष्ण से चली आ रही परम्परा के प्रामाणिक गुरु के आदेश को श्रद्धापूर्वक पूरा करके प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के भी भीतर निजी तुष्टि के प्रति आसक्ति भौतिकतावादी है, जबकि भगवान् की तुष्टि के प्रति आसक्ति शुद्ध आध्यात्मिक भाव है।

देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।

देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देशान्—स्थानों में; पुण्यान्—पवित्र; आश्रयेत—शरण ले; मत्-भक्तैः—मेरे भक्तों द्वारा; साधुभिः—सन्त स्वभाव के; श्रितान्—आश्रित; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्येषु—तथा मनुष्यों में; मत्-भक्त—मेरे भक्तों के; आचरितानि—कार्यकलाप; च—तथा।

मनुष्य को उन पवित्र स्थानों में जाकर शरण लेनी चाहिए जहाँ मेरे सन्त स्वभाव वाले भक्तगण निवास करते हैं। उसे मेरे भक्तों के आदर्श कार्यकलापों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। ये भक्त देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों के बीच प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : नारद मुनि भगवान् के महान् भक्तों में से एक हैं, जो देवताओं के बीच प्रकट हुए। प्रह्लाद महाराज असुरों के बीच तथा अन्य अनेक बड़े बड़े भक्त तथा अम्बरीष महाराज तथा पाँचों पाण्डव मनुष्यों के बीच उत्पन्न हुए। मनुष्य को भक्तों के आदर्श कार्यों की तथा पवित्र स्थानों की भी शरण लेनी चाहिए जहाँ भक्तगण निवास कर रहे हों। इस तरह वह भक्ति-मार्ग में सुरक्षित रहेगा।

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पृथक्—अकेला; सत्रेण—सभा में; वा—अथवा; मह्यम्—मेरे लिए; पर्व—मासिक त्यौहार यथा एकादशी; यात्रा—विशेष सम्मेलन; महा-उत्सवान्—तथा त्यौहार; कारयेत्—कराये; गीत—गायन; नृत्य-आद्यैः—नृत्य आदि से; महा-राज—राजसी; विभूतिभिः—ऐश्वर्य की निशानी के साथ, ठाट-बाट से।

मेरी पूजा के लिए विशेष रूप से नियत पर्वों, त्यौहारों तथा उत्सवों को मनाने के लिए या तो अकेले या सामूहिक जलसों में गायन, नृत्य तथा अन्य ठाट-बाट के साथ मनाने की व्यवस्था करे।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में से; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; अपावृतम्—अनाच्छादित; ईक्षेत—देखे; आत्मनि—अपने भीतर; च—भी; आत्मानम्—परमात्मा को; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; अमल-आशयः—शुद्ध हृदय वाला।

मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध हृदय से सारे जीवों के भीतर और अपने भी भीतर मुझको परमात्मा रूप में देखे कि मैं किसी भौतिक वस्तु द्वारा अकलंकित हूँ तथा सर्वत्र भीतर तथा बाहर

उपस्थित भी हूँ जिस तरह सर्वव्यापी आकाश होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् ने यह श्लोक उन लोगों को आकृष्ट करने के लिए कहा जो परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन के प्रति उन्मुख रहते हैं। ऐसे योग के विद्वान परम एकता की खोज करते हुए यहाँ पर वर्णित भगवान् के स्वरूप द्वारा आकृष्ट होंगे।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥ १३॥
ब्राह्मणे पुक्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सर्वाणि—सभी; भूतानि—जीवों को; मत्-भावेन—मेरी उपस्थिति के भाव से; महा-द्युते—हे परम तेजवान उद्धव; सभाजयन्—आदर देते हुए; मन्यमानः—ऐसा मानते हुए; ज्ञानम्—ज्ञान; केवलम्—दिव्य; आश्रितः—की शरण लेते हुए; ब्राह्मणे—ब्राह्मण में; पुक्कसे—पुक्कस जनजाति से निकाले हुओं में; स्तेने—चोर में; ब्रह्मण्ये—ब्राह्मण संस्कृति का सम्मान करने वाले मनुष्य में; अर्के—सूर्य में; स्फुलिङ्गके—अग्नि की चिनगारी में; अक्रूरे—कृपालु भद्र में; क्रूरके—क्रूर में; च—भी; एव—निस्सन्देह; सम-दृक्—समान दृष्टि वाला; पण्डितः—विद्वान; मतः—माना जाता है।

हे तेजस्वी उद्धव, जो व्यक्ति सारे जीवों को इस भाव से देखता है कि मैं उनमें से हर एक में उपस्थित हूँ और जो इस दैवी ज्ञान की शरण लेकर हर एक का सम्मान करता है, वह वास्तव में बुद्धिमान माना जाता है। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण तथा नीच, चोर तथा ब्राह्मण संस्कृति के दानी संवर्धक, सूर्य तथा अग्नि की क्षुद्र चिनगारी, सदय तथा क्रूर को समान रूप से देखता है।

तात्पर्य : यहाँ पर अनेक विलोमों को रखा गया है—उदाहरणार्थ उच्च जाति का ब्राह्मण तथा निम्न जाति का आदिवासी, भद्र पुरुषों की वस्तुएँ चुराने वाला चोर तथा बाह्मणों को दान देने वाली ब्राह्मण संस्कृति का आदर करने वाला, सर्वशक्तिमान सूर्य तथा नगण्य स्फुलिंग और अन्त में, सदय तथा क्रूर। सामान्यतया ऐसे विरोधी गुणों में अन्तर करने की क्षमता होने पर मनुष्य बुद्धिमान बनता है। तो फिर भगवान् यह कैसे कह सकते हैं कि ऐसे स्पष्ट अन्तरों की उपेक्षा करने से मनुष्य विद्वान होता है? इसका उत्तर *मद्-भावेन* शब्द में मिलता है, जिसका अर्थ है विद्वान व्यक्ति भगवान् को हर वस्तु के भीतर देखता है। इसलिए बाहर से नाना प्रकार की भौतिक स्थितियों का अवलोकन करते तथा उनसे निपटते हुए, विद्वान व्यक्ति सारे जीवों की अपार एकता से अधिक प्रभावित और चिन्तित रहता है, जो हर वस्तु के भीतर भगवान् की उपस्थिति पर आधारित है। जैसाकि यहाँ कहा गया है, असली बुद्धिमान

व्यक्ति बाह्य भौतिक विवेक तक ही सीमित नहीं रहता।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नरेषु—सारे पुरुषों में; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; मत्-भावम्—मेरी साकार उपस्थिति; पुंसः—पुरुष की; भावयतः—ध्यान कर रहा; अचिरात्—तुरन्त; स्पर्धा—होड़ करने की प्रवृत्ति (समानों के विरुद्ध); असूया—द्वेष (गुरुजनों से); तिरस्काराः—तथा दुरुपयोग (छोटों का); स—सहित; अहङ्काराः—मिथ्या अहंकार; वियन्ति—लुप्त हो जाते हैं; हि—निस्सन्देह।

जो व्यक्ति सारे पुरुषों में मेरी उपस्थिति का निरन्तर ध्यान करता है उसके लिए स्पर्धा की कुप्रवृत्तियाँ, ईर्ष्या तथा तिरस्कार एवं उसी के साथ मिथ्या अहंकार तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : बद्ध आत्माएँ अपने समान वालों से स्पर्धा, अपने से श्रेष्ठों से ईर्ष्या और अपने अधीनस्थों को छोटा मानने की इच्छा से प्रेरित होती रहती हैं। ये दूषित लालसाएँ तथा इनके साथ ही इनका मूल आधार, मिथ्या अहंकार हर जीव के भीतर भगवान् का ध्यान करने से तुरन्त दूर हो सकते हैं।

विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; स्मयमानान्—हँसते हुओं को; स्वान्—अपने मित्रों; दृशम्—दृष्टि को; व्रीडाम्—परेशानी; च—तथा; दैहिकीम्—देहात्म बोध का; प्रणमेत्—नमस्कार करे; दण्ड-वत्—डंडे की तरह गिर कर; भूमौ—भूमि पर; आ—यहाँ तक कि; श्व—कुत्तों; चाण्डाल—चांडालों; गो—गौवों; खरम्—तथा गधों को।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने संगियों के उपहास की परवाह न करते हुए, देहात्म बुद्धि एवं उसके साथ लगी चिन्ता को त्याग दे। उसे कुत्तों, चाण्डालों, गौवों तथा गधों तक के समक्ष भूमि पर दंड के समान गिर कर नमस्कार करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह सारे प्राणियों के भीतर भगवान् को देखने का अभ्यास करे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने समस्त भक्तों को सलाह दी थी कि वे अपने को तृण से भी नीच तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु मानें। ऐसी विनीत स्थिति में मनुष्य भगवान् की भक्ति करते हए विचलित नहीं होगा। भक्त कभी मूर्खतापूर्वक यह नहीं सोचता कि गाय या गधा ईश्वर है, प्रत्युत वह भगवान् को सारे प्राणियों के भीतर देखता है और इस उच्च आध्यात्मिक स्तर पर वह भेद-भाव नहीं बरतता।

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; सर्वेषु—सभी; भूतेषु—जीवों में; मत्-भावः—मेरी उपस्थिति का भाव; न उपजायते—उत्पन्न नहीं होता; तावत्—तब तक; एवम्—इस तरह से; उपासीत—पूजा करे; वाक्—वाणी; मनः—मन; काय—तथा शरीर के; वृत्तिभिः—कार्यों के द्वारा।

जब तक मनुष्य सारे जीवों के भीतर मुझे देख पाने की क्षमता उत्पन्न नहीं कर लेता, तब तक उसे चाहिए कि वह अपनी वाणी, मन तथा शरीर के कार्यों द्वारा इस विधि से मेरी पूजा करता रहे।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य सारे जीवों के भीतर भगवान् का साक्षात्कार न करने लगे, उसे चाहिए कि सारे प्राणियों को नमस्कार करने की विधि को चालू रखे। भले ही सारे प्राणियों के समक्ष भूमि पर वास्तव में न गिरा जाये, किन्तु कम-से-कम मन के भीतर अथवा शब्दों से सभी जीवों का सम्मान तो करे। इससे भक्त को जल्दी ही आत्म-साक्षात्कार हो सकेगा।

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः ॥ १८॥

शब्दार्थ

सर्वम्—हर वस्तु; ब्रह्म-आत्मकम्—परब्रह्म पर आश्रित; तस्य—उसके लिए; विद्यया—दिव्य ज्ञान द्वारा; आत्म-मनीषया—परमात्मा की अनुभूति द्वारा; परिपश्यन्—सर्वत्र देखते हुए; उपरमेत्—भौतिक कर्मों से दूर रहे; सर्वतः—सभी प्रकार से; मुक्त-संशयः—सारे सन्देहों से मुक्त।

सर्वव्यापक भगवान् के ऐसे दिव्य ज्ञान से मनुष्य परब्रह्म को सर्वत्र देख सकता है। सारे संशयों से मुक्त होकर वह सकाम कर्मों का परित्याग कर देता है।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥ १९॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; सर्व—सभी; कल्पानाम्—विधियों का; सध्रीचीनः—अत्यन्त उपयुक्त; मतः—माना जाता है; मम—मेरे द्वारा; मत्-भावः—मुझको देखना; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; मनः-वाक्-काय-वृत्तिभिः—मन, वाणी तथा शरीर के कार्यों द्वारा।

निस्सन्देह मैं मन, वाणी तथा शरीर के कार्यों को प्रयोग करके सारे जीवों के भीतर मेरी अनुभूति करने की विधि को आध्यात्मिक प्रकाश की सर्वश्रेष्ठ सम्भव विधि मानता हूँ।

**न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्‌निर्गुणत्वादनाशिषः ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे उद्धव; उपक्रमे—प्रयास में; ध्वंसः—विनाश; मत्-धर्मस्य—मेरी भक्ति का; उद्धव—हे उद्धव; अणु—रंचमात्र; अपि—भी; मया—मेरे द्वारा; व्यवसितः—स्थापित; सम्यक्—पूर्णरूपेण; निर्गुण-त्वात्—इसके दिव्य होने से; अनाशिषः—कोई परोक्ष प्रयोजन न होना।

हे उद्धव, चूँकि मैंने स्वयं इसकी स्थापना की है, इसलिए मेरी भक्ति की यह विधि दिव्य है और किसी भौतिक प्रेरणा से मुक्त है। निश्चय ही भक्त इस विधि को ग्रहण करने से रंचमात्र भी हानि नहीं उठाता।

तात्पर्य : यद्यपि बड़े बड़े मुनियों तथा अधिकारियों ने मानव प्रगति की विविध विधियाँ स्थापित की हैं, किन्तु साक्षात् भगवान् ने *भक्ति-योग* प्रणाली चालू की है, जिसमें मनुष्य प्रेममयी सेवा द्वारा भगवान् की शरण ग्रहण करता है। जो व्यक्ति निजी प्रेरणा के बिना भगवान् की सेवा करता है, वह कभी भी अपनी उन्नति में परास्त नहीं हो सकता और निकट भविष्य में भगवद्धाम अवश्य जाएगा।

**यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

यः, यः—जो जो; मयि—मुझमें; परे—परम; धर्मः—धर्म है; कल्प्यते—अग्रसर होता है; निष्फलाय—भौतिक कर्म के फल से मुक्त बनने की दिशा में; चेत्—यदि; तत्—उसका; आयासः—प्रयास; निरर्थः—व्यर्थ; स्यात्—हो सके; भय-आदेः—भय इत्यादि; इव—सदृश; सत्-तम—हे साधु-पुरुषों में श्रेष्ठ।

हे सन्त शिरोमणि उद्धव, भयावह स्थिति में सामान्य व्यक्ति रोता है, डर जाता है और शोक करता है यद्यपि ऐसी व्यर्थ की भावनाओं से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता किन्तु निजी प्रेरणा के बिना जो कार्य मुझे अर्पित किये जाते हैं, वे, बाहर से व्यर्थ होते हुए भी, वास्तविक धर्म-विधि के तुल्य हैं।

तात्पर्य : निजी इच्छा के बिना तुच्छ से तुच्छ कार्य भी जब भगवान् को अर्पित किया जाता है, तो वह मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता तक उठा देता है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण सदा ही अपने भक्त की रक्षा तथा पालन-पोषण करते हैं। किन्तु यदि कोई भक्त अपनी भक्ति को अबाध चलते रहने के लिए भगवान् से सुरक्षा या लालन-पालन के लिए पुकार करता है, तो भगवान् कृष्ण ऐसी बाहरी अनावश्यक याचनाओं को सर्वोच्च धार्मिक विधि के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; **बुद्धि-मताम्**—बुद्धिमान की; **बुद्धिः**—बुद्धि; **मनीषा**—चतुराई; **च**—तथा; **मनीषिणाम्**—चतुर की; **यत्**—जो; **सत्यम्**—असली; **अनृतेन**—झूठ से; **इह**—इस जीवन में; **मर्त्येन**—मर्त्य द्वारा; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **मा**—मुझको; **अमृतम्**—अमर।

यह विधि बुद्धिमान की परम बुद्धि और परम चतुर की चतुराई है क्योंकि इसका पालन करने से मनुष्य इसी जीवन में मुझ नित्य सत्य को पाने में नश्वर तथा असत्य का उपयोग कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय में वर्णित है, जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में लग कर निजी प्रतिष्ठा चाहता है, वह बुद्धिमान तथा चतुर नहीं माना जाता। इसी तरह जो कृत्रिम दिव्य दार्शनिक बनने के लिए इच्छुक रहता है, वह सर्वाधिक बुद्धिमान नहीं है। न ही जो धन संचित करने में पटु होता है। भगवान् यहाँ यह बतलाते हैं कि सर्वाधिक बुद्धिमान तथा चतुर व्यक्ति वह है, जो अपने नश्वर मायामय शरीर को तथा अपनी सम्पत्ति को प्रेमपूर्वक तथा बिना निजी उद्देश्य के भगवान् को अर्पित कर देता है। इस तरह भक्त नित्य परब्रह्म को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, असली बुद्धिमत्ता तो बिना किसी निजी इच्छा या द्वैत के भगवान् कृष्ण की शरण में जाना है। यही भगवान् का मत है।

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; **ते**—तुमसे; **अभिहितः**—बतलाया गया; **कृत्स्नः**—पूरी तरह; **ब्रह्म-वादस्य**—परब्रह्म के विज्ञान का; **सङ्ग्रहः**—सर्वेक्षण; **समास**—संक्षेप में; **व्यास**—विस्तार से; **विधिना**—दोनों विधियों से; **देवानाम्**—देवताओं के लिए; **अपि**—भी; **दुर्गमः**—पहुँच के बाहर।

इस तरह मैंने तुम्हें, संक्षेप और विस्तार दोनों ही रूपों में, परब्रह्म विषयक विज्ञान का पूर्ण व्यौरा बतला दिया। यह विज्ञान देवताओं के लिए भी समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *देवानाम्* शब्द उन जीवों का सूचक है, जो रजोगुणी हैं (यथा देवता, सन्त तथा पवित्र दार्शनिक) किन्तु फिर भी परब्रह्म को नहीं समझ पाते, क्योंकि उनमें भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण का अभाव है।

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अभीक्ष्णशः—बारम्बार; ते—तुमसे; गदितम्—कहा गया; ज्ञानम्—ज्ञान; विस्पष्ट—स्पष्ट; युक्ति—तर्क; मत्—से युक्त; एतत्—यह; विज्ञाय—ठीक से समझ लेने पर; मुच्येत—मुक्त हो जायेगा; पुरुषः—व्यक्ति; नष्ट—विनष्ट; संशयः—उसके सन्देह।

मैं बारम्बार तुमसे स्पष्ट तर्क सहित यह ज्ञान बता चुका हूँ। जो कोई इसे ठीक से समझ लेता है, वह सारे संशयों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २५॥

शब्दार्थ

स-विविक्तम्—अच्छी तरह व्याख्यायित; तव—तुम्हारा; प्रश्नम्—प्रश्न; मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह; अपि—भी; धारयेत्—ध्यान एकाग्र करता है; सनातनम्—शाश्वत; ब्रह्म-गुह्यम्—वेदों का रहस्य; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

जो कोई तुम्हारे प्रश्नों के इन स्पष्ट उत्तरों पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, वह वेदों के शाश्वत गुह्य लक्ष्य—परब्रह्म—को प्राप्त करेगा।

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात्सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥ २६॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; मम—मेरा; भक्तेषु—भक्तों में से; सम्प्रदद्यात्—उपदेश देता है; सु-पुष्कलम्—उदारतापूर्वक; तस्य—उसको; अहम्—मैं; ब्रह्म-दायस्य—ब्रह्म विषयक ज्ञान प्रदान करने वाले व्यक्ति को; ददामि—देता हूँ; आत्मानम्—स्वयं को; आत्मना—स्वयं द्वारा।

जो व्यक्ति उदारतापूर्वक इस ज्ञान को मेरे भक्तों के बीच फैलाता है, वह परब्रह्म का देने वाला है और मैं उसे अपने आपको दे देता हूँ।

य एतत्समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; समधीयीत—जोर-जोर से बाँचता (पाठ करता) है; पवित्रम्—पवित्र बनाने वाला; परमम्—परम; शुचि—स्पष्ट तथा पारदर्शी; सः—वह; पूयेत—शुद्ध हो जाता है; अहः अहः—दिन प्रतिदिन; माम्—मुझको; ज्ञान-दीपेन—ज्ञान के दीपक से; दर्शयन्—प्रकट करते हुए।

जो व्यक्ति इस स्पष्ट तथा शुद्ध बनाने वाले परम ज्ञान को जोर-जोर से बाँचता है, वह दिन प्रतिदिन शुद्ध बनता जाता है क्योंकि वह दिव्य ज्ञानरूपी दीपक से अन्यों को मुझे उद्घाटित करता है।

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन्कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित; अव्यग्रः—विचलित हुए बिना; शृणुयात्—सुनता है; नरः—पुरुष; मयि—मुझमें; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; कुर्वन्—करते हुए; कर्मभिः—सकाम कर्मों द्वारा; न—नहीं; सः—वह; बध्यते—बँध जाता है।

जो कोई इस ज्ञान को श्रद्धा तथा ध्यान के साथ नियमित रूप से सुनता है और साथ ही मेरी शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह भौतिक कर्म के फलों के बन्धन से कभी नहीं बँधता।

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम् ।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; उद्धव—हे उद्धव; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; सखे—हे मित्र; समवधारितम्—पर्याप्त समझा गया; अपि—क्या; ते—तुम्हारा; विगतः—दूर हो गया है; मोहः—मोह; शोकः—शोक; च—तथा; असौ—यह; मनः-भवः—तुम्हारे मन से उत्पन्न।

हे मित्र उद्धव, क्या अब तुम इस दिव्य ज्ञान को भलीभाँति समझ गये? क्या तुम्हारे मन में उठने वाले मोह तथा शोक दूर हो गये?

तात्पर्य : श्री उद्धव भगवान् कृष्ण की शक्ति को उनसे पृथक् अभिव्यक्ति मानने के कारण विमोहित थे। उद्धव का शोक इसलिए उत्पन्न हुआ था क्योंकि वे अपने को कृष्ण से पृथक् समझ रहे थे। वस्तुतः श्री उद्धव नित्य मुक्तात्मा हैं किन्तु भगवान् ने उन्हें मोह तथा शोक में डाल दिया था जिससे उद्धव-गीता के इस परम ज्ञान का प्रवचन किया जा सके। भगवान् कृष्ण का प्रश्न यहाँ यह सूचित करता है कि यदि उद्धव ने इस ज्ञान को ठीक से न समझा हो, तो भगवान् इसी ज्ञान को पुनः बतला दें। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, श्री उद्धव कृष्ण के घनिष्ठ मित्र हैं, अतः कृष्ण का यह प्रश्न मैत्री और क्रीड़ा भाव से पूछा गया था। कृष्ण को उद्धव के कृष्णभावनामृत में पूर्ण प्रकाश प्राप्त होने का अभिज्ञान था।

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च ।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; दाम्भिकाय—दम्भी, पाखण्डी व्यक्ति को; नास्तिकाय—नास्तिक को; शठाय—धूर्त को; च—तथा; अशुश्रूषोः—श्रद्धा के साथ न सुनने वाले को; अभक्ताय—अभक्त को; दुर्विनीताय—दुर्विनीत को; दीयताम्—दिया जाना चाहिए।

तुम इस उपदेश को ऐसे व्यक्ति को मत देना जो पाखण्डी, नास्तिक या बेईमान हो या जो श्रद्धापूर्वक न सुनता हो, जो भक्त न हो या जो विनीत न हो।

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन; दोषैः—दोषों से; विहीनाय—विहीन व्यक्ति को; ब्रह्मण्याय—ब्राह्मणों के कल्याण के प्रति समर्पित व्यक्ति को; प्रियाय—प्रेमी को; च—तथा; साधवे—साधु प्रकृति के; शुचये—शुद्ध; ब्रूयात्—कहे; भक्तिः—भक्ति; स्यात्—यदि उपस्थित हो; शूद्र—सामान्य श्रमिक; योषिताम्—तथा स्त्रियों के।

यह ज्ञान उसे दिया जाय जो इन दुर्गुणों से मुक्त हो, जो ब्राह्मणों के कल्याण-कार्य के प्रति समर्पित हो तथा जो प्रेमी हो, सन्त स्वभाव का हो और शुद्ध हो। और यदि सामान्य श्रमिकों तथा स्त्रियों में भगवान् के प्रति भक्ति पाई जाय, तो उन्हें भी योग्य श्रोताओं के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; विज्ञाय—पूरी तरह समझ कर; जिज्ञासोः—जिज्ञासुओं के; ज्ञातव्यम्—ज्ञेय विषय; अवशिष्यते—रह जाता है; पीत्वा—पीकर; पीयूषम्—स्वादिष्ट; अमृतम्—अमृत; पातव्यम्—पीने योग्य; न—कुछ भी नहीं; अवशिष्यते—बचा रहता है।

जब जिज्ञासु व्यक्ति इस ज्ञान को समझ लेता है, तो उसे और जानने के लिए कुछ भी नहीं रहता। आखिर, जो सर्वाधिक स्वादिष्ट अमृत का पान कर चुकता है, वह कहीं प्यासा रह सकता है?

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।

यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञाने—ज्ञान की विधि में; कर्मणि—सकाम कर्म में; योगे—योग में; च—तथा; वार्तायाम्—सामान्य व्यापार में; दण्ड-धारणे—राजनैतिक शासन में; यावान्—जो भी; अर्थः—उपलब्धि; नृणाम्—मनुष्यों की; तात—हे उद्धव; तावान्—उतना; ते—तुमसे; अहम्—मैं; चतुः-विधः—चार प्रकार का (चार पुरुषार्थ.

वैश्लेषिक ज्ञान, कर्मकाण्ड, योग, सांसारिक वाणिज्य तथा राजनैतिक प्रशासन द्वारा लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में प्रगति करना चाहते हैं। किन्तु क्योंकि तुम मेरे भक्त हो इसलिए जो कुछ इन नाना विधियों से प्राप्त किया जा सकता है, उसे तुम आसानी से मेरे भीतर पा सकोगे।

तात्पर्य : जो कुछ भी विद्यमान है उसका आधार भगवान् कृष्ण हैं और जो भी भगवान् की एकमात्र शरण ग्रहण करता है, वह कृष्ण के शरणागत होने के अपने बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय से कोई हानि नहीं उठाता।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मर्त्यः—मर्त्य; यदा—जब; त्यक्त—त्यागा हुआ; समस्त—सारे; कर्मा—सकाम कर्म; निवेदित-आत्मा—अपनी आत्मा को अर्पित कर चुका; विचिकीर्षितः—कुछ विशेष करने के लिए उत्सुक; मे—मेरे लिए; तदा—उस समय; अमृतत्वम्—अमरता; प्रतिपद्यमानः—प्राप्त करने की विधि में; मया—मेरे साथ; आत्म-भूयाय—समान ऐश्वर्य के लिए; च—भी; कल्पते—पात्र बन जाता है; वै—निस्सन्देह।

जो व्यक्ति सारे सकाम कर्म त्याग देता है और मेरी सेवा करने की तीव्र उत्कंठा से पूरी तरह मुझमें समर्पित हो जाता है, वह जन्म-मृत्यु से मोक्ष पा लेता है और मेरे ऐश्वर्य के भागी के पद पर उन्नत हो जाता है।

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमःश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (उद्धव); एवम्—इस प्रकार; आदर्शित—दिखाया गया; योग-मार्गः—योग का मार्ग; तदा—तब; उत्तमः-श्लोक—भगवान् श्रीकृष्ण के; वचः—शब्द; निशम्य—सुन कर; बद्ध-अञ्जलिः—

स्तुति में हाथ जोड़े हुए; प्रीति—प्रेम के कारण; उपरुद्ध—रुँधा हुआ; कण्ठः—गला; न किञ्चित्—कुछ नहीं; ऊचे—कहा; अश्रु—आँसुओं से; परिप्लुत—भरे हुए; अक्षः—नेत्र।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण द्वारा कहे गये इन शब्दों को सुन कर तथा इस प्रकार सम्पूर्ण योग-मार्ग दिखलाये जा चुकने पर, उद्धव ने नमस्कार करने के लिए अपने हाथ जोड़ लिये। किन्तु उनका गला प्रेम से रुँध गया और आँखें अश्रुओं से पूरित हो गईं जिससे वे कुछ भी नहीं कह पाये।

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन्बहुमन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विष्टभ्य—रोक कर; चित्तम्—अपना मन; प्रणय—प्रेमपूर्वक; अवघूर्णम्—पूर्णतया विचलित; धैर्येण—धैर्यपूर्वक; राजन्—हे राजा; बहु-मन्यमानः—कृतज्ञता अनुभव करते हुए; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्राह—कहा; यदु-प्रवीरम्—यदुओं के महानतम वीर से; शीर्ष्णा—सिर से; स्पृशन्—छूते हुए; तत्—उनके; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

प्रेम से अभिभूत हुए अपने मन को स्थिर करते हुए उद्धव ने यदुवंश के महानतम वीर भगवान् कृष्ण के प्रति अतीव कृतज्ञता का अनुभव किया। हे राजा परीक्षित, वे अपने सिर से भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करने के लिए झुके और तब हाथ जोड़ कर बोले।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, श्री उद्धव के मन में भगवान् कृष्ण से विछोह का भय निरन्तर घर करता जा रहा था, इसलिए वे अपने ऊपर भगवान् की महती कृपा का स्मरण करके अपने उत्साह को बनाये रखना चाहते थे। उन्होंने भगवान् के प्रति कृतज्ञता के भाव से अपने मन को स्थिर किया।

श्रीउद्धव उवाच
विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; विद्रावितः—नष्ट हो चुका है; मोह—मोह का; महा-अन्धकारः—महान् अँधेरा; यः—जो; आश्रितः—शरण लिया गया; मे—मेरे द्वारा; तव—तुम्हारी; सन्निधानात्—उपस्थिति से; विभावसोः—सूर्य का; किम्—

क्या; नु—निस्सन्देह; समीप-गस्य—निकट आये हुए का; शीतम्—जाड़ा; तम:—अंधकार; भी:—भय; प्रभवन्ति—शक्ति रखते हैं; अज—हे अजन्मा; आद्य-ओ प्रिमेवल् लोर्द्.

श्री उद्धव ने कहा : हे अजन्मा आदि भगवान्, यद्यपि मैं मोह के गहन अंधकार में गिर चुका था, किन्तु आपकी दयामयी संगति से अब मेरा अज्ञान दूर हो चुका है। निस्सन्देह, शीत, अंधकार तथा भय उस पर किस तरह अपनी शक्ति दिखा सकते हैं, जो तेजवान् सूर्य के निकट पहुँच गया हो?

तात्पर्य : यद्यपि श्री उद्धव को भगवान् श्रीकृष्ण से बिछुड़ने का भय लग रहा था किन्तु अब उनकी समझ में आ चुका था कि मूलत: भगवान् ही सर्वेसर्वा हैं। जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले रखी है, उसका कृष्णभावनामृत न तो कभी कम हो सकता है, न उसे कोई डरा-धमका सकता है।

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमय: प्रदीप: ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यं समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यर्पित:—बदले में अर्पित; मे—मुझको; भवता—आपके द्वारा; अनुकम्पिना—कृपालु; भृत्याय—अपने सेवक को; विज्ञान-मय:—दिव्य ज्ञान का; प्रदीप:—दीप्त प्रकाश; हित्वा—त्याग कर; कृत-ज्ञ:—कृतज्ञ; तव—तुम्हारे; पाद-मूलम्—चरणकमलों के तलवे; क:—कौन; अन्यम्—दूसरे को; समीयात्—जा सकता है; शरणम्—शरण के लिए; त्वदीयम्—तुम्हारी।

मेरे तुच्छ आत्म-निवेदन के बदले, आपने मुझ अपने सेवक पर दयापूर्वक दिव्य ज्ञान के प्रदीप का दान दिया है। इसलिए आपका कौन भक्त जिसमें तनिक भी कृतज्ञता होगी, आपके चरणकमलों को त्याग कर अन्य स्वामी की शरण ग्रहण करेगा?

वृक्णश्च मे सुदृढ: स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारित: सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

वृक्ण:—कट गया; च—तथा; मे—मेरा; सु-दृढ:—अत्यन्त दृढ़; स्नेह-पाश:—स्नेह का बन्धन; दाशार्ह-वृष्णि-अन्धक-सात्वतेषु—दाशार्हों, वृष्णियों, अन्धकों तथा सात्वतों के लिए; प्रसारित:—फैलाया हुआ; सृष्टि—आपकी सृष्टि की; विवृद्धये—वृद्धि के लिए; त्वया—आपके द्वारा; स्व-मायया—आपकी माया से; हि—निस्सन्देह; आत्म—आत्मा का; सु-बोध—उचित ज्ञान का; हेतिना—तलवार द्वारा।

दाशार्हों, वृष्णियों, अन्धकों तथा सात्वतों के परिवारों के प्रति मेरे स्नेह की दृढ़ता से बँधी

हुई रस्सी—वह रस्सी जिसे आपने अपनी सृष्टि को उत्पन्न करने हेतु अपनी माया से आरम्भ में मेरे ऊपर डाल रखी थी—अब दिव्य आत्म-ज्ञान के हथियार से कट गई है।

तात्पर्य : यद्यपि इस श्लोक में उल्लिखित परिवारों के सदस्य कृष्ण के नित्य संगी हैं, अतः स्नेह के समुचित पात्र हैं, किन्तु श्री उद्धव ने उन्हें भगवान् के शुद्ध भक्त न मान कर अपने सम्बन्धियों के रूप में माना है। भगवान् की माया से प्रभावित होकर उद्धव ने इन कुलों के लिए समृद्धि तथा विजय की कामना की थी। किन्तु अब कृष्ण के उपदेशों को सुन कर उन्होंने अपना मन एकमात्र भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर लिया है, अतः वे अपने तथाकथित पारिवारिक सदस्यों को, बिना किसी भौतिक चिंतन के, भगवान् का नित्य दास मानते हैं।

नमोऽस्तु ते महायोगिन्प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नमः अस्तु—नमस्कार है; ते—तुमको; महा-योगिन्—हे योगियों में सबसे महान्; प्रपन्नम्—शरणागत; अनुशाधि—कृपया आदेश दें; माम्—मुझको; यथा—किस तरह; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्भोजे—चरणकमलों पर; रतिः—दिव्य आसक्ति; स्यात्—होए; अनपायिनी—अचल।

हे महायोगी, आपको नमस्कार है। मुझ शरणागत को आप उपदेश दें कि मैं किस तरह आपके चरणकमलों के प्रति अनन्य अनुरक्ति पा सकता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥ ४१ ॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः ।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक्सुखनिःस्पृहः ॥ ४२ ॥
तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः ।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ४३ ॥
मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन् ।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; गच्छ—जाओ; उद्धव—हे उद्धव; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; बदरी-आख्यम्—बद्रिका नामक; मम—मेरी; आश्रमम्—कुटिया; तत्र—वहाँ; मत्-पाद—मेरे पैरों से निकले; तीर्थ—पवित्र स्थानों के; उदे—जल में; स्नान—स्नान करके; उपस्पर्शनैः—तथा शुद्धि के लिए स्पर्श करने से; शुचिः—विमल; ईक्षया—चितवन से;

अलकनन्दायाः—गंगा नदी पर; विधूत—विमल; अशेष—समस्त; कल्मषः—पाप; वसानः—पहन करके; वल्कलानि—छाल; अङ्ग—हे उद्धव; वन्य—जंगल के फल-फूल, मूल आदि; भुक्—खाकर; सुख—सुखी; निःस्पृहः—तथा इच्छा से रहित; तितिक्षुः—सहिष्णु; द्वन्द्व-मात्राणाम्—सारे द्वैतों के; सु-शीलः—सन्त जैसा आचरण करते हुए; संयत-इन्द्रियः—वशीभूत इन्द्रियों से; शान्तः—शान्त; समाहित—पूर्णतया एकाग्र; धिया—बुद्धि से; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूति से; संयुतः—से युक्त; मत्तः—मुझसे; अनुशिक्षितम्—सीखा हुआ; यत्—जो; ते—तुम्हारे द्वारा; विविक्तम्—विवेक से सुनिश्चित; अनुभावयन्—पूरी तरह ध्यान करते हुए; मयि—मुझमें; आवेशित—लीन; वाक्—तुम्हारे शब्द; चित्तः—तथा मन; मत्-धर्म—मेरे दिव्य गुण; निरतः—अनुभव करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील; भव—इस तरह स्थित होओ; अतिव्रज्य—इसको पार करके; गतीः—भौतिक प्रकृति के गन्तव्य; तिस्रः—तीन; माम्—मेरे पास; एष्यसि—तुम आओगे; ततः परम्—तत्पश्चात्।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरा आदेश लो और बदरिका नामक मेरे आश्रम जाओ। तुम वहाँ के पवित्र जल को, जो मेरे चरणकमलों से निकला है, स्पर्श करना तथा उसमें स्नान करके अपने को शुद्ध करना। तुम पवित्र अलकनन्दा नदी के दर्शन से समस्त पापों से अपने को मुक्त करना। तुम वृक्षों की छाल पहनना और जंगल में जो कुछ मिल सके उसे खाना। इस तरह तुम संतुष्ट और इच्छा से मुक्त, समस्त द्वैतों के प्रति सहिष्णु, अच्छे स्वभाव के, आत्मसंयमी, शान्त तथा आध्यात्मिक ज्ञान एवं विज्ञान से समन्वित हो सकोगे। अपना ध्यान एकाग्र करके मेरे द्वारा दिये गये उपदेशों पर निरन्तर मनन करना और इनके सार को आत्मसात् करना। अपने वचनों तथा विचारों को मुझ पर स्थिर करना और मेरे दिव्य गुणों की अनुभूति को अपने में बढ़ाने के लिए सदैव प्रयास करना। इस तरह तुम प्रकृति के तीन गुणों के गन्तव्य को पार करके अन्त में मेरे पास आ जाओगे।

श्रीशुक उवाच
स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥ ४५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस तरह; उक्तः—कहा गया; हरि-मेधसा—भगवान् द्वारा जिनकी बुद्धि भौतिक जीवन के कष्ट को हर लेती है; उद्धवः—उद्धव ने; प्रदक्षिणम्—अपनी दाएँ ओर मुँह करके; तम्—उसको; परिसृत्य—परिक्रमा करके; पादयोः—दोनों पाँवों पर; शिरः—अपना सिर; निधाय—रख कर; अश्रु-कलाभिः—आँसू की बूँदों से; आर्द्र—द्रवित; धीः—जिसका हृदय; न्यषिञ्चत्—भिगो दिया; अद्वन्द्व-परः—भौतिक द्वन्द्वों में न फँस कर; अपि—यद्यपि; अपक्रमे—विदा लेते समय।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह भौतिक जीवन के समस्त कष्ट को नष्ट करने वाली बुद्धि के स्वामी भगवान् कृष्ण द्वारा सम्बोधित किये जाने पर श्री उद्धव ने भगवान् की परिक्रमा की और तब भगवान् के चरणों पर अपना सिर रख कर भूमि पर लेट गये। यद्यपि उद्धव सारे

भौतिक द्वन्द्वों के प्रभाव से मुक्त थे, किन्तु उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था और विदा के समय उन्होंने अपने आँसुओं से भगवान् के चरणकमलों को भिगो दिया।

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सु-दुस्त्यज—त्याग पाना असम्भव; स्नेह—जिस पर उसने स्नेह टिका रखा था; वियोग—विछोह के कारण; कातरः—अत्यन्त दुखी, आपे से बाहर; न शक्नुवन्—असमर्थ होने से; तम्—उसको; परिहातुम्—छोड़ने के लिए; आतुरः—अभिभूत; कृच्छ्रम् ययौ—अत्यधिक पीड़ा अनुभव की; मूर्धनि—सिर पर; भर्तृ—अपने स्वामी के; पादुके—खड़ाओं को; बिभ्रन्—लेते हुए; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; ययौ—चला गया; पुनः पुनः—बारम्बार।

जिनसे उद्धव का अटूट स्नेह था उनसे बिछुड़ने से अत्यधिक डरते हुए, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और वे भगवान् का साथ छोड़ नहीं पाये। अन्त में, अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करते हुए, उन्होंने बारम्बार भगवान् को नमस्कार किया और अपने स्वामी के खड़ाऊँ को सिर पर रख कर वहाँ से प्रस्थान किया।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (३.४.५), जब उद्धव बदरिकाश्रम जा रहे थे, तो उन्होंने भगवान् की प्रभास यात्रा के विषय में सुना। पीछे मुड़ कर तथा कृष्ण के पीछे पीछे जाकर उन्होंने देखा कि यदुवंश के विनाश के बाद भगवान् अकेले थे। जब भगवान् ने पुनः कृपा करके (मैत्रेय के साथ जो अभी अभी पहुँचे थे) उपदेश दिया तो उद्धव को लगा कि उनका सत्य ज्ञान जागृत हो उठा है और तब भगवान् के आदेश से वे अपने रास्ते पर आगे बढ़ गये।

ततस्तमन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम् ।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तम्—उसको; अन्तः—भीतर; हृदि—अपने मन में; सन्निवेश्य—रख कर; गतः—जाते हुए; महा-भागवतः—महान् भक्त; विशालाम्—बदरिकाश्रम को; यथा—जिस तरह; उपदिष्टाम्—वर्णित; जगत्—ब्रह्माण्ड के; एक—एकमात्र; बन्धुना—मित्र द्वारा; तपः—तपस्या; समास्थाय—ठीक से सम्पन्न करके; हरेः—भगवान् के; अगात्—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य को।

तत्पश्चात् भगवान् को, हृदय में रखते हुए महान् भक्त उद्धव बदरिकाश्रम गये। वहाँ पर

तपस्या में रत होकर उन्होंने भगवान् के निजी धाम को प्राप्त किया जिसका वर्णन ब्रह्माण्ड के एकमात्र मित्र स्वयं कृष्ण ने उनसे किया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार श्री उद्धव वैकुण्ठ-स्थित द्वारका लौट आये।

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम् ।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—यह; आनन्द—आनन्द के; समुद्र—सागर; सम्भृतम्—संग्रहीत; ज्ञान—ज्ञान के; अमृतम्—अमृत; भागवताय—उनके भक्त से; भाषितम्—कहा गया; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; योग-ईश्वर—योगके स्वामियों द्वारा; सेवित—सेवा किया गया; अङ्घ्रिणा—चरणकमलों द्वारा; सत्—सही; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; आसेव्य—सेवा करके; जगत्—सारा संसार; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

इस तरह उन भगवान् कृष्ण ने जिनके चरणकमलों की सेवा समस्त बड़े बड़े योगेश्वरों द्वारा की जाती है, अपने भक्त से यह अमृततुल्य ज्ञान कहा जो आध्यात्मिक आनन्द के सम्पूर्ण सागर जैसा है। इस ब्रह्माण्ड में जो कोई भी इस कथा को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है।

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भव—भौतिक जीवन के; भयम्—भय को; अपहन्तुम्—हर लेने के लिए; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा विज्ञान का; सारम्—सार; निगम—वेदों के; कृत्—रचयिता ने; उपजह्रे—प्रदान किया; भृङ्ग-वत्—मधुमक्खी की तरह; वेद-सारम्—वेदों का सार; अमृतम्—अमृत; उदधितः—समुद्र से; च—तथा; अपाययत्—पिलाया; भृत्य-वर्गान्—अपने अनेक भक्तों को; पुरुषम्—भगवान् को; ऋषभम्—महानतम; आद्यम्—आदि जीव; कृष्ण-संज्ञम्—कृष्ण नामक; नतः—सिर झुकाता; अस्मि—हूँ।

मैं उन भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जो आदि तथा समस्त जीवों में महानतम हैं। वे वेदों के रचयिता हैं और उन्होंने अपने भक्तों के भौतिक जगत के भय को नष्ट करने के लिए, मधुमक्खी की तरह समस्त ज्ञान तथा विज्ञान के इस अमृतमय सार का संग्रह किया। इस तरह उन्होंने अपने अनेक भक्तों को आनन्दसागर से यह अमृत प्रदान किया है और उनकी कृपा से उन्होंने इसका पान किया है।

तात्पर्य : जिस तरह मधुमक्खी फूल को क्षति पहुँचाये बिना अमृत चूस लेती है, उसी तरह श्रीकृष्ण वैदिक विकास की विस्तृत प्रणाली को विचलित किये बिना, समस्त वैदिक ज्ञान का सार काढ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण स्वयं को वैदिक ज्ञान का लक्ष्य स्थापित करते हैं। वे प्रारम्भिक निकृष्ट विधियों को जो स्थूल भौतिक व्यक्तियों पर लागू हों तनिक भी विनष्ट नहीं होने देते। श्री शुकदेव गोस्वामी समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हुए समापन करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''भक्ति-योग'' नामक उन्तीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीस

यदुवंश का संहार

इस अध्याय में भगवान् की लीलाओं के समापन के प्रसंग में यदुवंश के विनाश की चर्चा हुई है।

श्री उद्धव के बदरिकाश्रम प्रस्थान के बाद जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक अपशकुन देखे, तो उन्होंने यादवों को सलाह दी कि वे द्वारका छोड़ कर सरस्वती-तट पर स्थित प्रभास क्षेत्र जाँय और दुर्भाग्य के प्रतिकार हेतु *स्वस्त्ययन* तथा अन्य अनुष्ठान सम्पन्न करें। वे सभी उनकी सलाह मान कर प्रभास गये। वहाँ पर वे उत्सव मनाने में लीन हो गये और कृष्ण की मायाशक्ति से मदिरा-पान करके उन्मत्त हो उठे। इस तरह अपनी बुद्धि खोकर वे परस्पर लड़ने-झगड़ने और एक-दूसरे को मारने लगे जिससे अन्त में एक भी व्यक्ति जीवित न बचा।

तत्पश्चात् श्री बलदेव समुद्र-तट पर गये और वहाँ उन्होंने योगशक्ति से अपना शरीर त्याग दिया। बलदेव के तिरोधान को देख कर श्रीकृष्ण मौन भाव से भूमि पर बैठ गये। तब जरा नाम के शिकारी ने भगवान् के पैर के तलवे को हिरन समझ कर उसे तीर से बेध दिया। किन्तु शिकारी को अपनी भूल का तुरन्त ही पता चल गया, अत: वह श्रीकृष्ण के चरणों पर गिर कर उनसे दण्ड देने के लिए याचना करने लगा। कृष्ण ने उत्तर में शिकारी से कहा कि उसने जो कुछ किया है, वह उनकी अपनी इच्छा के अनुसार है। तब भगवान् ने शिकारी को वैकुण्ठ भेज दिया।

जब कृष्ण का सारथी, दारुक, घटनास्थल पर आया और कृष्ण को उस अवस्था में देखा तो वह

शोक करने लगा। कृष्ण ने उससे द्वारका जाने, वहाँ के निवासियों को यदुकुल के संहार के विषय में सूचित करने तथा द्वारका छोड़ कर इन्द्रप्रस्थ जाने की सलाह दी। दारुक ने आज्ञाकारी होते हुए यह आदेश पूरा किया।

श्रीराजोवाच
ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् ।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान्भूतभावनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; ततः—तब; महा-भागवते—महान् भक्त; उद्धवे—उद्धव के; निर्गते—चले जाने पर; वनम्—वन में; द्वारवत्याम्—द्वारका में; किम्—क्या; अकरोत्—किया; भगवान्—भगवान् ने; भूत—सारे जीवों के; भावनः—रक्षक।

राजा परीक्षित ने कहा : जब महान् भक्त उद्धव जंगल चले गये तो समस्त जीवों के रक्षक भगवान् ने द्वारका नगरी में क्या किया?

तात्पर्य : अब परीक्षित महाराज शुकदेव गोस्वामी से इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय के शीर्षक के विषय में—यदुवंश के संहार तथा श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ लौट जाने के विषय में—पूछ रहे हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण यदुवंश के सामान्य सदस्य की भूमिका निभा रहे थे, अतः वे अपनी पार्थिव लीलाओं को त्याग कर ब्राह्मणों के शाप के प्रति अपने भाव व्यक्त करते प्रतीत हो रहे थे। वस्तुतः भगवान् कृष्ण को कोई शाप नहीं दे सकता। नारद मुनि तथा अन्य मुनिगण जिन्होंने यदुवंश को शाप दिया, वे भगवान् के नित्य भक्त हैं और वे उन्हें शाप नहीं दे सकते थे। अतएव, अपनी लीलाएँ समाप्त करने तथा यदुकुल के साथ पृथ्वी छोड़ने में, भगवान् कृष्ण ने अपनी अन्तरंगा शक्ति तथा निजी इच्छा का प्रदर्शन किया क्योंकि भगवान् की परम शक्ति को ललकारा नहीं जा सकता।

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-शाप—ब्राह्मणों के शाप से; उपसंसृष्टे—विनष्ट किये जाने पर; स्व-कुले—अपने ही परिवार में; यादव-ऋषभः—यदुओं के प्रमुख; प्रेयसीम्—अत्यन्त प्रिय; सर्व-नेत्राणाम्—सारे नेत्रों को; तनुम्—शरीर; सः—उन्होंने; कथम्—कैसे; अत्यजत्—त्यागा।

ब्राह्मणों के शाप से अपने ही वंश के नष्ट हो जाने के बाद, यदुओं में श्रेष्ठ भगवान् ने किस तरह अपना शरीर छोड़ा जो सारे नेत्रों की परमप्रिय वस्तु था?

तात्पर्य : इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी की व्याख्या है कि भगवान् कभी अपने

दिव्य सच्चिदानन्द शरीर को त्यागते नहीं। इसलिए *कथम्* शब्द यह सूचित करता है कि, "यह कैसे सम्भव हो सकता है" जिसका आशय यह है कि भगवान् कृष्ण के लिए अपना नित्य स्वरूप जो *प्रेयसीं सर्व-नेत्राणाम्* है, वास्तव में कभी भी त्याग करना संभव नहीं है।

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत्सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रत्याक्रष्टुम्—दूर हटाने में; नयनम्—अपनी आँखें; अबलाः—स्त्रियाँ; यत्र—जिसमें; लग्नम्—लिप्त; न शेकुः—सक्षम नहीं थीं; कर्ण—कान; आविष्टम्—घुस कर; न सरति—छोड़ती नहीं; ततः—तत्पश्चात्; यत्—जो; सताम्—ऋषियों-मुनियों का; आत्म—हृदयों में; लग्नम्—लगा हुआ; यत्—जिसका; श्रीः—सौन्दर्य; वाचाम्—शब्दों का; जनयति—उत्पन्न करता है; रतिम्—विशेष आनन्ददायक आकर्षण; किम् नु—क्या कहा जाय; मानम्—ख्याति; कवीनाम्—कवियों की; दृष्ट्वा—देख कर; जिष्णोः—अर्जुन के; युधि—युद्धक्षेत्र में; रथ-गतम्—रथ पर; यत्—जो; च—तथा; तत्-साम्यम्—उनके समान पद; ईयुः—उन्होंने प्राप्त किया।

एक बार उनके दिव्य रूप पर अपनी आँखें गड़ा देने पर, स्त्रियाँ उन्हें हटा पाने में असमर्थ होती थीं और यदि वह रूप एक बार मुनियों के कानों में प्रवेश कर जाता और उनके हृदयों में गड़ जाता, तो फिर वह हटाये नहीं हटता था। ख्याति पाने के विषय में क्या कहा जाय, जिन महान् कवियों ने भगवान् के रूप के सौन्दर्य का वर्णन किया उनके शब्द दिव्य मोहक आकर्षण में फँस कर रह गये। और उस रूप को अर्जुन के रथ पर देख कर कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के सारे योद्धाओं ने भगवान् जैसे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर मोक्ष-लाभ उठाया।

तात्पर्य : वृन्दावन की गोपियाँ तथा आदि लक्ष्मी रुक्मिणी जैसी दिव्य मुक्तात्माएँ भगवान् के आध्यात्मिक शरीर का निरन्तर ध्यान करती रहती थीं। महा मुक्त ऋषिगण (*सताम्*) कृष्ण के शरीर के विषय में सुन कर, अपने हृदयों को उससे हटा नहीं पाते थे। भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य महान् मुक्त कवियों के प्रेम तथा कवित्व शक्ति को बढ़ाने वाला था और कुरुक्षेत्र के योद्धाओं ने भगवान् कृष्ण के शरीर को देखने मात्र से भगवान् जैसा नित्य शरीर पाकर मोक्ष प्राप्त किया। इसलिए भगवान् कृष्ण के नित्य आनन्द रूप को किसी भी तरह भौतिक रूप में कल्पित करना असम्भव है। जो लोग कल्पना करते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपना नित्य स्वरूप त्यागा वे निश्चय ही भगवान् की मायाशक्ति द्वारा विमोहित हैं।

श्री ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान्सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; दिवि—आकाश में; भुवि—पृथ्वी पर; अन्तरिक्षे—बाह्य अवकाश में; च—तथा; महा-उत्पातान्—महान् उत्पातों को; समुत्थितान्—प्रकट हो चुके; दृष्ट्वा—देख कर; आसीनान्—आसन जमाये हुए; सु-धर्मायाम्—सुधर्मा नामक राजसभा में; कृष्णः—कृष्ण ने; प्राह—कहा; यदून्—यदुओं से; इदम्—यह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : आकाश, पृथ्वी तथा बाह्य अवकाश में अनेक उत्पात-चिन्ह देख कर भगवान् कृष्ण ने सुधर्मा नामक सभाभवन में एकत्र यदुओं से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अशुभ संकेत थे—आकाश में सूर्य के चारों ओर मंडल का प्रकट होना, पृथ्वी पर छोटे-छोटे भूकम्प आना तथा बाह्य अवकाश में क्षितिज पर अप्राकृतिक लालिमा को प्रकट होना। ये तथा इसी तरह के अन्य अपशकुनों का निराकरण कर पाना असम्भव था क्योंकि इनकी योजना स्वयं कृष्ण ने की थी।

श्रीभगवानुवाच

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ।
मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एते—ये; घोराः—भयावने; महा—महान्; उत्पाताः—अपशकुन; द्वार्वत्याम्—द्वारका में; यम—मृत्यु के राजा के; केतवः—झंडे; मुहूर्तम्—एक क्षण; अपि—भी; न स्थेयम्—रुकना चाहिए; अत्र—यहाँ; नः—हमें; यदु-पुङ्गवाः—हे यदुओं में श्रेष्ठ।

भगवान् ने कहा : अरे यदुवंश के नायको, जरा इन सारे भयावने अपशकुनों पर ध्यान दो जो द्वारका में मृत्यु के झंडों की तरह प्रकट हुए हैं। अब हमें यहाँ पर क्षण-भर भी रुकना नहीं चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने वैदिक ग्रंथों से पर्याप्त प्रमाण यह सिद्ध करने के लिए जुटाये हैं कि भगवान् का मनुष्य जैसा स्वरूप तथा उनके नाम, धाम, साज-सामग्री तथा संगी, नित्य तथा भौतिक कल्मष से रहित आध्यात्मिक स्वरूप हैं। (*देखें परिशिष्ट पृष्ठ ...*) इस प्रसंग में आचार्य ने आगे भी व्याख्या की है कि चूँकि जीवों को अपने पापकर्मों का फल भोगना होता है, इसलिए भगवान् उन्हें कलियुग में दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् यह नहीं चाहते कि बद्धजीव

पापी बनें और कष्ट भोगें किन्तु चूँकि वे पहले से पापी होते हैं अतएव भगवान् उपयुक्त युग की सृष्टि करते हैं जिसमें अधर्म के तिक्त फलों का वे स्वाद चख सकें।

चूँकि भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में अपने विभिन्न रूपों में धर्म की स्थापना करते हैं, इसलिए द्वापर युग के अन्त में पृथ्वी पर धर्म अत्यन्त प्रबल था। सारे प्रधान असुरों का वध हो चुका था; सारे ऋषि-मुनियों, सन्तों तथा भक्तों को प्रोत्साहन मिला था; उन्हें प्रबुद्ध किया गया था और प्रबल बनाया गया था, इसलिए अधर्म के लिए बहुत कम अवकाश था। यदि भगवान् कृष्ण वैकुण्ठ को अपने आध्यात्मिक शरीर में संसार के समक्ष गए होते, तो कलियुग के लिए पल्लवित हो पाना कठिन हो जाता। भगवान् कृष्ण ने संसार को उसी तरह से छोड़ा जिस तरह रामचन्द्र के अवतार में किया था और लाखों वर्षों बाद भी करोडों पवित्र पुरुष भगवान् की इस अद्भुत लीला की चर्चा चलाते हैं। किन्तु कलियुग के लिए मार्ग प्रशस्त करने के लिए भगवान् कृष्ण ने इस जगत को इस तरह छोड़ा जो उन लोगों को चकराने वाला है, जो उनके कट्टरभक्त नहीं हैं।

भगवान् के नित्य रूप का वर्णन सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है और सारे महान् आचार्यों के अनुसार, जिनमें शंकराचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु सम्मिलित हैं, भगवान् का नित्य रूप परब्रह्म का सर्वोच्च ज्ञान है। यद्यपि उच्च भक्तों के लिए भगवान् कृष्ण का नित्य आध्यात्मिक रूप एक अनुभूत तथ्य है, किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में पिछड़े हैं उनके लिए भगवान् की अचिन्त्य लीलाएँ एवं योजना कभी कभी पूरी समझ के परे रहती है।

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक्सरस्वती ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; बालाः—बालक; च—तथा; वृद्धाः—बूढ़े लोग; च—तथा; शङ्ख-उद्धारम्—शंखोद्धार (जो द्वारका तथा प्रभास के बीचोबीच है) नामक पवित्र स्थान तक; व्रजन्तु—जाना चाहिए; इतः—यहाँ से; वयम्—हम; प्रभासम्—प्रभास तक; यास्यामः—जायेंगे; यत्र—जहाँ; प्रत्यक्—पश्चिमवाहिनी; सरस्वती—सरस्वती नदी।

स्त्रियों, बालकों तथा बूढ़े लोगों को यह नगर छोड़ कर शंखोद्धार जाना चाहिए। हम सभी प्रभास क्षेत्र चलेंगे जहाँ सरस्वती नदी पश्चिम वाहिनी है।

तात्पर्य : *वयम्* शब्द यदुवंश के हृष्टपुष्ट पुरुषों का द्योतक है।

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अभिषिच्य—स्नान करके; शुचयः—पवित्र हुए; उपोष्य—उपवास रख कर; सु-समाहिताः—अपने मनों को स्थिर करके; देवताः—देवतागण; पूजयिष्यामः—हम पूजन करेंगे; स्नपन—स्नान करके; आलेपन—चंदन लगाकर; अर्हणैः—तथा विविध भेंटों से।

वहाँ हम शुद्धि के लिए स्नान करें, उपवास रखें और अपने मनों को ध्यान में स्थिर करें। तत्पश्चात् देवताओं की मूर्तियों को स्नान कराकर हम उनका पूजन करें, चन्दन का लेप करें और उन्हें विविध भेंटें अर्पित करें।

ब्राह्मणांस्तु महाभागान्कृतस्वस्त्ययना वयम् ।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; तु—तथा; महा-भागान्—अत्यन्त भाग्यशाली; कृत—सम्पन्न करने के बाद; स्वस्ति-अयनाः—सौभाग्य के लिए उत्सव; वयम्—हम; गो—गौवों; भू—भूमि; हिरण्य—स्वर्ण; वासोभिः—तथावस्त्रों से; गज—हाथियों; अश्व—घोड़ों; रथ—रथों; वेश्मभिः—तथा घरों से।

अत्यन्त भाग्यशाली ब्राह्मणों की सहायता से स्वस्तिवाचन कराने के बाद हम उन बाह्मणों को गौवें, भूमि, सोना, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ तथा घर भेंट करके उनकी पूजा करें।

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विधिः—संस्तुत विधि; एषः—यह; हि—निस्सन्देह; अरिष्ट—अशुभ अड़चनों को; घ्नः—नष्ट करने वाला; मङ्गल-अयनम्—सौभाग्य लाने वाला; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; देव—देवताओं; द्विज—ब्राह्मणों; गवाम्—तथागौवों में; पूजा—पूजा; भूतेषु—जीवों में से; परमः—सर्वोत्तम; भवः—पुनर्जन्म।

अपने आसन्न संकट का सामना करने के लिए निस्सन्देह यह उपयुक्त विधि है और इससे निश्चित ही सर्वोच्च सौभाग्य प्राप्त होगा। देवताओं, ब्राह्मणों तथा गौवों की ऐसी पूजा सारे जीवों को सर्वोच्च जन्म दिलाने वाली हो सकती है।

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः ।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सर्वे—सभी लोग; समाकर्ण्य—सुन कर; यदु-वृद्धाः—यदुकुल के गुरुजन; मधु-द्विषः—मधु राक्षस के शत्रु भगवान् कृष्ण से; तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; नौभिः—नावों द्वारा; उत्तीर्य—पार करके; प्रभासम्—प्रभास तक; प्रययुः—गये; रथैः—रथों से।

मधु के शत्रु भगवान् कृष्ण से ये शब्द सुन कर, यदुवंश के गुरुजनों ने अपनी सहमति ''तथास्तु'' कह कर व्यक्त कर दी। नावों से समुद्र को पार करने के बाद वे रथों से प्रभास की ओर बढ़े।

तस्मिन्भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः ।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टम्—आदेश दिये गये; यदु-देवेन—यदुओं के स्वामी द्वारा; यादवाः—यादव लोगों ने; चक्रुः—सम्पन्न किया; परमया—दिव्य; भक्त्या—भक्ति से; सर्व—समस्त; श्रेयः—शुभ अनुष्ठानों से; उपबृंहितम्—युक्त।

वहाँ पर यादवों ने अत्यन्त भक्ति के साथ अपने स्वामी भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न किये। उन्होंने अन्य विविध शुभ अनुष्ठान भी सम्पन्न किये।

ततस्तस्मिन्महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तस्मिन्—वहाँ; महा—प्रचुर मात्रा में; पानम्—पेय; पपुः—पिया; मैरेयकम्—मैरेय नामक; मधु—मधुर स्वाद वाली; दिष्ट—भाग्यवश; विभ्रंशित—नष्ट हुई; धियः—उनकी बुद्धि; यत्—जिस पेय से; द्रवैः—द्रव पदार्थों से; भ्रश्यते—भ्रष्ट हो जाता है; मतिः—मन।

तब दैव द्वारा बुद्धि भ्रष्ट किये गये वे सब खुले मन से मधुर मैरेय पेय के पीने में लग गये जो मन को पूरी तरह मदोन्मत्त कर देता है।

तात्पर्य : *दिष्ट* शब्द भगवान् की इच्छा का सूचक है। इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय ''यदुवंश को शाप'' में इस घटना का विस्तार से वर्णन हुआ है।

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् ।
कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

महा-पान—अत्यधिक पीने से; अभिमत्तानाम्—मदोन्मत्त हुए; वीराणाम्—वीरों के; दृप्त—उद्धत; चेतसाम्—मन; कृष्ण-माया—कृष्ण की माया से; विमूढानाम्—मोहग्रस्त हुए; सङ्घर्षः—झगड़ा; सु-महान्—बहुत बड़ा; अभूत्—हुआ।

यदुवंश के वीरगण अत्यधिक पान के कारण उन्मत्त हो उठे और उद्धत हो गये। जब वे

भगवान् कृष्ण की निजी शक्ति से इस तरह विमोहित थे, तो उनके बीच भयानक झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः ।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

युयुधुः—लड़ने लगे; क्रोध—क्रोध से; संरब्धाः—बुरी तरह उत्तेजित; वेलायाम्—समुद्र-तट पर; आततायिनः—हथियार लिए; धनुर्भिः—धनुषों से; असिभिः—तलवारों से; भल्लैः—भालों से; गदाभिः—गदाओं से; तोमर—बर्छों से; ऋष्टिभिः—ऋष्टियों से।.

क्रुद्ध होकर उन्होंने अपने अपने धनुष-बाण, तलवारें, भाले, गदाएँ, बर्छे, तोमर ले लिये और समुद्र के किनारे एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे।

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन्शरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥ १५॥

शब्दार्थ

पतत्-पताकैः—उड़ती पताकाओं से; रथ—रथों पर; कुञ्जर—हाथी; आदिभिः—तथा अन्य वाहनों से; खर—गधों; उष्ट्र—ऊँटों; गोभिः—तथा बैलों पर; महिषैः—भैसों पर; नरैः—मनुष्यों पर; अपि—भी; मिथः—परस्पर; समेत्य—मिल कर; अश्वतरैः—खच्चरों पर; सु-दुर्मदाः—अत्यधिक क्रुद्ध; न्यहन्—आक्रमण किया; शरैः—तीरों से; दद्भिः—अपने दाँतों से; इव—मानो; द्विपाः—हाथी; वने—जंगल में।.

हाथियों पर तथा फहराती ध्वजाओं वाले रथों पर तथा गधों, ऊँटों, बैलों, भैसों, खच्चरों एवं मनुष्यों पर भी सवार होकर अत्यन्त क्रुद्ध योद्धागण एक-दूसरे के पास आये और उन्होंने एक-दूसरे पर बाणों से वेगपूर्वक उसी तरह आक्रमण किया जिस तरह जंगल में हाथी अपने दाँतों से एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं।

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥ १६॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्न-साम्बौ—प्रद्युम्न तथा साम्ब; युधि—युद्ध में; रूढ—उकसायी हुई; मत्सरौ—उनकी शत्रुता; अक्रूर-भोजौ—अक्रूर तथा भोज; अनिरुद्ध-सात्यकी—अनिरुद्ध तथा सात्यकि; सुभद्र-सङ्ग्रामजितौ—सुभद्र तथा संग्रामजित; सु-दारुणौ—भयंकर;

गदौ—दोनों गद (एक श्रीकृष्ण का भाई और दूसरा उनका पुत्र); सुमित्रा-सुरथौ—सुमित्र तथा सुरथ; समीयतुः—एक-दूसरे से मिले।.

आपसी शत्रुता भड़कने से प्रद्युम्न साम्ब से घनघोर लड़ाई करने लगा, अक्रूर कुन्तिभोज से, अनिरुद्ध सात्यकि से, सुभद्र संग्रामजित से, सुमित्र सुरथ से तथा दोनों गद एक-दूसरे से लड़ने लगे।

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; च—तथा; ये—जो; वै—निस्सन्देह; निशठ-उल्मक-आदयः—निशठ, उल्मुक इत्यादि; सहस्रजित्-शतजित्-भानु-मुख्यः—सहस्रजित, शतजित तथा भानु इत्यादि; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; आसाद्य—मिल कर; मद—नशे से; अन्ध-कारिताः—अन्धे हुए; जघ्नुः—मार डाला; मुकुन्देन—मुकुन्द द्वारा; विमोहिताः—विमोहित; भृशम्—पूरी तरह से।.

अन्य लोग भी, यथा निशठ, उल्मुक, सहस्रजित, शतजित तथा भानु एक-दूसरे से गुँथ गये और उन्होंने नशे से अंधे हुए एवं भगवान् मुकुन्द द्वारा पूर्णतया विमोहित हुए एक-दूसरे को मार डाला।

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्तु जघ्नुः सुविसृज्य सौहृदम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

दाशार्ह-वृष्णि-अन्धक-भोज-सात्वताः—दाशार्ह, वृष्टि, अन्धक, भोज तथा सात्वतगण; मधु-अर्बुदाः—मधु तथा अर्बुद; माथुर-शूरसेनाः—मथुरा तथा शूरसेन के निवासी; विसर्जनाः—विसर्जनगण; कुकुराः—कुकुरगण; कुन्तयः—कुन्तिगण; च—भी; मिथः—परस्पर; तु—तथा; जघ्नुः—मार डाला; सु-विसृज्य—पूरी तरह त्याग कर; सौहृदम्—अपनी मित्रता।.

विविध यदुवंशियों—दाशार्हों, वृष्णियों तथा अंधकों, भोजों, सात्वतों, मधुओं तथा अर्बुदों, माथुरों, शूरसेनों, विसर्जनों, कुकुरों तथा कुन्तियों ने अपनी अपनी सहज मित्रता त्याग कर एक-दूसरे को मार-काट डाला।

पुत्रा अयुध्यन्पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।

मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
ज्ञार्तीस्त्वहन्ज्ञातय एव मूढाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पुत्राः—पुत्र; अयुध्यन्—लड़े; पितृभिः—अपने पिताओं से; भ्रातृभिः—भाइयों से; च—तथा; स्वस्त्रीय—बहनों के लड़कों से; दौहित्र—पुत्रियों के पुत्र; पितृव्य—चाचाओं; मातुलैः—तथा मामाओं से; मित्राणि—मित्र; मित्रैः—मित्रों से; सुहृदः—शुद्ध चिन्तक; सुहृद्भिः—शुभचिन्तकों से; ज्ञातीन्—निकट सम्बन्धी; तु—तथा; अहन्—मार डाला; ज्ञातयः—निकट सम्बन्धी; एव—निस्सन्देह; मूढाः—विमोहित।

इस तरह मोहग्रस्त हुए पुत्र अपने पिताओं से, भाई भाइयों से, भाँजे अपने मामाओं से, भतीजे अपने चाचों से और नाती अपने पितामहों से लड़ने लगे। मित्र अपने मित्रों से तथा शुभचिन्तक अपने शुभचिन्तकों से भिड़ गये। इस तरह घनिष्ठ मित्रों तथा सम्बन्धियों ने एक-दूसरे को मार डाला।

शरेषु हीयमाएषु भज्यमानेसु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमानेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शरेषु—बाणों; हीयमानेषु—समाप्त हुए; भज्यमानेषु—नष्ट-भ्रष्ट हुए; धन्वसु—धनुष; शस्त्रेषु—प्रक्षेप्यास्त्र; क्षीयमानेषु—समाप्त हुए; मुष्टिभिः—अपनी मुट्ठियों से; जह्रुः—पकड़ लिया; एरकाः—बेंत के तने।

जब उनके सारे धनुष टूट गये और उनके बाण तथा अन्य प्रक्षेपास्त्र समाप्त हो गये तो उन्होंने अपने खाली हाथों में बेंत के लम्बे लम्बे डंठल ले लिये।

ता वज्रकल्पा ह्यभवन्परिघा मुष्टिना भृताः ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे डंठल; वज्र-कल्पाः—वज्र की तरह कठोर; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; परिघाः—लोहे का डंडा; मुष्टिना—अपनी मूट्ठियों में; भृताः—पकड़े; जघ्नुः—आक्रमण किया; द्विषः—उनके शत्रु; तैः—इनसे; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; वार्यमाणाः—रोके जाने पर; तु—यद्यपि; तम्—उसको; च—भी; ते—वे।

ज्योंही उन लोगों ने इन बेंत के डंठलों को अपनी मुट्ठियों में धारण किया, वे वज्र की तरह कठोर लोहे के डंडों में बदल गये। योद्धा इन हथियारों से एक-दूसरे पर बारम्बार आक्रमण करने लगे और जब कृष्ण ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, तो उन्होंने उन पर भी आक्रमण कर दिया।

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।

हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रत्यनीकम्—शत्रु; मन्यमानाः—सोचते हुए; बलभद्रम्—बलराम को; च—भी; मोहिताः—मोहित; हन्तुम्—मारने के लिए; कृत-धियः—संकल्प करके; राजन्—हे राजा परीक्षित; आपन्नाः—वे उन पर टूट पड़े; आततायिनः—हथियार भाँजते।

हे राजा, उन सबों ने विमोहित अवस्था में बलराम को भी अपना शत्रु समझ लिया। वे हाथों में हथियार लिए उन्हें मार डालने के इरादे से उनकी ओर दौ।

अथ तावपि सङ्क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥ २३॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तौ—दोनों (कृष्ण तथा बलराम); अपि—भी; सङ्क्रुद्धौ—अत्यधिक क्रोध में; उद्यम्य—लड़ाई में हिस्सा लेते हुए; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र; एरका-मुष्टि—अपनी मुट्ठियों में बेंत; परिघौ—मुद्गर की तरह इस्तेमाल करते; चरन्तौ—इधर-उधर घूमते हुए; जघ्नतुः—मारने लगे; युधि—युद्धक्षेत्र में।

हे कुरु-पुत्र, तब कृष्ण तथा बलराम अत्यधिक कुपित हो उठे। बेंत के डंठलों को उठाते हुए वे युद्धभूमि के भीतर इधर-उधर घूमने लगे और इन मुद्गरों से उन्हें मारने लगे।

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-शाप—ब्राह्मणों के शाप से; उपसृष्टानाम्—पराजितों के; कृष्ण-माया—भगवान् कृष्ण की मायाशक्ति से; आवृत—आच्छन्न; आत्मनाम्—उनके जिनके मन; स्पर्धा—स्पर्धा से उत्पन्न; क्रोधः—क्रोध; क्षयम्—विनाश को; निन्ये—प्राप्त किया; वैणवः—बाँस के वृक्षों की; अग्निः—आग; यथा—जिस तरह; वनम्—जंगल को।

ब्राह्मणों के शाप से पराजित तथा भगवान् कृष्ण की माया से विमोहित, वे योद्धा भीषण क्रोध से, अब निज संहार को प्राप्त हुए, जिस तरह बाँस के कुंज में लगी आग सारे जंगल को नष्ट कर देती है।

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; नष्टेषु—नष्ट हुए; सर्वेषु—समस्त; कुलेषु—कुल के; स्वेषु—अपने; केशवः—कृष्ण ने; अवतारितः—कम किया; भुवः—पृथ्वी का; भारः—बोझ; इति—इस प्रकार; मेने—सोचा; अवशेषितः—शेष।

जब उनके कुल के सारे सदस्य इस प्रकार विनष्ट हो गये, तो कृष्ण ने अपने आप सोचा कि चलो धरती का बोझ तो हटा।

राम: समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राम:—बलराम; समुद्र—समुद्र के; वेलायाम्—तट पर; योगम्—ध्यान; आस्थाय—अपनाकर; पौरुषम्—भगवान् पर; तत्याज—त्याग दिया; लोकम्—संसार को; मानुष्यम्—मनुष्य का; संयोज्य—लीन होकर; आत्मानम्—अपने को; आत्मनि—अपने में।

तब बलरामजी समुद्र के तट पर बैठ गये और उन्होंने भगवान् के ध्यान में अपने को स्थिर कर लिया। अपने को अपने में ही लीन करते हुए उन्होंने यह मर्त्य संसार छोड़ दिया।

रामनिर्याणमालोक्य भगवान्देवकीसुतः ।
निषसाद धरोपस्थे तुष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

राम-निर्याणम्—बलराम का गमन; आलोक्य—देख कर; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र; निषसाद—बैठ गये; धरा-उपस्थे—पृथ्वी की गोद में; तुष्णीम्—मौन होकर; आसाद्य—पाकर; पिप्पलम्—पीपल का वृक्ष।

बलराम के प्रस्थान को देख कर देवकी-पुत्र भगवान् कृष्ण पास के पीपल के वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर चुपचाप बैठ गये।

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन्विधूम इव पावकः ॥ २८ ॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् ।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥ २९ ॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३० ॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥ ३१ ॥
वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

बिभ्रत्—धारण किये; चतुः-भुजम्—चारों भुजाओं से; रूपम्—अपना रूप; भ्राजिष्णु—चमकीला; प्रभया—तेज से; स्वया—अपने; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिराः—अंधकार से रहित; कुर्वन्—करते हुए; विधूमः—धूम्र से रहित; इव—सदृश; पावकः—अग्नि; श्रीवत्स-अङ्कम्—श्रीवत्स चिह्न समेत; घन-श्यामम्—बादलों की तरह श्याम; तप्त—पिघले; हाटक—सोने के समान; वर्चसम्—उनका चमचमाता तेज; कौशेय—रेशमी; अम्बर—वस्त्र की; युग्मेन—जोड़ी से; परिवीतम्—पहने हुए; सु-मङ्गलम्—सर्वमंगलकारी; सुन्दर—सुन्दर; स्मित—हँसी से; वक्त्र—उनका मुखमंडल; अब्जम्—कमल के समान; नील—नीला; कुन्तल—घुंघराले बालों से; मण्डितम्—(उनके सिर) अलंकृत; पुण्डरीक—कमल; अभिराम—सुहावने; अक्षम्—नेत्र;

स्फुरत्—हिलते हुए; मकर—मछली के आकार की; कुण्डलम्—उनके कान की बालियाँ; कति-सूत्र—करधनी से; ब्रह्म-सूत्र—जनेऊ; किरीट—मुकुट; कटक—कंगन; अङ्गदैः—तथा बाजूबंद से; हार—गले का हार; नूपुर—पायल; मुद्राभिः—तथा राजसी प्रतीकों से; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि से; विराजितम्—सुशोभित; वन-माला—फूल की माला से; परीत—घिरे; अङ्गम्—उनके अंग; मूर्ति-मद्भिः—साक्षात्; निज—अपने; आयुधैः—तथा हथियारों से; कृत्वा—रख कर; उरौ—जाँघ पर; दक्षिणे—दाहिनी; पादम्—पाँव; आसीनम्—बैठे हुए; पङ्कज—कमल की तरह; अरुणम्—लाल-लाल।

भगवान् अपना अत्यन्त तेजोमय चतुर्भुजी रूप प्रकट कर रहे थे जिसकी प्रभा धूम्रविहीन अग्नि की तरह सारी दिशाओं के अंधकार को दूर करने वाली थी। उनका वर्ण गहरे नीले बादल के रंग का था और उनका ऐश्वर्य पिघले सोने के रंग जैसा था तथा उनका सर्वमंगल स्वरूप श्रीवत्स का चिन्ह धारण किये था। उनके कमल जैसे मुखमंडल पर सुन्दर हँसी थी, उनके सिर पर श्याम रंग के बालों का गुच्छा सुशोभित था, उनकी कमल जैसी आँखें अत्यन्त आकर्षक थीं और उनके मकराकृति जैसे कुंडल चमक रहे थे। वे रेशमी वस्त्र की जोड़ी, अलंकृत पेटी, जनेऊ, कंगन तथा बाजूबन्द पहने थे। वे मुकुट, कौस्तुभ मणि, गले का हार, पायल तथा अन्य राजसी चिन्ह धारण किये थे। उनके शरीर में फूलों की मालाएँ पड़ी थीं और उनके आयुध अपने साकार रूप में थे। वे बैठे हुए थे और उनका बायाँ पैर, जिसका तलवा लाल कमल जैसा था, उनकी दाहिनी जाँघ पर रखा था।

मुषलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मुषल—लोहे की गदा से; अवशेष—बचा हुआ; अयः—लोहे का; खण्ड—टुकड़े से; कृत—बनाया गया; इषुः—तीर; लुब्धकः—शिकारी; जरा—जरा नामक; मृग—मृग का; आस्य—मुँह का; आकारम्—आकार वाला; तत्—उसका; चरणम्—पैर; विव्याध—बेध डाला; मृग-शङ्कया—मृग समझ कर।

तभी जरा नामक शिकारी जो उस स्थान पर आया था, भगवान् के पाँव को मृग का मुख समझ बैठा। यह सोच कर कि उसे उसका शिकार मिल गया है, जरा ने उस पाँव को अपने उस तीर से बेध डाला जिसे उसने साम्ब की गदा के बचे हुए लोहे के टुकड़े से बनाया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह कथन कि, "बाण ने भगवान् के पाँव को बेध दिया" शिकारी के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, जिसने सोचा कि उसने मृग को मार दिया है। वास्तव में उस बाण ने भगवान् के चरणकमल का स्पर्श मात्र ही किया था, बेधा नहीं था क्योंकि भगवान् के अंग सच्चिदानन्द रूप हैं। अन्यथा, अगले श्लोक के वर्णन में (कि शिकारी डर गया और

भगवान् के चरणकमलों में सिर रख कर गिर पड़ा) शुकदेव गोस्वामी यह बतलाये होते कि बहेलिये ने भगवान् के चरण से अपना तीर निकाला।

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाले; तम्—उस; पुरुषम्—पुरुष को; दृष्ट्वा—देख कर; सः—वह; कृत-किल्बिषः—अपराध करके; भीतः—डरा हुआ; पपात—गिर पड़ा; शिरसा—सिर के बल; पादयोः—चरणों पर; असुर-द्विषः—असुरों के शत्रु, भगवान् के।

तत्पश्चात् उस चतुर्भुज पुरुष को देख कर, शिकारी अपने द्वारा किये गये अपराध से भयभीत हो उठा और वह असुरों के शत्रु के चरणों पर अपना सिर रख कर जमीन पर गिर पड़ा।

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमःश्लोक मेऽनघ ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अजानता—अनजाने में; कृतम्—किया गया; इदम्—यह; पापेन—पापी पुरुष से; मधुसूदन—हे मधुसूदन; क्षन्तुम् अर्हसि—क्षमा कर दें; पापस्य—पापी व्यक्ति का; उत्तमः-श्लोक—हे यशस्वी प्रभु; मे—मेरा; अनघ—हे पापरहित।

जरा ने कहा : हे मधुसूदन, मैं अत्यन्त पापी व्यक्ति हूँ। मैंने अनजाने में ही यह कृत्य (पाप) किया है। हे शुद्धतम प्रभु, हे उत्तमश्लोक, कृपा करके इस पापी को क्षमा कर दें।

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् ।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥ ३६॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अनुस्मरणम्—निरन्तर स्मृति; नृणाम्—सारे मनुष्यों के; अज्ञान—अज्ञान का; ध्वान्त—अंधकार; नाशनम्—नाश करने वाले; वदन्ति—कहते हैं; तस्य—उनकी ओर; ते—तुम्हारा; विष्णो—हे भगवान् विष्णु; मया—मेरे द्वारा; असाधु—गलती से; कृतम्—किया हुआ; प्रभो—हे प्रभु।

हे भगवान् विष्णु, विद्वान लोग कहते हैं कि आपका निरन्तर स्मरण करने से किसी के भी अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। हे प्रभु, मैंने आपका अनिष्ट किया है।

तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् ।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; मा—मुझे; आशु—तुरन्त; जहि—मार डालो; वैकुण्ठ—हे वैकुण्ठ-पति; पाप्मानम्—पापी; मृग-लुब्धकम्—बहेलिये को; यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; अहम्—मैं; तु—निस्संदेह; एवम्—इस प्रकार; न कुर्याम्—न कर सकूँ; सत्—सत्पुरुषों के विरुद्ध; अतिक्रमम्—अतिक्रमण।

अतएव हे वैकुण्ठपति, आप इस पापी पशु-शिकारी को तुरन्त मार डालें जिससे वह सत्पुरुषों के साथ पुनः ऐसा अपराध न कर सके।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यदुवंश का बंधुघाती युद्ध तथा भगवान् कृष्ण पर शिकारी का आक्रमण भगवान् की लीला-इच्छाओं को पूरा करने के उद्देश्य से भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलाप हैं। प्रमाण के अनुसार, यदुवंशियों में झगड़ा सूर्यास्त के समय शुरू हुआ। तब भगवान् सरस्वती नदी के किनारे बैठ गये। कहा जाता है कि तभी एक शिकारी मृग मारने के इरादे से वहाँ आया, किन्तु जहाँ ५६०० लाख योद्धा तुमुल युद्ध में मारे गये हों और खून से लथपथ शव पड़े हों वहाँ एक शिकारी मृग मारने के प्रयास में किस तरह पहुँच सकता है। चूँकि मृग स्वभाव से भीरु होता है, अतएव ऐसे विशाल युद्धक्षेत्र में मृग कैसे आ सकता है और किस तरह एक साधारण शिकारी ऐसे नर-संहार के बीच अपना कार्य कर सकता है? इसलिए यदुवंश का लोप तथा कृष्ण का इस धरा से अन्तर्धान होना ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, प्रत्युत वे पृथ्वी पर अपनी प्रकट लीलाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से भगवान् की अंतरंगा शक्ति का प्रदर्शन थीं।

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्म-योग—निजी योगशक्ति से; रचितम्—उत्पन्न; न विदः—नहीं समझते; विरिञ्चः—ब्रह्मा; रुद्र-आदयः—शिव तथा अन्य; अस्य—उसके; तनयाः—पुत्र; पतयः—स्वामी; गिराम्—वेद के शब्दों के; ये—जो; त्वत्-मायया—आपकी माया द्वारा; पिहित—ढके, आवृत; दृष्टयः—जिसकी दृष्टि; एतत्—इसका; अञ्जः—सीधे; किम्—क्या; तस्य—उसका; ते—तुम्हारा; वयम्—हम; असत्—अशुद्ध; गतयः—जिसका जन्म; गृणीमः—कहेगा।

न तो ब्रह्मा, न ही रुद्र आदि उनके पुत्र, न ही वैदिक मंत्रों के स्वामी कोई महर्षि ही, आपकी योगशक्ति के कार्य को समझ सकते हैं। चूँकि आपकी योगशक्ति ने उनकी दृष्टि को ढक रखा है, इसलिए आपकी योगशक्ति जिस तरह कार्य करती है उसके बारे में वे अनजान बने रहते हैं। इसलिए निम्न कुल में जन्मा व्यक्ति मैं किस तरह इसके विषय में कुछ कह सकता हूँ?

श्रीभगवानुवाच
मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मा भैः—मत डरो; जरे—हे जरा; त्वम्—तुम; उत्तिष्ठ—उठो; कामः—इच्छा; एषः—यह; कृतः—किया गया; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; याहि—जाओ; त्वम्—तुम; मत्-अनुज्ञातः—मेरी अनुमति से; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; सु-कृतिनाम्—पवित्रों का; पदम्—धाम।

भगवान् ने कहा : हे जरा, तुम मत डरो। उठो। जो कुछ हुआ है वास्तव में वह मेरी अपनी इच्छा है। मेरी अनुमति से तुम अब पवित्र लोगों के धाम, स्वर्गलोक, जाओ।

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; इच्छा-शरीरिणा—जिसका दिव्य शरीर केवल उनकी इच्छा से प्रकट होता है; त्रिः—तीन बार; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; तम्—उनको; नत्वा—शीश झुकाकर; विमानेन—स्वर्ग के वायुयान द्वारा; दिवम्—आकाश में; ययौ—चला गया।

अपनी इच्छा से अपना दिव्य शरीर धारण करने वाले भगवान् कृष्ण का आदेश पाकर उस शिकारी ने भगवान् की तीन बार परिक्रमा की और उन्हें शीश झुकाया। तत्पश्चात् उस शिकारी ने उस विमान से प्रस्थान किया जो उसे स्वर्ग ले जाने के लिए उसी समय प्रकट हुआ था।

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दारुकः—कृष्ण का सारथी दारुक; कृष्ण—कृष्ण का; पदवीम् अन्विच्छन्—ढूँढते हुए; अधिगम्य—पहुँच कर; ताम्—उसे; वायुम्—वायु; तुलसिका-आमोदम्—तुलसी के फूलों की गंध से सुगन्धित; आघ्राय—सूँघ कर; अभिमुखम्—उनकी ओर; ययौ—चला गया।

उसी समय दारुक अपने स्वामी कृष्ण को ढूँढ रहा था। ज्योंही वह उस स्थान के पास पहुँचा जहाँ भगवान् बैठे थे, उसने मन्द वायु में तुलसी के फूलों की गन्ध का अनुभव किया और उसी दिशा में बढ़ता गया।

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।

स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; तत्र—वहाँ; तिग्म—तेजस्वी; द्युभिः—तेज से; आयुधैः—उनके हथियारों से; वृतम्—घिरा; हि—निस्सन्देह; अश्वत्थ—बरगद के वृक्ष के; मूले—नीचे; कृत-केतनम्—विश्राम करते; पतिम्—अपने स्वामी को; स्नेह—स्नेह से; प्लुत—अभिभूत; आत्मा—उसका हृदय; निपपात—वह गिर पड़ा; पादयोः—उनके चरणों पर; रथात्—रथ से; अवप्लुत्य—नीचे उतरते हुए; स-बाष्प—आँसुओं से पूरित; लोचनः—आँखें।

भगवान् कृष्ण को बरगद के वृक्ष के मूल पर आराम करते और उनके चमचमाते हथियारों से घिरा हुआ देख कर, दारुक अपने हृदय में सँजोये स्नेह को सँभाल न सका। वह ज्योंही रथ से नीचे उतरा उसकी आँखों में आँसू भर आये और वह भगवान् के चरणों पर गिर पड़ा।

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अपश्यतः—न देख रहा, मेरा; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल; प्रभो—हे स्वामी; दृष्टिः—आँख की ज्योति; प्रणष्टा—विनष्ट हो चुकी है; तमसि—अंधकार में; प्रविष्टा—प्रवेश किया हुआ; दिशः—दिशाएँ; न जाने—नहीं जानता हूँ; न लभे—नहीं प्राप्त कर सकता हूँ; च—तथा; शान्तिम्—शान्ति; यथा—जिस तरह; निशायाम्—रात में; उडुपे—चन्द्रमा के; प्रणष्टे—नवीन हो जाने पर।

दारुक ने कहा : जिस तरह चन्द्रविहीन रात में लोग अंधकार में धँस जाते हैं और अपना रास्ता नहीं ढूँढ पाते हे प्रभु, अब मुझे आपके चरणकमल नहीं दिखते, मैं अपनी दृष्टि खो चुका हूँ और अंधकार में अंधे की तरह घूम रहा हूँ। न तो मैं अपनी दिशा बता सकता हूँ न कहीं कोई शान्ति पा सकता हूँ।

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवति—बोलते-बोलते; सूते—सारथी के; वै—निस्सन्देह; रथः—रथ; गरुड-लाञ्छनः—गरुड़ पताका से अंकित; खम्—आकाश में; उत्पपात—उठा; राज-इन्द्र—हे राजाओं के राजा (परीक्षित); स-अश्व—घोड़ों समेत; ध्वजः—तथा झंडा; उदीक्षतः—ऊपर देखते देखते।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] हे राजाओं में प्रधान, अभी वह सारथी बातें कर ही रहा था कि उसकी आँखों के सामने भगवान् का रथ अपने घोड़ों तथा गरुड़ से अंकित झंडे समेत ऊपर उठ

गया।

तमन्वगच्छन्दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस रथ को; अन्वगच्छन्—उसका पीछा किया; दिव्यानि—दैवी; विष्णु—भगवान् विष्णु का; प्रहरणानि—हथियार; च—तथा; तेन—उस घटना से; अति-विस्मित—अचम्भित; आत्मानम्—उसका मन; सूतम्—सारथी से; आह—कहा; जनार्दनः—भगवान् श्रीकृष्ण।

विष्णु के सारे दैवी हथियार ऊपर उठ गये और रथ का पीछा करने लगे। तब जनार्दन अपने उस सारथी से जो यह सब देख कर अत्यधिक चकित था, बोले।

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ।
सङ्कर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; द्वारवतीम्—द्वारका को; सूत—हे सारथी; ज्ञातीनाम्—उनके सगे-सम्बन्धियों का; निधनम्—संहार; मिथः—पारस्परिक; सङ्कर्षणस्य—बलराम का; निर्याणम्—निधन; बन्धुभ्यः—हमारे परिवार वालों से; ब्रूहि—कहना; मत्-दशाम्—मेरी दशा।

हे सारथी, तुम द्वारका जाओ और हमारे परिवार वालों से कहो कि किस तरह उनके प्रियजनों ने एक-दूसरे का विनाश कर दिया है। उनसे संकर्षण के तिरोधान तथा मेरी वर्तमान दशा के विषय में भी बतलाना।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अपने रथ को, बिना सारथी के, किन्तु घोड़ों तथा हथियार सहित, वैकुण्ठ वापस भेज दिया क्योंकि दारुक को पृथ्वी पर कुछ अन्तिम कार्य करना शेष था।

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः ।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

द्वारकायाम्—द्वारका में; च—तथा; न स्थेयम्—नहीं रहना चाहिए; भवद्भिः—तुम; च—तथा; स्व-बन्धुभिः—अपने सम्बन्धियों सहित; मया—मेरे द्वारा; त्यक्ताम्—छोड़ी हुई; यदु-पुरीम्—यदुओं की राजधानी; समुद्रः—समुद्र; प्लावयिष्यति—डूबो देगा।

''तुम्हें तथा तुम्हारे सम्बन्धियों को यदुओं की राजधानी द्वारका में नहीं रहना चाहिए क्योंकि एक बार जब मैं उस नगरी को छोड़ चुका हूँ, तो यह समुद्र से आप्लावित हो जायेगी।''

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

स्वम् स्वम्—अपने अपने; परिग्रहम्—परिवार; सर्वे—सभी; आदाय—लेकर; पितरौ—माता-पिता; च—तथा; नः—हमारा; अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; अविताः—सुरक्षित; सर्वे—सभी; इन्द्रप्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ को; गमिष्यथ—तुम चले जाना।

तुम सबों को अपने अपने परिवार तथा साथ में मेरे माता-पिता को लेकर अर्जुन के संरक्षण में इन्द्रप्रस्थ चले जाना चाहिए।

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचितामेतां विज्ञयोपशमं व्रज ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—किन्तु; मत्-धर्मम्—मेरी भक्ति में; आस्थाय—दृढ़ रह कर; ज्ञान-निष्ठः—ज्ञान में स्थिर; उपेक्षकः—उदासीन; मत्-माया—मेरी माया से; रचिताम्—उत्पन्न; एताम्—यह; विज्ञाय—समझते हुए; उपशमम्—क्षोभ से मुक्ति; व्रज—प्राप्त करो।

हे दारुक, तुम आध्यात्मिक ज्ञान में स्थिर रहते हुए और भौतिक विचारों से अनासक्त रहते हुए, मेरी भक्ति में दृढ़ता से स्थित रहना। तुम इन लीलाओं को मेरी मायाशक्ति का प्रदर्शन समझते हुए शान्त रहते जाना।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *तु* शब्द इस बात पर बल देता है कि दारुक भगवान् कृष्ण का नित्यमुक्त संगी है, जो वैकुण्ठ से अवतरित हुआ है। इसलिए भले ही अन्य लोग भगवान् की लीलाओं से विमोहित क्यों न हो जाँय, दारुक को तो शान्त तथा आध्यात्मिक ज्ञान में स्थिर रहते जाना है।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उससे; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; पुनः पुनः—बारम्बार; तत्-पादौ—उनके चरणकमलों पर; शीर्ष्णि—उसके सिर पर; उपाधाय—रख कर; दुर्मनाः—मन में दुखी; प्रययौ—चला गया; पुरीम्—नगरी को।

इस तरह आदेश पाकर दारुक ने भगवान् की परिक्रमा की और उन्हें बारम्बार नमस्कार किया। उसने भगवान् के चरणकमल अपने सिर पर रखे और तब उदास मन से वह नगर को लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''यदुवंश का संहार'' नामक तीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकतीस

भगवान् श्रीकृष्ण का अंतर्धान होना

इस अध्याय में सारे यदुओं समेत भगवान् का अपने धाम के लिए प्रत्यावर्तन का वर्णन हुआ है।

दारुक से यह जान कर कि श्रीकृष्ण अपने धाम प्रत्यावर्तित हो चुके हैं, वसुदेव तथा द्वारका में बचे लोग शोक से अतीव क्षुब्ध हो उठे और उन्हें पाने के लिए नगर के बाहर गये। वे सारे देवता, जो भगवान् की इच्छा का पालन करते हुए उनकी लीलाओं में सहायता पहुँचाने के लिए यदुकुल में जन्मे थे, भगवान् के पीछे पीछे अपने अपने धामों को लौट गये। भगवान् द्वारा अपने लिए जीवन की सृष्टि और फिर उसका विध्वंस किसी अभिनेता के प्रदर्शन के समान, माया का जादू मात्र है। वस्तुतः वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं और तब परमात्मा रूप में उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। अन्त में, वे फिर सारे ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समेट लेते हैं और अपने निजी यश में रहते हुए बाह्य लीलाओं से दूर स्थित रहते हैं।

यद्यपि अर्जुन कृष्ण के वियोग से अभिभूत थे, किन्तु तो भी भगवान् द्वारा दिये गये विविध आदेशों को स्मरण करके वे अपने को शान्त कर सके। तब अर्जुन ने अपने मृत सम्बन्धियों का पिण्डदान सम्पन्न किया। उस समय समुद्र ने भगवान् के निवास स्थान को छोड़ कर सारी द्वारका पुरी को जलमग्न कर लिया। जो यदुवंशी बचे थे उन्हें लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ गये जहाँ उन्होंने वज्र को सिंहासन पर बैठाया। इन घटनाओं को सुन कर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने परीक्षित को राज–सिंहासन दे दिया और महाप्रयाण के लिए प्रस्थान किया।

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद्ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; तत्र—वहाँ; आगमत्—आया; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवान्या—उनकी प्रेयसी भवानी; च—तथा; समम्—सहित; भवः—शिवजी; महा-इन्द्र-प्रमुखाः—इन्द्र इत्यादि; देवाः—देवतागण; मुनयः—मुनिगण; स—सहित; प्रजा-ईश्वराः—ब्रह्माण्ड की प्रजा के जनक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तब शिव तथा उनकी प्रेयसी, मुनियों प्रजापतियों तथा इन्द्रादि देवताओं सहित, ब्रह्माजी प्रभास आये।

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३॥

शब्दार्थ

पितरः—पूर्वज; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्ध तथा गन्धर्वगण; विद्याधर-महा-उरगाः—विद्याधर तथा बड़े बड़े सर्प; चारणाः—चारणजन; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षसगण; किन्नर-अप्सरसः—किन्नर तथा अप्सराएँ; द्विजाः—बड़े बड़े पक्षी; द्रष्टु-कामाः—देखने के इच्छुक; भगवतः—भगवान् का; निर्याणम्—प्रस्थान; परम-उत्सुकाः—अत्यन्त उत्सुक; गायन्तः—गाते हुए; च—तथा; गृणन्तः—प्रशंसा करते हुए; च—तथा; शौरेः—शौरि (कृष्ण) के; कर्माणि—कार्यकलाप; जन्म—जन्म; च—तथा।

भगवान् का प्रस्थान देखने के लिए चारणों, यक्षों, राक्षसों, किन्नरों, अप्सराओं तथा गरुड़ के सम्बन्धियों समेत पितरगण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर तथा बड़े बड़े सर्प भी आये। आते समय वे सभी व्यक्ति भगवान् शौरि (कृष्ण) के जन्म तथा कार्यों का विविध प्रकार से गायन और महिमा-वर्णन कर रहे थे।

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन्भक्त्या परमया युताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ववृषुः—वर्षा की; पुष्प-वर्षाणि—फूलों की वर्षा; विमान—वायुयानों की; आवलिभिः—पंक्तियों द्वारा; नभः—आकाश; कुर्वन्तः—बनाते हुए; सङ्कुलम्—पूरित; राजन्—हे राजा परीक्षित; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; परमया—दिव्य; युताः—से युक्त।

हे राजा, उन्होंने आकाश में अपने अनेक विमानों की भीड़ लगाकर अत्यन्त भक्ति के साथ फूलों की वर्षा की।

भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; पितामहम्—ब्रह्माजी को; वीक्ष्य—देख कर; विभूतीः—शक्तिमान अंशों, देवताओं को; आत्मनः—निजी; विभुः—शक्तिमान भगवान्; संयोज्य—स्थिर करके; आत्मनि—अपने में; च—तथा; आत्मानम्—अपनी चेतना; पद्म-नेत्रे—कमलनयनों में; न्यमील्यत्—बन्द कर लिया।

अपने समक्ष ब्रह्माण्ड के पितामह ब्रह्माजी को अन्य देवताओं के साथ देख कर जो कि उनके निजी तथा शक्तिशाली अंश हैं, सर्वक्तिमान प्रभु ने अपने मन को अपने भीतर स्थिर किया और अपने कमलनेत्र बन्द कर लिये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, भगवान् कृष्ण पहले ही ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं की उस प्रार्थना को स्वीकार कर चुके थे जिसमें उन्होंने भगवान् से अपने सेवक देवताओं की रक्षा के लिए ब्रह्माण्ड के भीतर अवतरित होने की याचना की थी। अब ये देवता भगवान् के सामने आये और वे सभी उन्हें अपने अपने लोक ले जाना चाह रहे थे। इन असंख्य सामाजिक कार्यों से बचने के लिए भगवान् ने आँखें बन्द कर लीं मानो समाधि में लीन हों।

श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपनी आँखें योगियों को यह सिखलाने के लिए बन्द कर लीं कि इस मर्त्य लोक को किस तरह अपने रहस्यवादी ऐश्वर्य से किसी आसक्ति के बिना, त्याग देना चाहिए। ब्रह्मा समेत सारे देवता भगवान् कृष्ण के योगिक अंश हैं; फिर भी भगवान् ने इस बात पर बल देने के लिए, अपनी आँखें बन्द कर लीं कि इस जगत से प्रयाण करते समय मनुष्य को अपना मन भगवान् में स्थिर कर लेना चाहिए।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

लोक—सारे लोकों के प्रति; अभिरामाम्—अत्यन्त आकर्षक; स्व-तनुम्—अपने दिव्य शरीर को; धारणा—समाधि; ध्यान—तथा ध्यान का; मङ्गलम्—शुभ वस्तु; योग-धारणया—योग की समाधि से; आग्नेय्या—अग्नि पर केन्द्रित; अदग्ध्वा—बिना जलाये; धाम—धाम; आविशत्—प्रवेश किया; स्वकम्—अपने।

अपने दिव्य शरीर को जलाने के लिए योगिक आग्नेयी ध्यान का उपयोग किये बिना, भगवान् कृष्ण अपने धाम में प्रविष्ट हो गये। उनका दिव्य शरीर सारे जगतों का सर्व-आकर्षक आश्रय है और समस्त धारणा तथा ध्यान का लक्ष्य है।

तात्पर्य : जिस योगी को अपना शरीर त्यागने के लिए समय निर्धारित करने की शक्ति मिली रहती है, वह *आग्नेयी* नामक योगिक ध्यान में लग कर ज्वाला उत्पन्न करके इसे जला सकता है और अगले

जीवन में चला जाता है। इसी तरह देवतागण इस योगिक अग्नि का प्रयोग तब करते हैं जब वे वैकुण्ठ-लोक को जाते हैं। लेकिन भगवान् तो योगियों तथा देवताओं जैसे बद्धजीवों से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि भगवान् का नित्य आध्यात्मिक शरीर सारे जगत का स्रोत है जैसाकि *लोकाभिरामां स्वतनुम्* शब्दों से सूचित होता है। भगवान् कृष्ण का शरीर सारे ब्रह्माण्ड के लिए आनन्द का स्रोत है। *धारणाध्यानमंगलम्* शब्द यह बताता है कि जो लोग ध्यान तथा योग से आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे भगवान् के शरीर के ध्यान के माध्यम से सर्वमंगल प्राप्त करते हैं। चूँकि योगीजन मात्र कृष्ण के शरीर का चिन्तन करने से मुक्त हो जाते हैं, वह शरीर निश्चय ही भौतिक नहीं होता, इसलिए संसारी योग-अग्नि द्वारा या अन्य किसी प्रकार की अग्नि द्वारा भस्म नहीं किया जा सकता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर हमें *श्रीमद्भागवत* में श्रीकृष्ण के ही कथन (११.१४.३७) का स्मरण कराते हैं—*वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद्ध्यानमंगलम्*—अग्नि के भीतर मेरे स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो समस्त ध्यान का शुभ लक्ष्य है। चूँकि भगवान् का दिव्य रूप अग्नि के भीतर स्थिति-तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता है, तो भला अग्नि उस रूप को कैसे प्रभावित कर सकती है? इस प्रकार यद्यपि भगवान् योग-समाधि में प्रविष्ट करते प्रतीत हो रहे थे, किन्तु *अदग्ध्वा* शब्द सूचित करता है कि भगवान् का शरीर विशुद्धरूप से आध्यात्मिक होने के कारण जलने की औपचारिकता से बचता हुआ सीधे वैकुण्ठ धाम में प्रविष्ट हुआ। श्रील जीव गोस्वामी ने भी इस श्लोक की टीका करते हुए इस बात की विशद व्याख्या की है।

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥ ७॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्ग में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजने लगीं; पेतुः—गिरे; सुमनसः—फूल; च—तथा; खात्—आकाश से; सत्यम्—सत्य; धर्मः—धर्म; धृतिः—आज्ञाकारिता; भूमेः—पृथ्वी से; कीर्तिः—यश; श्रीः—सौन्दर्य; च—तथा; अनु—उनके साथ साथ; तम्—उनके पास; ययुः—गये।

ज्योंही भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, त्योंही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति तथा सौन्दर्य उनके पीछे हो लिये। स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और आकाश से फूलों की वृष्टि होने लगी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सारे देवता हर्षित थे क्योंकि हर एक यही सोच रहा था

कि कृष्ण उसके लोक में आ रहे हैं।

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि ।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देव-आदयः—देवता इत्यादि; ब्रह्म-मुख्याः—ब्रह्मा इत्यादि; न—नहीं; विशन्तम्—प्रवेश करते हुए; स्व-धामनि—अपने धाम में; अविज्ञात—अज्ञात; गतिम्—उनकी गतिविधियाँ; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; ददृशुः—देखा; च—तथा; अति-विस्मिताः—अत्यन्त चकित।

ब्रह्मा इत्यादि देवता तथा उच्चतर प्राणी भगवान् कृष्ण को उनके धाम में प्रवेश करते हुए नहीं देख सके क्योंकि भगवान् ने अपनी गतिविधियों को प्रकट नहीं होने दिया। किन्तु कुछेक ने उनको देख लिया और वे अत्यधिक चकित थे।

सौदामन्या यथाक्लाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम् ।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सौदामन्याः—बिजली का; यथा—जिस तरह; आकाशे—आकाश में; यान्त्याः—यात्रा कर रही; हित्वा—त्याग कर; अभ्र-मण्डलम्—बादल; गतिः—चाल; न लक्ष्यते—निश्चित नहीं की जा सकती; मर्त्यैः—मर्त्यों द्वारा; तथा—इसी तरह; कृष्णस्य—कृष्ण का; दैवतैः—देवताओं द्वारा।

जिस तरह सामान्य लोग बादलों को त्यागती बिजली के मार्ग को निश्चित नहीं कर सकते, उसी तरह देवतागण अपने धाम लौटते हुए भगवान् कृष्ण की गतिविधियों का पता नहीं लगा पाये।

तात्पर्य : बिजली की अचानक गतियाँ देवता तो देख सकते हैं किन्तु मनुष्य नहीं। इसी तरह भगवान् कृष्ण के आकस्मिक प्रयाण को वैकुण्ठवासी कृष्ण के संगी तो समझ पाये, किन्तु देवता नहीं।

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः ।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-रुद्र-आदयः—ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य; ते—वे; तु—लेकिन; दृष्ट्वा—देख कर; योग-गतिम्—योगशक्ति; हरेः—भगवान् कृष्ण की; विस्मिताः—चकित; ताम्—उस शक्ति को; प्रशंसन्तः—यशोगान करते हुए; स्वम् स्वम्—अपने अपने; लोकम्—जगत को; ययुः—चले गये; तदा—तब।

किन्तु कुछ देवतागण—विशेष रूप से ब्रह्मा तथा शिवजी—यह निश्चित कर सके कि किस तरह भगवान् की योगशक्ति कार्य कर रही है और इस तरह वे चकित थे। सारे देवताओं ने

भगवान् की योगशक्ति की प्रशंसा की और तब वे अपने अपने लोक को लौट गये।

तात्पर्य : यद्यपि इस ब्रह्माण्ड में एक तरह से सारे देवता सर्वज्ञ हैं किन्तु वे भगवान् की योगशक्ति की गतिविधियों को समझ नहीं पाये। इसीलिए वे चकित थे।

राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा परीक्षित; परस्य—ब्रह्म का; तनु-भृत्—देहधारी जीवों के सदृश; जनन—जन्म; अप्यय—तथा अन्तर्धान; ईहाः—कर्म; माया—उनकी मायाशक्ति का; विडम्बनम्—झूठा प्रदर्शन; अवेहि—समझो; यथा—जसि तरह; नटस्य—अभिनेता का; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; आत्मना—अपने द्वारा; इदम्—इस ब्रह्माण्ड को; अनुविश्य—प्रवेश करके; विहृत्य—अभिनय करते हुए; च—तथा; अन्ते—अन्त में; संहृत्य—समाप्त करते हुए; च—तथा; आत्म-महिना—अपने यश से; उपरतः—समाप्त करके; सः—वह; आस्ते—रहते आते हैं।.

हे राजा, तुम जान लो कि भगवान् का प्राकट्य तथा उनका अन्तर्धान होना, जो देहधारी बद्धजीवों के ही सदृश होते हैं, वास्तव में उनकी मायाशक्ति द्वारा अभिनीत खेल हैं जैसा कि कोई अभिनेता करता है। वे इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करके उसमें प्रवेश करते हैं, कुछ काल तकउसके भीतर खिलवाड़ करते हैं और अन्त में समेट लेते हैं। तब भगवान् विराट जगत के सारे कार्यों को बन्द करके, अपनी दिव्य *महिमा* में स्थित रहते जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यदुवंश के सदस्यों में हुई तथाकथित लड़ाई भगवान् की लीला-शक्ति का प्रदर्शन थी क्योंकि कृष्ण के निजी संगी कभी भी बद्धजीवों की तरह सामान्य जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ते। ऐसा होने से, स्वयं भगवान् जन्म-मृत्यु से परे हैं जैसाकि इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है।

यहाँ पर *नटस्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर किसी जादूगर की निम्नलिखित कहानी बतलाते हैं, जो मरने की कलाबाजी दिखलाता है।

एक जादूगर किसी राजा के द्वारा रखाये गये बहुमूल्य वस्त्रों, रत्नों, सिक्कों इत्यादि के ढेर के पास राजा के सामने जाता है। रत्नजटित हार अपने हाथ में लेते हुए जादूगर राजा से कहता है, ''अब मैं इस हार को ले रहा हूँ और अब आप इसे नहीं ले सकते'' और वह उस हार को गायब कर देता है। ''अब

मैं यह सोने का सिक्का उठा रहा हूँ; आप इसे नहीं ले सकते'' यह कह कर वह सोने के सिक्के को गायब कर देता है। इसी तरह राजा को चेतावनी देते हुए वह राजा के सात हजार घोड़ों को गायब कर देता है। इसके बाद वह जादूगर ऐसा मोहजाल फैलाता है कि राजा के लड़के, नाती-पोते, भाई तथा अन्य परिवार वाले एक-दूसरे पर हमला करते हैं और इस उग्र लड़ाई में प्रायः सभी मृत हो जाते हैं। राजा उस जादूगर को बोलते देखता है और उस विशाल सभाभवन में बैठे वह अपने सामने इन घटनाओं को घटित होते देखता है।

''तत्पश्चात् वह जादूगर कहता है : हे राजन्! मैं अब ज्यादा जीवित नहीं रहना चाहता। जिस तरह मैंने जादू सीखा है, उसी तरह अपने गुरु के चरणकमलों की कृपा से मैंने योग का ध्यान भी सीखा है। मनुष्य को किसी तीर्थस्थान में ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ देना चाहिए और चूँकि आपने तमाम पुण्यकर्म किये हैं, इसलिए आप स्वयं तीर्थस्थान हैं। इसलिए अब मैं अपना शरीर छोड़ दूँगा।''

''इस तरह कह कर, वह जादूगर उचित योग-आसन में बैठ जाता है और अपने को प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि में स्थिर करके मौन हो जाता है। एक क्षण बाद उसकी समाधि से उत्पन्न अग्नि उसके शरीर से निकल कर जलती है और उसे भस्म कर देती है। तब उसकी सारी पत्नियाँ, शोकाकुल होकर अग्नि में प्रवेश करती हैं।''

''तीन या चार दिन बाद, अपने प्रान्त में लौट जाने के बाद, वह जादूगर अपनी एक पुत्री को राजा के पास भेजता है। पुत्री ने उससे कहा, ''हे राजा! मैं अभी अभी आपके महल में अपने साथ बिना किसी के देखे, आपके स्वस्थ पुत्रों, पौत्रों, भाइयों इत्यादि को लेकर आई हूँ। साथ में आपके द्वारा प्रदत्त सभी रत्न तथा अन्य वस्तुएँ भी लाई हूँ। इसलिए आप मुझे इस जादूगरी के लिए जो आपके समक्ष प्रदर्शित किया गया है, समुचित पुरस्कार दें।'' इस तरह सामान्य जादू भी जन्म-मृत्यु की नकल कर सकता है।

इसलिए यह समझना कठिन नहीं है कि भगवान्, प्रकृति के नियमों से परे होते हुए भी, अपनी मायाशक्ति प्रदर्शित करते हैं जिससे मूर्ख लोग यह सोचें कि भगवान् ने अपना शरीर एक सामान्य व्यक्ति की तरह त्यागा है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण अपने नित्य शरीर में ही अपने धाम लौट गये जिसकी पुष्टि समूचे वैदिक वाङ्मय में हुई है।

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मर्त्येन—उसी मनुष्य शरीर में; यः—जो; गुरु-सुतम्—अपने गुरु के पुत्र को; यम-लोक—यमराज के लोक को; नीतम्—लाया गया; त्वाम्—तुमको; च—तथा; आनयत्—वापस लाया; शरण-दः—शरण देने वाला; परम-अस्त्र—ब्रह्मास्त्र; दग्धम्—जलाया गया; जिग्ये—जीत लिया; अन्तक—मृत्यु के दूतों के; अन्तकम्—जो मृत्यु है; अपि—भी; ईशम्—शिवजी; असौ—वह, कृष्ण; अनीशः—असमर्थ; किम्—क्या; स्व—अपनी; अवने—रक्षा में; स्वः—वैकुण्ठ-लोक को; अनयत्—लाया; मृगयुम्—शिकारी; स-देहम्—सशरीर।

भगवान् कृष्ण अपने गुरु-पुत्र को सशरीर यमराज के लोक से वापस ले आये और जब तुम अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र द्वारा जला दिये गये थे, तो उन्होंने परम रक्षक के रूप में तुम्हें भी बचाया। उन्होंने मृत्यु के दूतों को भी मृत्यु देने वाले शिवजी को युद्ध में परास्त किया और जरा शिकारी को उसके मानव शरीर में वैकुण्ठ भेज दिया। क्या कभी ऐसा पुरुष अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो सकता है?

तात्पर्य : इस जगत से कृष्ण के प्रयाण की कथा कहते समय, अपना तथा महाराज परीक्षित का दुख कम करने के लिए श्री शुकदेव गोस्वामी कई स्पष्ट उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् कृष्ण मृत्यु के प्रभाव से बहुत दूर हैं। यद्यपि उनके गुरु (सान्दीपनि मुनि) का पुत्र मृत्यु द्वारा ले जाया गया था, किन्तु भगवान् उसे सशरीर वापस ले आये थे। इसी तरह भगवान् कृष्ण को ब्रह्मशक्ति छू नहीं सकती क्योंकि उन्होंने परीक्षित महाराज को आसानी से बचा लिया था यद्यपि वे ब्रह्मास्त्र द्वारा दग्ध किये जा चुके थे। शिवजी बाणासुर के साथ युद्ध करते कृष्ण द्वारा स्पष्ट रूप से पराजित हो चुके थे और जरा शिकारी सदेह वैकुण्ठ-लोक भेज दिया गया था। मृत्यु तो भगवान् कृष्ण की बहिरंगा शक्ति का तुच्छ विस्तार है और वह भगवान् पर कोई असर नहीं कर सकती। जो लोग कृष्ण के कार्यकलापों की दिव्य प्रकृति को समझते हैं, उन्हें इन उदाहरणों से विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त हो जायेगा।

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत्प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं

मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; **अशेष**—समस्त सृजित वस्तुओं के; **स्थिति**—पालन-पोषण में; **सम्भव**—सृष्टि; **अप्ययेषु**—तथा संहार में; **अनन्य-हेतुः**—एकमात्र कारण; **यत्**—क्योंकि; **अशेष**—असीम; **शक्ति**—शक्ति; **धृक्**—से युक्त; **न ऐच्छत्**—इच्छा नहीं की; **प्रणेतुम्**—रखने के लिए; **वपुः**—अपना दिव्य शरीर; **अत्र**—यहाँ; **शेषितम्**—शेष; **मर्त्येन**—इस भौतिक जगत से; **किम्**—क्या लाभ; **स्व-स्थ**—उनमें स्थित रहने वालों के; **गतिम्**—गन्तव्य को; **प्रदर्शयन्**—दिखलाते हुए।

असीम शक्तियों के स्वामी भगवान् कृष्ण असंख्य जीवों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के एकमात्र कारण होते हुए भी, इस जगत में अपने शरीर को अब और अधिक नहीं रखना चाहते थे। इस तरह उन्होंने आत्मस्थ लोगों को गन्तव्य दिखलाया और यह प्रदर्शित किया कि इस मर्त्य जगत का कोई अपना मूल्य नहीं है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण पतितात्माओं को बचाने के लिए इस जगत में अवतरित हुए थे, किन्तु वे लोगों को प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे कि भविष्य में वे व्यर्थ ही इधर-उधर घूमें। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके कृष्णभावनामृत को पूर्ण करके भगवद्धाम वापस जाय। यदि भगवान् कृष्ण और अधिक काल तक पृथ्वी पर रहते, तो वे व्यर्थ ही भौतिक जगत की प्रतिष्ठा को बढ़ाते होते।

जैसाकि श्री उद्धव ने *श्रीमद्भागवत* (३.२.११) में कहा है—*आदायान्तरधाद् यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्*—पृथ्वी पर सभी लोगों की दृष्टि के समक्ष अपना शाश्वत रूप प्रकट करने वाले भगवान् कृष्ण ने उन लोगों की दृष्टि से अपने को अन्तर्धान कर लिया जो वांछित तपस्या न करने से उन्हें देख पाने में असमर्थ थे। उद्धव में *भागवत* (३.२.१०) में यह भी कहा है—

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।

भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥

"भगवान् की माया से विमोहित पुरुषों के शब्द किसी भी स्थिति में पूर्णतया शरणागतों की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकते।" जो व्यक्ति कृष्ण के दिव्य तिरोधान को समझने के लिए वैष्णव आचार्यों का आश्रय लेता है, वह आसानी से समझ जाता है कि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनका आध्यात्मिक शरीर उनकी आध्यात्मिक शक्ति से अभिन्न है।

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ।

प्रयतः कीर्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एताम्—इसे; प्रातः—प्रात:काल; उत्थाय—उठ कर; कृष्णस्य—कृष्ण के; पदवीम्—गन्तव्य को; पराम्—परम; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; कीर्तयेत्—यशोगान करता है; भक्त्या—भक्ति से; ताम्—उस गन्तव्य को; एव—निस्सन्देह; आप्नोति—प्राप्त करता है; अनुत्तमम्—अद्वितीय।

जो व्यक्ति प्रात:काल नियमित रूप से जगता है और भगवान् कृष्ण के दिव्य तिरोधान तथा उनके निजी धाम लौटने की महिमा का भक्तिपूर्वक कीर्तन करता है, वह निश्चय ही उसी परम पद को प्राप्त करेगा।

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः ।
पतित्वा चरणावस्त्रैर्न्यषिञ्चत्कृष्णविच्युतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

दारुकः—दारुक; द्वारकाम्—द्वारका में; एत्य—आकर; वसुदेव-उग्रसेनयोः—वसुदेव तथा उग्रसेन के; पतित्वा—गिर कर; चरणौ—पैरों पर; अस्त्रैः—आँसुओं से; न्यषिञ्चत्—भिगो दिया; कृष्ण-विच्युतः—कृष्ण से बिछुड़े।

द्वारका पहुँचते ही दारुक वसुदेव तथा उग्रसेन के चरणों पर गिर पड़ा और भगवान् कृष्ण की क्षति पर शोक करते हुए अपने आँसुओं से उनके चरणों को भिगो दिया।

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप ।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविर्मूर्च्छिताः ॥ १६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः ।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

कथयाम् आस—उसे कह सुनाया; निधनम्—विनाश; वृष्णीनाम्—वृष्णियों का; कृत्स्नशः—पूर्ण; नृप—हे राजा परीक्षित; तत्—वह; श्रुत्वा—सुन कर; उद्विग्न—क्षुब्ध; हृदयाः—हृदयों से; जनाः—लोग; शोक—शोक से; विर्मूर्च्छिताः—संज्ञाहीन हुए; तत्र—वहाँ; स्म—निस्सन्देह; त्वरिताः—तेजी से; जग्मुः—गये; कृष्ण-विश्लेष—कृष्ण के विछोह से; विह्वलाः—अभिभूत; व्यसवः—प्राणहीन; शेरते—पड़े हुए थे; यत्र—जहाँ; ज्ञातयः—उनके सम्बन्धी; घ्नन्तः—प्रहार करते हुए; आननम्—अपने ही मुखों पर।

दारुक ने वृष्णियों के पूर्ण विनाश का वृत्तान्त कह सुनाया और हे परीक्षित, यह सुन कर लोग अपने हृदयों में अतीव किंकर्तव्यविमूढ़ और शोक से स्तम्भित हो गये। वे कृष्ण के विछोह से विह्वल अपना सिर पीटते उस स्थान के लिए जल्दी जाने लगे जहाँ उनके सम्बन्धी मृत पड़े थे।

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

देवकी—देवकी; रोहिणी—रोहिणी; च—भी; एव—निस्सन्देह; वसुदेवः—वसुदेव; तथा—भी; सुतौ—दोनों पुत्रों; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा राम को; अपश्यन्तः—न देखते हुए; शोक-आर्ताः—शोक से पीड़ित; विजहुः—खोदी; स्मृतिम्—अपनी अपनी चेतना।

जब देवकी, रोहिणी तथा वसुदेव ने अपने कृष्ण तथा बलराम पुत्रों को नहीं पाया, तो वे शोक से अचेत हो गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार असली देवकी, रुक्मिणी तथा अन्य महिलाएँ द्वारका में भौतिक जगत की आँखों से अदृश्य रहती रहीं जबकि देवता जो देवकी, रोहिणी तथा अन्यों के आंशिक पक्षों को प्रस्तृत करने वाले थे, अपने मृत सम्बन्धियों को देखने प्रभास गये।

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः ।
उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्राणान्—अपने प्राण; च—तथा; विजहुः—त्याग दिये; तत्र—वहाँ; भगवत्—भगवान् के; विरह—वियोग के कारण; आतुराः—सताये हुए; उपगह्य—आलिंगन करके; पतीन्—अपने पतियों को; तात—हे परीक्षित; चिताम्—चिता में; आरुरुहुः—चढ़ गईं; स्त्रियः—पत्नियाँ।

भगवान् के वियोग से आतुर उनके माता-पिता ने उसी स्थान पर अपने प्राण त्याग दिये। हे परीक्षित, तब यादवों की पत्नियाँ अपने अपने मृत पतियों का आलिंगन करके चिताओं पर चढ़ गईं।

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन्हरेः स्नुषाः ।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

राम-पत्न्यः—बलराम की पत्नियाँ; च—तथा; तत्-देहम्—उनके शरीर को; उपगुह्य—चूम कर; अग्निम्—अग्नि में; आविशन्—प्रविष्ट हुईं; वसुदेव-पत्न्यः—वसुदेव की पत्नियाँ; तत्-गात्रम्—उसके शरीर को; प्रद्युम्न-आदीन्—प्रद्युम्न इत्यादि; हरेः—भगवान् हरि के; स्नुषाः—पतोहुएँ; कृष्ण-पत्न्यः—कृष्ण की पत्नियाँ; अविशन्—प्रविष्ट हुईं; अग्निम्—अग्नि में; रुक्मिणी-आद्याः—महारानी रुक्मिनी इत्यादि; तत्-आत्मिकाः—जिनकी चेतना उनमें पूर्णतया लीन थी।

बलरामजी की पत्नियाँ भी अग्नि में प्रविष्ट हुईं और उनके शरीर का आलिंगन किया। इसी तरह वसुदेव की पत्नियाँ उनकी चिता में प्रविष्ट हुईं और उनके शरीर को चूमा। हरि की पतोहुएँ प्रद्युम्नादि अपने अपने पतियों की चिताओं में प्रविष्ट हुईं। रुक्मिणी तथा भगवान् कृष्ण की अन्य पत्नियाँ, जिनके हृदय उन्हीं में पूर्णतया लीन थे, उनकी चिता में प्रविष्ट हुईं।

तात्पर्य : यह समझा जाता है कि यहाँ पर वर्णित शोकमय दृश्य भगवान् की मायाशक्ति का प्रदर्शन है और पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण की लीलाओं को अन्तिम नाटकीय रूप प्रदान करता है। वस्तुत: भगवान् कृष्ण अपने आदि शरीर के साथ अपने नित्य धाम में लौट गये और उन्हीं के साथ उनके नित्य पार्षद भी लौट गये। भगवान् की लीलाओं का यह अन्तिम हृदयविदारक दृश्य भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का खेल है, जिससे भगवान् की व्यक्त लीलाओं का पूर्ण नाटकीय अन्त हो जाता है।

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः ।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः—अर्जुन ने; प्रेयसः—अपने प्रिय; सख्युः—मित्र का; कृष्णस्य—कृष्ण के; विरह—विछोह से; आतुरः—दुखी; आत्मानम्—अपने को; सान्त्वयाम् आस—सान्त्वना दी; कृष्ण-गीतैः—कृष्ण द्वारा गाये गये गीतों (भगवद्गीता) से; सत्-उक्तिभिः—दिव्य शब्दों से।

अर्जुन अपने सर्वप्रिय मित्र भगवान् कृष्ण के विछोह से अत्यधिक दुखी हुए। किन्तु उन्होंने भगवान् के उन दिव्य शब्दों का स्मरण करके, जिन्हें उन्होंने उनसे गीत रूप में गाया था, अपने को सान्त्वना दी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अर्जुन ने *गीता* के निम्नलिखित श्लोकों का स्मरण किया—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(*भगवद्गीता* ७.२५)

"मैं मूर्खों तथा अल्पज्ञों के लिए कभी भी प्रकट नहीं हूँ। उनके लिए तो मैं अपनी शाश्वत सृजनात्मक शक्ति (योगमाया) द्वारा आच्छादित रहता हूँ; अत: मोहित हुआ जगत मुझ अजन्मे तथा अविनाशी को नहीं जान पाता है।"

इसी तरह श्रील जीव गोस्वामी ने *भगवद्गीता* के इस श्लोक (१८.६५) का उल्लेख किया है—*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे*—तुम मेरे पास निश्चित रूप से आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो। उन्होंने *महाभारत* के *स्वर्ग पर्व* से भी निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्रह्मणे वपुषान्वितम्।

तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनोपसूचिताम्॥

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्कृतम्।

चक्रप्रभृतिभिर्घोरै दिव्यै पुरुषविग्रहै॥

उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।

यथास्वरूपं कौन्तेय तथैव मधुसूदनम्॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ समुद्वीक्ष्य युधिष्ठिरम्।

यथार्हं प्रतिपेदाते पूजया देवपूजितौ॥

"वहाँ पर युधिष्ठिर ने गोविन्द को अपने आदि साकार परब्रह्म के रूप में देखा। वे उसी तरह प्रतीत हो रहे थे जैसाकि युधिष्ठिर ने उन्हें पहले देखा था। वे उन्हीं लक्षणों से युक्त थे। वे अपने शरीर से निकल रहे तेज से देदीप्यमान थे और वे अपने दिव्य हथियारों—चक्र आदि से घिरे थे, जो अपने डरावने साकार रूपों में प्रकट हुए थे। हे कुन्ती के वंशज! मधुसूदन की पूजा तेजस्वी वीर अर्जुन द्वारा की जा रही थी और वे भी अपने आदि रूप में प्रकट हुए थे। जब इन दो पुरुष-सिंहों ने, जो देवताओं के आराध्य हैं, युधिष्ठिर को उपस्थित देखा, तो वे उचित आदर के साथ उनके पास गये और उनकी पूजा की।"

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम् ।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥ २२॥

शब्दार्थ

बन्धूनाम्—सम्बन्धियों के; नष्ट-गोत्राणाम्—जिनके परिवार में कोई निकट परिवार वाला नहीं बचा था; अर्जुनः—अर्जुन ने; साम्परायिकम्—दाह-कर्म; हतानाम्—मारे हुओं का; कारयाम् आस—सम्पन्न किया; यथा-वत्—वेद वर्णित विधि से; अनुपूर्वशः—मृतकों की आयु के क्रम से।

तत्पश्चात् अर्जुन ने इस बात का ध्यान रखा कि उन मृतकों का उचित रीति से दाह-कर्म किया जाये जिनके परिवार में कोई पुरुष सदस्य नहीं बचा था। उन्होंने एक-एक करके सारे यदुओं के वांछित कृत्य पूरे किये।

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत्क्षणात् ।

वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

द्वारकाम्—द्वारका; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; त्यक्ताम्—त्यागी हुई; समुद्रः—समुद्र ने; अप्लावयत्—जलमग्न कर लिया; क्षणात्—तुरन्त; वर्जयित्वा—के अतिरिक्त; महा-राज—हे राजा; श्रीमत्-भगवत्—भगवान् का; आलयम्—आवास।

जैसे ही भगवान् ने द्वारका का परित्याग किया, त्योंही, हे राजा, समुद्र ने उसे चारों ओर से घेर लिया और एकमात्र उनका महल ही अछूता रहा।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि भगवान् के धाम का बाह्य स्वरूप तो समुद्र द्वारा ढक लिया गया किन्तु भगवान् की नित्य द्वारका भौतिक ब्रह्माण्ड से परे विद्यमान है और निश्चय ही, भौतिक समुद्र से परे है। द्वारका का निर्माण देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा ने किया था और सुधर्मा सभाभवन स्वर्ग से लाया गया था। उस नगरी में कुलीन यदुवंश के अनेक सुन्दर तथा शानदार महल थे जिनमें सबसे सुन्दर भगवान् का आवास था। श्रील जीव गोस्वामी उल्लेख करते हैं कि वर्तमान युग में भी जो लोग मूल द्वारका स्थल के निकट रहते हैं, वे कभी कभी समुद्र में उसकी झलक पा जाते हैं। अन्ततोगत्वा भगवान् के संगी तथा धाम शाश्वत हैं और जो इसे समझता है, वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के योग्य है।

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नित्यम्—नित्य ही; सन्निहितः—उपस्थित; तत्र—वहाँ; भगवान्—भगवान्; मधुसूदनः—मधुसूदन; स्मृत्या—स्मरण करने से; अशेष-अशुभ—प्रत्येक अशुभ वस्तु का; हरम्—हरण करने वाला; सर्व-मङ्गल—समस्त शुभ वस्तुओं का; मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ, मंगलकारी।

भगवान् मधुसूदन शाश्वत रीति से द्वारका में उपस्थित रहते हैं। यह समस्त शुभ स्थानों में सर्वाधिक शुभ है और इसके स्मरण मात्र से सारे कल्मष नष्ट हो जाते हैं।

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान्धनञ्जयः ।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्रियाँ; बाल—बच्चे; वृद्धान्—तथा बूढ़ों; आदाय—लेकर; हत—मारे हुओं के; शेषान्—बचे हुओं को; धनञ्जयः—अर्जुन ने; इन्द्रप्रस्थम्—पाण्डवों की राजधानी में; समावेश्य—फिर से बसाकर; वज्रम्—अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को; तत्र—वहाँ; अभ्यषेचयत्—सिंहासन पर बिठाया।

अर्जुन यदुवंश की बची हुई स्त्रियों, बच्चों तथा बूढ़ों को इन्द्रप्रस्थ ले आये जहाँ उन्होंने

अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को यदुओं के शासक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; सुहृत्—मित्रों की; वधम्—मृत्यु; राजन्—हे राजा; अर्जुनात्—अर्जुन से; ते—तुम्हारे; पितामहाः—बाबा लोग (युधिष्ठिर तथा उनके भाई); त्वाम्—तुमको; तु—तथा; वंश-धरम्—वंश कोबनाये रखने वाला; कृत्वा—बनाकर; जग्मुः—चले गये; सर्वे—वे सभी; महा-पथम्—महान् यात्रा के लिए।

हे राजा, अर्जुन से अपने मित्र की मृत्यु सुन कर आपके बाबा लोगों ने आपको वंश के धारक के रूप में स्थापित कर दिया और इस जगत से अपने प्रयाण की तैयारी के लिए चल पड़े।

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—इन; देव-देवस्य—देवों के देव का; विष्णोः—विष्णु के; कर्माणि—कार्यकलापों; जन्म—जन्म; च—तथा; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; मर्त्यः—मानव प्राणी; सर्व-पापैः—सारे पापों से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

जो व्यक्ति देवताओं के देवता विष्णु की इन विविध लीलाओं तथा अवतारों की महिमाओं का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह सारे पापों से मोक्ष प्राप्त करता है।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; हरेः—भगवान् हरि के; भगवतः—भगवान् के; रुचिर—आकर्षक; अवतार—अवतारों के; वीर्याणि—पराक्रमों; बाल—बचपन; चरितानि—लीलाएँ; च—तथा; शम्-तमानि—अत्यन्त शुभ; अन्यत्र—और कहीं; च—तथा; इह—यहाँ; च—भी; श्रुतानि—सुना हुआ; गृणन्—स्पष्ट कीर्तन करते; मनुष्यः—मनुष्य; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; परमहंस—सिद्ध मुनियों के; गतौ—गन्तव्य (श्रीकृष्ण) के लिए; लभेत—प्राप्त करेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण के सर्व-आकर्षक अवतारों के सर्वमंगल पराक्रम तथा उनके द्वारा बाल्यकाल में की गई लीलाएँ इस श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित हैं। जो कोई उनकी लीलाओं के इन वर्णनों का स्पष्ट कीर्तन करता है, उसे उन भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त

होगी जो समस्त सिद्ध मुनियों के गन्तव्य हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान'' नामक इकतीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

यह ग्यारहवाँ स्कन्ध २६ मार्च १९८२ को ब्राजील में साओ पॉलो राज्य में न्यू गोकुल साउथ अमेरिकन तीर्थस्थल पर पूरा हुआ।

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः
कृष्णद्वैपायन व्यास
कृत
श्रीमद्‌भागवतम्
नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्
आचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥६॥
(११.२९.६)

श्रीमद्‌भागवतम्
(भगवत्-सन्देश)
एकादश स्कन्ध
''सामान्य इतिहास''
(भाग दो—अध्याय १३—३१)
मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,
अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित
कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
के शिष्यों द्वारा
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

विषय-सूची